वर्ष-12, अंक 48
अप्रैल-जून 2026

ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

MULTI DISCIPLINE RESEARCH JOURNAL

AN INTERNATIONAL REFEREED QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

A SCHOLARLY PEER REVIEWED JOURNAL

Website : http://vsirj.com

वर्ष : 12 • अंक : 48 • अप्रैल-जून 2026 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत शोधार्थी के पास ईमेल / व्हाट्सएप्प या फोन के माध्यम से शोध-पत्र प्राप्ति की सूचना दी जायेगी।
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत सम्पादक-मंडल द्वारा इसे सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ (रीव्यूवर) के पास भेजा जायेगा। जिसका विषय विशेषज्ञ द्वारा विधिवत मूल्यांकन एवं परीक्षण / संशोधन किया जायेगा। तदुपरांत सम्पादक मंडल के पास प्रकाशनार्थ प्रेषित किया जायेगा।
* विषय विशेषज्ञ / सम्पादक मंडल के पास शोध-पत्र के प्रकाशन / संशोधन का पूर्ण अधिकार होगा।
* कोई भी शोध-पत्र सम्पादक मंडल / रीव्यू पैनल द्वारा पूर्णतया मूल्यांकन के उपरांत ही प्रकाशित किया जायेगा।
* पूर्णतया स्वीकृति के उपरांत ही किसी भी शोधार्थी को सम्बन्धित आलेख के प्रकाशन की सूचना दी जायेगी।
* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम, कीवर्ड्स, सारांश एवं सभी संदर्भ के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* शोध-पत्र भेजने के बाद उसे प्रकाशित करने हेतु किसी भी तरह का दबाव स्वीकार्य नहीं होगा। शोध-पत्र में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोधकर्त्ता के अपने विचार हैं तथा सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल का इसमें कोई सरोकार नहीं होगा। इसके लिए शोधकर्त्ता स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)

- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)

- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)

- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)

- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)

- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)

- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

© **सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान**

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• **Correspondence Address :**
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• **Correspondence Address :**
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• **Branch Office :**
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय ..... *viii*

नक्सलवादी घटनाओं पर आधारित हिंदी फिल्में 1
डॉ. चित्तरंजन कुमार

लघु उपन्यासों के स्वरूप के आधार पर 'एक था कलाकार' लघु उपन्यास का विश्लेषण 5
प्रियांशु प्रियदर्शी

साठोत्तरी हिंदी कहानी में मध्यमवर्गीय जीवन का यथार्थ और संवेदनात्मक विश्लेषण 10
जय प्रकाश नारायण

समकालीन हिन्दी कविता में वर्णित पितृसत्ता एवं स्त्री 15
दिव्या सिंह

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रणेता और पोषक के रूप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 20
डॉ. श्रुतिकान्त पाण्डेय

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में भाषा संबंधी चिंतन 25
विवेक विक्रम सिंह

वैदिकवाङ्मयस्य सांस्कृतिकमूल्यबोधः 29
डॉ. शंकर नाथ तिवारी

नीति से व्यवहार तक : हरियाणा के विकास कार्यक्रमों की दलित महिलाओं के लिए समावेशिता का आकलन 33
पायल

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वैश्विक मानवतावादी चिंतन 37
डॉ. रत्नेश कुमार यादव / विक्रम पटेल

पाठ एवं दृश्य : विशेष संदर्भ मन्नू भंडारी कृत 'महाभोज' उपन्यास और नाट्य रूपांतर 41
डॉ. सपना गाँधी

ग्रामीण भारत में 'कृषि का महिलाकरण' (Feminization of Agriculture) ---------- 47
महक

महिला सशक्तिकरण (Women Empowerment) इक्कीसवीं सदी का सबसे संकल्प 52
कुमकुम

भारतीय कृषि में जल उपयोग दक्षता 57
दिपेश

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त बाज़ारवाद .. 60
प्रियंका शर्मा

दलित महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण में सरकारी योजनाओं की भूमिका 64
आराधना

वाचस्पति मिश्र के दर्शन में आध्यात्मिक द्विरूपता : भाषाविज्ञान में यथार्थवादी अनेकत्ववाद एवं तत्वमीमांसा में एकत्ववाद 67
देवकी मिश्रा

नीतिकाव्य परम्परा में रहीम की कविता का महत्त्व 72
मोहम्मद आजम

प्रवासी हिंदी साहित्य : एक संक्षिप्त परिचय 76
आसिफ खान

ननद-भउजाई में अभिव्यक्त स्त्री के मर्म 80
प्रो. (डॉ.) राम किशोर यादव

सागार धर्मामृत में वर्णित अपरिग्रह अणुव्रत का अध्ययन (आधुनिक पर्यावरण तथा अर्थशास्त्र के विशेष संदर्भ में) .. 85
प्रो. कौशल पंवार / शुभम शर्मा

हिंदी सिनेमा में स्त्री विमर्श का क्रमिक विकास (विशेष संदर्भ - मदर इंडिया, मर्दानी, पिंक, थप्पड़ और छपाक) 90
श्रेया

चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियों में व्यक्त प्रेम संवेदना 94
कल्पना कुशवाहा

मंदिरों में सकारात्मक ऊर्जा का मानव जीवन एवं मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन 98
सोमवती माहौर

एपीजे अब्दुल कलाम का देश के विकास में योगदान 105
डॉ. दिनेश कुमार

नौटंकी में भारतबोध : सांस्कृतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य ... 108
अमित

लोकप्रिय स्त्री पत्रिका 'गृहशोभा' में स्त्रियों की दुनिया : 2024 के बाद के अंकों का अध्ययन 112
विकास कुमार

आधुनिक हिंदी कविता में वैचारिक बहुलता : 'अनेकांतवाद' और 'स्याद्वाद' के दार्शनिक सूत्र *(अज्ञेय, कुँवर नारायण, मुक्तिबोध और केदारनाथ सिंह के संदर्भ में)* *118*
मृत्युंजय कुमार शर्मा

आनंदमठ की ऐतिहासिकता 125
मुस्कान गिरि

वैश्वीकरण के दौर में आधुनिक हिंदी साहित्य : मिथकों का संकट और पुनर्सृजन 131
प्रभांशु गुप्ता

'राग दरबारी' में अभिव्यक्त भारतीय शिक्षा व्यवस्था और भ्रष्टाचार : एक विश्लेषणात्मक अनुशीलन 136
विक्रम सिंह

कृष्ण भक्ति परम्परा 140
उदित सिंह

उदय प्रकाश के कथा साहित्य में 'हाशिये का समाज' और 'सत्ता-विमर्श' 144
आयुष दुबे

कृष्ण काव्य परम्परा और सूरदास का काव्य 147
विनय यादव
भारतीय भक्ति आंदोलन और श्रीमंत शंकरदेव 152
गरिमा रानी
भोजन, भूख और सामाजिक असमानता : पाँचवाँ पराठा शॉर्ट फिल्म के विशेष संदर्भ में 156
निवेदिता
नयी कहानी की पढ़त और नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि .. 161
दीपक कुमार
धर्मयुग में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा: एक आलोचनात्मक अध्ययन 164
विजय शंकर गुप्ता
भक्ति आंदोलन और सामाजिक पुनर्निर्माण 169
मानसी
भिखारी ठाकुर के नाटकों में रस योजना 174
शुभम मणि त्रिपाठी
नीतिशतक की शिक्षाओं की आधुनिक काल में प्रासंगिकता 178
डॉ. मंजू लता
दलित बचपन और अंधविश्वास : 'मुर्दहिया' 184
ओम प्रकाश
मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान के उपन्यासों में व्यक्त स्त्री अस्मिता : अन्तर के आयाम 190
रंजन कुमार पंडित
नयी कविता में लघुमानव का संघर्ष : व्यवस्था और व्यक्ति का द्वंद्व 197
रोहित कुमार
हरिकृष्ण देवसरे की बाल कहानियों में समकालीन परिवेश और नैतिक बोध 201
दीपांशु कुमार / दीक्षा
आसारुस सनादीद : दिल्ली के पुरातात्विक इतिहास का अहम स्रोत 205
डॉ. सय्यद मुबीन जेहरा
इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी विमर्श 211
रेशमी कुमारी
औपनिवेशिकता और प्रतिबंध हिंदी साहित्य 218
पुष्पेन्द्र
जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भारत-बोध 221
दीपिका राणा
भारतीय समाज और साहित्य में स्त्री-चेतना : विकास, संघर्ष और समकालीन परिदृश्य 226
नेहा
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस : स्थापना और आधुनिक भारतीय राजनीति का उद्भव 231
कृष्ण कुमार जून
दुष्यंत कुमार की गजल : समाज और यथार्थ का सशक्त दस्तावेज 237
चंद्रकांता
तुलनात्मक साहित्य; साहित्यिक धारा, अध्ययन-पद्धति या अनुशासन 241
अनिता कुमारी
समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श : अवधारणा, विकास और समकालीन परिप्रेक्ष्य 245
अनीता पाण्डेय
डॉ. अम्बेडकर और जॉन डेवी : लोकतंत्र, ऐतिहासिक पुनर्निर्माण और सामाजिक मुक्ति का तुलनात्मक अध्ययन . 250
कनक गौर
उत्तर-आधुनिकतावाद और समकालीन राजनीतिक सिद्धांत : विमर्श एवं विश्लेषण 257
रूपल
तुलसी और तुकडोजी के साहित्य में निहित समन्वय और समरसता 264
रितेश अजय तिवारी
भारत में जलवायु परिवर्तन और शहरी असमानता : एक समालोचनात्मक अध्ययन 268
अनमोल
बौद्ध-साहित्य के प्रचार-प्रसार में अनुवाद की भूमिका ... 278
डॉ. शीला कुमारी
भारत में गठबंधन राजनीति 282
ज्योति
नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग के उपन्यासों में रूढ़िमुक्त स्त्री ... 288
डॉ. ज्योति सिंह
भारत की दुर्लभ खनिज राजनीति : आत्मनिर्भरता की राह में चुनौतियां और अवसर 291
आभांकिता
वाशिंगटन शांति समझौते (2025) के बाद ग्रेट लेक्स क्षेत्र में पश्चिमी सहायता की बदलती राजनीति : रवांडा और डीआरसी का एक तुलनात्मक अध्ययन 295
निकिता ज्याणी
भारतीय संस्कृति की अधिष्ठाता राजमाता अहिल्याबाई होलकर 301
डॉ. ज्योति शर्मा
बौद्ध परंपरा में लैंगिकता 304
अरुणिमा
हिंद महासागर क्षेत्र में द्वीपीय राष्ट्रों के संदर्भ में महाशक्ति प्रतिस्पर्धा : भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन 310
पूजा

सम्पादकीय

मई महीने में कोलकाता और पश्चिम बंगाल राजनीतिक कारणों से सुर्खियों में रहा। जहां पन्द्रह वर्ष से मुख्यमंत्री ममता बनर्जी को विधानसभा चुनाव में करारी हार हुई। वहीं हिंदी पत्रकारिता का जन्म भी उसी पश्चिम बंगाल की राजधानी कोलकाता में मई महीने में हुआ था। कोलकाता उस समय अंग्रेजों की राजधानी हुआ करती थी जहां आज से 200 वर्ष पहले 30 मई 1826 को हिंदी के पहले अखबार उदन्त मार्त्तण्ड का पहला प्रकाशन हुआ। इसलिए इस वर्ष को अपना खास महत्व है। वाक् सुधा के कवर पेज पर इसीलिए उदन्त मार्त्तण्ड की फोटो लगाई गई है।

उदन्त मार्त्तण्ड ने प्रारंभ से ही आजादी की लड़ाई लड़ी। उदन्त मार्त्तण्ड के संस्थापक संपादक पं. युगल किशोर शुक्ल और उनके साथियों ने जब यह अखबार निकाला, तब सफलता की कोई गारंटी नहीं थी। संसाधन भी अत्यंत सीमित थे। पाठकों की संख्या भी कम थी। उनकी टीम के पास पत्रकारिता का भी कोई खास अनुभव नहीं था। राज्य सत्ता की कृपा और संरक्षण भी नहीं था। तमाम दुश्वारियों और कठिनाइयों के बीच भी उन्होंने शुरुआत की, क्योंकि कुछ काम सफलता के लिए नहीं, आवश्यकता के लिए किए जाते हैं। कुछ दीपक इसलिए नहीं जलते कि वे अँधेरे को समाप्त कर देंगे। वे इसलिए जलते हैं कि अँधेरे के सामने आत्मसमर्पण नहीं करेंगे। अपने आपके होने का एहसास कराते रहेंगे। बहरहाल उदन्त मार्त्तण्ड दो वर्ष में ही बंद हो गया। परन्तु 200 वर्ष बाद आज जब हम हिंदी पत्रकारिता के विशाल भव्य और दिव्यस्वरूप को देखते हैं, तो उसके मूल में कहीं-न-कहीं वही छोटा-सा बीज दिखाई देता है, वही जिद, वही विश्वास, वही साहस जो उदन्त मार्त्तण्ड के साथ बोया गया था।

उदन्त मार्त्तण्ड हमें सिखाता है कि जो प्रयास अपने समय में असफल दिखते हैं, वे कभी-कभी इतिहास की सबसे बड़ी सफलताओं की नींव बन जाते हैं। नींव के पत्थर दिखते नहीं हैं। नींव मिट्टी में दबा दी जाती है लेकिन नींव एक ढांचे का आधार बना देती है। इसके ऊपर आलीशान अट्टालिकाएं बनती हैं। दो वर्ष तक चला वह समाचार पत्र दो शताब्दियों बाद भी याद किया जा रहा है और यही उसकी सबसे बड़ी विजय और गौरव है। उसके बाद पिछले 200 वर्षों में हजारों पत्रकार हुए जिन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया हिंदी पत्रकारिता के लिए उसमें एक नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है वह है महात्मा गांधी। महात्मा गांधी ने जीवन भर पत्रकारिता किया और अखबार निकाला। यंग इंडिया, हरिजन, नवजीवन से हम सब गांधी की पत्रकारिता को समझ सकते हैं। अखबार, रेडियो और टेलीविजन के रास्ते आज हम सब इंटरनेट की रंग-रंगीली दुनिया तक हिंदी पत्रकारिता के विविध रूपों को देखते सुनते हैं। जब रेडियो आया तब कहा गया है अब अखबार बंद हो जाएंगे, लेकिन अखबार और रंगीन हुआ अत्यधिक बदलाव भी अखबारों ने किया। कस्बों के संस्करण निकलने लगा। फिर टेलीविजन की पत्रकारिता शुरू हुई तब कहा जाने लगा कि रेडियो का खेल खत्म लेकिन रेडियो ने भी बदलाव किया, एफ.एम. रेडियो के रूप में नया अवतार मिला तो रेडियो का विस्तार हुआ। लगातार रेडियो का विस्तार होता जा रहा है। हिंदी पत्रकारिता का 200 वर्षों का इतिहास को छोटे से सम्पादकीय में समेटना संभव नहीं है लेकिन भारत में टेलीविजन के सरकारी चैनलों के साथ सैकड़ों प्राइवेट चैनल भी है। जिसको एक तबका गोदी मीडिया के नाम से भी संबोधित करता है। इंटरनेट और यूट्यूब के हजारों समाचार चैनल भी हैं। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस से हिंदी पत्रकारिता का स्वरूप भी बदल गया है। जिसकी चर्चा फिर कभी, सबको धन्यवाद हर अंक की तरह यह अंक भी संग्रहणीय है। अपना स्नेह और प्रेम बनाएं रखिए, धन्यवाद।

– डॉ. रूपेश कुमार चौहान

डॉ. चित्तरंजन कुमार

नक्सलवादी घटनाओं पर आधारित हिंदी फिल्में

शोध सार

इस शोध आलेख में नक्सलवाद जैसी समस्या पर बनी हिंदी फिल्मों पर प्रकाश डाला गया है। इस आलेख में रेड अलर्ट : द वार विद इन (2010), चक्रव्यूह (2012) न्यूटन (2017) और बस्तर : द नक्सल स्टोरी (2024) को लिया गया है। इस आलेख में नक्सलवाद के उदय और प्रसार के कारणों तथा इसकी भयावहता को दिखाने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द

नक्सलवाद, पिछड़ापन, गरीबी, शोषण, लूट खसोट, विचारधारा, संघर्ष, प्रसार, उदय, सरकार, कारपोरेट जगत, सुरक्षाकर्मी, मुठभेड़ भयावहता, समस्या, यथार्थ, वास्तविक, राज्य, देश।

मूल लेख

नक्सलवाद कई दशकों से भारत के लिए एक समस्या रही है। इसके उदय एवं प्रसार के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारण रहे हैं। पूरे देश में एक समय यह 14 राज्यों के 200 जिलों में फैल गया था। इसीलिए इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर बनी फिल्मों के माध्यम से इसकी भयावहता और उदय के पृष्ठभूमि को समझने का प्रयास किया गया है।

1. रेड अलर्ट : द वार विद इन (2010)-यह फिल्म एक सामान्य व्यक्ति के नक्सली बनने की कहानी है और साथ ही नक्सली आंदोलन की भयावहता को भी दिखाती है।

इस फिल्म के निर्देशक अनंत महादेवन है। यह एक सत्य घटना पर आधारित फिल्म है। यह नरसिम्हा (सुनील शेट्टी) नामक एक गरीब रसोईये की कहानी है। नक्सली समूह के लिए खाना पहुंचाते समय पुलिस मुठभेड़ और अनपेक्षित हालातों के कारण उसे मजबूरन हथियार उठाने पड़ते हैं। यह फिल्म अशिक्षा, गरीबी और नक्सलवाद के बीच फंसे एक सीधे-साधे इंसान के संघर्ष को दिखाती है। नरसिम्हा एक गरीब खेत मजदूर है जो, अपने परिवार का पेट पालने और बच्चों की शिक्षा के लिए संघर्ष कर रहा है। वह जंगल में छिपे नक्सलियों को खाना पहुंचाने का काम करता है। लेकिन एक बार पुलिस मुठभेड़ के बाद वह पुलिस से बचने के लिए नक्सलियों के साथ ही रहने को मजबूर हो जाता है। नरसिम्हा शुरू में इन गतिविधियों से अनजान है, लेकिन धीरे-धीरे वह नक्सली समूह विचारधारा और उनके जीवन के कठोर यथार्थ और वेलु अन्ना (आशीष विद्यार्थी) द्वारा संचालित गतिविधियों में उलझ जाता है।

नरसिम्हा की कहानी एक सामान्य नागरिक के अपराधी बनने की यात्रा है जो अंत तक अपने जीवन के लिए अपने परिवार की सुरक्षा के लिए और पुलिस व नक्सली विचारधारा के बीच फंसा रहता है। इस फिल्म में यह दिखाया गया है कि कैसे एक सीधा-साधा आदमी अनजाने में ही हिंसक संघर्षों का हिस्सा बन जाता है और उनके अंदरूनी संघर्ष (द वार विद इन) को उजागर भी करता है।[1]

2. चक्रव्यूह (2012)- एक ऐसे दौर में जब मनोरंजन एवं रीमेक बनाने के साथ फिल्म निर्माताओं की नजर 100 करोड़ से अधिक की कमाई पर होती है, ऐसे समय में समाज की विसंगतियां एवं वैसी कहानी जो यथार्थ पर आधारित है को लेकर फिल्में बनाना वास्तव में एक साहसिक कदम है। 'दामूल' से 'आरक्षण' तक प्रकाश झा अपने फिल्मों के माध्यम से ज्वलंत मुद्दे उठाते आए हैं। 'चक्रव्यूह' नक्सली आंदोलन

पर आधारित फिल्म है। साथ ही दूसरी तरफ आदिवासियों द्वारा पुलिस और नेताओं द्वारा शोषित होने के बाद नक्सली बनने की कहानी है। इसके साथ ही एक ज्वलंत मुद्दे प्रगति/विकास बनाम विस्थापन पर भी आधारित है। चक्रव्यूह को नक्सली आंदोलन पर सिर्फ दस्तावेजी ये फिल्म भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि पूरे देश के अधिकांश भागों में पहले इस मुद्दे को नहीं उठाया गया है। प्रकाश झा अच्छी तरह जानते हैं कि अपने संदेश को अच्छी तरह से संगठित करके लोकप्रिय सिनेमा के माध्यम से फैलाया जा सकता है। यह तय है कि यह फिल्म नक्सलवाद पर आधारित है लेकिन इसके केंद्र में दो अंतरंग मित्रों के बीच नक्सलवाद के मुद्दे पर जो मतभेद है, उसी को यह फिल्म दिखती है।

प्रकाश झा की उन फिल्मों की तरह चक्रव्यूह भी दर्शकों में से आम आदमी की सोच को दिखाता है। चक्रव्यूह दो दोस्तों आदिल (अर्जुन रामपाल) जो की एसपी है और कबीर (अभय देओल) जो बाद में नक्सली बन जाता है की कहानी है। यह फिल्म आईपीएस अधिकारी आदिल (अर्जुन रामपाल) और उनके दोस्त कबीर (अभय देओल) के इर्द-गिर्द घूमती है। आदिल नक्सलियों के सफाई के लिए मुहिम छेड़ता है। इसी दौरान कबीर आदिल से आग्रह करता है कि वह उसे नक्सलियों के पास जाने दे ताकि वह वहां के घटनाक्रम की सूचना उसे देता रहे। आदिल कबीर के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। इस तरह कबीर नक्सली गुट में घुसपैठ करता है। कबीर नक्सली नेताओं ओमपुरी, मनोज बाजपेई और अंजलि पाटिल को पकड़वाने के लिए नक्सलियों के यहां भेज दिया जाता है। लेकिन जल्द ही यह समीकरण बदल जाता है और कबीर नक्सली विचारधारा से प्रभावित होकर खुद नक्सली बन जाता है। जल्द ही यह दो दोस्तों के बीच की लड़ाई बन जाती है। एक आदिल जो नक्सलियों से लड़ता है और दूसरा कबीर जो नक्सलियों के लिए लड़ता है। सही तरह से देखने पर ओम पुरी इस फिल्म में कोवाट गांधी के चरित्र को जीते दिखाई देते हैं। इस फिल्म में प्रकाश झा दिखाना चाहते हैं कि चमकते भारत की सतह को खरोचोगे तो भारत का असली चेहरा सामने आ जाएगा। इस सच्चाई को प्रकाश झा ने फिल्म के दूसरे हाफ में आईना दिखाने का प्रयास किया है।

इस फिल्म का एक गाना भी युग संदर्भ एवं व्यवस्था की सच्चाइयों को दिखाने का प्रयास किया है-

''भैया देख लिया है बड़ी तेरी सरदारी रे
अब तो अपनी बारी है ना।
महंगाई की महामारी ने हमारा भट्ठा बना दिया
चल हटाने गरीबी गरीबों को हटा दिया
शरबत की तरह देश को गटका है गटागट
आम आदमी की जब हो गई है सफाचट
बिरला हो या टाटा अंबानी हो या बाटा
सब ने अपने चक्कर में देश को है काटा
अपने ही खून से इनका इंजन चले धकाधक
आम आदमी की जब हो गई है सफाचट।
उपरोक्त गीत भी उसे समय की वर्तमान।[2]

यह गीत युगीन परिस्थितियों का हुबहू बयान करती है। महंगाई, भ्रष्टाचार ने आम आदमी का जीना मुश्किल कर दिया है। किस प्रकार सरकार पर कारपोरेट जगत का प्रभाव है, इसे भी इस गीत में स्पष्ट किया गया है।

19 अक्टूबर 2012 को सुप्रीम कोर्ट ने चक्रव्यूह के इस गाने में टाटा बिरला अंबानी और बाटा द्वारा देश को लूटने की बात को लेकर बाटा ने सुप्रीम कोर्ट में अर्जी दाखिल की थी, जिसे खारिज कर दिया गया। तत्कालीन समय में ही कारपोरेट जगत की लूट का खुलासा उस समय के जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता और बाद में मुख्यमंत्री बने अरविंद केजरीवाल ने डीएलएफ और मुकेश अंबानी द्वारा सरकार पर बनाए जाने वाले दबाव के संदर्भ में किया। कोयला घोटाले में नवीन जिंदल एवं अन्य लोगों को सस्ते दरों पर कोयला खदानों का आवंटन किया गया। 2G में स्पेक्ट्रम की सस्ते दरों पर नीलामी पर तो सुप्रीम कोर्ट ने भी रोक लगा दिया था। आज एक ही देश में दो देश पैदा हो गया है। एक विकसित है जो इंडिया है और एक पिछड़ा जो भारत है और दोनों के बीच की खाई लगातार बढ़ती जा रही है। नक्सलवाद के पुनर्योदय के पीछे असमानता और साधनों का और सामान वितरण है। अमीर और अमीर होते जा रहे हैं और गरीब और गरीब। फिल्म में भी आज तक चैनल पर नक्सलवाद के प्रसार को दिखाया गया है। यह समस्या देश के 14 राज्यों के 200 से अधिक जिलों में फैल चुकी है। खासकर पिछड़े और आदिवासी बहुल इलाके नक्सलवाद से सबसे ज्यादा प्रभावित हैं। इस फिल्म के अंत में प्रकाश है या सूचना देते हैं कि देश की कुल संपत्ति का बड़ा हिस्सा देश के सिर्फ 25 परिवारों के पास है और देश की जनता सिर्फ रु. 70 प्रतिदिन की कमाई पर गुजारा करती है। इस फिल्म के संदर्भ में तृषा गुप्ता कहती है-''चक्रव्यूह माओवादी

समस्या को हल करने का एक ईमानदार प्रयास है।''

चक्रव्यूह का महत्वपूर्ण सामाजिक मुद्दे पर बनी एक संवेदनशील फिल्म है जो दर्शकों को नक्सली समस्या की गंभीरता को दिखाती है। पूरी फिल्म खामोशी से नक्सल समस्या के लिए सरकार को दोषी और नक्सलियों को जायज ठहराने का प्रयास करती है। प्रकाश झा की खासियत है कि वे संवाद और घटनाओं के माध्यम से चुपचाप दर्शकों को अपनी सोच के साथ कर लेते हैं।[3]

फिल्म के अंत में एक वॉइस ओवर बताता है कि नक्सल समस्या कैसे अपना आकार बड़ा कर रही है और समस्या का हल होने की जगह उसका चक्रव्यूह और बड़ा होता जा रहा है। फिल्म चक्रव्यूह दो दोस्तों की मानसिक उलझन को नक्सलवाद के संदर्भ में बेहतरीन तरीके से दिखाती है।

3. न्यूटन (2017)- यह फिल्म नक्सल प्रभावित क्षेत्र में चुनाव कराने की चुनौती पर आधारित है। नूतन कुमार (राजकुमार राव) जो खुद को न्यूटन कहता है एक ईमानदार और नियमों पर चलने वाला एक पीठासीन अधिकारी है।

'न्यूटन' फिल्म के निर्देशक अमित. वी. मसूरकर है। यह एक हिंदी फिल्म है, जो नक्सल प्रभावित छत्तीसगढ़ के जंगलों में ईमानदारी से चुनाव कराने के लिए प्रतिबद्ध एक सरकारी क्लर्क (राजकुमार राव) की कहानी है। अनेक चुनौतियां सुरक्षा खतरों और सिस्टम की उदासीनता के बीच न्यूटन 76 मतदाताओं वाले एक दूर दराज के गांव में निष्पक्ष मतदान करने की कोशिश करता है। यह फिल्म लोकतंत्र और सिस्टम की कमियों और ग्रामीण इलाकों में चुनाव की वास्तविकता पर एक तीखा व्यंग्य है। यह फिल्म विकिपीडिया के अनुसार 90वें ऑस्कर में सर्वश्रेष्ठ विदेशी भाषा फिल्म के लिए भारत की तरफ से पेश होने वाली फिल्म है।[4]

न्यूटन कुमार जाति से दलित समुदाय से आता है और नया-नया सरकारी क्लर्क बना है। उसे चुनावी ड्यूटी पर छत्तीसगढ़ के नक्सल प्रभावित इलाके में भेजा गया है। सुरक्षा बलों मे चुनाव को लेकर उदासीनता है और नक्सली हमले के कारण लोग मतदान नहीं करते हैं। इस तरह संभावित खतरों के बीच और तमाम तरह की विपरीत परिस्थितियों में वह अपनी ओर से निष्पक्ष मतदान कराने की कोशिश करता है। लेकिन बावजूद इसके जब मतदाता मतदान के लिए नहीं आते तो उसे यह देखकर घोर निराशा होती है। बाद में जब एक विदेशी संवाददाता उसे मतदान केंद्र पर पहुंचता है तो सुरक्षा कर्मी गांव वालों को मतदान करने के लिए जबरदस्ती वहां लाने की कोशिश करता है। न्यूटन जल्द इस बात को समझ जाता है कि गांव वालों को मतदान की अहमियत के बारे में कुछ पता ही नहीं है। वह गांव वालों को समझाता है कि वोटिंग मशीन एक खिलौना है। यह देखकर विदेशी पत्रकार को भारत के लोकतंत्र के बारे में एक मजेदार खबर मिल जाती है। न्यूटन कुमार वोटिंग पूरी होने तक अपनी ड्यूटी पर मुस्तैद रहने का प्रयास करता है। लेकिन इसी दौरान नक्सली हमले के बीच उसे अपनी जान बचाने के लिए भागने को मजबूर होना पड़ता है। तो अभी उसे पता चलता है कि हमला भी पुलिस द्वारा ही सुनियोजित किया गया था। बाद में मतदान केंद्र की ओर लौटते उसे जंगल में चार ग्रामीण मिलते हैं, जिनसे वह मशीन में वोट डलवाने की कोशिश करता है। लेकिन उसके साथ चल रहे सुरक्षा अधिकारी उसका विरोध करता है। न्यूटन अपनी ड्यूटी को गंभीरता से लेते हुए सुरक्षा अधिकारी की बंदूक छिनकर उसे मतदान के बाकी बचे दो मिनट तक बंदूक की नोक पर रखता है। लेकिन बाद में उसे सुरक्षाकर्मी बुरी तरह से पीटते हैं। इसके बाद फिल्म जंगली इलाके में खनन गतिविधियों के शॉट्स दिखती हुई समाप्त होती है।

इस फिल्म में राजकुमार राव नूतन कुमार, पंकज त्रिपाठी असिस्टेंट कमांडेंट आत्मा सिंह, अंजलि पाटिल मल्को नेताम, रघुवीर यादव लोकनाथ संजय मिश्रा अभिनेता, मुकेश प्रजापति शंभू और मयंक तिवारी पत्रकार के भूमिका में है।

4. बस्तर : द नक्सल स्टोरी (2024)-यह छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले में नक्सलवादी माओवादी विद्रोह और अप्रैल 2010 में दंतेवाड़ा में हुए माओवादी हमले पर आधारित है।[5] यह फिल्म 15 मार्च 2024 को सिनेमाघर में रिलीज हुई।

यह फिल्म नक्सली गाथा सामाजिक उथल-पुथल में एक गहन पड़ताल है।[6]

रेडिफ डॉट कॉम की दीपा गहलोत ने लिखा है-नक्सल आंदोलन का इतिहास इतना जटिल है कि उसे समझने के लिए कई किताबें लिखी गईं। 'बस्तर : द नक्सल स्टोरी' इसके मुख्य बिंदुओं और रूढ़ियों को समेटने का प्रयास करती है।[7] फिल्म नक्सली माओवादी उग्रवाद पर आधारित है, खासकर 2010 के दंतेवाड़ा हमले पर आधारित है, जहां बस्तर में सुरक्षा बलों और नक्सलियों के संघर्ष को फिल्में दिखाया गया है।

आईपीएस अधिकारी नीरजा माधवन (अदा शर्मा) नक्सलियों के खात्मे का प्रयास करती है। लेकिन उसके सामने दो मुद्दे प्रमुख हैं-एक नक्सलियों का हिंसक चरित्र तो दूसरा कानूनी और मानवाधिकार के मुद्दे। रत्ना (इंदिरा तिवारी) नाम की ग्रामीण महिला का पति तिरंगा फहराने के कारण नक्सलियों द्वारा बेरहमी से मार दिया जाता है। नीरजा रत्ना को अपने पति की हत्या का बदला लेने के लिए स्पेशल पुलिस ऑफिसर बनने के लिए प्रेरित करती है। इस फिल्म को वामपंथी समर्थक मानवाधिकार उल्लंघन के रूप में प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि इस फिल्म में नक्सली विचारधारा प्रजा अदालतों के जंगल कानून और हिंसा को दिखाया गया है। इस फिल्म के अंत में आईपीएस अधिकारी नीरजा नक्सलियों के बड़े नेता को पकड़ लेती है। और दूसरी बड़ी घटना नक्सलियों द्वारा सीआरपीएफ की हत्या की घटनाओं के इर्द-गिर्द घूमती है।

यह फिल्म विकिपीडिया के अनुसार 'दी केरल स्टोरी' के निर्माताओं द्वारा निर्देशित है और लाल आतंक पर एक सच्ची कहानी होने का दावा करती है।

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
दयाल सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : chittaranjan.kumar2009@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. रेड अलर्ट : द वार विद इन, द टाइम्स ऑफ इंडिया डॉट कॉम, 04 मई 2016।
2. मूल फिल्म 'चक्रव्यूह'।
3. रोहित मिश्र, 24 अक्टूबर 2012, अमर उजाला।
4. न्यूटन फिल्म विकिपीडिया।
5. उदय भाटिया, राष्ट्रवादी फिल्मों का चुनावों पर प्रभाव (लाइवमिंट) 12 अप्रैल 2024।
6. अभिषेक श्रीवास्तव, टाइम्स ऑफ इंडिया, 15 मार्च 2024।
7. दीपा गहलोत, बस्तर : द नक्सल स्टोरी कहानी समीक्षा, रेडिफ डॉट कॉम।

प्रियांशु प्रियदर्शी

लघु उपन्यासों के स्वरूप के आधार पर 'एक था कलाकार' लघु उपन्यास का विश्लेषण

शोध सार

हिंदी साहित्य अपने हजार वर्षों के लंबे सफर में कई पड़ावों से होकर गुजरी है। हिंदी का वर्तमान स्वरूप साहित्यकारों के अथक परिश्रम, प्रयास एवं परिवर्तनों की देन है। एक समय केवल पद्य की प्रधानता वाली हिंदी, अब गद्य की भाषा बन गई है। नए विधाओं ने इसे समृद्ध किया है। वर्तमान समय में लघु उपन्यास विधा भी अन्य विधाओं के तरह साहित्य सृजन की प्रमुख विधा बन रही है। विगत 30-40 वर्षों में परंपरागत उपन्यासकारों ने भी बड़ी संख्या में लघु उपन्यास लिखा है। इनमें रामदरश मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने परंपरागत बड़े एवं लघु दोनों उपन्यास लिखे हैं। यह शोध आलेख रामदरश मिश्र द्वारा लिखित एवं 2018 में प्रकाशित 'एक था कलाकार' लघु उपन्यास के माध्यम से लघु उपन्यासों के बुनियादी ढांचे को प्रस्तुत करने का प्रयास करेगा।

बीज शब्द

लघु उपन्यास, स्वतंत्र्योत्तर, संरचनात्मक संयम, संस्मरणात्मक, आंचलिकता।

शोध आलेख

हिंदी साहित्य में लघु उपन्यास एक ऐसी विधा के रूप में विकसित हुआ है, जिसने कथा-साहित्य की व्यापकता और कहानी की संक्षिप्तता के बीच संतुलन स्थापित करते हुए एक विशिष्ट रचनात्मक स्वरूप प्राप्त किया है। यह विधा सीमित आकार में गहन कथ्य, सघन संवेदना तथा संरचनात्मक संयम की अपेक्षा रखती है। स्वतंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में अनेक रचनाकारों ने लघु उपन्यास को अभिव्यक्ति का प्रभावी माध्यम बनाया, जिनमें रामदरश मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी रचनाओं में ग्राम्य जीवन, मध्यवर्गीय यथार्थ तथा मानवीय संवेदना का सहज और प्रामाणिक चित्रण मिलता है। 'एक था कलाकार' इसी परंपरा की एक महत्वपूर्ण कृति है, जो अपने कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर लघु उपन्यास की विधागत विशेषताओं को मूर्त रूप देती है। यह रचना मुख्यत: देवेश नामक पात्र के इर्द-गिर्द संगठित है, जिसके माध्यम से बाल सुलभ कौतूहल, पिता-पुत्र सम्बन्ध, युवा जीवन, कलाकार-चेतना, सामाजिक संदर्भ और आंतरिक द्वंद्व की अभिव्यक्ति होती है।

हिंदी कथा साहित्य के प्रारंभ के साथ ही लघु उपन्यास भी लिखें जाने लगे। लेकिन लंबे अरसे तक लघु उपन्यास को उपन्यास के तरह ही देखा गया। लेकिन लघु उपन्यास अपने शिल्प, कथ्य एवं महत्व तीनों ही आयामों पर उपन्यास से भिन्न है। लघु उपन्यासों पर विचार करते हुए घनश्याम मधुप लिखते है कि ''हिन्दी लघु उपन्यास समय की मांग को लेकर उद्‌भूत हुआ है। कहानी की सघनता और सुगमता लेकर तथा उपन्यास की सरंचना एवं जीवन यथार्थ को आत्मसात करते हुए इस विधा में इन दोनों के गुण विद्यमान हैं। दोनों के गुण इसलिए कि कहानी या उपन्यास यदि दोनों में से किसी एक में भी लघु उपन्यास की संभावना निहित होती तो इस विधा का जन्म ही नहीं होता।''[1] जहां उपन्यासों में मुख्य कथा के साथ अन्य गौण कथाएं चलती रहती हैं जिससे उनके शब्द सीमा और पात्रों की कोई निश्चित योजना नहीं होती। प्रेमचन्द की कालजयी कृति 'गोदान' में लगभग पचास से अधिक पात्र हैं। वहीं लघु उपन्यास अपनी संरचना में बेहद कसा और केवल एक कथ्य को लेकर आगे बढ़ने वाला होता है। इनके

अनावश्यक विस्तार की संभावना सीमित होती है जिससे लघु उपन्यास पाठकों में लोकप्रिय बनता जाता है। 'एक था कलाकार' इन्हीं मानदंडों पर एक बेहतरीन लघु उपन्यास है।

सन 2018 में प्रकाशित यह रचना एक सामान्य पात्र देवेश को केन्द्र में रख कर लिखा गया है। पात्र अपनी साधारणता के साथ विशिष्ट छाप छोड़ने में समर्थ रहा है। मिश्र जी इस लघु उपन्यास में सहजता और प्रवाह के साथ देवेश का चरित्र गढ़ते हैं और पाठकों को उससे बहुत कुछ सीखने के लिए खुला छोड़ देते हैं। इस लघु उपन्यास में दो मुख्य पात्र-'शिवनाथ और देवेश' हैं। पूरा उपन्यास शिवनाथ के माध्यम से अपनी कथ्य को बढ़ाता चलता है।

रामदरश मिश्र बड़े आंचलिक उपन्यासकार माने जाते हैं। आंचलिकता उनकी प्रत्येक कृति की प्रमुख घटक है। वे गांव से जुड़े बेहद सहज एवं संवेदनशील रचनाकार है। लेकिन यह लघु उपन्यास गांव से निकलकर शहर के एक बालक देवेश तक पहुंचता है जो बेहद स्वच्छंद एवं उन्मुक्त जीवन का आकांक्षी है। उसकी जीवन यात्रा तमाम घटनाओं एवं उतार-चढ़ाव से होते हुए अंत की ओर बढ़ जाता है। वह अपनी जिद के साथ अपनी तरह का जीवन जीते हुए पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है। वह कलाकार अपने जीवन एवं इर्द-गिर्द कलात्मकता भरने के लिए सफल कलाकारों की भांति किसी पर्दे पर आता है और अपना अभिनय पूरा कर पर्दे से हमेशा के लिए विदा हो जाता है। कथानक छोटा, कसा हुआ और लघु उपन्यास के स्वरूप को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

इस लघु उपन्यास की शुरुआत शिवनाथ जी द्वारा अचानक देवेश द्वारा लिखे एक कहानी के सामने आ जाने से होती है। शिवनाथ जी अतीत में लौट जाते हैं एवं पूर्वदीप्ति शैली में लघु उपन्यास चल पड़ता है। शिवनाथ जी सोचते हैं, ''हाँ इधर देवेश कहानियाँ लिखने लगा था। कई अच्छी कहानियाँ मैंने छपवाई किंतु वह अपनी कहानियों का प्रकाशन देख नहीं सका। अचानक वहाँ चला गया जहाँ से कोई लौट कर नहीं आता।''[2] कथानक पूरी कौतूहलता से आगे बढ़ता है, मुख्य पात्र देवेश की शिवनाथ जी द्वारा संस्मरणात्मक उपस्थित जीवंत लगने लगती है। शिवनाथ बीएचयू में पीएचडी शोधार्थी थे तब उनकी पत्नी भारती जी ने देवेश को जन्म दिया था। शिवनाथ जी की स्थिति आर्थिक रूप से काफी खराब होते हुए भी भारती जी की कुशल गृह प्रबंधन ने देवेश को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दिया। देवेश के जन्म होने के बाद भारती इंटर की पढ़ाई पूरा करने लगती है। ऐसे में माँ-पिता दोनों के दिन भर बाहर रहने के कारण देवेश की देखभाल के लिए एक नौकर की आवश्यकता महसूस होती है। 15 वर्षीय नौकर संवरूआ, देवेश की देखभाल करने के लिए घर आता है। लेकिन संवरूआ के आने से देवेश बीमार रहने लगता है और एक दिन किसी पड़ोसी से पता चलता है कि संवरूआ, देवेश को बाहर की वस्तुओं का लत लगाता है। भारती जी द्वारा देवेश के लिए रखा गया भोजन, दूध वह खुद ही खा जाता था। मौजूदा समय में बच्चों की परवरिश एक महत्वपूर्ण मुद्दे के तौर पर उभरते जा रहा है। माता-पिता दोनों के कामकाजी होने के कारण बच्चों को होने वाली समस्याएं मिश्र जी ने इस लघु उपन्यास में उठाई है। परिवार की आर्थिक जिम्मेदारी जिसपर ना हो उसे बच्चों की देखभाल के लिए घर रहना पड़ता है। अक्सर अपना कार्य छोड़ माँ ही बच्चों के लिए रूकती हैं। मिश्र जी ने इस लघु उपन्यास में सामाजिक संरचना के अनुसार ही भारती जी की पढ़ाई छुड़वाई है। कितने ही पिता समाज में आज विद्यमान हैं जो अपने बच्चों की देखभाल के लिए अपना रोजगार छोड़ सकें। ऐसी त्यागें माँ ही करती हैं। लघु उपन्यासों में वातावरण कथानक के साथ ही निर्मित होता चलता है। इसमें बड़े उपन्यासों के तरह वातावरण निर्माण के लिए अवकाश नहीं बचता। ऐसे में मिश्र जी ने देवेश के चरित्र को साधारण रखने लिए रोजमर्रा की घटनाओं का ही सहारा लिया है। इससे कथानक अधिक वास्तविक लगता है।

शिवनाथ जी के शोधकार्य पूर्ण होने के बाद भी उन्हें कोई नौकरी नहीं मिली। कई साक्षात्कारों के बाद भी निराशा ही हाथ लगी। उनसे कम पढ़े-लिखे उनके मित्र नौकरियां करने लगे थे। भारत में उच्च शिक्षा की नाजुक स्थिति पर मिश्र जी लिखते हैं कि ''बड़ी उपहासस्पद स्थिति होती है कि अनेक लोग मैट्रिक, इंटर, बी.ए. करके किसी न किसी नौकरी से जुड़ गए थे और वह पी.एच.डी. करके बेकार घूम रहा था।''[3] अंततः शिवनाथ जी को बड़ौदा विश्वविद्यालय से हिंदी प्रवक्ता के लिए बुलावा आया। शिवनाथ अपने हिंदी प्रदेश से निकलकर दूसरे भाषा-भाषी क्षेत्र के लोगों के बीच पहुंचकर सोचते हैं कि-''अपने कहे जाने वाले शैक्षिक परिवेश ने तो उसे अपने बीच जगह नहीं दी किंतु दूरदराज के इस नगर ने उसे अपना लिया।''[4] शिवनाथ जी इस अनजान प्रदेश में कार्य करते हुए अपनेपन की तलाश करते रहते हैं। भारती, देवेश और विभा (देवेश की छोटी बहन) भी इस नए परिवेश में

घूलने-मिलने लगते हैं। दूरियां भेद मिटा देती है। मिश्र जी लिखते हैं कि-''अपने प्रदेश से दूसरे प्रदेश में चले जाओ, अपना सारा प्रदेश घर सा लगने लगता है। और यदि किसी दूसरे देश चले जाओ तो अपना पूरा देश अपना घर बन जाता है। सही है- दूर जितना ही चला जाता हूँ पास आता है घर।''[5] अकादमिक जगत से सम्बंधित सभी लोग रोजगार और पक्षपात की समस्याओं से जूझते रहे हैं। मिश्र जी कुछ शब्दों में ही ऐसी समस्याओं से गुजरे तमाम लोगों की सजीव उपस्थिति शिवनाथ के माध्यम से करा देते हैं। वर्तमान समय अत्यधिक व्यस्तता और समय के अभावों से घिरा हुआ है। पाठक कम समय में ही बड़ी बात जान लेना या उनका आस्वाद कर लेना चाहता है। समय और पाठकों दोनों को ध्यान में रखकर लिखा गया यह लघु उपन्यास कम शब्दों में भी अपनी बात रखने में सक्षम हुआ है।

बालक देवेश अब धीर-धीरे बड़ा होने लगता है। इस क्रम में शिवनाथ और भारती उसमें सत्यनिष्ठा, ईमानदारी एवं नागरिक बोध देखकर प्रसन्न होते हैं। देवेश बेखौफ किसी से उलझने और गलतियों के प्रतिकार के लिए हमेशा सज्ज रहता है। उसकी दोस्ती मोहल्ले में आवारा कहे जाने वाले लड़कों से हो जाती है। उसका आवारापन भी सलीकेदार है। वह लड़कियों पर फबतियाँ कसने वालों से उलझ जाता है। प्रभावशाली कपूर के पालतू कुत्ते के काटने से हुए बच्चे की मौत पर जब पूरे मोहल्ले से कोई आवाज नहीं उठाता तब भारती जी और देवेश पुलिस के समक्ष आवाज उठाते हैं। देवेश बहादुरी से पुलिस के समक्ष गवाह बनने को तैयार हो जाता है। वह अपनी माँ के मना करने पर बोलता है,''माँ इन्हें चुप रहने दीजिए। मैं इस अन्याय के खिलाफ चुप नहीं रहूँगा। मैं साइन कर देता हूँ।''[6] बालक देवेश में बचपन से ही सच्चे इंसान और अच्छे नायक के गुण विद्यमान हैं। लेकिन शिवनाथ-भारती को देवेश की पारंपरिक शिक्षा में अरुचि देखकर उसके भविष्य की चिंता घेरे लेती थी। वे यह सोच आश्वस्त हो जाते कि जरूरी नहीं कि सभी पढ़ाई में अच्छे हों। छोटी-छोटी घटनाएं ही देवेश के चरित्र को निखारने में मदत करती है।

छोटी बीमारी भी नजरअंदाज करने पर बड़ा रूप धारण कर लेती है। देवेश का गर्दन अचानक एक दिन बायीं ओर झुक जाता है। माता-पिता इसे देवेश की शैतानी समझ कर कुछ दिन नजरअंदाज करते हैं। बाद में देवेश का पूरा बायां हिस्सा काम करना बंद कर देता है। नया परिवेश एवं आर्थिक अभाव संकट को और बड़ा बना देता है। जांच होने पर पोलियो निकलता है और फिर पूरा परिवार दुखी हो जाता है। हँसता-खेलते इस निम्नमध्यमवर्गीय परिवार पर अचानक इस तरह दुखों का पहाड़ टूट पड़ता है। देवेश को अस्पताल में भर्ती कर लिया जाता है। भारती अपनी बेटी विभा को लेकर घर चली जाती है, शिवनाथ को रात्रि में अस्पताल में रुकना पड़ता है। देवेश बेहोशी की हालत में अस्पताल के अंदर है। ऐसे में रामदरश मिश्र ने शिवनाथ के माध्यम से हॉस्पिटल के रात का बड़ा ही जीवंत वर्णन प्रस्तुत किया। शिवनाथ उस दिन को याद करते हुए सोचता है,''लगता था अस्पताल भर का दर्द मेरी छाती में समा गया है। दो-एक बार रोने की आवाजें सुनाई पड़ी, लगा कोई गुजर गया है। विलाप की आवाजें लूक की तरह मुझे भीतर तक चीरतीं और अपने पीछे दहशत का भयानक सन्नाटा छोड़ती गुजर गई। घर में जागती पत्नी के हंसने की आवाज मेरे भीतर बज रही थी मैं लड़ रहा था। जागते-जागते नींद आ जाती थी तो चौंककर जाग जाता था कि ऊपर से कोई बुरी खबर न आ रही हो। सारी रात बुरी खबरों की आशंका से लद गई थी और मैं उसे जागते-सोते ढो रहा था।''[7] यह स्थिति सभी ने कभी न कभी महसूस की होगी।

देवेश का मन पढ़ाई से ज्यादा अन्य गतिविधियों में लगता था। वह महापुरुषों के विषय में पढ़ता, क्रांतिकारियों सा बनने का प्रयास करता। बालक देवेश अपनी प्रेरणा तमाम महापुरुषों से ग्रहण करता था। एक दिन देवेश, भगत सिंह से प्रेरणा लेकर देश की आजादी के लिए क्रांतिकारी बनने का फैसला किया लेकिन जैसे ही उसे पता चला कि देश तो पहले से ही आजाद है वह थोड़ा निराश हो गया। शिवनाथ जी के एक मित्र विद्वान प्रोफेसर शुक्ल द्वारा पढ़ाई में अरुचि को लेकर पूछे गए सवाल पर देवेश कहता है कि-''चाचा जी मैं किताब की अपेक्षा जीवन को अधिक पढ़ना चाहता हूँ। मुझे साँप काट लेगा तो क्या पंत जी की कविता मुझे बचाने आएगी? क्या जिन्दगी की लड़ाई कोर्स बुक से लड़ी जाएगी?''[8] देवेश के इस प्रकार के तर्क और जीवन को समझने की जिज्ञासा स्तब्ध करने वाला है।

देवेश बचपन से ही जिद्दी और जिज्ञासू स्वभाव का था। उसे शिवनाथ जी समय-समय पर नैतिक शिक्षाएं भी देते थे। माता-पिता के संस्कारों का गहरा असर उनके बच्चों पर पड़ता है। देवेश की परवरिश भले ही शहर में हुई लेकिन शिवनाथ जी के साथ उसने दो बार गांव भ्रमण किया था। उसे

गवईपन,गांव एवं प्रकृति प्रेम इन यात्राओं में सहज अपने पिता से मिल गया था। शिवनाथ जी शहर से गांव तक के कठिन रास्ते में किस्से सुनाते हुए देवेश को प्राकृतिक जीवन के और करीब ला रहे थे। देवेश गाँव में भूत-प्रेत के किस्से सुनता है। वह कछार में लोगों द्वारा सहे जाने वाले बाढ़ की विभीषिका से भी परिचित होता है। तमाम निराशाओं के मध्य घिरा हुआ 'गाँव' कैसे छोटे-छोटे आयोजनों-उत्सवों के द्वारा अपने में ऊर्जा का संचार करता है। देवेश यह सब देखता और महसूस करता है। देवेश को गांव के सुख-दुख की सामूहिक चेतना प्रभावित करती है। वह अपने मन का छोटा हिस्सा गांव में ही छोड़ आता है। तभी तो बचपन में अहक-अहक कर रोते हुए अक्सर कहता था कि ''मेरा गोरखपुर का घरवा बुला रहा है- मुन्ना मुन्ना तुम कहां हो आ जाओ तुम्हारे बिना अच्छा नहीं लग रहा है।''[9] वह एक अच्छे किस्सागो की तरह गाँव से लौट कर माँ को गाँव यात्रा की सारी बातें बताता है। देवेश के अंदर अपने साहित्यकार पिता से किसी भी घटना में जीवंतता डालने का सलीका सहजता से प्राप्त रहता है। वह कम उम्र में ही गाँव के मेले के सांस्कृतिक महत्व को समझ जाता है। वह भारती जी से कहता है, ''माँ बाजार तो शहरों में भी हैं और बड़े-बड़े हैं लेकिन उनमें वह रौनक और अपनापन नहीं देख पाता जो शिवपुर बाजार में देखा। वह बाजार सामान खरीदने का स्थान तो है ही जवार के तमाम लोगों के आपसी मिलन का भी स्थान है। वहाँ बाजार का अजनबीपन नहीं, अपनापन दिखाई पड़ा।''[10]

जीविकोपार्जन की समस्या और नौकरी की तलाश ने शिवनाथ जी को बड़ौदा से अहमदाबाद और फिर दिल्ली पहुँच दिया। मिश्र दम्पति तीन पुत्र और और दो पुत्री के साथ दिल्ली रहने लगे। देवेश प्रारंभिक शिक्षा उत्तीर्ण कर किरोड़ीमल कॉलेज से हिन्दी स्नातक करने लगता है। देवेश का चंचल मन यहाँ भी नहीं रमता। अपने स्वभाव के अनुसार ही वह भटकता रहता है। वह कभी रैगिंग करने वाले सीनियर छात्रों से भिड़ जाता तो कभी किसी दूसरे अभद्र बातकों के समूह से। देवेश पिटता और पीटता यहाँ भी अपने दोस्तों के केन्द्र में बना रहा। लेकिन पढ़ाई में वह और कमजोर होता गया। बी.ए. उसने बड़ी कठिनाई से थर्ड क्लास में पास की। मिश्र दम्पति को देवेश के भविष्य की चिंता और अधिक सताने लगी। माता पिता के कहने पर देवेश सेना में भर्ती होने के लिए जबलपुर भी गया। लेकिन सेना के अनुशासन और एटीकेट देवेश जैसे स्वच्छन्द इंसान को कहाँ बांध सकता था। उसका चयन नहीं हुआ। किसी परिचित द्वारा सिफारिश की बात पर देवेश कहता है,''मैं किसी की सिफारिश से सेना में नहीं जाऊँगा और सच बात तो यह है कि सेना का ऐटीकेट मेरे गँवई मिजाज को रास नहीं आएगा।''[11]

एक दिन देवेश बड़ी खुशी से आकर शिवनाथ जी से कलाकार (अभिनेता) बनने की बात करता है। देवेश जैसे बहुमुखी जिंदादिल इंसान के लिए कला ही समुचित जान पड़ती है। वह अपने पिता जी से कहता है, ''मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में ले लिया गया हूँ। अब मैं कलाकार बनकर स्वयं को तो सुख दूँगा ही, आप लोगों की चिंता भी दूर करूँगा।''[12] शिव दम्पति देवेश के निर्णय को स्वीकृति देकर उसे उसकी भविष्य में उड़ान भरने के लिए छोड़ देते हैं। देवेश नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षित होकर शीघ्र ही अपनी अभिनेयता और प्रभाव के कारण प्रसिद्धि प्राप्त करने लगता है। वह आषाढ का एक दिन, मैला आँचल, एक रुका हुआ फैसला जैसे नाटकों में जीवंतता डालता गया।

देवेश में बचपन से ही एक चंचल बालक के सभी गुण विद्यमान थे। एक दिन शिवनाथ जी के हाथ में देवेश की डायरी लग गई। शिवनाथ जी ने उसमें देखा की बालक देवेश महापुरुषों से प्रेरणा लेकर उनसा बन जाना चाहता है। वह जो भी पढ़ता है उसे जीवन में तुरंत उतारना चाहता है। लेकिन यह चंचलता उसे स्थिर नहीं रहने देती, वह तुरंत आगे किसी और उद्देश्य को लेकर बढ़ जाता है। यहीं भटकाव देवेश में हमेशा देखने को मिली। देवेश अपनी खराब मित्रता और स्वभाव के कारण बहुत जल्दी ही नशे के सम्पर्क में आ गया। वह अब खूब शराब पीता और कई बार रात्रि में भी घर नहीं लौटता। इन्हीं सभी परिस्थितियों के बीच देवेश की शादी जया से हो गई। शादी के बाद भी देवेश की स्थिति जस की तस रही। वह रात में नशे की हालत में लेट से आता और खूब शोर करता। पूरा परिवार परेशान हो गया था। हेमंत की पत्नी जया बिलकुल शान्ति से सब सह लेती थी।

मौजूदा समय में युवक नशों के अत्यधिक आदी बनते जा रहें हैं। नायक देवेश भी दिन प्रतिदिन नशों से घिरता चला गया। नशे के कारण ही एक रात वह भयंकर दुर्घटनाग्रस्त हो गया। इस दुर्घटना से देवेश किसी प्रकार बच तो गया, लेकिन उसका कलाकार उस से दूर हो गया। देवेश को मंच मिलने बंद हो गए। जो मिले भी उसमें देवेश उतना अधिक प्रभावशाली

नहीं रहा।

शिवनाथ जी सोचते कि देवेश कितना प्रतिभाशाली था। वह अच्छी कविताएँ लिखता था, अच्छा अनुवादक था, बेहतरीन कलाकार था, कहानियाँ भी लिखने लगा था। लेकिन किसी भी क्षेत्र में देवेश की अस्थिरता ने उसे उच्च मुकाम प्राप्त नहीं होने दिया। स्वभाव में जिद और बेबाकीपन लिए देवेश आया और चला गया। इस कलाकार ने युवाओं को अपने जीवन से बहुत कुछ सिखने के लिए पीछे छोड़ दिया। जिस दिन देवेश की मौत हुई, वह दोपहर से परेशान था। वह मौत से जूझता रहा लेकिन उसने किसी को आवाज नहीं दीं। शिवनाथ जी सोचते है कि काश वह उस दिन जिद या स्वाभिमान से हटकर किसी को बुला लेता तो शायद बच जाता। जब उसकी मृत्यु हुई तो देवेश भरे-पूरे परिवार में भी अकेला था। अकेलापन भरे-पूरे परिवार में भी हो सकती है। उत्तरआधुनिक परिवारों की यह बड़ी विडंबना है कि आप भीड़ में भी अकेले हो सकते हो। यही अकेलापन तो आखिरी समय में देवेश के साथ भी था। शिवनाथ जी उस दिन की बात याद करने लगते हैं, ''काम वाली बाई बता रही थी कि जब वहाँ पर काम करने गई तो देखा कि देवेश जी परेशान से कभी कमरे के अंदर जा रहे थे कभी बाहर जा रहे थे। यानी कि वे दोपहर के बाद घंटों मौत से हाथापाई करते रहे थे। यदि वे नीचे आ गए होते और हम लोगों को उनकी परेशानी मालूम हो गई होती तो तुरंत नर्सिंग होम में दाखिल कर दिया होता। उम्मीद थी कि ये बच गए होते किन्तु वे बहुत जिद्दी थे। जिद के साथ ही जीवन जीते रहे और खोते-पाते रहे बल्कि खोते ज्यादा रहे।''[13]

निष्कर्ष

इस लघु उपन्यास ने शुरू से अंत तक अपनी रोचकता को संजोए रखा है। सबसे बड़ी कौतूहलता पहले पृष्ठ पर ही सामने आती है जब मुख्य पात्र देवेश की मृत्यु का पता चलता है। क्यों, कैसे आदि प्रश्न अंत तक बने रहते हैं। इस उपन्यास के सभी पात्र अपनी छाप छोड़ने में समर्थ हैं। शिवनाथ जी पिता, भारती जी माँ, एवं जया पत्नी के रूप में अपना छाप छोड़ जाते हैं। देवेश और शिवनाथ जी का जीवन हमें सामाजिकता, नैतिकता, नशा, बेरोजगारी, संघर्ष, स्वाभिमान से उत्पन्न संकट आदि कई मुद्दों से अवगत कराता है। यह उपन्यास युवा देवेश को केन्द्र में रखकर लिखा गया है जिसे निश्चित तौर पर सभी पाठकों को पढ़ना और सिखना चाहिए।

शोधार्थी
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मैदानगढ़ी, दिल्ली-110068

सन्दर्भ सूची

1. मधुप, घनश्याम, हिन्दी लघु उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1985, पृष्ठ संख्या-47
2. मिश्र, रामदरश, एक था कलाकार, नमन प्रकाशन, 2018, पृष्ठ संख्या-07
3. मिश्र, रामदरश, एक था कलाकार, नमन प्रकाशन, 2018, पृष्ठ संख्या-16
4. वही, पृष्ठ संख्या-18
5. वही, पृष्ठ संख्या-18
6. वही, पृष्ठ संख्या-42
7. वही, पृष्ठ संख्या-21
8. वही, पृष्ठ संख्या-45
9. वही, पृष्ठ संख्या-17
10. वही, पृष्ठ संख्या-55
11. वही, पृष्ठ संख्या-69
12. वही, पृष्ठ संख्या-70
13. वही, पृष्ठ संख्या-09

जय प्रकाश नारायण

साठोत्तरी हिंदी कहानी में मध्यमवर्गीय जीवन का यथार्थ और संवेदनात्मक विश्लेषण

सारांश

साठोत्तरी हिंदी कहानी स्वतंत्रता के पश्चात सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक तथा मानव के जीवन में आये गहन परिवर्तनों की प्रतिध्वनि है। 1960 के दशक के बाद की कहानियाँ अर्थात् साठोत्तरी हिंदी कहानी की अवधि जब देश स्वतंत्रता के दो दशकों के भीतर ही विकास, नैतिकता, राजनीति और सामाजिक न्याय के प्रश्नों से जूझ रहा था। ऐसे समय में मध्यमवर्गीय जीवन, जो न पूंजीवाद वर्ग के साथ था और न ही श्रमिक वर्ग का संघर्ष झेलने में सक्षम हो सकता था। यही साहित्य का सबसे संवेदनशील और यथार्थपूर्ण विषय बन गया। इस काल की कहानियाँ मध्यमवर्गीय जीवन की विडंबनाओं, असफलताओं, आत्मसंघर्षों और स्वप्नभंग की करुण चित्रण करती है। साठोत्तरी कहानी में यथार्थ और संवेदनात्मक का ऐसा समन्वय देखने को मिलता है जिसने हिंदी कहानी को 'नई कहानी आंदोलन' से आगे बढ़कर मानवीय यथार्थवाद और मानवीय मूल्यों को दिशा प्रदान करती है। प्रस्तुत लेख के माध्यम से 1960 के बाद के दशक के कहानीकारों ने मध्यमवर्ग को किस प्रकार से अपनी कहानियों में स्थान दिया और उनकी भावनाओं और मूल्यों के विकास में योगदान दिया उसका दृष्टिपात करेंगे। यह विश्लेषण हमें समझाता है कि साठोत्तरी कहानी मात्र कथा नहीं बल्कि समाज का दर्पण है, जो मध्यमवर्ग की संवेदनाओं को जीवंत बनाती है और आज भी प्रासंगिक है।

साठोत्तरी हिंदी कहानी एक परिचय

हिन्दी कहानी का विकासक्रम भारतीय समाज के परिवर्तित होते हुए परिवेश और जीवन मूल्यों के साथ अंतर्संबंधित हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात हिंदी साहित्य में जहाँ आदर्शवाद, नैतिकता और रोमानी दृष्टि का प्रभाव था वहीं सन 1960 के बाद कहानी के स्वर में परिवर्तन होने लगा। यह परिवर्तन केवल विषयवस्तु तक सीमित न होकर शिल्प, भाषा, दृष्टिकोण और भावबोध सबमें व्यापक रूप से हुआ। इसी परिवर्तित काल को हम साठोत्तरी हिंदी कहानी के रूप में जानते हैं।

गोपाल राय के अनुसार, '''कहानी' अपने समकालीन समाज के प्रति सर्वाधिक संवेदनशील विधा मानी जाती है। हिंदी कहानी इसका अपवाद नहीं है।'' यह समय था जब कहानी ने समाज, राजनीति, व्यक्ति और व्यवस्था के बीच मौजूद अंतर्विरोधों को गहराई से समझने का प्रयास किया बल्कि आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों को यथार्थ रूप से लोगों को परिचित कराया। व्यक्ति के आत्मसंघर्ष, मानसिकता, मूल्य संकट और सामाजिक विघटन को गहराई से परखा।

साठोत्तरी हिंदी कहानी का राजनीतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

साठोत्तरी काल भारतीय समाज में संक्रमण का काल था। आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य को प्रभावित करती हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते। 1961 का दशक उद्योग-धंधों के विकास में एक नया युग लेकर आया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना में, जो अप्रैल, 1956 में शुरू होकर मार्च, 1961 में पूरी हुई, कृषि की तुलना में उद्योग को प्राथमिकता दी गयी थी। तीसरी योजना में भी, जो अप्रैल, 1961 में आरम्भ और मार्च 1966 में सम्पन्न हुई, उद्योग-धन्धों के विकास पर ही जोर बना रहा। परन्तु 1962 में चीन के भारत

पर आक्रमण ने इस विकास को बहुत बड़ा झटका दे दिया। इस घटना ने भारतीय चेतना को हिलाकर रख दिया। चीनी आक्रमण और उसके तीन वर्ष बाद 1965 में भारत-पाकिस्तान युद्ध के परिणामस्वरूप देश को अपने आर्थिक संसाधनों को युद्ध की जरूरतों को पूरा करने के लिए लगा देना पड़ा। पाकिस्तान पर भारत की विजय के कारण कई देश, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका, हमारे विरोधी हो गये और उनसे देश के विकास के लिए जो आर्थिक सहायता मिल रही थी, वह बंद हो गई। 1964-65 में अमेरिका से जो आर्थिक सहायता मिल रही थी वह 1968 में घटते-घटते आधी रह गयी। इसके कारण पंचवर्षीय योजना का कार्य कुछ समय के लिए स्थगित कर देना पड़ा। 1 अप्रैल, 1966 से 31 मार्च, 1969 के बीच, जिसे 'योजना अवकाश' काल कहा जाता है, पंचवर्षीय योजना का कार्य ठप रहा। इस अवधि में वार्षिक योजनाएँ बनती और कार्यान्वित होती रहीं। चौथी योजना 1 अप्रैल, 1969 को आरम्भ हुई और 31 मार्च, 1974 तक चली। मई, 1964 में भारत के प्रथम और स्वप्नदर्शी प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का निधन हुआ और 2 जून, 1964 को लालबहादुर शास्त्री ने प्रधानमंत्री पद सँभाला। 1965 में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ गया, जो दिसम्बर में समाप्त हुआ। 10 जनवरी, 1966 को शास्त्री जी का निधन हो गया। इन्दिरा गाँधी प्रधानमंत्री बनीं।

1966 का वर्ष सतत जन-विक्षोभ का, व्यापक आर्थिक असंतोष का समय रहा। इसका कारण मंहगाई, खाद्यान्न की कमी, बढ़ती बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, मूल्य विघटन और शहरीकरण की तीव्रता ने आम आदमी के जीवन को गहराई से प्रभावित किया। लोकतंत्र का आदर्श व्यवहार में आते-आते 'व्यवस्था' का संकट बन गया। इस दशक में सामाजिक-आर्थिक स्थिति में गिरावट जारी रही। 1962 से ही आर्थिक विकास की दर नीचे जा रही थी और योजना संकट में थी। घरेलू बचत और निवेश की दर अवरुद्ध ही नहीं हो गयी बल्कि नीचे भी गिरने लगी। भ्रष्टाचार, काला धन और काली अर्थव्यवस्था दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। इस कारण ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक क्षोभ और नगरीय क्षेत्रों में निम्नमध्यवर्ग तथा छात्रों और मजदूरों में असंतोष फैला हुआ था। इसके साथ ही पूरे असंतुष्ट समाज में असवैधानिक, यहाँ तक कि हिंसा माध्यमों का सहारा लेने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। देश के विभिन्न भागों में बढ़ता हुआ नक्सली आन्दोलन भी इसी का परिचायक था। इसी समय 'घेराव' नाम से औद्योगिक आन्दोलन का नया रूप उभरा जिसमें मजदूर कारखानों के प्रबन्धकों को कई घंटों, बल्कि कई दिनों, तक अपने कार्यालय में बन्द कर देते थे, जब तक कि उनकी माँगें पूरी न हो जाएँ। 'घेराव' की यह युक्ति धीरे-धीरे शिक्षण संस्थाओं तक में प्रवेश कर गयी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही गाँव की आबादी का नगर की ओर पलायन शुरू हो गया और लगातार जारी रहा। इसका कारण शिक्षा का प्रसार, औद्योगीकरण के कारण नगरों में रोजगार की सम्भावनाएँ, शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, सुरक्षा, परम्परागत सामाजिक बन्धनों से मुक्ति आदि की दृष्टियों से नगर में बेहतर जीवन का आकर्षण, आवागमन के साधनों का विकास आदि रहा है। गाँव का पढ़ा-लिखा वर्ग बेहतर जीवन के लिए गाँव से नगर की ओर भागने लगा। इसमें दो तरह के लोग थे। एक वर्ग गाँव में मजदूरी और बेगारी करने वालों का था, जिन्हें नगरों में रिक्शा चलाने से लेकर सड़क-निर्माण, भवन-निर्माण आदि के जो नगरीकरण के विकास के अपरिहार्य परिणाम हैं-काम आसानी से मिल रहे थे। कुछ को नवस्थापित उद्योगधन्धों में भी रोजगार मिल जाता था। नगर में नये-नये बसने वालों को घरेलू नौकरों की भी जरूरत होती थी। रोजगार की इन सम्भावनाओं के कारण गाँव का सदियों से शोषित-पीड़ित वर्ग नगर में अपने को सुरक्षित अनुभव कर रहा था। एक उल्लेखनीय बात यह है कि यह वर्ग गाँव को सदा के लिए छोड़कर नगर में बसने नहीं जाता था। वह शहर में कुछ पैसे जोड़कर गाँव लौटता था और वहाँ अपनी सामाजिक स्थिति सुधारने का प्रयास करता था। उसका समाज के उस वर्ग से संघर्ष होता था, जो पहले उसका शोषक और दमनकर्ता था।

इन सबके बीच सबसे अधिक प्रभावित हुआ—मध्यमवर्गीय व्यक्ति, जो आदर्श और व्यवहार, नैतिकता और स्वार्थ, आशा और निराशा के बीच झूलता रहा।

भारत में 1950 के आसपास कुल आबादी में मध्यवर्ग का अनुपात 10 प्रतिशत के आसपास था। 1960 के दशक में भी यह अनुपात कायम रहा, यद्यपि जनसंख्या में हुई वृद्धि के कारण मध्यवर्ग की शक्ति में बढ़ोत्तरी हो गयी। मध्यवर्ग अपनी बौद्धिक और संसाधनात्मक क्षमता के चलते पहले से ही राजनीति और प्रशासन में अपना वर्चस्व स्थापित किए हुए था। इस काल में उसमें और भी वृद्धि हो गयी। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता गया शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में भी वृद्धि होती गयी और मुखर तथा संगठित मध्यवर्ग शैक्षणिक तथा अन्य

संस्थानों में इसका विरोध करने लगा। धीरे-धीरे यह मध्यवर्गीय शक्तिशाली विरोध राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रवेश कर गया और समकालीन जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करने लगा।

साठोत्तरी कहानियों ने इसी वर्ग के भीतर के अंतर्द्वंद्व को कथा का केंद्र बनाया। यदि प्रेमचंद के यथार्थ में किसान और श्रमिक थे, तो साठोत्तरी यथार्थ में सरकारी कर्मचारी, छोटे क्लर्क, बेरोजगार युवक, शिक्षित युवती और परिवार की जकड़न में फँसा व्यक्ति था। यही वर्ग स्वतंत्रता के बाद के भारत का सबसे प्रखर दर्पण बनकर सामने आया।

मध्यमवर्गीय यथार्थ : एक संवेदनशील प्रतिरूप

साठोत्तरी हिंदी कहानी में मध्यमवर्गीय जीवन का चित्रण मात्र बाह्य स्थिति का विवरण नहीं है, बल्कि यह उस मनोवैज्ञानिक दबाव, आर्थिक असुरक्षा, और सामाजिक पाखंड का उद्घाटन है जो इस वर्ग की पहचान बन गया। यह वर्ग ''सपनों और सच्चाइयों के बीच झूलता व्यक्ति'' है। वह मूल्य चाहता है, पर जीवन के दबाव में समझौता करता है। वह आदर्श की बात करता है, पर व्यवहार में स्वार्थ प्रधान हो जाता है। वह नैतिकता का रक्षक बनना चाहता है, लेकिन परिस्थितियाँ उसे भ्रष्टाचार के निकट ले जाती हैं। इसी द्वंद्व ने साठोत्तरी कहानी को गहरी मनोवैज्ञानिक धरातल दिया। जिसके अंतर्गत लेखकों ने कहानियों के माध्यम से अत्यंत संवेदनशील और यथार्थपूर्ण चित्रण किया और विभिन्न चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। यहां उदाहरण के माध्यम से निम्नलिखित लेखकों की कहानियों का अवलोकन कर विभिन्न पक्षों का अवलोकन कर सकते हैं।

प्रमुख कथाकार और उनका योगदान

कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, मार्कण्डेय और संजीव – नई कहानी से साठोत्तरी कहानी की धरातल के सेतु कमलेश्वर की कहानियाँ 'नई संवेदना' और 'साठोत्तरी यथार्थ' के बीच सेतु का कार्य करती हैं। उनकी कहानी 'राजा निरबंसिया' मध्यमवर्गीय व्यक्ति की आत्मसंघर्षपूर्ण स्थिति का गहरा चित्रण है। यह कहानी एक ऐसे व्यक्ति की है जो अपने भीतर की मानवीयता को बचाए रखना चाहता है, पर जीवन की विवशताएँ उसे बार-बार समझौते की ओर ले जाती हैं। उनके अनुसार– ''नई कहानी उस व्यक्ति की कहानी है जो अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है।''

उनकी कहानियाँ मध्यमवर्ग के मूल्यभंग, संवेदनात्मक शून्यता और आत्मस्वीकृति की दास्तान हैं।

राजेंद्र यादव की कहानियाँ, जैसे 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और 'गुलाबी जूते', मध्यमवर्गीय स्त्री-पुरुष के भीतर की असुरक्षा, बनावट और खोखले आदर्शों को उजागर करती हैं। इन्होंने यह दिखाया कि शहरी मध्यमवर्ग 'सुविधा' के नाम पर भावनात्मक रूप से शून्य होता जा रहा है। उनकी कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंधों की यथार्थवादी जटिलता है। यह जटिलता उस वर्ग के मानसिक यथार्थ को प्रकट करती है, जो आधुनिकता के प्रभाव में भावनात्मक रूप से विखंडित हो चुका था।

मोहन राकेश की कहानियाँ जैसे 'आखिरी चट्टान तक', 'सुनंदा की डायरी', व्यक्ति के भीतर के अकेलेपन, आत्मद्वंद्व और समाज से टकराव की गहरी संवेदना प्रकट करती हैं। राकेश के पात्र 'मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी' हैं, जो बौद्धिक रूप से सजग, पर भावनात्मक रूप से अस्थिर हैं। उनकी संवेदनशीलता ही उनका दुख है वे देखते हैं, समझते हैं, पर कुछ बदल नहीं पाते।

मार्कण्डेय की कहानियाँ जैसे 'मुठभेड़' और 'हंसमुख इंटर कॉलेज' में निम्न-मध्यमवर्गीय जीवन का कठोर यथार्थ है। उनके पात्र रोजमर्रा की संघर्षमय जिंदगी जीते हैं—जहाँ नौकरी, वेतन, प्रतिष्ठा और संबंध सब जीवन का बोझ बन चुके हैं। वे आशा और निराशा के बीच की तटस्थ स्थिति में खड़े हैं।

संजीव की 'आखिरी सफर' जैसी कहानियाँ संवेदना और यथार्थ का उत्कृष्ट समन्वय प्रस्तुत करती हैं।

ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया और काशीनाथ सिंह की कहानियों में यथार्थ और संवेदनात्मकता

साठोत्तरी हिंदी कहानी ने भारतीय समाज और व्यक्ति के बदलते स्वरूप को गहराई से समझने और व्यक्त करने का प्रयास किया। 1960 के बाद का भारत सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। स्वतंत्रता की आशाएँ टूटीं, मध्यवर्गीय जीवन भ्रम और असुरक्षा से भर गया। ऐसे समय में ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया और काशीनाथ सिंह जैसे कथाकारों ने यथार्थ को नए रूप में देखा और संवेदना को नया अर्थ दिया। इनकी कहानियाँ व्यक्ति के भीतर की टूटन, समाज की विसंगतियों और मनुष्य की जिजीविषा को अत्यंत मार्मिकता से अभिव्यक्त करती हैं।

ज्ञानरंजन—बौद्धिक यथार्थ और अंतर्मुखी संवेदना

ज्ञानरंजन साठोत्तरी कहानी के प्रमुख लेखक हैं जिनकी रचनाएँ विश्वविद्यालयों, शिक्षित मध्यवर्ग और साहित्यिक वर्ग

के भीतर के द्वंद्व को उजागर करती हैं। उनकी कहानियों का यथार्थ सिर्फ बाहरी घटनाओं तक सीमित नहीं, बल्कि व्यक्ति की अंत:चेतना और मानसिक विखंडन तक फैला हुआ है। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पिता' में पिता-पुत्र के संबंधों के माध्यम से आधुनिक समाज में भावनात्मक दूरी और पारिवारिक विघटन का यथार्थ उभरता है। वृद्ध पिता की असहायता और पुत्र की अपराधबोध भरी चुप्पी कहानी को गहरे मानवीय स्तर तक पहुँचा देती है। इसी प्रकार 'घंटा' में एक छोटे शहर के युवा की असुरक्षा, बेरोजगारी और अस्तित्वगत भ्रम को तीखे यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया गया है।

ज्ञानरंजन की संवेदना बौद्धिक और अंतर्मुखी है—उनके पात्र समाज से टकराने की बजाय भीतर से टूटते हैं। वे यथार्थ को अनुभव की गहराई और आत्ममंथन के माध्यम से प्रकट करते हैं।

दूधनाथ सिंह—राजनीतिक विघटन और अस्तित्व की संवेदना

दूधनाथ सिंह की कहानियों में आजादी के बाद के राजनीतिक और नैतिक विघटन का तीखा चित्रण मिलता है। वे व्यक्ति की अस्मिता, अन्याय के विरुद्ध आक्रोश और मानवीय करुणा को जोड़ते हुए यथार्थ को व्यापक अर्थ देते हैं।

उनकी कहानी 'माई का शोक' में माँ की मृत्यु के माध्यम से मध्यमवर्गीय जीवन की निष्ठुरता और मनुष्य की असहायता का अत्यंत करुण चित्र उभरता है। बेटा अपनी माँ की मृत्यु के समय उपस्थित नहीं हो पाता—यह घटना उसके भीतर अपराध-बोध और शून्यता भर देती है। यहाँ यथार्थ केवल पारिवारिक घटना नहीं, बल्कि आधुनिक व्यक्ति की संवेदनहीनता का प्रतीक है।

इसी तरह कहानी 'नई कहानी' में लेखक ने सामाजिक सच्चाइयों के बीच कहानी कहने की प्रक्रिया को ही प्रश्नांकित किया है। दूधनाथ सिंह के यहाँ संवेदना का रूप करुणा और विद्रोह दोनों से जुड़ा है। वे यथार्थ को बदलने की आकांक्षा रखते हैं, केवल उसका चित्रण नहीं करते।

रवीन्द्र कालिया—व्यंग्यात्मक यथार्थ और जीवन की सहज संवेदना

रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ अपने व्यंग्य और जीवन की सहजता के लिए जानी जाती हैं। वे छोटे शहरों के मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को हँसी और कटाक्ष के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। उनकी कहानियों में सामाजिक पाखंड, नौकरशाही की भ्रष्टता और व्यक्ति की छोटी-छोटी आकांक्षाएँ यथार्थ के रूप में उभरती हैं। 'खुदा सही सलामत है' में वे दिखाते हैं कि कैसे समाज में ईमानदारी और नैतिकता की बातें केवल दिखावा रह गई हैं। पात्र परिस्थितियों के आगे झुक जाता है, लेकिन पाठक उसके भीतर के संघर्ष को महसूस करता है—यही संवेदना का स्रोत है। 'दिल्ली में एक मौत' में महानगर के अकेलेपन और संवेदनहीन जीवन का मार्मिक चित्र है। शहर की भीड़ में मनुष्य की भावनाएँ गुम हो जाती हैं, लेकिन कालिया के व्यंग्य में दर्द की गहराई छिपी होती है। उनकी संवेदना जीवन की हल्की फुल्की हँसी में पिरोई हुई करुणा है। वे मनुष्य की कमजोरियों पर हँसते भी हैं और उसे समझते भी हैं।

काशीनाथ सिंह—लोकजीवन का यथार्थ और मानवीय संवेदना

काशीनाथ सिंह ने हिंदी कहानी को बनारस की मिट्टी, भाषा और लोकजीवन से जोड़ा। उनका यथार्थ ठेठ, सजीव और जमीन से जुड़ा हुआ है। वे आम आदमी के संघर्ष, गरीबी और जीवन की जिजीविषा को आत्मीयता से प्रस्तुत करते हैं।

'अपना मोर्चा' उनकी प्रसिद्ध कहानी है, जिसमें बनारस के मजदूर वर्ग का जीवन, गरीबी, शोषण और संघर्ष चित्रित है। पात्र अपनी कठिन परिस्थितियों के बावजूद जिजीविषा से भरे हैं—वे टूटते नहीं, अपने 'मोर्चे' पर डटे रहते हैं। इसी तरह 'कबेरी' में स्त्री की आंतरिक पीड़ा और समाज की पुरुष-सत्तात्मक मानसिकता का सशक्त चित्र है।

काशीनाथ सिंह की संवेदना लोकधर्मी है—उनके पात्र बोलते हैं, हँसते हैं, झगड़ते हैं, पर मनुष्य होने की गरिमा बनाए रखते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन चारों कथाकारों में यथार्थ और संवेदना के स्वर अलग-अलग रूपों में प्रकट होते हैं, पर सभी का लक्ष्य मनुष्य की सच्ची स्थिति और उसकी अनुभूति को प्रकट करना है।

निष्कर्षत: ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया और काशीनाथ सिंह ने साठोत्तरी हिंदी कहानी को नए यथार्थ और संवेदनात्मक दृष्टि से समृद्ध किया। इनकी कहानियाँ व्यक्ति की आंतरिक सच्चाइयों को सामाजिक संदर्भों के साथ जोड़ती हैं।

ज्ञानरंजन का यथार्थ आत्ममंथन का है, दूधनाथ सिंह का राजनीतिक और नैतिक संकट काय रवीन्द्र कालिया ने हँसी

के बीच जीवन का दर्द दिखाया, जबकि काशीनाथ सिंह ने लोकजीवन की साँसों में यथार्थ की गर्मी महसूस कराई।

इन चारों के लेखन से यह स्पष्ट होता है कि साठोत्तरी कहानी केवल घटनाओं का यथार्थ नहीं दिखाती, बल्कि मनुष्य की आत्मा का यथार्थ प्रस्तुत करती है—जहाँ संवेदना उसके अस्तित्व की सच्चाई बन जाती है।

मध्यमवर्ग का द्वंद्व—संवेदना और विडंबना

साठोत्तरी कहानी में मध्यमवर्ग नायक का जीवन द्वंद्वात्मक है। वह न तो पूर्ण रूप से आदर्शवादी रह गया है, न पूर्ण व्यावहारिक। उसकी संवेदना उसे ईमानदार बनाए रखती है, पर उसका यथार्थ उसे भ्रष्ट तंत्र का हिस्सा बनने पर मजबूर करता है।

यह द्वंद्व साठोत्तरी कहानी का मूल कथ्य है। उदाहरणस्वरूप, 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' में नायिका की आर्थिक असुरक्षा और आत्मसम्मान का टकराव दिखता है। वहीं 'राजा निरबंसिया' में व्यक्ति की नैतिकता और समाज की अपेक्षाओं के बीच की खाई उजागर होती है।

स्त्री और मध्यमवर्गीय यथार्थ

साठोत्तरी कहानी में स्त्री पात्रों का चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्त्री यहाँ मात्र गृहिणी या प्रेमिका नहीं है—वह संघर्षशील, संवेदनशील और आत्मपरक व्यक्तित्व के रूप में उभरती है।

राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, प्रभा खेतान आदि ने स्त्री की सामाजिक मनोवैज्ञानिक स्थिति को मध्यमवर्गीय संदर्भ में प्रस्तुत किया। मन्नू भंडारी की 'यही सच है' और उषा प्रियंवदा की 'वापसी' में स्त्री का आत्मसम्मान, भावनात्मक शून्यता और समाज से संघर्ष सजीव रूप में दिखाई देता है।

संवेदनात्मक विश्लेषण

साठोत्तरी कहानी का सबसे बड़ा योगदान उसकी संवेदनात्मक गहराई है। यह केवल घटनाओं का विवरण नहीं करती, बल्कि व्यक्ति के भीतर की टूटन, असंतोष, और निराशा को सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करती है। जहाँ भावना, सम्मान, परोपकार के स्थान पर व्यक्ति आत्ममुग्ध और स्व-केंद्रित हैं। यहाँ संवेदना करुणा नहीं बनती, बल्कि आत्मचिंतन का माध्यम बनती है। कथाकार अपने पात्रों के माध्यम से यह दिखाते हैं कि आधुनिक जीवन ने मनुष्य को कितनी तेजी से भावनात्मक रूप से विस्थापित कर दिया है।

भाषा और शिल्प

साठोत्तरी कहानियों की भाषा सहज, बोलचाल की और संवादप्रधान है। अब कहानी 'कहने' से ज्यादा 'जीने' लगी है। रूपक, प्रतीक, अंतर्मुखी शैली और बिंबों का प्रयोग कहानी को गहराई देता है। शहर, दफ्तर, परिवार, सड़क, यहाँ तक कि टेबल फैन और दीवार घड़ी तक—सब पात्र बन जाते हैं। यह यथार्थ और संवेदना का जीवंत मिश्रण है।

निष्कर्ष

साठोत्तरी हिंदी कहानी ने मध्यमवर्गीय जीवन को न केवल विषय बनाया, बल्कि उसे भारतीय समाज की आत्मा के रूप में चित्रित किया। इस वर्ग के माध्यम से कथाकारों ने व्यक्ति, समाज, और व्यवस्था तीनों की त्रासदी को उजागर किया एवं जीवन के पहलुओं के अंतर्गत संबंध विच्छेद, आत्ममुग्धता, स्व की प्राथमिकता, मूल्यों का ह्रास आदि को कहानी की माध्यम से दिखाने का प्रयास किया गया है।

मध्यमवर्ग का जीवन संघर्ष, समझौते, संवेदना और यथार्थ का प्रतीक बन गया- वह आज भी 'कहानी का नायक' है क्योंकि वही समाज का सबसे सजीव चेहरा है।

शोधार्थी, पीएचडी (हिंदी)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : njay82556@gmail.com

सन्दर्भ सूची

- राय, गोपाल.2023.हिन्दी कहानी का इतिहास.भाग-2. 1951-1975.पहला संस्करण.पृ.सं. 15-20,182-190. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
- नामवर सिंह.1992.कहानी : नयी कहानी.लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, इलाहाबाद
- कमलेश्वर.1972.कहानी और यथार्थ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
- राजेंद्र यादव.1980. नई कहानी का अर्थ. हंस प्रकाशन, नई दिल्ली.
- मन्नू भंडारी.1975.यही सच है. राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली.
- उषा प्रियंवदा.1975. वापसी और अन्य कहानियाँ, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली.
- मार्कण्डेय.1978. मुठभेड. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
- काशीनाथ सिंह.1998. काशी का अस्सी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
- स्वयंप्रकाश.1987.ईश्वर की आँख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
- मधुरेश.2024. हिंदी कहानी का विकास. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

दिव्या सिंह

समकालीन हिन्दी कविता में वर्णित पितृसत्ता एवं स्त्री

शोध सार

हिंदी कविता के विकास और उसकी अवधारणा में समकालीन परिदृश्य अनेक विविधताओं के साथ हमारे सामने आता है। समकालीन साहित्य बाजार, राजनीति और संस्कृति के घने रिश्तों से इस कदर प्रभावित है कि उपन्यास, कहानियों और यहां तक कि कविताओं में भी भूमंडलीकरण द्वारा निर्मित की जा रही संस्कृति का ही व्यापक फलक दिखाई देता है। आज की समस्याएं, चुनौतियां और संघर्ष पहले से बहुत हद तक भिन्न हैं। हिन्दी कविता में समकालीनता का निर्धारण कहां से किया जाए यह भी एक मुश्किल और चुनौती भरा काम है। समकालीन होने का अर्थ समय के वैचारिक और रचनात्मक दबाव को झेलते हुए उससे उत्पन्न तनाव और टकराहटों के बीच अपनी सृजनशीलता द्वारा अपने होने को प्रमाणित करना है। समकालीन लेखन के पीछे कोई केंद्रीय आंदोलन नहीं बल्कि स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक जैसे कई सारे विमर्श केंद्र में दिखाई देते हैं। समकालीन गद्य लेखन परंपरा के साथ-साथ कविता भी आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण से प्रभावित दिखाई देती है। यदि बात वर्तमान साहित्य की करें तो स्त्री विमर्श को केंद्र में रखकर खूब कविताएँ रची गयीं, उसमें भी शहरी स्त्रियों की मुक्ति की बात तो हर विमर्शकार कर रहा है लेकिन ग्रामीण अंचल की स्त्रियाँ आज भी इस परिधि के बाहर दिखाई देती हैं। उनकी कविताएं या तो लिखी ही नहीं गयीं यदि वे हैं भी तो समसामयिक घटनाओं के चलते साथ नहीं चल पाती, इसलिए प्रकाश में कम ही आ पाती हैं। समकालीन हिन्दी कविता स्त्री के स्वप्न संघर्ष तथा मुक्ति के स्वप्न को बड़े ही विस्तार के साथ रेखांकित करती है।

बीज शब्द

समकालीनता, भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण, आधुनिक पूंजीवाद, पितृसत्ता, सामंतवाद, लैंगिक-भेदभाव, बाजारवाद, महिला सशक्तिकरण, पावर-वुमेन, स्त्री-मुक्ति आदि।

मूल आलेख

नब्बे का दशक भारतीय इतिहास की वह महत्वपूर्ण विभाजक रेखा है, जिससे विश्व एवं राष्ट्रीय मानचित्र पर कुछ खास तरह की परिघटनाएं घटी हैं, जिन्होंने समाज की जीवनशैली, विचारधारा, राजनीति और साहित्य सबको गहरे स्तर तक प्रभावित किया। नई सदी के आरंभ में ही भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण के कारण निरंतर फैलते विश्व बाजार में बिल्कुल नई क्रूर और मनुष्य विरोधी स्थितियां सामने आई हैं। समकालीन हिन्दी कविता लोकमानस के उस स्वरूप को दर्शाता है, जिसमें उपेक्षित अस्मिताओं के अंकुरण और हासिए के समुदायों द्वारा पहचान का संकट की राजनीति के द्वारा स्त्री, दलित, आदिवासी जैसे उपेक्षित-वंचित समुदायों की तेज होती आवाज हमें साफ सुनाई देती है। ऐसे में हिंदी कविता में स्त्री को लेकर बहुत से रचनाकारों ने लिखा है; साथ ही भूमंडलीकरण इत्यादि के प्रभावों को भी अपनी कविताओं में स्थान दिया। जीवन के विभिन्न पड़ावों में उन्हें कौन-कौन सी चीजें सबसे ज्यादा प्रभावित करती हैं या वे कौन-कौन सी परिस्थितियां या विचार हैं जिन्होंने उनके मानस पर गढ़ी हुई स्त्री के भावों को पकने दिया। इस बात में भी कुछ विशेष नहीं माना जाता कि वह अपने दैनिक जीवन को किस तरह बिताती

हैं। एक विशेष प्रकार का बौद्धिक समुदाय तो यहां तक अपनी बात रखता है कि स्त्रियां बौद्धिक रूप से उदासीन होती हैं या स्त्रियों में बौद्धिकता होती भी है? इस प्रकार उनकी अस्मिता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिखाई देता है, उन्हें बौद्धिक रूप से शून्य समझा जाता है जबकि इसका मूल कारण है उनकी पराधीनता।

''स्त्री की स्थिति अधीनता की है। स्त्री सदियों से ठगी गई है और यदि उसने कुछ स्वतन्त्रता हासिल की है तो बस उतनी ही जितनी पुरुष ने अपनी सुविधा के लिए उसे देनी चाही। यह त्रासदी उस आधे भाग की है, जिसे आधी आबादी कहा जाता है।''[1]

वास्तव में स्त्री एक ऐसी पितृसत्ता की रूढ़ात्मक सामाजिक व्यवस्था वाली मनोवृत्ति पर निर्भर है, जिनकी मनोवृत्ति में यह बिल्कुल निश्चित है कि स्त्री दूसरे श्रेणी की नागरिक है तथा उन्हें संपत्ति, स्वास्थ्य, शिक्षा यहां तक कि खुद के देह पर भी प्राकृतिक अधिकार भी नहीं दिया जाता है। सुबह घर की चक्की से लेकर रात में कुछ शेष बचा हुआ भोजन का निवाला खाने तक उन्हें जी-तोड़ मेहनत करते रहनी पड़ती है। ग्रामीण परिवेश में तो आज भी महिलाओं को पूरे दिन खेत में खटना पड़ता है, पीने का पानी के लिए कई मील पैदल जाना पड़ता है, घास काटने से लेकर घर का सारा काम में उनकी अहम् भूमिका है। इन जिम्मेदारियों के बावजूद भी उनके श्रम को पितृसत्ता महत्वपूर्ण नहीं मानती। निर्मला पुतुल कहती हैं-

''अन्दर समेटे पूरा का पूरा घर
मैं बिखरी हूँ पूरे घर में
पर यह घर मेरा नहीं है
बरामदे पर खेलते बच्चे मेरे हैं
घर के बाहर लगी नेम प्लेट मेरे पति की है
धरती के इस छोर से उस छोर तक
मुट्ठी भर सवाल लिये मैं
दौड़ती-हाँफती-भागती
तलाश रही हैं सदियों से निरन्तर
अपनी जमीन, अपना घर
अपने होने का अर्थ!!''[2]

पितृसत्तात्मक व्यवस्था को परख कर साहित्य के साथ-साथ समाज में भी अपना स्थान बनाना स्त्री लेखन की अपनी मूल स्थापना और अंतिम लक्ष्य रहा है। यह रूढ़ पारंपरिक मानसिकता से टकराने की कोशिश में परंपरा और मानसिकता दोनों की शक्ति को एक कठोर एवं जटिल सामाजिक-मानसिक सत्यनिष्ठा और चुनौतीपूर्ण प्रश्न के रूप में सतह पर लाता है। भारतीय समाज में पितृसत्ता को एक व्यवस्था या नियम के रूप में अवलोकित करना अति आवश्यक है क्योंकि इसी अवलोकन क्षमता से पुरुष और स्त्री के बीच शक्ति और सामर्थ्य में असमानता के लिए जैविक निर्धारणवाद के दृष्टिकोण या मत को निरस्त करने में सहायता मिलती है। और इसी के साथ-साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों पर पुरुष का वर्चस्व कोई व्यापक घटना नहीं बल्कि यह एक व्यापक संरचना का भाग है। पितृसत्ता आज भी स्त्री के अस्तित्व को नकारती है, उसकी भ्रूण में ही हत्या कर दी जाती है। जो सम्मान पुरुषवादी मानसिकता ने पुरुषों को दिया है, वह सम्मान एक स्त्री इस पितृसत्तात्मक समाज में कभी नहीं पा सकी। समकालीन कविता जहां एक ओर इस घिनौनी सच्चाई को स्वीकार करती है वहीं दूसरी ओर इसका विरोध भी करती है। शैलचंद्रा कहती हैं-

''क्या हुआ गर लड़की हूँ
मुझे भी घर में थोड़ी जगह चाहिए
लड़की होने की सजा गर्भ में मुझे मत दो
हूँ जीवित प्राणी इस धरती का
मुझे भी मेरे हिस्से का थोड़ा प्यार दो
प्यार दो अधिकार दो
मुझे भी इस धरती में जीने का हक दो
हूँ जननी मैं पुरुष की
फिर क्यों जन्म से पहले ही घोंट दिया जाता है गला मेरा
इक्कीसवीं सदी में भी।''[3]

समकालीन लेखिका अनामिका भी इसी विभेद का विरोध करती हैं-

''कब तक बंटना,
कब तक छंटना,
देखिए मुझे अपने अंतिम दशमलव तक, फिर कहिए,
क्या मैं बहुत भिन्न हूं आपसे।''[4]

भारतीय समाज आज भी स्त्री को लाचार समझता है। वह उसकी अस्मिता को कमजोर कहकर नकारता है -

''नारी बेचारी है
पुरुष की मारी
तन से क्षुदित है
लपक कर झपक कर

अंत में चित्त है।''[5]

स्त्री की इस लाचारी की शुरुआत परिवार जैसी सामाजिक संस्था से होती है जहां स्त्री को कमतर इकाई के रूप में देखा जाता है। जन्म व परिवार के रास्ते से होती हुई स्त्रियां विवाह के बंधन में बांधी जाती हैं जो आज भी भारतीय समाज बड़ी ही कठोरता से लागू करता है। शहरी परिवेश में यह कठोरता भले ही थोड़ी लचीली हुई है, लेकिन ग्रामीण समाज में आज भी यह जीवन के एक अनिवार्य हिस्से के रूप में बड़ी ही कठोरता से लागू है ताकि पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को अपने लिए महज एक सेविका बनाकर उसे कमतर इकाई के मनोविज्ञान में ढाल सके। सिमोन ने इसी सन्दर्भ में कहा था-

'स्त्री होती नहीं बनाई जाती है।'

परिवार से ही लड़के के हिस्से शिक्षा व स्नेह तथा लड़कियों के हिस्से काम का आदेश दिया जाता है। परंपरागत शिक्षा के आरंभिक पाठ भी इसका स्मरण कराते हैं-

''याद था हमें एक-एक अक्षर
आरंभिक पाठों का
राम, पाठशाला जा राधा,
खाना पका
राम, आ बताशा खा
राधा, झाड़ू लगा।''[6]

भारतीय समाज में आज भी कम उम्र से ही लड़कियां व्रत पूजा इत्यादि करती हैं ताकि उन्हें ऐसा पति मिले जो उनकी मन की गांठों को खोल सके, उनके सुख-दु:ख को समझ सके लेकिन मिलते हैं ऐसे पति जो अपनी असफलता और कापुरुषत्व की खीझ खुद की पत्नी पर ही निकालते हैं। चंद्रकान्त देवताले की कविता देखिए-

''भयभीत आदमी के
साहसी किस्सों का सबसे बड़ा खजाना
उसकी बीवी के पास होता है।''[7]

इसी सन्दर्भ में अनामिका कहती हैं-

''आपने कभी
रोकर उठी औरत की आँखें देखी हैं?
विद्यापति-सूर के विरह गीतों से उठकर
कोर्ट-कचहरी के फारम पर
चस्पाँ होती औरत की आँखें?
रोती हुई नहीं,
रोकर उठी आँखों में कुछ एक होता है
पता नहीं क्या?''[8]

यह समाज इतना पिछड़ा है कि बेटियों के भविष्य की चिंता किए बिना उन्हें कम उम्र में ही ब्याह देना चाहता है जिससे वे पूरा जीवन एक बने बनाए ढांचे में निर्वहन करती हैं-

''कच्ची उम्र में ब्याही बेटियाँ
आत्मा को नैहर के डीह पर छोड़कर आई हैं
मजे के पुराने पोखर पर पुरइन के कुम्हलाए पत्ते पर
आज भी उनकी गुड़िया की ओढ़नी झूल रही है
विदाई के पहले की वो संसा की अहियरिया रात
रोज उनके जेहन में एक अदृश्य भय लिये उतरती है।''[9]

विवाह के बाद ससुराल में भी उन्हें प्रताड़ित होना पड़ता है-

''स्कूल और माँ दोनों छूटे
किताबों को हाथ में ही थामे
मैं अब ससुराल आ गई थी
अबोध मन अभी गिरस्ती नहीं सीख पाया था
कदम-कदम पर होती रहीं गलतियाँ
जलती उँगलियाँ पर गीला आटा चिपकाती
सुनती रही सास की कड़क आवाज
कि एक भी शऊर नहीं सिखाया माई ने
चली थीं कलेक्टर बनाने।''[10]

भारतीय समाज स्त्री को आज भी त्याग, समर्पण और सहनशीलता जैसे सामाजिक मूल्यों के केंद्र में ही रखता है। पितृसत्तात्मक ढांचे में फिट बैठना उसकी मजबूरी है। वे अजीवन गुलाम ही रहती हैं चाहे पिता का घर हो या पति का। अपने प्रेम जीवन में भी वे पुरुष मात्र की इच्छा का शिकार होती हैं, उनकी यौनिक पवित्रता भी सिर्फ उनके पति के लिए है। उदय प्रकाश कहते हैं-

''एक औरत नाक से बहता खून पोछती हुई बोलती है
कसम खाती हूं, मेरे अतीत में कहीं नहीं था प्यार
वहाँ था एक पवित्र, शताब्दियों से लंबा,
आग जैसा धधकता सन्नाटा
जिसमें सिक रही थी सिर्फ आपकी खातिर मेरी देह।''[11]

सामान्यतया स्त्रीवादी कविताओं का जन्म घृणा, खामोशी और दु:ख से हुआ है। कुछ घृणाओं को स्त्रीवादी कवयित्रियों ने पैरों के तलवों के नीचे दबा रखा है तो कुछ घृणाओं को अपने दोनों मजबूत हाथों से जकड़ रखा है। पैरों के तलवे के

नीचे दबी हुई घृणा पितृसत्ता की धूर्तता है, जो वर्षों वर्षों से चली आ रही है और हाथों से जकड़ी हुई घृणा स्त्रीवाद के नाम पर मर्दवादी समाज की नयी चालाकियाँ हैं। पितृसत्ता और मर्दवादी समाज का स्त्री-विमर्श दोनों एक ही सिक्के के अलग अलग पहलू हैं। आज की स्त्री पितृसत्ता के इस मर्दवादी व्यवहार का अनावरण करते हुए उनसे तीक्ष्ण प्रश्न पूछती है-

''क्या हूं मैं तुम्हारे लिए,
मात्र एक तकिया
थके मादे आओ और जिसपर सिर टिका लो।
एक खूंटी,
जिस पर ऊब, उदासी और
थकान से भरी कमीज टांग दो।
एक चादर,
जिसे जब चाहे जहां चाहे बिछा दो।''[12]

नब्बे के दशक के बाद बाजारवाद ने स्त्री का जो वस्तुकरण किया। उससे स्त्री की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक स्थितियों में बदलाव आया। बाजारवाद ने स्त्रियों को विक्रेता भी बना दिया है और विक्रय एवं उपभोग की वस्तु भी। उपभोक्तावाद के लिए स्त्री सिर्फ एक 'देह' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मंगलेश डबराल कहते हैं-

''अमेरिका में रोना मना है
उदास होना मना है
एक बहुत बड़ी आँख सबको देख रही है
पीछे मुड़कर जीवन को देखना मना है
वह किस्सा किसे नहीं मालूम
कि आलीशान दुकान में सामान बेचती
एक दुबली सी लड़की
जो कुछ सोचती हुई-सी बैठी थी
एक दिन एक ग्राहक के सामने मुस्कराना भूल गई
शाम को उसे नौकरी से अलग कर दिया गया।''[13]

आज बाजार की नजर स्त्री के सभी स्वरूप पर है चाहे गाँव के किसी खेत खलियान में श्रमरत स्त्री हो, घर में रहने वाली या घर का प्रबंधन देखने वाली हो या जंगल और पहाड़ों पे जीवन यापन करती स्त्री हो, वह बाजारवाद का शिकार है। प्रभा खेतान के शब्दों में-

''भूमंडलीकरण जीवन के हर कोने में अस्तित्व के हर रूप का वस्तुकरण करता है।''[14]

यद्यपि भारतीय संविधान में स्त्री और पुरुषों को समान अधिकार मिले हैं। इसके बावजूद भी राजनीति, शिक्षा, रोजगार व साहित्य में स्त्रियों की भागीदारी के जो अंतराल हैं, उनको नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इस विषय में जॉन स्टुअर्ट मिल की पुस्तक-'स्त्रियों की पराधीनता' के संपादकीय प्रस्तावना में ठीक ही लिखा है-'पूंजीवाद उत्पादन ने ऐसी परिस्थितियों को जन्म दिया है कि सामाजिक उत्पादन में मजदूर स्त्री की और अन्य नौकरी पेशा में तो भागीदारी बढ़ती चली गई, लेकिन उनकी श्रम-शक्ति का मूल्य सबसे कम एवं निम्न थी और उनकी पहले से मौजूद घर की दासता भी वैसी ही बनी रही। इसी के आधार पर यौन-भेद और यौन उत्पीड़न तथा यौनिक आधार पर पार्थक्य निर्वासन और उपनिवेशन के दुरूह सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्यों-संस्थाओं का एक पूरा तंत्र निर्मित और विकसित हुआ है। भारतीय पितृसत्तात्मक समाज में जो सम्मान पुरुषवादी मानसिकता ने पुरुषों को दिया है, वह सम्मान एक स्त्री कभी नहीं पा सकी। स्त्रियों की इस स्थिति को उजागर कर गरिमा श्रीवास्तव कहती हैं-

''सभी स्त्रियां दलित होती हैं क्योंकि वे परिवार और परिवार के बाहर लैंगिक विभेद का शिकार होती हैं।''[15]

समकालीन स्त्रीवादी कविताएं इस तंत्र का विरोध भी करती हैं तथा समाज में स्त्री की उपस्थिति को दर्ज करती है। अनामिका के शब्दों में-

''एक विनय पत्रिका मेरी भी तो है,
लिखी गई थी वो समानंतर
बांची नहीं गई अब तलक।''[16]

निष्कर्ष:

अत: हम कह सकते हैं कि भारतीय समाज में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक स्त्री जीवन की विडम्बनाओं का अवलोकन करें, तो हम पाएंगे कि स्त्री अपने अस्तित्व, अस्मिता, स्थिति एवं दशा के यथासंभव सुधार के प्रयत्न में निरंतर संघर्षरत रही है। भारतीय पितृसत्तात्मक समाज में लगभग सभी वर्गों में महिलाओं की स्थिति आरंभिक समय से ही दोयम दर्जे की रही है।

समकालीन हिन्दी स्त्रीवादी कविताएं स्त्री के इसी पक्ष को रेखांकित कर उनके हक में खड़े होने तथा पितृसत्तात्मक समाज में मर्दवादी मानसिकता के विरुद्ध अपनी आवाज मुखर करती नजर आती हैं। आज कविता स्त्री होने की यातना या त्रासदी को स्वर दे रही है। अधीनता की अनुभूतियाँ सघन एवं जटिल होकर मुक्ति की आवश्यकता बनती हैं और विशिष्ट

दृष्टिकोण से संपन्न होकर यह जरूरत, मुक्ति के रास्ते की खोज करती है। इस पहचान की तलाश उसे मात्र शरीर समझने वाली दृष्टि का विरोध भी है और वास्तविक स्त्रीत्व का आत्मविश्वास भी। आज आवश्यकता है उसे उसकी संपूर्णता में देखने की, समाज में लैंगिक भेदभाव समाप्त कर उसे भी सम्मान देने की। आज की नारी को, उसके स्वयं को अपना एक आकार चाहिए। आज समतामूलक समाज की स्थापना हो सके इसके लिए समकालीन हिंदी स्त्री कविता लैंगिक भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है। आज की स्त्री अपने हिस्से का प्यार और अधिकार मांगती हैं। वह अपने अधिकार सीमा का अतिक्रमण नहीं करती बल्कि अपने अधिकारों के प्रति जागरूक और अपने स्त्री होने के हक की मांग करती है। यह कविता चाहती है कि हाशिए का शिकार हुई स्त्री जाति की अनकही दास्तां को पाठक वर्ग उसी संवेदना के साथ समझे जो वास्तव में वह सदियों से झेल रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नब्बे के दशक की कविताएं स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक स्थिति का पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं। साथ ही वे उनके अस्तित्व, आत्मसम्मान और स्वाभिमान के लिए भी जागरूक दिखाई पड़ती हैं। समकालीन स्त्री कविताएं उनके जीवन और यथार्थ का अप्रतिम दस्तावेज हैं। इन कवि-कवयित्रियों नें उनके ममता, सुख-दु:ख, प्रेम, सौंदर्य और विद्रोह आदि कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। स्त्री-जीवन के शोषण, दमन, उत्पीड़न, उपेक्षा इत्यादि सभी पक्षों और पहलुओं की चर्चा करते हुए आज की कविता स्त्री-अस्मिता की लड़ाई तथा उसके स्वरूप को उजागर करने में अपना सक्रिय योगदान दे रही है।

शोध छात्रा
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
ई मेल - divyabhu1998@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. आजकल : मार्च 2013, पृष्ठ-27
2. पुतुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-2012, पृष्ठ-30
3. साक्षात्कार, शैलचंद्रा, इक्कीसवीं सदी में स्त्री, अप्रैल-2003, पृष्ठ-48
4. अनामिका, दूब-धान, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, पृष्ठ-96
5. पंचशील शोध समीक्षा, पृष्ठ- 82
6. वही, पृष्ठ-15
7. चन्द्रकांत देवताले, कवि ने कहा (चुनी हुई कविताएं), किताबघर प्रकाशन, 2012, पृष्ठ-97
8. अनामिका, दूब-धान, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-2020, पृष्ठ-55
9. रुपम मिश्र, एक जीवन अलग से, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2023, पृष्ठ-69
10. रुपम मिश्र, एक जीवन अलग से, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2023, पृष्ठ-96-97
11. उदयप्रकाश, रात में हारमोनियम, वाणी प्रकाशन, 2009, पृष्ठ-31-32
12. पुतुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-2012, पृष्ठ-28
13. डबराल मंगलेश, राजकमल प्रकाशन, हम जो देखते हैं, संस्करण-2015, पृष्ठ-75-76
14. खेतान प्रभा, बाजार के बीच बाजार के खिलाफ, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2004, पृष्ठ-32
15. गरिमा श्रीवास्तव, दलित स्त्री आत्मकथा, पृष्ठ-2
16. वही, पृष्ठ-74

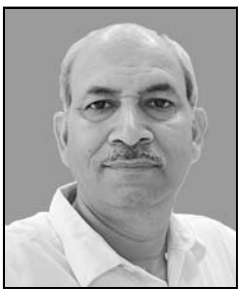

डॉ. श्रुतिकान्त पाण्डेय

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रणेता और पोषक के रूप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

शोध सार

''संघ भारत की अमर संस्कृति का आधुनिक अक्षय वट है, जो निरंतर भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय चेतना को ऊर्जा प्रदान कर रहा है। राष्ट्रीय चेतना के जिस विचार का बीज 100 वर्ष पहले बोया गया था, वह आज एक महान वटवृक्ष के रूप में खड़ा है। सिद्धांत और आदर्श इस वटवृक्ष को ऊँचाई देते हैं, जबकि लाखों-करोड़ों स्वयंसेवक इसकी टहनियों के रूप में कार्य कर रहे हैं।'' भारतवर्ष के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका का उल्लेख करने वाले ये शब्द प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी के हैं, जो उन्होंने 30 मार्च 2025 को नागपुर, महाराष्ट्र के संघ-मुख्यालय में ऊर्जावान स्वयंसेवकों को सम्बोधित करते हुए कहे थे। प्रस्तुत शोधपत्र में इस वक्तव्य तथा संघ की कार्यप्रणाली के आलोक में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रणेता और पोषक के रूप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका का विश्लेषण किया गया है।

इस अनुसन्धान की विषय-सामग्री, तथ्य तथा संख्यांक मुख्यत: संघ के आधिकारिक पत्रों पाञ्चजन्य और ऑर्गनाइजर से उद्धरण प्राप्त किए गए। साथ ही संघ के शतवर्षीय कार्यकाल में विहित नित्यचर्या और नैमित्तिक आह्वानों के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष परिणामों की समीक्षा की गई। संकलित तथ्यों और संख्यांकों के विश्लेषण तथा सारग्रहण लिए सामान्यीकरण पद्धति को स्वीकार किया गया। संकलित शोधसामग्री के अवलोकन से स्पष्ट है कि भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बीजवपन, पल्लवन तथा संवर्धन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका अनुपेक्षणीय है। संघ ने अपने सिद्धान्तों और कार्यों से न केवल भारतीय अपितु अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में भी भारतीय संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने के अभियान का नेतृत्व किया है। समृद्ध सांस्कृतिक विरासत, मूल्यों तथा परम्पराओं से वर्तमान पीढ़ी को परिचित कराने और उनकी श्रेष्ठता पर गर्वानुभूति जागृत करके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश को परमवैभव की ओर ले जाने के साथ ही पुन: विश्वगुरु बनाने हेतु भारत को उत्प्रेरित कर रहा है।

बीजशब्द

संस्कृति, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद, विश्वगुरु, स्वयंसेवक, पुनर्जागरण, परमवैभव, पुरुषार्थ।

1. विषयप्रवेश

संस्कृति अपने गहनतम रूप में किसी भूक्षेत्र के निवासियों के चिंतन, व्यवहार और जीवनदृष्टि का समन्वित रूप होती है, जिससे उनकी पहचान स्थापित होती है। भारत के संदर्भ में यह संकल्पना विशेष रूप से अभिज्ञेय है क्योंकि इस देश की सबसे बड़ी पहचान इसका भौगोलिक आयाम, राजनीतिक इतिहास, आर्थिक समृद्धि, सामरिक विस्तार इत्यादि न होकर वह सांस्कृतिक उत्कर्ष है, जिसके कारण इसे 'विश्वगुरु' की अभिनन्दनीय उपाधि से अलंकृत किया जाता है। इस संस्कृति को स्वरूप प्रदान करने और उत्कृष्टता की पराकाष्ठा तक लाने में समय-समय पर अनेक ज्ञान-परंपराओं, साहित्य धाराओं, धर्म-अभियानों, और जन-आन्दोलनों का महनीय योगदान रहा है, जिनमें वैदिक, जैन, बौद्ध, पौराणिक, भक्ति और नवजागरण के पड़ावों द्वारा संकेतित किया जा सकता है। इन सभी ने एक-दूसरे का योगदान ग्रहण करते हुए और अपनी आहुति देते हुए भारतीय संस्कृति विश्व-वन्द्य बनाने में भी योगदान किया है। आधुनिक समय में इस अभिवन्दनीय संस्कृति को

जन-सामान्य में जीवन्त करने और भारतवर्ष को परम-वैभव से समृद्ध करने का दायित्व स्वयंसेवक संघ ने अपने स्कन्धों पर धारण किया है। इस अभियान में उसकी भूमिका, सफलता और महत्ता का विश्लेषण प्रस्तुत शोध का लक्ष्य है। इस प्रक्रिया में संकलित तथ्यों, प्रमाणों और संकेतांकों द्वारा सिद्ध होता है कि आधुनिक युग में भारतवर्ष की सनातन गरिमा को जन-भावना में परिणत करने, उसके प्रति गौरव-भाव जागृत करने और सनातन-संस्कृति को पुनःस्थापित करने में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का योगदान अभिनंदनीय है।

1.1 संस्कृति

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा के सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु में क्तिन् प्रत्यय लगकर बना है, जिसके सामान्य अर्थ सुधारा गया, उन्नत, परिष्कृत आदि हैं। जब इस शब्द का प्रयोग किसी देश, समाज अथवा क्षेत्रविशेष के सन्दर्भ में होता है तो यह शब्द उनके ज्ञान, आचरण, परम्पराओं तथा विचारधारा की उत्कृष्टता की ओर संकेत करता है। शिवदत्त ज्ञानी (1944) के अनुसार संस्कृति का शाब्दिक अर्थ 'अच्छी स्थिति', 'सुधरी हुई स्थिति' आदि का सूचक है। यह सामान्य अर्थ है और इस शब्द के व्याकरणिक अर्थ को स्पष्ट करता है, लेकिन व्यापक परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ अधिक विस्तृत और व्यापक है। 'संस्कृति' मानव समाज की वह स्थिति है, जो इसके सदस्यों की अनेक पीढ़ियों के श्रम, प्रयास, साधना और चिन्तन से उत्पन्न होती है। इस प्रकार संस्कृति किसी समाज के लोगों के विचार, व्यवहार, जीवन-यापन और परस्पर सम्बन्धों की एक जटिल किन्तु एकीकृत स्वरूप है, जिसमें ज्ञान, कला, कौशल, नीति, मूल्य, परम्पराएँ और नैतिकता सम्मिलित होते हैं। सारतः कहा जा सकता है कि संस्कृति किसी समाज में व्याप्त श्रेष्ठ तथा परिष्कृत गुणों, संस्कारों और परम्पराओं का समग्र रूप है, जो उस समाज के सोचने, काम करने और जीवनयापन के तौर-तरीकों में निहित होता है। संस्कृति का नाम उस समाज, देश और समय के नाम से जाना जाता है जो उसे अपनाते हैं और विकसित तथा समृद्ध करते हैं। इसी आधार पर वैदिक संस्कृति, भारतीय संस्कृति और सनातन संस्कृति जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

प्रत्येक देश, काल और स्थान की अपनी संस्कृति होती है जो उसकी विशिष्ट पहचान होती है। प्रत्येक पीढ़ी एक विशिष्ट ज्ञान, विचार और व्यवहार-परम्परा के बीच उत्पन्न होती है। स्वाभाविक रूप से प्रगतिशील प्राणी होने के कारण वह नवाचारी विचार, व्यवहार और नियोजन से अपने परिवेश में परिवर्तन चाहती है और उनमें से अनेक की नायिका भी बनती है। इस प्रकार प्रत्येक संतति कुछ असन्तोष, कुछ नवप्रवर्तनों और भविष्य की योजनाओं से साथ सांस्कृतिक उन्नयन की भागीरथी को नवजीवन प्रदान करती है। प्रत्येक समाज की वंशपरम्परा के साथ उसके सोचने, करने, जीने और भविष्य की ओर देखने की शैली उत्कृष्ट होती चलती है। इसी क्रम से मानव समाज ने न केवल अपने आदिम परिवेश को अधुनातन किया है, वन-वनांतरों से गाँवों, ग्राम्य अंचलों से नगरों और महानगरों की यात्रा सम्पन्न की है।

संस्कृति किसी भी समाज, देश या क्षेत्र की पहचान होती है। इस आधार पर इसका स्वरूप किसी समय या स्थान तक सीमित होता है और इसी आधार पर उनका नामकरण भी होता है। यूनान, मिस्र, रोम, सिन्ध, सुमेरिया, माया, मेसोपोटामिया, इन्का आदि इनके उदाहरण हैं। लेकिन वैदिक अथवा सनातन संस्कृति इन सबसे अनेक अर्थों में विशिष्ट है। सर्वप्रथम तो यह विश्व की अन्य संस्कृतियों के नामशेष रह जाने पर भी न केवल अस्तित्ववान है अपितु उपयोगिता, मार्गदर्शन और गर्वानुभूति की दृष्टि से मूल्यवान भी है। दूसरी ओर, क्षेत्रीय संस्कृतियों की तुलना में इसकी व्यापकता न केवल अनुयायियों की संख्या अपितु क्षेत्रीय दृष्टि से भी अत्यन्त व्यापक है। वर्तमान में भी यह पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में बसने वाले विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और भौगोलिक दृष्टियों दृष्टि से परस्पर भिन्न मानस के बीच असाधारण सामान्यता के साथ व्याप्त है। यही नहीं, भारत से बाहर के देशों में रहने वाले भारतीयों और भारतीयता से प्रभावित विश्ववासियों के लिए भी यह श्रद्धास्पद और सम्माननीय है। यह संस्कृति अखिल विश्व में भारतीयों के बीच सेतु का कार्य करती है और उन्हें अपने परिवेश में विशिष्ट पहचान दिलाती है।

1.2 राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद का सामान्य अर्थ किसी देश के निवासियों की अपनी जन्मभूमि के लिए कृतज्ञता, भक्ति और समर्पण की भावना है। इसका उदय उस संवेदना से होता है जिसमें व्यक्ति अपने जन्म, जीवन और अभ्युदय में पार्थिव शक्तियों के उपकार का अनुभव करता है। भारतीय संस्कृति में भूमि को माता, संरक्षिका और उपकारिणी के रूप में स्वीकारा जाता है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में इस भाव की प्रस्तुति करते हुए कहा गया है कि ''भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ'' (अथर्व.

12/01/12) इस अर्थ में भूमि प्रत्येक भावुक व्यक्ति के लिए पूज्य और रक्षणीय है। इस भाव की अभिव्यक्ति देश के प्रति निष्ठा, सेवा और समर्पण से होती है। कोशीय परिभाषा में राष्ट्रवाद उस भाव का द्योतक है जो किसी भूक्षेत्र में रहने वाले सभी निवासियों को उनके धार्मिक, सामुदायिक, जातीय एवं भाषायी जैसे सतही विभेदों से ऊपर उठाकर भावनात्मक एकता के सूत्र में पिरोती है। इसका अर्थ है कि किसी देश में रहने वाले नागरिकों के लिए राष्ट्र-सर्वप्रथम की भावना राष्ट्रवाद का प्रखरतम उद्घोष है।

1.3 सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का सन्दर्भ भारतीय जीवनधारा का अभिन्न अंग रहा है। यह देश के साहित्य, समाज और जीवनशैली में समाहित है। आर्यावर्त से सप्तसिन्धु और भारत से हिन्दुस्थान तक प्रत्येक नाम तथा पहचान ने भारतीय राष्ट्रवाद को न केवल पुष्ट किया है; अपितु लोकमान्यता भी प्रदान की है। एक समय वैदिक साहित्य के उद्गम ने इसे आर्यों के आवास के रूप में पहचान दी, तो परवर्ती काल में भौगोलिक एकता ने इस भाव को परिपुष्ट किया। कभी इस भूभाग के ऋषि-मुनियों और मनीषियों के ज्ञान ने इसे भारतवर्ष यानि ज्ञान के पिपासुओं के देश की पहचान दिलाई तो आधुनिक समय में हिन्दुस्थान के नामकरण ने इसे एक सनातन परम्परा के अनुयायियों की भूमि के रूप में चिह्नित किया। ये सभी अभिधान इस देश के ज्ञान, साहित्य, संस्कारों और परम्पराओं की ओर संकेत करते हैं, जो आश्चर्यजनक रूप से अनादिकाल से अद्यावत् यथारूप प्रवाहमान हैं। सतही अनेकताओं के आधार में व्याप्त एकता की यह भावना भारतराष्ट्र के आदिकाल उसकी पहचान रही है और इसकी सहज अभिव्यक्ति यहाँ के लोकसाहित्य यत्र-तत्र उपलब्ध होती है -

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

विष्णु पुराण 01/03/01

इस श्लोक में स्पष्ट घोषणा है कि हिमालय से कन्याकुमारी तक विस्तृत इस विशाल देश के लोग एक ही संस्कृति के अनुगामी हैं और उनकी एक ही पहचान है; भारती अथवा भारतीय। ऐसे उद्धरण भारतीय राष्ट्रवाद के प्रबलतम उद्घोष हैं।

स्वातंत्र्यकाल में क्रान्तिकारियों, साहित्यकारों और समाज-सुधारकों के प्रयासों से राष्ट्रवाद का सांस्कृतिक स्वरूप उभरकर सामने आया। इस उत्कर्ष ने अंग्रेजों के उस अभिमान को निर्मूल कर दिया कि उनके आगमन से पहले भारत छोटे-छोटे राज्यों में बिखरा हुआ एक असंगठित भूक्षेत्र था, जिसे उन्होंने अपने साम्राज्य के रूप में संगठित किया। इसके उत्तर में महात्मा गांधी ने 'हिन्द-स्वराज' में लिखा था, कि भारत को अंग्रेज इसीलिए एक ध्वज के नीचे ला सके क्योंकि वह एक विचार, एक परम्परा और एक संस्कृति से आबद्ध भारतराष्ट्र के रूप में जीवन्त था। भारतीय परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को रेखांकित करते हुए पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने कहा कि भारत को अन्य किसी आयाम से अधिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही समझा जा सकता है। उनके इस वक्तव्य का सर्वाधिक प्रखर स्वरूप बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'आनन्दमठ' के लोकविश्रुत गीत 'वन्दे मातरम्' में दृष्टिगत होता है। इस गीत में अभिव्यक्त भारतीय संस्कृति की स्तुति इतनी हृदयहारी सिद्ध हुई कि यह अनायास ही स्वतन्त्रता सेनानियों और राजनेताओं से लेकर जनसामान्य का भी प्रिय उद्घोष बन गया। इसी की अनुगूंज रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित राष्ट्रगीत में भी अनुभव की जाती है। भारतीय राष्ट्रवाद की प्रखर अभिव्यक्ति, मातृभूमि के दैवी स्वरूप की स्तुति, और इसके प्रति सर्वथा समर्पित होने की भावना के कारण इस गीत को संविधान सभा द्वारा 24 जनवरी 1950 को आधिकारिक रूप से भारत का राष्ट्रगान स्वीकार किया गया।

1.4 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का तात्पर्य है अपनी इच्छा से राष्ट्र की सेवा करने वाले समर्पित तथा अनुशासित कार्यकर्ताओं का समूह। विश्व के सबसे अधिक सदस्य संख्या और संगठनों वाले इस संघ की स्थापना 27 सितम्बर 1925 को नागपुर, महाराष्ट्र में हुई। इसका प्राथमिक लक्ष्य सनातन संस्कृति और उसके अनुपालकों के हितों की रक्षा करना रहा है। इसके लिए हिन्दू पहचान, स्वाभिमान, संस्कृति और सभ्यता के प्रति गर्व की अनुभूति जागृत करना सर्वोपरि ध्येय रखा गया है। भारत और इसकी संस्कृति को जनमानस में पुनर्जीवित करना राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रमुख उद्घोष है। भारतीय संस्कृति और नागरिक मूल्यों को अग्रसर करने के लिए संघ की दैनिक शाखाओं में शारीरिक और बौद्धिक गतिविधियों के समन्वय से व्यक्ति निर्माण का कार्य किया जाता है। इसके लिए संघ की सुनिश्चित कार्यप्रणाली है जो केन्द्रीय स्तर पर व्यापक विचार-विमर्श से नियोजित की जाती है और दायित्ववान कार्यकर्ताओं

द्वारा शाखा स्तर तक अनुपालित होती है। जनसेवा, समानता, समरसता, आधुनिकता, सशक्तिकरण, जागरूकता और अहर्निश सेवा संघ की कार्यप्रणाली के मूलमन्त्र हैं। इनके माध्यम से संघ अपनी स्थापना के सौवें वर्ष में भारतराष्ट्र को परम वैभव की ओर ले जाने में देश का नेतृत्व कर रहा है।

2. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और संघ

संघ के द्वितीय संघचालक परमपूज्य गुरुजी के अनुसार ''हमारी संस्कृति हिमालय के समान उन्नत दृष्टि का शिखर है, जिस तक पहुँचने की आकांक्षा विश्व में अभी तक किसी ने नहीं की है। यह 'एकं सद्वविप्राः बहुधा वदन्ति' के रूप में एक सत्य की विविध प्रतीति है। हमारी संस्कृति की इन उत्कृष्ट विशेषताओं को पुनर्जीवित करने से ही हमारे समाज का सामान्य व्यक्ति अपने राष्ट्रीय जीवन की दृष्टि से प्रेरित होकर आज के व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा अन्य संकीर्ण विचारों के आवरण से बाहर निकलकर चरित्र सेवा तथा त्याग की भावना से आगे बढ़ेगा। ऐसा कोई राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता, जिसका औसत व्यक्ति बौना हो तथा जिसके बीच केवल कुछ विशालकाय असामान्य व्यक्ति खड़े हों।'' गुरुजी के ये विचार भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की परिभाषा के समान हैं, जो वैदिक से वर्तमान युग तक अक्षुण्ण विद्यमान है। इस अविरलधारा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि परोपकार और सभी का कल्याण भारतीय संस्कृति के मूल में है। इसमें लोक कल्याण और जनहित की भावना सर्वोपरि है। दूसरों के कल्याण और सुख में ही स्वयं का सुख अनुभव होता है। सभी का कल्याण हमारी संस्कृति का मूल आधार है। पुराने और नए के बीच सामंजस्य स्थापित करने, पुराने को बनाए रखने और नए विचारों को आत्मसात करने की क्षमता हमारी भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रखरतम स्तम्भों में त्रिऋण, चार-पुरुषार्थ, पंच महायज्ञ, षट्शास्त्र, कर्मफल, आस्तिकता, कृतज्ञता, समाज-सापेक्षता आदि अन्यतम हैं, जिनके प्रति प्रत्येक भारतीय के हृदय में अनुभव की जा सकती है। भारत-भूमि पर उपजे सभी मत-सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में इनके प्रति आस्था अनुभव की जा सकती है, जो भारत की सांस्कृतिक एकता का प्रबलतम प्रमाण है। संघ अपनी सामाजिक प्रकृति के साथ ही इन सांस्कृतिक अभिज्ञानों में से अधिकांश के प्रति समर्पित दिखाई देता है। संघ के जो छह उत्सव सभी स्वयंसेवकों द्वारा अप्रतिम उत्साह से मनाए जाते हैं, वे भारत की सांस्कृतिक परम्परा से ही स्वीकार किए गए हैं। ये उत्सव वर्ष-प्रतिपदा, मकर-संक्रान्ति, गुरु-पूर्णिमा, हिन्दू साम्राज्य दिवस, विजयदशमी और रक्षा बन्धन हैं। इन उत्सवों में एक ओर भारतीय संस्कृति का अमृत है तो दूसरी ओर समरसता की शक्ति है; जो एकसाथ मिलकर भारत को एक सूत्र में बाँधने तथा अपनी जीवनदायिनी जड़ों से बाँधे रखने का माध्यम बनते हैं। इसी प्रकार संस्कृत, सनातन परम्परा और जीवन मूल्यों के प्रति संघ की प्रतिबद्धता भी उसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रणेता और पोषक सिद्ध करती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अन्यान्य विशेषताओं में समानता और समरसता के प्रति उसकी आस्था भी अन्यतम है। संघ अपनी विचारधारा और कार्यप्रणाली में भारत और हिंदुस्तान में कोई विभेद नहीं करता। संघ का मानना है कि जैसे भारत में रहने वाले सभी नागरिक भारतीय हैं, उसी प्रकार हिन्दुस्तान में रहने वाले सभी देशवासी हिन्दू और सनातन संस्कृति के वाहक हैं। इस सन्दर्भ में सरसंघचालक श्री मोहन भागवत जी ने जनवरी 2016 में बेंगलुरु में भारतीय श्रृंग घोष शिविर में अपने संबोधन में कहा था कि ''भारतीय संस्कृति हमारी पहचान है। भारत केवल भूमि के एक खण्ड का नाम नहीं, अपितु उन विश्वासों और परम्पराओं का सम्पुट है, जो सृष्टि के आदि से सतत विकसित और समृद्ध होता रहा है। यह हमारी संस्कृति ही है जो हम सबको एक रखती है, इसीलिए यह हमारी पहचान है। हम सभी हिन्दू हैं क्योंकि हमने यहाँ की संस्कृति के मूलतत्त्वों को अपनाया और आगे बढ़ाया है।'' भारतीय संस्कृति से प्रभावित होने के कारण संघ के स्वयंसेवकों में किसी भी धर्म, क्षेत्र, भाषा और जाति आधारित भेदभाव नहीं पाया जाता और सभी मिलकर व्यक्ति निर्माण और भारत के परमवैभव को अक्षुण्ण रखने के लिए अहर्निश सप्रयास रहते हैं।

निष्कर्ष

''राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ केवल एक संगठन नहीं बल्कि अनुशासन, देशभक्ति और भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। राष्ट्रवाद की नींव पर खड़ा यह वट वृक्ष अपने विचारों और मूल्यों से देश के युवाओं को निस्वार्थ भाव से देश की सेवा करने के लिए प्रेरित कर उनके व्यक्तित्व और चरित्र का निर्माण कर रहा है।'' भारत के गृह मंत्री श्री अमित शाह जी का यह ट्वीट सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रति संघ की निष्ठा को शतशः अभिव्यक्त करता है। संघ की कार्यपद्धति इस बात का

प्रमाण है कि उसके स्वयंसेवक हर देश, काल और परिस्थिति में केवल और केवल राष्ट्रधर्म का पालन करते हैं। संघ स्वीकार करता है कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'संगच्छध्वं संवदध्वं', 'यस्तुसर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति' आदि भारतीय संस्कृति, समाज और राष्ट्र की मूल पहचान को व्यक्त करते हैं। संघ की दैनिक शाखाओं में इनका उद्घोष नियमितचर्या का अंग है। इनके माध्यम से प्रत्येक स्वयंसेवक 'राष्ट्र सर्वप्रथम' का भाव धारण करता है और भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण रखने में सर्वस्व समर्पण के लिए तैयार होता है।

संघ की दैनिक शाखाओं से प्रशिक्षण वर्गों तक में स्वयंसेवकों को पारम्परिक भारतीय मूल्यों, परम्पराओं और विश्वास परम्परा से अभिज्ञ किया जाता है। यह सुनिश्चित किया जाता है कि सभी प्रशिक्षु देश, धर्म, संस्कृति और हिन्दूत्व के मौलिक सिद्धान्तों से परिचित हों और किसी भी संकट अथवा आशंका की स्थिति में इनकी सुरक्षा सुनिश्चित करें। संघ का यह दृष्टिकोण भारतीय सांस्कृतिक प्रथाओं की निरंतरता को बनाए रखने में मदद करता है और सुनिश्चित करता है कि वे आधुनिक संदर्भ में भी प्रासंगिक बने रहें। संघ की इस अद्वितीयता को रेखांकित करते हुए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने नागपुर के संघ मुख्यालय में वरिष्ठ स्वयंसेवकों के सम्मुख कहा कि लगभग एकसौ वर्ष पहले बोया गया राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बीज, आज एक वट वृक्ष बन चुका है। यह संगठन भारत की महान संस्कृति को नई पीढ़ी तक पहुँचा रहा है। संस्कृति के संवर्धन और संरक्षण के लिए संघ की दैनिक शाखाओं में राष्ट्रवाद को सुदृढ़ करने वाले गीतों, प्रार्थनाओं, सुभाषितों, लघुकथाओं आदि का प्रस्तुतिकरण होता है जो स्वयंसेवकों को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रहरी के रूप में स्थापित करते हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
ईमेल – skpandey70@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. आम्बेकर सुनील, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : स्वर्णिम भारत के दिशासूत्र, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020.
2. कुमार विजय, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : क्या, क्यों, कैसे ?, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022.
3. गुप्तिसागर, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अग्रदूत: पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2023.
4. गोलवलकर माधवराव सदाशिव राव, विचार नवनीत (अनुवाद), ज्ञान गंगा प्रकाशन, जयपुर, 2000.
5. झा प्रभात, (सम्पादक) सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016.
6. मिश्र कौशल किशोर, (सम्पादक) भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, राहुल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 2021.
7. सिंह चन्द्रकला, सिंह सुधीर, दिनकर और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018.
8. ज्ञानी शिवदत्त, भारतीय संस्कृति, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई, महाराष्ट्र, 1944.

विवेक विक्रम सिंह

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में भाषा संबंधी चिंतन

हिंदी देश में सर्वाधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है। भारत बहुभाषी देश है जिसके विषय में कहा जाता है कि कुछ कोस के बाद भाषा बदल जाती है। आज के समय में भारतीय संविधान में 22 भाषाओं को जगह दी गई है। इसके अलावा अन्य बहुत सी भाषा हैं जो देश में बोली और समझी जाती हैं। बहुभाषी देश में यह समस्या रहती है कि किसे राष्ट्रभाषा और राजभाषा माना जाए। देश का संविधान जब तैयार हो रहा था तब भी यह समस्या सबके सामने आई थी। हिंदी और अंग्रेजी ऐसी भाषा है जिसका प्रचार प्रसार देश में सबसे ज्यादा है। इसमें भी हिंदी ऐसी भाषा है जिसका प्रयोग पढ़ें लिखे और अशिक्षित सभी करते हैं और यह देश की अपनी भाषा है।

भाषा पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का चिंतन विस्तृत है। भारत भाषाई विविधता की दृष्टि से समृद्ध हैं। हिंदी भाषा संस्कृत की उत्तराधिकारी भाषा है और उसे पूरे देश की जनता को जोड़कर रखना है। इसलिए हिंदी भाषा से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सहज होगी और सभी क्षेत्रीय भाषाओं को अपने साथ लेकर चलेगी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सहज भाषा के पक्षधर है- ''निस्संदेह मैं सहज भाषा का पक्षपाती हूँ। परंतु सहज भाषा मैं उसे समझता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य घरातल से ऊँचा उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान् बना देनेवाली भाषा। वह भाषा, जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अंधसंस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके किसी काम की नहीं है, भले ही उसमें प्रयुक्त शब्द बाजार में विचरनेवाले अत्यंत निम्नस्तर के लोगों के मुख से संग्रह किए गए हों। अनायासलब्ध भाषा को मैं सहज भाषा नहीं कहता। तपस्या, त्याग और आत्म-बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज भाषा है। बाजार की भाषा को, मोटे प्रयोजनों की भाषा को मैं छोटी नहीं कहता, परंतु मनुष्य को उन्नत बनाने के लिए जो भाषा प्रयोग की जाएगी वह उससे भिन्न होगी।''[1]

हिंदी साहित्य में कई साहित्यकार हुए हैं जिनकी भाषा बिल्कुल सहज थी क्योंकि उन्होंने कठोर परिश्रम से उसको हासिल किया था। कबीर, तुलसी, प्रेमचंद आदि कई साहित्यकारों के नाम इस शृंखला में आते हैं—''अपने को सहज ही दे देने की योग्यता कठोर तप और संयम से प्राप्त होती है। कबीरदास और तुलसीदास को यह योग्यता प्राप्त थी, हरिश्चंद्र और प्रेमचंद को प्राप्त थी; क्योंकि उन्होंने यह सत्य समझ लिया था कि मनुष्य जितना निःशेष भाव से दे सकता है, उतना ही उसका अपना सत्य होता है।''[2]

सहज भाषा के लिए कठोर तप की आवश्यकता होती है। आसानी से सहज भाषा नहीं प्राप्त होती है। भाषा के साथ ही लिखा जा रहा साहित्य भी सहज होना चाहिए और यह सब तभी सहज हो सकता है जब लेखक का व्यक्तित्व सहज होगा- ''भाषा सहज होनी चाहिए, साहित्य सहज होना चाहिए, पर सबके मूल में और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा और साहित्य के साधक को सहज होना चाहिए। सहज हुए बिना परम प्राप्तव्य प्राप्त नहीं हो सकता। यह परम-दुर्लभ सहजत्व प्राप्त करने के लिए आदिम मनोवृत्तियों से ऊपर उठना होगा, कर्म और ज्ञान के इंद्रियों को संतुष्ट करनेवाले मनोरागों को

वश में करना होगा और फिर अपने-आपसे ही रास्ता पूछ लेना होगा। बाहर से आकर कोई रास्ता क्या बताएगा! संयत और तपोनिष्ठ आत्मा ही कार्य के निर्णय में प्रमाण है, क्योंकि वह राग और द्वेष से ऊपर उठा होता है।''[3]

हिंदी से पहले संस्कृत ऐसी भाषा थी जो पूरे राष्ट्र की भाषा थी। अब हिंदी को उस दायित्व का निर्वहन करना है इसलिए संस्कृत के शब्दों को उसे आसानी से स्वीकार करना चाहिए। संस्कृत का ज्ञान सभी को हो तो अच्छी बात है क्योंकि संस्कृत के माध्यम से वे अपनी प्राचीन संस्कृति से जुड़ पाएंगे। लेकिन जो हिंदी में लिखने पढ़ने का कार्य कर रहे हैं उन्हें तो संस्कृत का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है-''हिंदी संस्कृत भाषा के शब्दों को अपनाने पर ही सारे देश की यथार्थ राष्ट्रभाषा होने का गौरव पा सकती है। संस्कृत का पढ़ना हर हिंदीप्रेमी के लिए आवश्यक है। प्रश्न है कि कहाँ से संस्कृत पढ़ायी जाए। मेरा विचार है कि हिंदी के साथ शुरू में ही संस्कृत को अनिवार्य विषय बनाकर समूचे देश को अच्छी हिंदी सिखाने का संकल्प बहुत लाभप्रद नहीं होगा। संस्कृत उन लोगों को जानना चाहिए जिन्हें हिंदी में पुस्तक लिखने का कार्य करना है। इसलिए ऊपर की कक्षाओं में संस्कृत को अनिवार्य विषय बना देना चाहिए। नीचे की कक्षाओं में उसे अनिवार्य बनाना हिंदी के लिए बहुत आवश्यक नहीं है। संस्कृत का उपयोग केवल हिंदी भाषा और साहित्य के लिए ही नहीं है, वह हमारे उच्चतर जीवन के साथ बहुत घनिष्ठ भाव से घुली हुई है। इसलिए वृहत्तर सांस्कृतिक जीवन के लिए उसे उपयोगी समझकर उसकी व्यवस्था विद्यालयों में हो तो उचित ही है।''[4]

हिंदी भाषा संस्कृत की उत्तराधिकारी है। आज हिंदी भाषा के ऊपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को अपने साथ लेकर चलना है। धीरे-धीरे हिंदी का प्रचार-प्रसार पूरे देश में हो रहा है। हिंदी भाषा जितना मजबूत होगी देश की राष्ट्रीय एकता उतनी ही मजबूत होगी ''हिंदी भाषी प्रदेशों के बाहर हिंदी का प्रचार हो रहा है और भविष्य में और भी तेजी से होगा। इस भाषा-प्रचार का उद्देश्य देश की एकता को बनाए रखना है। हमारे इस देश की कई प्रादेशिक भाषाओं में बहुत समृद्ध साहित्य है। इस संपूर्ण साहित्य की रक्षा, वृद्धि और प्रचार भी देश की एकता को दृढ़ करने में सहायक होंगे। इसलिए यह खूब अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि हिंदी का प्रचार और प्रसार किसी भी प्रादेशिक भाषा के प्रचार और प्रसार का विरोधी नहीं है। दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं। दोनों का उद्देश्य एक है। किसी भी प्रादेशिक भाषा के बोलनेवालों के मन में यह भाव नहीं पैदा होने देना चाहिए कि हिंदी का प्रचार उनके लिए क्षतिकर हो सकता है। जो लोग ऐसा कहते हैं वे देश की एकता पर ही कुठाराघात करते हैं।''[5]

देश के आम जनता की भाषा हिंदी या क्षेत्रीय भाषा है। अंग्रेजी कुछ पढ़े-लिखे अभिजात्य वर्ग की भाषा है। इसलिए हिंदी भाषा की उन्नति बहुत आवश्यक है जिससे सामान्य जन की पहुंच भी उच्च शिक्षा तक हो सके ''भाषा की उन्नति सच्ची उन्नति की माप है। अगर हमारे युवक देश की जनता की कमाई के करोड़ों रुपये व्यय करके विदेशी भाषा में ही लिखते-बोलते हैं तो इससे बढ़कर फिजूलखर्ची कुछ नहीं है। लेकिन फिजूलखर्ची तो यह है ही, यह बहुत बड़ा अन्याय भी है। याद रखिए कि ये विश्वविद्यालय जनता की रक्त और पसीने की गाढ़ी कमाई के बल पर खड़े हैं, किन्तु प्रतिदान में उन्हें मिलता क्या है? बुन्देलखण्ड के एक अनपढ़ किसान के मुँह से मैंने एक छोटा-सा वाक्य सुना था, जो जनता की प्रतिक्रिया की सच्ची आवाज है और शिक्षित समुदाय के बार-बार सोचने का आह्वान भी है। उस किसान ने कहा था कि यह पढ़ाई क्या है- 'थोड़ा पढ़े तो हर छूटै, ज्यादा पढ़े तो घर छूटै।' इस घर छोड़ पढ़ाई की कड़ी जाँच अब आवश्यक हो गई है।''[6]

हमारे देश में जितनी भाषाएं बोली जाती हैं उनमें से ज्यादातर भाषाओं का स्वरूप एक दूसरे से मिलता-जुलता है। क्योंकि संस्कृत के शब्द क्षेत्रीय भाषाओं में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। यदि कोई चाहे तो आसानी से देश की अन्य भाषाओं को सीख सकता है। भाषा और साहित्य पढ़ने पढ़ाने वाले को तो निश्चित ही और भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए ''हमारे देश में भाषा सीखने की कठिनाइयों का एक बेकार हौवा खड़ा किया गया है। उत्तर भारत की भाषाएँ एक दूसरी से इतनी मिलती हैं कि एक भाषा का जानकार थोड़े परिश्रम से प्राय: सभी को सीख सकता है। हिन्दी जानने वाले के लिए अपने देश की चार-पाँच प्रमुख भाषाओं को जान लेना कोई कठिन बात नहीं है। दक्षिण भारत की भाषाओं को सीखना भी बहुत मुश्किल नहीं है। शब्द-भण्डार तो बहुत कुछ एक ही है। फिर भी हम लोगों के मन में अपने देश की दो-चार भाषाओं के सीख लेने और उनके साहित्य का रसास्वाद करने की उमंग नहीं दिखाई देती। मैं देश के हर व्यक्ति को पाँच-छह भाषा सीखने की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं उन लोगों की बात कह रहा हूँ, जो भाषा और साहित्य के विशेषज्ञ होते हैं।''[7]

अंग्रेजी हमारे देश की भाषा नहीं है। वह विदेशी आक्रांताओं की भाषा है। अंग्रेजी की वजह से देशी भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो गया था लेकिन स्वतंत्रता के बाद देश की भाषाओं का प्रचलन बढ़ने लगा है। अंग्रेजी देश के सामान्य जन की भाषा नहीं है इसलिए वह कभी भी इस देश को एक सूत्र में नहीं जोड़ सकती- ''यह निश्चित है कि अंग्रेजी भाषा हमारे सारे जन-समूह की भाषा नहीं हो सकती। विदेशी प्रभुत्व से आक्रान्त होने के कारण हमारी देशी भाषाएँ अब तक दबी हुई थीं, वे अब सिर उठा रही हैं। अब तो अंग्रेजी उतने से अधिक का दावा नहीं कर सकेगी जितना वस्तुतः उसे प्राप्य है। मेरे विचार से इस देश में कुछ-कुछ अंग्रेजी का प्राप्य अवश्य है। हम चाहें भी तो अंग्रेजी को अपने स्थान से हटा नहीं सकते। परन्तु उसका स्थान निश्चित और सीमित है। जो लोग हमारे पुराने इतिहास का शोध करेंगे या संसार के उन भागों से अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहेंगे, जहाँ अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत है, उन्हें अवश्य अंग्रेजी पढ़नी होगी। परन्तु यह समझना कि सारा देश का देश इस विदेशी भाषा में विशेषज्ञता प्राप्त करेगा, अपने आपको धोखा देना है। देशी भाषाएँ अपना उचित स्थान ग्रहण करेंगी और अंग्रेजी को उन सब स्थानों से हटना पड़ेगा, जहाँ उसने अनुचित रूप से और अस्वाभाविक रूप से प्रवेश किया है।''[8]

देश की सभी भाषाओं में आपसी आदान-प्रदान को बढ़ावा देना होगा तभी देश एक सूत्र में संगठित होगा। संस्कृत का प्रयोग बहुत सीमित हो चुका है इसलिए वह राष्ट्रभाषा या राजभाषा का उत्तरदायित्व नहीं ले सकती लेकिन संस्कृत के पास अपार भंडार है और देश की सभी भाषाओं को संस्कृत के शब्दों से अपने आपको समृद्ध करना चाहिए-''जहाँ एक ओर हमारी भाषाओं का यह दौर्बल्य है कि उनमें अपने देश को अपने आधुनिक अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने योग्य साहित्य नहीं है, वहीं हमारी यह बड़ी भारी शक्ति भी है कि हमें संस्कृत जैसी एक भाषा का उत्तराधिकार प्राप्त है, जिसमें किसी भी विचार को स्पष्ट करने योग्य शब्द देने की अपार शक्ति है। संस्कृत भाषा कामधेनु के समान है। उससे आप जो चाहिए, प्राप्त कर सकते हैं। अगर हमको अपने साहित्य में नये विचारों को व्यक्त करने वाले शब्दभंडार की आवश्यकता है, तो संस्कृत के सिवाय दूसरी गति नहीं। संस्कृत से निरन्तर प्रेरणा और शब्दभंडार पाते रहना परम सौभाग्य की बात है। परन्तु यह समझना कि संस्कृत कभी इस देश की राजभाषा बन सकेगी, गलत ढंग से सोचने का नतीजा है। संस्कृत सदा हमारी प्रेरणादात्री भाषा रही है और रहेगी।''[9]

आज देश में लोकतंत्र का शासन है इसलिए लोक की भाषा ही तंत्र की भाषा हो तो वह सर्वोत्तम है। देश की सभी भाषाओं को देखने के बाद हिंदी भाषा ही इस रूप में दिखाई पड़ती है जिसका प्रचार-प्रसार लगभग पूरे देश में है। अंग्रेजों के आने के बाद देश की भाषाओं का विकास अवरुद्ध हुआ इसलिए आज जब लोकतंत्र का शासन है तो देश की लोक भाषा का प्रयोग हर जगह तो अच्छा है-''भाषा की समृद्धि उत्तम साहित्य से होती है। भाषा की समृद्धि से उसके बोलने वालों का जीवन-स्तर ऊंचा उठता है, उनमें कार्य-कारण परम्परा को सही-सही समझने की शक्ति विकसित होती है और उनके चरित्र में नैतिक निष्ठा का विकास होता है। राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा उठाने का यह सर्वोत्तम उपाय है। जो सरकार जनता के द्वारा चुनी जाती है उसमें जनता की भाषा का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। परन्तु पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों में हम एक पराधीन राष्ट्र के रूप में जीते रहे हैं। अंग्रेजों ने इस देश की शासन-व्यवस्था के लिए अंग्रेजी भाषा को सारे देश में प्रचलित किया था और हमारी अपनी भाषाओं का विकास रुद्ध हो गया था। अंग्रेजी भाषा द्वारा शासन-व्यवस्था चलाने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देशवासियों को, जो भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलते हैं, एक सूत्र में बाँधने का काम अंग्रेजी ही करने लगी है, हालाँकि विदेशी भाषा होने के कारण वह देश की विशाल जनता में ठीक से रींज-पिंज नहीं सकी है। यही कारण है कि देश को एक सूत्र में बाँधने में वह कमजोर सिद्ध हुई है।''[10]

इस प्रकार देख सकते हैं कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भाषा पर कई दृष्टिकोणों से विचार किया है और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हिंदी ही देश को एक सूत्र में जोड़ सकती है एवं स्वतंत्रता आंदोलन में ऐसा हुआ भी था। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग केवल राज्य तक सीमित है। अंग्रेजी का प्रयोग कई राज्यों में होता है लेकिन उसका प्रयोग पढ़े-लिखे लोग ही करते हैं और वह देश की अपनी भाषा नहीं है। इसलिए हिंदी भाषा के ऊपर बड़ी जिम्मेदारी है कि वह सभी भाषाओं को साथ लेकर चले।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. जैन, निर्मला (संपा), निबंधों की दुनिया, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण 2009, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ. 172
2. वही, पृ. 174
3. वही, पृ. 179
4. वही, पृ. 183
5. वही, पृ. 18
6. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कुटज, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण: 2014, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211001, पृ. 19
7. वही, पृ. 23
8. वही, पृ. 109
9. वही, पृ. 110
10. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, आलोक पर्व, राजकमल प्रकाशन, छठा संस्करण : 2019, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ. 135

वैदिकवाङ्मयस्य सांस्कृतिकमूल्यबोधः

डॉ. शंकर नाथ तिवारी

वैदिकवाङ्मयस्य महत्वं सर्वैः विदितमेव। **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'**[1] इति वेदस्य पारिभाषिकोऽर्थः। विद् ज्ञाने विद्सत्तायां विद्लृलाभे विद् विचारणे एतेभ्यो **'हलश्च'**[2] इति सूत्रेण करणाधिकरण-कारकयोः, ''**घञ्**'' प्रत्तये कृते वेदशब्दः साध्यते। ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां स्वामिदयानन्देन लिखितं यत्—''**विन्दन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते, लभन्ते विन्दन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वा सत्यविद्या यैः येषु वा तथा विद्वांश्च भवन्ति ते वेदाः।**'' वैदिकसंस्कृतिः प्राचीनतमा विश्वप्रसिद्धा च वर्तते। उच्यते अपि ''**सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा**''[3] इति। सम्पूर्णविश्वे भारतीयसंस्कृतिः सनातनसंस्कृतिः वा प्राचीनतमा विश्वप्रसिद्धा वर्तते। विश्वविकसने वैदिकसंस्कृतेः अवदानं महत्वपूर्णं वर्तते। संस्कृतिः जीवनं प्रति एका दृष्टिः अस्ति। चेतनायाः सा प्रवृत्तिः संस्कृतिः उच्यते यया व्यक्तेः परिवारस्य समाजस्य राष्ट्रस्य च आत्मिकसद्गुणानां व्यापकमालोकेन समेषां कृते च कल्याणमयविकाशमार्गानामन्वेषणं प्रशस्तं च भवति। मानवजीवनस्य परिष्कृताय शुद्धाय पवित्राय च भवति संस्कृतिः। सम्यककृतिः संस्कृतिः उच्यते। इयं मनसो आत्मनो वा संस्कारं करोति। सम् इत्युपसर्गपूर्वकं कृञ्धातोः स्त्रियां क्तिन् प्रत्ययेन संस्कृतिः इति शब्दः निष्पन्नो जातः। संस्कृतिः माध्यमेनैव मानवानामान्तरिकमज्ञानं अपा भवति। ज्ञानालोकं च प्रकाश्यते। अस्माकं देशस्य मुकुटरूपेण संस्कृतं संस्कृतिश्च स्तः। ''भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा।'' आचार्यः कपिलेन उक्तम्-

संस्कृतेः संस्कृतिर्ज्ञेया संस्कृतेः सकलाः कलाः।
संस्कृतेः सकलं ज्ञानं संस्कृते किन्न दृश्यते॥ इति

भारतीयसंस्कृतिः यद्यपि अनेकेषां संस्कृतीनां समन्वयं करोति तथापि स्वमूलरूपान् विच्छिन्ना न भवति। अस्याः वैदिकसांस्कृतिकचेतनायाः पूर्णता वर्तते। वस्तुतः भारतीयसंस्कृतेः मूलाधाराः वेदाः एव। वेदानां विचारधाराः आचारनिष्ठाश्च सर्वथा सार्वभौमिकाः सार्वजनीकाश्च सन्ति। भारतीयसंस्कृतेः अवनतेः विनाशश्च मूलकारणं वैदिकचेतनायाः सम्यक्परिचयाभावात् एव। अस्मिन् शोधपत्रे वेदेषु निहितानां भारतीयानामन्तःकरणस्य वैचारिकोपलब्धीनां व्यवहारिक-प्रवृत्तीनाञ्च धातव्य भारतस्य संस्कृतेः मूल्यबोधं कर्तुम् इच्छामि। वैदिकवाङ्मयस्य सांस्कृतिकचेतना याद्दृशी आधिभौतिकी ताद्दृशी आध्यात्मिकी अपि अस्ति। वैदिकसंस्कृतेः केवलम् आध्यात्मिकदृष्ट्या अवलोकनप्रयत्नं एकाङ्गी भवति। अर्थस्य कामस्य च आसक्तिः मानवचेतनायाः व्यवहारिकविकासमार्गं प्रशस्तं करोति। एतयोः आधारशक्तिः तपसः श्रमस्य च दृढानिष्ठा भवति। वेदेषु सांसारिकवैभवस्य संवर्धनाय परिश्रमस्य यत् महत्त्वं प्रदत्तं तदेव एवं महत्त्वं आत्मसंयमेन कामस्य स्वेच्छाचारस्य निरोधनस्यापि स्वीकृतम् अस्ति। श्रमस्य महत्त्वं प्रतिपादयन्तः वैदिकऋषयः मन्यन्ते यत् देवाः परिश्रमेण विना मित्रतां न साधयन्ति ''**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः**''।[4] एतत् सत्यं यत् परमात्मा परिश्रमिणां रक्षयति ''**न मृषा, श्रान्तं यद् अवन्ति देवाः**''।[5] कृषकजीवनस्य उत्साहवर्धनं कुर्वन् ऋग्वेदस्य ऋषयः कृषिकार्यस्य विस्तारं कर्तुं उपदिशति यत् हलम् कर्षय, जुआं विस्तारयति ''**युनक्त सीरा वि युगा तनध्वम्**''[6] ऋषय कथयन्ति ''बुद्धिमन्तः हलं पुनते, जुआं विस्तारयन्ति।'' ''**सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते**''[7]

स्वपरिश्रमेण उद्योगेन विना लोकाभ्युदयः सम्बन्धः न सिध्यति, अतः आलस्ययुक्तपुरुषः तिरस्करणीयः इति भावः। वैदिक ऋषयः कर्मस्य अधिकं महत्वं प्रददन्ति। लोकाभ्युदयाय श्रमस्य महत्वं निर्विवादमधिकं वर्तते। समाजस्य राष्ट्रस्य च मङ्गलं तदैव सम्भवं भवति यदा तस्मिन् स्थाने मानवाः उद्योगीनः भवन्ति। आत्मस्थ युक्त मानवानां कृते परिवारे समाजे राष्ट्रे च नास्ति स्थानम्। येषां जीवनानां राष्ट्रनिर्माणार्थे योगदानं नास्ति ऋषयः तेषां कृते केवलादीइत्यस्य शब्दस्य प्रयोगं कुर्वन्ति- **''मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यमाणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।''**[8]

वैदिकाः ऋषयः सांसारिकेश्वर्येषु तिलमात्रमपि उदासीनतां न दर्शयन्ति। स्वर्णस्य प्राप्तिः तस्य व्यवहारिकमहत्त्वं च अनेकेषु मन्त्रेषु अनुभूतम् अस्ति। सुवर्ण निश्वयेन पवित्रम् अस्ति **''पवित्रं वै हिरण्यम्''**।[9] यः तत् धारयति सः अवश्यं पवित्रः भवति **''पुनाति एव एनं, यो हिरण्यम्।''**[10] सुवर्णम् आयुः अस्ति **''आयुः हि हिरण्यम्''**[11], अमृतम् अस्ति, प्रकाशस्वरूपम् अस्ति **''अमृतं हिरण्यम्।''**[12]

अस्मिन् सन्दर्भे उल्लेखनीयमस्ति यत् स्वर्णसदृशं एव पशुधनमपि मनुष्यजीवने अत्यावश्यकम् आसीत्। अतः पशवः गृहाणां ऐश्वर्यम् इति कथिताः **''श्रीः वै पशवः''**[13]। तादृशानां गृहाणां ऋषयः प्रशंसयन्ति यत्र अश्वाः सन्ति, गावः सन्ति, मधुरवाणीभिः युक्ताः पुत्रपौत्राः सन्ति, यत्र अन्नं धनं दुग्धं च विपुलमात्रायां भोग्याः सामग्रं सन्ति **''इह एव ध्रुवा प्रतितिष्ठशाले! अश्वावती गोमती सूनृतावतो। ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती, उच्छ्रयस्व महते सौभगाय।''**[14] वैदिकऋषयः उच्चजीवनदर्शनस्य अत्यन्तं सार्थकी सांस्कृतिकपद्धतिः मान्यतां दत्तवन्तः, येन वयं वर्तमानजीवनं समुन्नतं कर्तुं प्रेरणां प्राप्नुमः।

श्रमेण सह भौतिकविभवं तपःशक्त्या संयोज्य वैदिकऋषयः समन्वितदृष्टेः पूर्णतां अपि प्रदर्शितवन्तः। मानवाः स्वतपवलेनैव सर्वाणि साधनानि साधयति तथा विषयासक्ताः बहिर्मुखीन्द्रियाणि निगृह्णाति। परिश्रमेणैव हृदयस्य सर्ववृत्तिषु उदात्तता जायते तथा लोकमङ्गलस्य विकासमार्गः प्रशस्तः भवति। अतएव तपः हि ऋषिभिः आत्मविजयस्य सर्वोत्तमं मार्गमस्ति। शतपथब्राह्मणेऽपि उक्तम् अस्ति यत् तपसा परिश्रमेणैव जनाः अस्मिन् लोके परलोके च विजयम् आप्नुवन्ति **''तपसा वै लोकं जयन्ति''**[15]। अथर्ववेदे अपि उक्तम् अस्ति यत् देशस्य कल्याणं चिन्तयित्वा मनुष्यः यत्नं कुर्यात्। तपः एव सर्वविधसुखकारणमस्ति। एतदेव मूलसाधनानि ज्ञात्वा पूर्वकाले तपः दीक्षां च स्वीकृतवन्तः। अनेक राज्यं तस्य साधनं बलं तेजश्च प्राप्नोति। अतः देशकल्याणकामिनः विद्वांसः तपः दीक्षारूपयोः साधनयोः विषये विशेषतः ध्यानं ददन्ति **''भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वविदः, तपो दीक्षाम् उपनिषेदुः अग्रे। ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातं, तद् अस्मै देवाः उपसन्नमन्तु''**[16]।

सामाजिकव्यवस्थां सुदृढां स्थापयितुं ऋषिभिः वर्णव्यवस्था स्वीकृता। मनुष्यः कर्मभेदेन चतुर्षु वर्णेषु विभक्तमस्ति **''एतावद् वै इदं सर्वं, यावद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शुद्रः। मानव्यो हि एताः सर्वा प्रजाः।''**[17] प्रजाजनानां न्यायसंरक्षणकर्तारः उदाराः व्यक्तयः ब्राह्मणाः इति कथ्यन्ते **''ब्राह्मणो वै प्रजानाम् उपद्रष्टा''**।[18] वेदविदः ब्राह्मणाः सर्वदेवतानां निवासस्थानम् इव मन्यन्ते **''यावती वै देवताः सर्वाः ताः वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति''**।[19] निश्चयेन ब्राह्मणः ब्रह्मणः स्वरूपमेव **''ब्रह्म वै ब्राह्मणः।''**[20] मनुष्याणां सेवकाः तथा वेदादि-समस्तविद्यानां पारङ्गताः ते निश्चयः श्रेष्ठाः **''ये वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानाः ते विप्राः।''**[21] ब्राह्मणेन अपशब्दाः राक्षसी वाणी वा न वक्तव्याः गर्वेण उन्मत्ततया वा या वाणी उच्यते सा राक्षसी इति कथ्यते **''न राक्षसीं वाचं वदेत्। यां वै दृप्तो वदति याम् उन्मत्तः, सा राक्षसी बाक्।''**[22] शतपथब्राह्मणे क्षत्रियवर्णस्य महत्त्वं विस्तरेण प्रकाशितम्। सुष्टेः प्रारम्भकाले सर्वप्रथम एकमेव अद्वितीयं ब्रह्मेव आसीत्। एकाकित्वात् सः ऐश्वर्य न लभते। अतएव ऐश्वर्यप्राप्तये क्षत्रियवर्णं सृष्टिं करोति। अतः क्षत्रियात् श्रेष्ठः अन्यः कश्चन वर्णाः न सन्ति। युद्धमेव क्षत्रियस्य पराक्रमः **''युद्धं वै क्षत्रियस्य वीर्यम्।''**[23]

सामाजिकव्यवस्थायाः संगठनस्य श्रेयः वैश्यवर्णाय प्रदत्तमासीत्। वैदिकवाङ्मये अस्य सविस्तरेण वर्णनम् उपलभ्यते। उद्योगव्यवसाययोः दृष्ट्या वैश्याः राष्ट्रस्य समृद्धिं पुष्टयन्ति **''पुष्टिः वै विशः।''**[24] एतस्मात् कारणादेव प्रजानां पालकाः अभवन् **''विशः पितरः।''**[25] ये एकस्य देशस्य पदार्थान् अन्यस्मिन् देशे नियमानार्थं प्रयन्तं कुर्वन्ति स्म, ते ''वायुधर्मिणः'' इति कथ्यन्ते, ते वायुवत् एकस्मात् स्थानात् अन्यत् स्थानं गच्छन्ति स्म **''मारुतो हि वैश्यः।''**[26] एवं च शुद्रः तपसा समाजस्य सेवकः इति वोध्यते स्म **''तपसे शूद्रम्।''**[27] एवं विधं वैदिकसंस्कृतौ सामाजिकव्यवस्था जीवनस्य उदातपक्षस्य दृष्ट्वा विनिर्मिता आसीत्। अस्मिन् सन्दर्भे भारतीयइतिहासस्य प्रख्यातपुरातत्त्वविदः डॉ. राजबली

पाण्डेयः महोदयस्य मतम् उल्लेखनीयमस्ति मानवानां ते सर्वे विचाराः क्रियाश्च ये तेषां जीवनस्य संस्कारं कुर्वन्ति तथा तेषामुन्नतिमार्गं सुलभं प्रशस्तं च कुर्वन्ति, ते सर्वे संस्कृतेः अन्तर्गताः सन्ति।[28] अतः स्पष्टं भवति यत् वैदिकधर्माः संस्कृतयश्च मनुष्याणां कल्याणाय संस्कारसाधनरूपेण मान्याः सन्ति। विवाहं प्रति वैदिकऋषिणां दृष्टिः अत्यन्तमहत्त्वपूर्णमासीत्। अथर्ववेदे ब्रह्मचर्यपूर्वकं शिक्षां प्राप्तवती कन्या योग्यं युवानं पतिं लभेत इति उक्तम् अस्ति **''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।''**[29] ऋग्वेदे पतिव्रता स्त्री निर्दोषा इति कथिता अस्ति **''अनवद्या पतिजुष्टेव नारी।''**[30] ऋग्वेदे वैवाहिकबन्धनकाले वरस्य कन्यां प्रति उक्तमस्ति-

''गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिः यथाऽसः॥''[31]

तत्रैव पति वदति त्वं मया सह वृद्धावस्थापर्यन्तं सर्वान् भोगान् अनुभविष्यसि। त्वं धर्मेण मम पत्नी, अहं धर्मेण तव गृहपतिः अस्मि **''पत्नी त्वम् असि धर्मणा, अहं गृहपतिः तव।''**[32] त्वं सुमङ्गली भव। गृहं प्रविश्य मम गृहे निवसतु। अस्माकं द्विपदानां चतुष्पदानां च शुभदा भव **''अदुर्मङ्गलीः पतिलोकम् आविश, शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।''**[33]

गृहस्थजीवनं प्रवेशनाय ततपरां नारीं प्रति ऋग्वेदस्य ऋषिः स्वाभिविचारां प्रकटीकुर्वन् वदति यत् -त्वं सौभाग्यवती भव, त्वं सौम्यदृष्टियुक्ता भव पतिजीवनस्य वर्धिनी भव, पशूनां कल्याणकारिणी भव, शुद्धमनयुक्ता भव, शोभनकान्तियुक्ता भव उत्तमकर्मणि निष्ठिता भव, वीरसन्तानप्रसूता भव, देवेषु श्रद्धाधारिणी भव, सर्वेषां च हितकारिणी भव। त्वं अस्माकं मनुष्याणां पशूनां च कृते शुभदा भव

''अघोरचक्षुः अपतिघ्नी एधि,
शित्र पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूः देवकामा स्योना,
शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥''[34]
''सुमङ्गलीः इयं वधूः।''[35] (ऋ. 10.85.33)
''सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु।''[36]

वैदिक ऋषयः यत् सूचयन्ति ये नवागन्ताः सुहृदः सन्ति ते नवबधूनां कृते आशीर्वादं कूर्वन्ति यतः सुमङ्गलीः इयं वधूः। वैदिकऋषयः जानन्ति यत् पारिवारिकजीवनस्य विकाशार्थे धर्मपत्नीगृहपत्यौः सहयोगं आवश्यकं वर्तते। भाविसन्तति एतयोः प्रेमसम्वन्धस्य सूचकाः भवति। पितुः पुत्रेण सह नूतनः सम्बन्धः स्थाप्यते। पितुः पुत्रे प्रति सहजः स्नेहः भवति। वैदिकऋषिः भगवन्तं प्रति प्रार्थनां करोति। यथा पिता पुत्रान् स्नेहेन लालयति, तथैव अस्मान् अपि लालयेत् **''पिता इव पुत्रान् अभिसंस्वजस्व।''**[37] ऋषिः वदति यत् भगवन् यथा पिता पुत्रे स्वाङ्के धारयति, तथैव अस्मान् अपि स्वाङ्के धारय **''पितेव पुत्रम् अबिभः उपस्थे।''**[38]

पारिवारिकजीवनमूल्यानां परिपूर्णता अपि वैदिकसंस्कृत्यां दृश्यते। वैदिकऋषयः जानन्ति यत् पिता पुत्रस्य च सम्बन्धस्य आवश्यकता वर्तते अतः पिता पुत्रस्य च सम्बन्धतत्वस्य सर्वत्र दरीदृश्यते। पिता स्वपारिवारिकजीवनस्य प्रगतिहिताय स्तुतिं करोति मम गृहे शत्रून् पराजयमानः पुत्रः तथा विविधगुणैः सम्पन्ना दुहितायाः प्रादुर्भावं भवति **''मम पुत्राः शत्रुहणः अथो मे दुहिता विराट्।''**[39] एवं प्रकारेण लोके व्यवहारिकपक्षे ऋषीणां दृष्टिः यथा धार्मिकास्ति, तथैव आध्यात्मिकदृष्टिः अपि आसीत्। वैदिकवाङ्मयस्य सांस्कृतिकभूमिः अतीव सशक्ता अस्ति, यतः जीवनस्य पार्थक्ये ''वै इदं विबभूव सर्वम्'' ''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'' एक एव सत्यस्यानुभवं वैदिकऋषयः समानभावेन कृतः। ऋग्वेदे अस्य भावनायाः अभिव्यक्तिः अनेकेषु स्थलेषु दृश्यते **''वै इदं विबभूव सर्वम्''**[40] **''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।''**[41]

एवमेव वैदिकवाङ्मये भारतीयसंस्कृतेः आन्तरिकः बाह्योश्च उभयोः पक्षयोः सम्यकनिष्ठा दरीदृश्यते। वैदिकवाङ्यमयस्य सामाजिकचेतनायाः उदये सामाजिकसंघटने सामाजिकचिन्तने शास्त्राणामविकासे च अमूल्यं योगदानम् वर्तते। ऋषिभिः सामाजिकक्षेत्रे विविधाः घटकाः समायोज्य समाजस्य संगठनं समृद्धिं च प्रदर्शितम्। सर्वप्रथमः समाजस्य विभागपूर्वकं वैज्ञानिकप्रयासरू ऋग्वेदे पुरुषसूक्ते प्राप्तते। अत्र विराटपुरुषस्य ब्राह्मणः राजन्यः वैश्यः शूद्रः समाजहिताय कल्पिताः। समाजस्य सुहृदभावना तस्मात् एव प्रसूता। निःसन्देहं वैदिकवाङ्मयस्य सामाजिकव्यवस्थायाः आधारः सः दिव्यभावना आसीत्, यस्य मूलम् एव सम्पर्कं समाजीकरणं समन्वयं च। वैदिकऋषिभिः अवलम्ब्य सर्वेभ्यः व्यक्तिभ्यः समाजे स्थानं प्रदत्तम्। एवमेव संक्षेपेण भारतीयायाः सामाजिकव्यवस्थायाः अपरः पक्षः वर्णाश्रमव्यवस्था अस्ति। तत्र वर्णस्य सम्बन्धः समाजस्य विविधेषु वर्गेषु समन्वयस्य स्थापनायाम् आसीत्, यस्य आधारः मनुष्यस्य प्रकृतिः स्वभावः वृत्तिश्च आसीत्। आश्रमस्य आधारः वैयक्तिकसंस्कृतिः जीवनस्य परिष्कारश्च आसीत्। एवं प्रकारेण

वैयक्तिकसमष्टिरूपयोः समन्वयात्मकपरिकल्पना भारतीयवैदिकवाङ्मयस्य सांस्कृतिकमूल्यवोधमवलोक्यते।

सह-प्राध्यापक, संस्कृतविभाग,
त्रिपुरा विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (1.1.1)
2. अष्टाध्यायी (3.3.121)
3. यजुर्वेद (7.14)
4. ऋग्वेद (4.33.11)
5. ऋग्वेद (1.179.3)
6. ऋग्वेद (10.101.3)
7. ऋग्वेद (10.101.4)
8. ऋग्वेद (10.117.6)
9. तैतिरीय संहिता (2.2.5)
10. अथर्ववेद (19.26.2)
11. शतपथब्राह्मण (4.3.4.24)
12. शतपथब्राह्मण (10.4.1.6)
13. ताण्ड्यब्राह्मणमण (13.2.2)
14. अथर्ववेद (3.12.2)
15. शतपथब्राह्मण (3.4.4.27)
16. अथर्ववेद (19.41.1)
17. शतपथब्राह्मणम् (14.4.2.27)
18. तैतिरीयब्राह्मणम् (2.1.1)
19. तैतिरीय आरण्यकम् (2.15)
20. शतपथब्राह्मणम् (13.1.5.3)
21. शतपथब्राह्मणम् (3.5.3.12)
22. ऐतरेयब्राह्मणम् (6.3)
23. शतपथब्राह्मणम् (13.1.5.6)
24. ऐतरेय आरण्यक (1.1.1)
25. शतपथब्राह्मणम् (7.1.1.4)
26. तैतिरीयब्राह्मणम् (2.7.2)
27. तैतिरीयब्राह्मणम् (3.4.1)
28. भारतीय हिन्दी परिषद् (प्रयाग) के पन्द्रहवें अधिवेशन की विचार-गोष्ठी में 27 दिसम्बर, 1957 को दिया गया अध्यक्षीय भाषण ।
29. अथर्ववेदसंहिता (11.7.18)
30. ऋग्वेद (1.73.3)
31. ऋग्वेद (10.85.36)
32. अथर्ववेदसंहिता (14.1.51)
33. ऋग्वेद (10.85.43)
34. ऋग्वेद (10.85.44)
35. ऋग्वेद (10.85.33)
36. ऋग्वेद (10.85.46)
37. अथर्ववेदसंहिता (12.3.12)
38. ऋग्वेद (10.39.10)
39. ऋग्वेद (10.149.3)
40. ऋग्वेद (8.58.2)
41. ऋग्वेद (1.164.46)

सन्दर्भग्रन्थसूची

- मिश्र, आचार्य श्रीगङ्गाधर. वैदिक एवं वेदोत्तर भारतीय संस्कृति. चौखम्वा : सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 2010.
- उपाध्याय, बलदेव. भारतीय साहित्य का अनुशीलन. वाराणसी : शारदा संस्थान, 2985.
- उपाध्याय, रामजी. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका. वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 1995.
- कुमारी, किरण. वैदिक साहित्य और संस्कृति. दिल्ली : भारतीय बुक कापेरेशन, 2001.
- गैरोला, वाचस्पति. वैदिक साहित्य और संस्कृति. दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2013.
- द्विवेदी, कपिलदेव. वैदिक साहित्य और संस्कृति. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2018.
- द्विवेदी, कपिलदेव. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन. ज्ञानपुर : विश्वभारती अनुसन्धान परिषद, 2021.
- दीक्षित, हरिनारायण. संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना. दिल्ली देववाणी परिषद, 1984.
- बन्द्योपाध्याय, धीरेन्द्रनाथ. संस्कृतवाङ्मयस्य इतिहास. कलकाता : संस्कृत पुस्तक भान्डार, 2014.
- बन्द्योपाध्याय, शान्ति. वैदिक साहित्येर रूपरेखा. कलकाता : संस्कृत पुस्तक भान्डार, 1993.
- विश्वनाथ, झा. अमरकोश. दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1992.
- विश्ववन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक. अथर्ववेद संहिता (सायण भाष्य). होशियारपुर : शोध संस्थान, 1960.
- शर्मा, गङ्गा सहाय. ऋग्वेद. दिल्ली : संस्कृत साहित्य प्रकाशन, 2016.

पायल

नीति से व्यवहार तक : हरियाणा के विकास कार्यक्रमों की दलित महिलाओं के लिए समावेशिता का आकलन

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र हरियाणा राज्य में अनुसूचित जाति (दलित) महिलाओं के शैक्षिक और आर्थिक सशक्तिकरण के लिए संचालित 'दीन दयाल लाडो लक्ष्मी योजना' का एक आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है। राज्य की उच्च प्रति व्यक्ति आय और भौतिक आधुनिकता के विरोधाभास के बीच, यह पत्र यह जांचने का प्रयास करता है कि क्या सरकारी वित्तीय सहायता (रु. 2100 मासिक) वास्तव में दलित छात्राओं के व्यवहारगत निर्णयों और आत्म-सम्मान में कोई गुणात्मक परिवर्तन ला पा रही है। शैलजा पाइक के 'दोहरे भेदभाव' (जाति और लिंग) के सैद्धांतिक ढांचे का उपयोग करते हुए, इस अध्ययन में धरातली बाधाओं जैसे-संस्थागत अलगाव, अदृश्य जातिवाद, डिजिटल डिवाइड, खाप संस्कृति और रोजगार बाजार के पूर्वाग्रहों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। अंततः, यह शोध नीति निर्माण के कागजी संकल्पों और सामाजिक यथार्थ के व्यवहार के मध्य विद्यमान संरचनात्मक अंतराल को पाटने हेतु कानूनी, शैक्षणिक और सांस्कृतिक सुधारों का एक त्रि-आयामी मॉडल प्रस्तावित करता है।

बीज शब्द

लाडो लक्ष्मी योजना, दलित महिला, समावेशिता, दोहरा भेदभाव, पितृसत्ता, डिजिटल डिवाइड, एजेंसी, व्यवहारगत परिवर्तन।

प्रस्तावना

हरियाणा राज्य ने 1 नवंबर 1966 को अपने गठन के बाद से कृषि, खेल और औद्योगिक क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति की है। 'हरित क्रांति' की सफलता से लेकर गुरुग्राम के वैश्विक आईटी हब बनने तक, राज्य की प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से काफी ऊपर है। परंतु, इस आर्थिक विकास की चमक के पीछे एक गहरा और जटिल 'सामाजिक विरोधाभास' छिपा हुआ है, जहाँ दलित महिला आज भी हाशिए के सबसे अंतिम छोर पर खड़ी दिखाई देती है। विकास की मुख्यधारा में उनकी वास्तविक स्थिति अक्सर एक 'अनकहा अध्याय' रही है।

यह शोध 'नीति' (कागजी संकल्प और प्रशासनिक ढांचे) से लेकर 'व्यवहार' (सामाजिक वास्तविकता और व्यक्तिगत निर्णय) तक के संक्रमण का आकलन करता है। सशक्तिकरण का वास्तविक अर्थ केवल वित्तीय सहायता प्राप्त करना नहीं, बल्कि महिला के भीतर स्वतंत्र निर्णय लेने की 'एजेंसी' का विकास होना है। जब हम दलित महिला की स्थिति का विश्लेषण करते हैं, तो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वह जातिगत, लैंगिक और वर्गगत 'तिहरे दमन' के एक चक्र में फंसी हुई दिखाई देती है।

वैचारिक और सैद्धांतिक ढांचा : शैलजा पाइक का दृष्टिकोण

इस शोध का सैद्धांतिक आधार प्रसिद्ध समाजशास्त्री शैलजा पाइक के 'दोहरे भेदभाव' (Double Discrimination) के सिद्धांत पर आधारित है। पाइक के अनुसार, दलित महिलाओं को अपनी स्वायत्तता प्रदर्शित करने के लिए न केवल बाहरी जातिगत सोपान से, बल्कि परिवार के भीतर पितृसत्तात्मक ढांचे से भी लड़ना पड़ता है। वे सही अर्थों में 'दलितों में भी

दलित' का दंश झेलती हैं।

पाइक का एक अत्यंत महत्वपूर्ण तर्क यह है कि महिला की कामुकता और उसके शरीर पर नियंत्रण ही जाति व्यवस्था के पुनरुत्पादन (Social Reproduction) की कुंजी है। हरियाणा के ग्रामीण परिवेश में इसे 'इज्जत' या 'मर्यादा' के नाम पर देखा जा सकता है, जहाँ ऑनर किलिंग और अंतरजातीय विवाहों का कड़ा विरोध किया जाता है। इसी भय के कारण कई परिवार अपनी बेटियों को उच्च शिक्षा के लिए गाँव की सीमा पार करने की अनुमति नहीं देते।

घरेलू श्रम और शिक्षा का 'दोहरा बोझ'

दलित छात्राओं के लिए स्कूल जाना केवल एक शैक्षणिक गतिविधि नहीं, बल्कि एक कठिन शारीरिक संघर्ष है। उच्च जातियों की लड़कियों के लिए शिक्षा जहाँ एक विलासिता या प्रतिष्ठा का विषय हो सकती है, वहीं दलित लड़की के लिए यह 'छीना हुआ समय' है। कृषि-प्रधान समाज में उन्हें स्कूल से लौटने के बाद पशुओं के लिए चारा लाना, गोबर उठाना और छोटे भाई-बहनों की देखभाल करना पड़ता है। आर्थिक तंगी के कारण कई बार उन्हें अपनी पढ़ाई छोड़कर असंगठित क्षेत्रों में शारीरिक श्रम करना पड़ता है। यह 'शारीरिक थकान' उनकी पढ़ाई की गुणवत्ता को सीधे प्रभावित करती है, जिससे वे प्रतिस्पर्धी दौड़ में पिछड़ जाती हैं।

शैक्षणिक संस्थानों में 'अदृश्य जातिवाद'

अक्सर यह माना जाता है कि स्कूल और कॉलेज की चारदीवारी के भीतर प्रवेश करते ही जातिगत पहचान पीछे छूट जाती है, परंतु धरातली वास्तविकता इससे भिन्न है। विमला रामचंद्रन के 'इरादे और कार्रवाई' (Intention and Action) के अंतराल के अनुसार, सरकारी नीतियों में वित्तीय लाभ तो शामिल हैं, लेकिन स्कूलों के भीतर होने वाले 'अदृश्य जातिवाद' को रोकने के लिए कोई ठोस तंत्र नहीं है।

कक्षाओं के भीतर अलग बैठने की व्यवस्था या मध्याह्न भोजन के दौरान भेदभाव आज भी किसी न किसी रूप में मौजूद है। सबसे गंभीर बात यह है कि शिक्षकों का यह पूर्वाग्रह कि 'दलित बच्चे स्वाभाविक रूप से कम बुद्धिमान होते हैं', छात्राओं के आत्मविश्वास को पूरी तरह कुचल देता है। इसके अलावा, कॉलेजों की सांस्कृतिक गतिविधियों, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं और छात्र राजनीति में दलित छात्राओं के पास घर से मिलने वाली 'सांस्कृतिक पूंजी' का अभाव होता है, जिससे उनकी उपस्थिति केवल 'मूक' या सांख्यिकीय इकाई बनकर रह जाती है।

लाडो लक्ष्मी योजना : प्रशासनिक ढांचा और तकनीकी चुनौतियाँ

हरियाणा सरकार द्वारा शुरू की गई 'दीन दयाल लाडो लक्ष्मी योजना' रु. 2100 की मासिक सहायता प्रदान कर लड़कियों को उच्च शिक्षा की ओर प्रोत्साहित करने का एक सराहनीय नीतिगत प्रयास है। परंतु डिजिटल गवर्नेंस के इस युग में इसकी तकनीकी अवसंरचना स्वयं में एक नई बाधा बनकर उभरी है। इस योजना का लाभ प्राप्त करने का आधार 'परिवार पहचान पत्र' (PPP) है। स्वत: सत्यापन (Auto-verification) के दौरान PPP डेटा में आय या जाति के गलत अंकन के कारण कई पात्र छात्राएं योजना के लाभ से वंचित रह जाती हैं।

चूंकि ग्रामीण क्षेत्रों में दलित छात्राओं के पास स्वयं का स्मार्टफोन या स्थिर इंटरनेट नहीं होता, इसलिए वे पूरी तरह से निजी साइबर कैफे या 'कॉमन सर्विस सेंटर' (CSC) के बिचौलियों पर निर्भर हो जाती हैं। ये बिचौलिए फॉर्म भरने के नाम पर उनका आर्थिक शोषण करते हैं, जो इस योजना के मूल वित्तीय समावेशन के उद्देश्य को चोट पहुँचाता है।

डिजिटल डिवाइड और साइबर जातिवाद

आधुनिक शिक्षा अब क्लाउड और इंटरनेट पर आधारित हो चुकी है। पाइक के अनुसार, संसाधनों का असमान वितरण ही जाति व्यवस्था को मजबूत करता है। हरियाणा के दूर-दराज के गांवों में रहने वाली दलित लड़कियां डेटा रिचार्ज और कंप्यूटर के अभाव में ऑनलाइन शोध और असाइनमेंट जमा करने में अपने संपन्न सहपाठियों से पीछे कर दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त, व्हाट्सएप ग्रुप्स और सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स पर होने वाली ट्रॉलिंग और 'साइबर जातिवाद' (जैसे आरक्षण का उपहास उड़ाने वाले मीम्स) उनके मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा आघात पहुँचाते हैं, जिससे वे वर्चुअल स्पेस में अपनी पहचान छिपाने पर मजबूर हो जाती हैं।

साक्षरता दर और ड्रॉप-आउट की क्षेत्रीय विषमता

हरियाणा के सांख्यिकीय आंकड़े एक 'विभाजित विकास' (Divided Development) की तस्वीर पेश करते हैं। जहाँ गुरुग्राम जैसे शहरी केंद्र की साक्षरता दर 84.7% है, वहीं मेवात (नूंह) जैसे पिछड़े जिले में यह केवल 54.08% है। मेवात के ग्रामीण अंचलों में दलित महिला साक्षरता दर का 36.60% तक गिर जाना यह प्रमाणित करता है कि यहाँ जाति, लिंग और

धर्म का 'तिहरा भेदभाव' काम कर रहा है। प्राथमिक स्तर पर नामांकन तो बढ़ा है, लेकिन माध्यमिक और उच्च शिक्षा तक पहुँचते-पूछते 'लीकेज पाइपलाइन' के कारण दलित छात्राओं की ड्रॉप-आउट दर बहुत तीव्र हो जाती है, जिसका मुख्य कारण रास्ते की असुरक्षा और नैतिक पुलिसिंग है।

केस स्टडी : रिया का संघर्ष और स्वायत्तता

थीसिस के अंतर्गत प्रस्तुत रिया की केस स्टडी शैलजा पाइक के 'जुझारू क्षमता' (Resilience) और 'स्वयं के निर्माण' (Self-making) के सिद्धांत को धरातल पर चरितार्थ करती है। रिया ने अपनी उच्च शिक्षा तब शुरू की जब उसका अपना परिवार पारंपरिक मानदंडों के तहत उसके विवाह को प्राथमिकता दे रहा था। कॉलेज के प्रथम दिन ही उसे सहपाठियों की 'नीची नजर' और 'सांस्कृतिक कलंक' का सामना करना पड़ा।

शिक्षकों द्वारा अपनी क्षमताओं को कम आंके जाने के बावजूद, रिया ने हार मानने के बजाय इसे एक प्रेरणा के रूप में लिया। उसने अपनी 'एजेंसी' का उपयोग करके न केवल स्नातक की डिग्री पूरी की, बल्कि अपनी संवैधानिक नागरिकता का भी दावा किया। रिया की सफलता यह दर्शाती है कि जब नीतिगत वित्तीय सहायता व्यक्तिगत साहस से मिलती है, तो शिक्षा वास्तव में एक 'जादुई छड़ी' (Magic Wand) बन जाती है जो झुग्गी-झोपड़ी और सामाजिक अपमान के बंधनों को तोड़ देती है।

श्रम बाजार की बाधाएं और सामाजिक पूंजी का अभाव

विशिष्ट शिक्षा नीति का अंतिम लक्ष्य आर्थिक नागरिकता सुनिश्चित करना होना चाहिए, परंतु स्नातक के उपरांत भी दलित महिलाओं के लिए रोजगार की राह अत्यंत कठिन है। पाइक के अनुसार, 'योग्यता (Merit) कभी भी शून्य में काम नहीं करती, वह हमेशा सामाजिक नेटवर्क के अधीन होती है।' सवर्ण छात्राओं के पास अपने परिवारों के माध्यम से एक संचित 'सोशल Capital' (सामाजिक पूंजी) होता है जो उन्हें प्लेसमेंट के अवसर दिलाता है।

इसके विपरीत, पहली पीढ़ी की शिक्षार्थी होने के कारण दलित लड़कियों के पास ऐसे कॉर्पोरेट नेटवर्क नहीं होते। इंटरव्यू बोर्ड्स में 'सॉफ्ट स्किल्स', कॉन्फिडेंस और विशिष्ट जीवनशैली से प्रेरित भाषा के नाम पर किया जाने वाला 'अदृश्य भेदभाव' उन्हें मेधावी होने के बावजूद रोजगार की दौड़ से बाहर कर देता है, जिससे वे अंततः 'शिक्षित बेरोजगारी' का शिकार होकर पुनः घरेलू जीवन में धकेल दी जाती हैं।

प्रस्तावित समाधान : त्रिकोणीय दृष्टिकोण

नीति से व्यवहार के इस संरचनात्मक अंतराल को समाप्त करने के लिए केवल आर्थिक सहायता पर्याप्त नहीं है, इसके लिए शिक्षा, कानून और सामाजिक रूपांतरण का एक त्रिकोणीय मॉडल आवश्यक है—

शैक्षणिक सुधार : पाठ्यक्रमों में दलित महिला क्रांतिकारियों (जैसे सावित्रीबाई फुले, झलकारी बाई) के इतिहास को शामिल कर 'सकारात्मक दर्पण' (Positive Mirroring) प्रदान किया जाए। कॉलेजों में 'एंटी-डिस्क्रिमिनेशन सेल' को सक्रिय कर शिक्षकों हेतु 'जाति संवेदीकरण कार्यशालाएं' अनिवार्य हों।

कानूनी व प्रशासनिक सख्ती : शैक्षणिक परिसरों में जातिसूचक टिप्पणियों और छुआछूत के विरुद्ध 'जीरो टॉलरेंस पॉलिसी' लागू हो और SC/ST अत्याचार निवारण अधिनियम का प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाए। योजना के पोर्टल पर गोपनीयता (Anonymity) के साथ एक डिजिटल शिकायत निवारण तंत्र स्थापित हो।

सांस्कृतिक व भौतिक रूपांतरण : दलित बस्तियों से कॉलेजों तक 'लास्ट-माइल कनेक्टिविटी' सुनिश्चित करने के लिए सुरक्षित गलियारे (Safe Corridors) और पिंक बसों का विस्तार किया जाए। इसके साथ ही, स्नातक के बाद सुनिश्चित प्लेसमेंट ड्राइव और तकनीकी ग्रांट (लैपटॉप/टैबलेट) का प्रावधान हो।

निष्कर्ष

इस शोध प्रबंध का समापन करते हुए यह स्पष्ट होता है कि हरियाणा में दलित महिलाओं के लिए 'नीति से व्यवहार तक' की यात्रा अभी भी एक निर्माणाधीन सेतु की तरह है। राज्य की नीतियां आर्थिक स्तर पर तो समावेशी हैं, लेकिन धरातल पर व्याप्त जातिगत श्रेष्ठता का बोध और पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवहार इन नीतियों के दीर्घकालिक प्रभावों को बाधित करता है। समावेशिता की वास्तविक कसौटी सरकारी आंकड़ों या बजटीय आवंटन में नहीं, बल्कि दलित छात्रा के आत्म-सम्मान और मानवीय गरिमा में आने वाले गुणात्मक परिवर्तन में निहित है।

जैसा कि डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने कहा था-''शिक्षा वह शेरनी का दूध है जो पिएगा वह दहाड़ेगा।'' यह थीसिस उसी दहाड़ को एक अकादमिक आवाज देने का प्रयास है।

जब राज्य की नीति अपनी संवेदनशीलता में समाज के व्यवहार के बराबर लोकतांत्रिक खड़ी होगी, तभी 'लाडो लक्ष्मी' का सपना वास्तविक अर्थों में साकार हो सकेगा।

राजनीति विज्ञान विभाग
स्कूल ऑफ ओपन लर्निंग (SOL)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

- पाइक, शैलजा। (2014). आधुनिक भारत में दलित महिलाओं की शिक्षा: दोहरा भेदभाव। रूटलेज।
- अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश (Annihilation of Caste)। राजकमल प्रकाशन।
- रेगे, शर्मिला। (2006). राइटिंग जाति, राइटिंग जेंडर: रीडिंग दलित वीमेन्स टेस्टिमोनियोस। जुबान।
- हरियाणा सरकार। (2024). दीन दयाल लाडो लक्ष्मी योजना के परिचालन दिशा-निर्देश। महिला एवं बाल विकास विभाग।
- राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यालय (NSSO)। (2023). भारत में शिक्षा के प्रमुख संकेतक (75वां दौर)। सांख्यिकी मंत्रालय, भारत सरकार।
- थोरात, सुखदेव और न्यूमैन, के. एस. (2007). जाति और आर्थिक भेदभाव: कारण, परिणाम और उपचार। इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वैश्विक मानवतावादी चिंतन

डॉ. रत्नेश कुमार यादव* **विक्रम पटेल****

शोध-सार

हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐतिहासिक सांस्कृतिक साहित्य के सर्जक हैं तथा अपने साहित्य के केंद्र में हमेशा मनुष्य एवं मानवता को केंद्र में रखते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के माध्यम से भी द्विवेदीजी ने मानवता के गहरे एवं उदात्त स्वरूप का चित्रण किया है। इस शोध-प्रपत्र में देखने को मिलेगा कि किस प्रकार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के माध्यम से द्विवेदी जी ने सांस्कृतिक परंपरा एवं उनके दर्शन में मानवतावादी मूल्यों को देखा है। प्रेम के मानवतावादी स्वरूप, नारी के प्रति सम्मानीय गरिमापूर्ण दृष्टि से लेकर लोक रक्षा जैसे अतिमहत्वपूर्ण तत्वों के समावेश से उपन्यास कालजयी कृति में परिवर्तित हो गया है।

बीज शब्द

मानवता, मानवतावाद, भारतीय साहित्य परंपरा, प्रेम, नारी, भारतीय जीवन दृष्टिकोण, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, सौन्दर्य, प्रेम-परंपरा, लोक-कल्याण, वैश्विक-कल्याण।

भारत में मनुष्यता को केंद्र में रखकर साहित्य सर्जन की एक अटूट परंपरा रही है, जिसमें सत्य, अहिंसा व करुणा से लेकर लोक-कल्याण जैसे महान उद्देश्यों को संज्ञान में रखा गया। प्राचीन भारतीय वैचारिक आधारशिला वाले धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों में मानवता का आदि स्वरूप दिखता है, 'महाभारत' में कहा गया है-''गुह्यं ब्रह्म तदिदंवो ब्रीवीमि, न हिं मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।''[1] (मनुष्य से श्रेष्ठ इस संसार में कुछ भी नहीं है।) साहित्य में मनुष्यता का यही रूप आगे भक्तिकाल में पुनः जोर-शोर से उभरता है। कबीर, तुलसी जैसे बड़े भक्त कवि, जाति-पाँति विरोध व सांप्रदायिक कट्टरता का विरोध करते हुए जन-हित व सामाजिक समरसता जैसे मूल्यों को सामने लाकर साहित्य में मनुष्य की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। ये भक्त कवि अपने जीवन से इत्तर वैश्विक मंगल को सर्वोपरि रखते हैं। तुलसीदास कहते हैं—''परहित सरिस धर्म नहीं कोई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।''[2] ऐसी लोकोन्मुखता को हिन्दी साहित्य आलोचकों ने भी काव्य का महत्वपूर्ण गुण माना है। हिंदी साहित्य के महत्वपूर्ण आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का लोकमंगलवाद और हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का मानुषयोन्मुख साहित्यक दृष्टिकोण इसी का उदाहरण है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भी मनुष्य जीवन को केंद्र में रखने वाली महान साहित्यिक परंपरा की प्रमुख पुस्तकों में अपना स्थान रखता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में सर्वधर्म समभाव के माध्यम से मानवता के वैश्विक महानतम रूप को निर्देशित किया गया है। सभी धर्मों, मतों, विचारों व दर्शनों का ध्येय मनुष्यता का उत्थान करना है। उपन्यास में यथास्थान सभी तत्कालीन पंथों को प्रेम के प्रसार का माध्यम बनाया गया है। अगोर भैरव के वाक्यों में केवल ईश्वर की महत्ता का प्रतिपादन न करके ईह लोक एवं मानुष हृदय की भावनाओं को भी महत्व दिया गया है, जब बाणभट्ट महावराह के स्थान पर बचाने हेतु भट्टिनी का चुनाव करता है तो अगोर भैरव कहते हैं—''हाँ, तू अब ठीक कह रहा है। भुवन मोहिनी का साक्षात्कार पाकर भी तू भटकता फिर रहा है पागल! देख रे, तेरे शास्त्र तुजे धोखा

देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं; जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भुलाने को कहते हैं; जिसे तू पूजता है, उसे छोड़ने को कहते हैं। मायविनी हैं यह मायविनी, तू इस जाल में मत फँस। समस्त पुरुषों को भरमा रही है। स्त्रियों को सता रही है, माया का दर्पण पसारे है। तू उसे नहीं देखता, मैं उसे देखता हूँ।''[3] वैष्णव धर्म से प्रभावित सुचरिता भी इसी का मानव के सत्य को अन्य सभी शक्तियों से ऊपर स्थान दिया है—''मानव देह केवल दंड भोगने के लिए नहीं बनी है आर्य! यह विधाता की सर्वोतम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मंदिर है। पहले इस बात को समझ गई होती, तो इस बात का परिताप नहीं भोगना पड़ता। गुरु ने मुझे अब यह रहस्य समझा दिया है। मैं जिसे अपने जीवन का सबसे बड़ा कुलुष समझती थी, वही मेरा सबसे बड़ा सत्य है। क्यूं नहीं मनुष्य अपने सत्य को सबसे बड़ा सत्य समझ लेता, आर्य?''[4] श्रमण धर्म समर्थक आचार्य सुगतभद्र भी कुमार से पंथ से परे मानवता की चिंता व्यक्त करते हैं—''क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण, मनुष्यता दोनों ही जगह विरल है।'' स्पष्ट है कि उपन्यास में सभी धर्मों के उपर मानवता को की सार्थक माना गया है।''[5]

भारतीय प्रेम कथा परंपरा को साधने का अगर प्रयास करें तो ये कहा जा सकता है, प्रेम कथा अनंता। इन सभी ऐतिहासिक प्रेम-कथाओं में प्रेम-भावनाओं के समानांतर लोककल्याण भावना भी विद्यमान रही है। संस्कृत साहित्य में 'अभिज्ञानशाकुंतलम', 'विक्रोमोर्वशीयम', 'नल-दमयन्ती', 'स्वप्नवास्वदत' व 'मलतीमाधव' से लेकर हिन्दी साहित्य में 'पद्मावत', 'ढोल-मारू रा दुहा', 'हीर-राँजा', 'लैला-मजनूं' व 'उसने कहा था' में हम परदुखकातरता, संबंधों की नैतिक गरिमा व स्वाधीन मूल्यों के पालन जैसे महत्वपूर्ण मानवतावादी मूल्यों को देखते हैं, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भी इसी परंपरा के कही बीच में ठहरती है।

प्रेम मनुष्य का स्वाभाविक भाव है, जो जीवन को सौन्दर्य से परिपूर्ण बनाता है। मानवतावाद और प्रेम का संबंध स्वगत भेद रूपी हैं जिस प्रकार किसी एक से वैयक्तिक अनुरागपूर्ण प्रीत, प्रेम कहलाता है वैसा ही संबंध सम्पूर्ण चराचर के साथ हो जाए तो उच्च श्रेणी का मानवतावाद है। भारतीय प्रेम कथाओं एवं काव्यों में हमे ऐसा ही रूप देखने को मिलता है, जहां प्रेम केवल दो मानवों के युगल वासना से कहीं अधिक लोक कल्याण, पर-पीड़ा विनाश करने वाला, वैश्विक करुणा का संदेश के साथ नैतिकता को लिए रहता है। उपनिषदों में प्रेम के इसी विश्वबंधुत्व वाले रूप को रेखांकित किया हैं—''न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति''[6] (अर्थात्, हम दूसरों से प्रेम इसलिए नहीं करते कि वे दूसरे हैं, बल्कि इसलिए करते हैं क्योंकि उनमें भी वही 'आत्मा' है जो हममें है।) ये प्रेम की लोक कल्याणमयी प्रवाहिनी कालक्रम में निरंतर वर्तमान रही है। इस धारा के बीज प्रवृतियों को हम आदि साहित्य वेदों, उपनिषदों, पुराणों,व संस्कृत काव्यों में पाते हैं। हिंदी में सर्वभूत प्रेम भावना को शामिल करने वाला अथाह साहित्य लिखा गया। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उन्हीं में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी भारतीय लालित्य परंपरा को समझने एवं अपने साहित्य के माध्यम से उसे प्रस्तुत करने वाले लेखक हैं, उन्होंने न केवल भारतीय परंपरा के मानवतावादी प्रेम तत्वों को उपन्यास में शामिल किया है बल्कि उससे भिन्न उसे वैश्विक श्रेष्ठ प्रेम भी बताया है।

उपन्यास के शुरुआत से लेकर अंत तक लोकमंगलवादी दृष्टि से इस मानवतावादी प्रेम का मूल्यांकन भी किया है। विश्व के लोकमंगल की भावना को केंद्र में रखकर ही भट्टिनी बाणभट्ट से कहती हैं—''क्यों भट्ट, ऐसा नहीं हो सकता कि ऊंची भारतीय साधना उन तक पहुंचाई जा सके और निकृष्ट सामाजिक जटिलता यहाँ से हटाई जा सके? जब तक ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो जाती तब तक शाश्वत शांति असंभव है।''[7] भट्टिनी को ऐसा महान लोक कल्याण का लक्ष्य मानवतावादी भागवत प्रेम के माध्यम से फलितार्थ होता दिखता है, वे कहती हैं—''मुझे भागवत धर्म में यह पूर्णता दिखाई देती है।''[8]

भारतीय जीवन दृष्टिकोण में, सभ्यता एवं संस्कृति के उत्कर्ष का निर्धारण सदैव उच्च नैतिक मूल्यों से जोड़ा गया है तथा चरित्र की महानता को आचरण की पवित्रता से आँका गया है, इसे ही आदर्श मानवतावाद के रूप में देखा जाता है भारतीय साहित्य में ये गुण हमें यत्र तत्र मिल जाते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर, जयशंकर प्रसाद और हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में यह मानवतावादी दृष्टि प्रमुख रूप से देखने को मिलती है। नारी को देवी रूप में सम्मानित करना उन्हीं सद्मूल्यों का एक भाग है। उपन्यास में कुमार कृष्णवर्धन एक जगह कहते हैं, जो पूरे उपन्यास में यह परिलक्षित होता देखा जा सकता है कि—''देवपुत्र नंदिनी का जिसने अपमान किया है, उन्होंने समस्त स्थाण्विश्वर की राजलक्ष्मी को पैरों से ठुकराया है।''[9] और

मानवतावादी सांस्कृतिक साहित्यकार जयशंकर प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' नाटक के वक्तव्य में भी यही गुण देखने को मिलता है–''यवनों से उधर ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में।''[10] उपरोक्त दोनों संदर्भों में भारतीय सभ्यता श्रेष्ठता दर्शाने के लिए 'राजलक्ष्मी' एवं 'कलवधू' जैसे प्रतीकों के माध्यम से विभूषित किया है, तात्पर्य है कि सम्मानित नारी की स्थिति ही संस्कृति की महानता के रूप में परिलक्षित होती रही हैं। इस प्रकार के उच्च आदर्श वाले मूल्यों को आचरण में लाकर ही मानवता का कल्याण किया जा सकता है।

उपन्यास में यह दिखाया गया है कि उसी देवी के सम्मान में लोक की सुरक्षा निहित है। कुमार, बाणभट्ट से कहते हैं–''तुम्हें देवपुत्र नंदिनी की सेवा इसलिए नहीं करनी की देवपुत्र नंदिनी तुम्हारी दृष्टि में पूज्य और सेव्य हैं बल्कि इसलिए की उनकी सेवा द्वारा तुम लोक का आत्यन्तिक कल्याण करने जा रहे हो।''[11]

बाणभट्ट ने कालिदास का उदाहरण देकर नारी महत्ता को पुन:स्थापित करते हुए कहते हैं कि– ''इतिहास साक्षी है कि इस (नारी) महिममयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य नष्ट हो गए, मठ विध्वस्त हो गए और वैराग्य के जंजाल फेन-बुद्बुद की भांति क्षणभर में विलुप्त हो गए हैं।''[12] संस्कृति के विकास का आधार स्त्री-सम्मान को मानना ही उच्च मानवीय गुण है, और ये उपन्यास का एक महान लक्षण हैं। इस प्रकार, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्त्री मात्र के जीवन को गरिमापूर्ण व महत्वशाली बनाने के मानवतावादी मानकों का निर्माण करते हैं।

उपन्यास में मानवतावादी तत्वों में सर्वप्रमुख हैं भट्ट के स्त्री पात्र के प्रति विचार जो लेखक के स्त्री सम्मान को भी दर्शाता है। भट्ट समाज की पारंपरिक-रूढ़िवादी विचार शैली जिसमें स्त्रियों को पुरुषों से निम्नतर समझा जाता है; जिनका केवल शारीरिक सुंदरता से मूल्य आँका जाता हो तथा जिन पर समाज लांछन लगाने को हमेशा तैयार रहता है, का विरोध करता है। भट्ट उनकी काया से कहीं अधिक नारी जीवन की गरिमा का आदर करता है वो कहता है–''साधारणत: जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है उनमें एक देवी शक्ति भी होती है यह बात लोग भूल जाते हैं। मैं नहीं भूलता; मैं स्त्री शरीर को देव मंदिर के समान पवित्र मानता हूँ। उस पर की गई अनुकूल टीकाओं को मैं सहन नहीं कर सकता।''[13] इस प्रकार प्रेम के साथ स्त्रियोचित भावनाओं का आदर मानवतावाद का महान लक्षण हैं। उपन्यास में ये आदर भाव केवल एक तरफा नहीं है। निउनिया, सूचरिता तथा भट्टिनी ने भी बाणभट्ट के महान आदरणीय व्यक्तित्व के कारण वर्तमान लोक का देवता कहती हैं। इस प्रकार ये उपन्यास में वर्णित प्रेम संबंध केवल देहिक ना होकर उससे ऊपर उठकर दो भावों व विचारों के मध्य होने वाला प्रेम है।

उपन्यास के कथामुख से ज्ञातव्य है कि मूल कथा आस्ट्रिया की एक महिला जो भारतीय विद्याओं के प्रति अनुराग रखती हैं, के द्वारा लिखी गई है। यहां पर दृष्टिकोण रखा जा सकता है कि द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति को विदेशी नजरिए से देखना चाहते हो और मानवता से परिपूर्ण प्रेम-कथा को वैश्विक पटल पर प्रस्तुत करना चाहते हो। उपसंहार में भी मूल लेखिका का ये वक्तव्य हजारी प्रसाद द्विवेदी रेखांकित करते की-''भाले, 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही तो नहीं होते। इस नर लोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।''[14] दोनों बातों से यह स्पष्ट होता है कि बाणभट्ट की आत्म कथा में मानवता संकल्पना व्यक्ति-विशेष, राष्ट्र व धर्म की सीमाओं से परे सम्पूर्ण विश्व को अपने अंदर समेटे हैं। इस उपन्यास को केवल एक काल, स्थान एवं संस्कृति विशेष तक सीमित करना भारी भूल होगी।

उपन्यास में वैश्विक मानवता को संरक्षित करने की चिंता दिखाई देती है। बाणभट्ट जैसे कवि को लोक के कल्याण हेतु प्रेरित किया गया है। भट्टिनी की प्रेरणा से प्रभावित होकर बाणभट्ट स्वयं से ये प्रश्न करता है–''क्या इस (लोक-कल्याणमयी काव्य) प्रकार के सत्य का प्रचार करके मनुष्य की दुरदुम वासनाएं, अनियंत्रित कामनायें, अविचारित धारणाएँ कुछ कम भीषण हो जाएगी? क्या यह संभव हैं कि काव्य से मनुष्य की दयाहीन-विवेकहीन-धर्महीन वृत्तियां उच्चतर कार्य में नियोजित हो जाएं?'' [15] इस प्रकार द्विवेदी जी कला एवं साहित्य के उद्देश्य को भी स्पष्ट करते हैं। वे साहित्यकार केवल मनोरंजन की अपेक्षा नहीं करते वरन उससे कहीं अधिक मानवता को संरक्षित करवाना चाहते हैं। उपन्यास में निरंतर देव महावराह की स्तुति की जाती है जो सम्पूर्ण सृष्टि के रक्षक हैं, जिनके माध्यम से सम्पूर्ण चराचर का कल्याण हुआ है। यह पंक्ति भी उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करती है -

''जलौघमग्ना सचराचरा धरा

विषाणकोट्याऽखिल विश्वमूर्तिना।
समुद्धता येन वराहरूपिणा स में
स्वयंभूर्भगवान् प्रसीदतु॥''[16]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के केन्द्र में भी ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिसमें राष्ट्र को अराजकतापूर्ण व विप्लवकारी हूणों के संकट से बचाना है तथा उपन्यास का हर सक्रिय पात्र उसी के लिए चिंतित है। भट्ट और भट्टिनी भी इसके लिए अपने सम्मान से समझौता करते हैं। महामाया से लेकर कुमार कृष्णवर्धन भी उसी से व्याकुल हैं, निसन्देह उपन्यास का कथानक जन रक्षा जैसे महान उद्देश्यों को समर्पित है। उपन्यास का प्रारंभ भट्टिनी के मान की सुरक्षा से लेकर आगे उनके माध्यम से समाज का मंगल से जुड़ता चल जाता है। द्विवेदी जी की इस योजना के माध्यम साहित्य के केंद्र में मनुष्य से और समाज दोनों का सुंदर समन्वय किया है।

***सह आचार्य**
हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
राया सुचानी, बागला जिला साम्बा,
जम्मू-कश्मीर-181143,
ई-मेल : ratnesh.hnd@cujammu.ac.in
★★शोध छात्र
हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
राया सुचानी, बागला जिला साम्बा,
जम्मू-कश्मीर-181143
ई-मेल : ratnesh-hnd@cujammu.ac.in

सन्दर्भ सूची

1. संपादक,पोद्दार, हनुमान प्रसाद, महाभारत, पंचम खंड, शांति पर्व, 299/20, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ संख्या 4216
2. तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, गीता प्रेस, पृष्ठ संख्या 651
3. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, बाणभट्ट की आत्मकथा, 40वां संस्करण, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 79
4. वही, पृष्ठ संख्या 182
5. वही, पृष्ठ संख्या 68
6. बृहदारण्यक उपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित), 2.4.5, गीता प्रेस गोरखपुर, पृष्ठ संख्या 546
7. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, बाणभट्ट की आत्मकथा, 40वां संस्करण, राजकमल प्रकाशन, 2016, पृष्ठ संख्या 256
8. वही, पृष्ठ संख्या 257
9. वही, पृष्ठ संख्या 69
10. जयशंकर, प्रसाद, स्कन्दगुप्त, राजकमल पेपरबैक्स, आवृत्ति 2010, पृष्ठ संख्या 49, 114
11. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, आवृति 2016, पृष्ठ संख्या 10
12. वही, पृष्ठ संख्या 113
13. वही, पृष्ठ संख्या 21
14. वही, पृष्ठ संख्या 291
15. वही, पृष्ठ संख्या 258
16. वही, पृष्ठ संख्या 122

डॉ. सपना गाँधी

पाठ एवं दृश्य : विशेष संदर्भ मन्नू भंडारी कृत 'महाभोज' उपन्यास और नाट्य रूपांतर

साहित्य का एक रूप सृजन होता है, दूसरा आलोचन। सर्जनात्मक साहित्य के गोचरता, शैलीबंध, वर्ण्य-विषय, कवि-प्रवृत्ति, श्रेष्ठता आदि की दृष्टि से अनेक भेदोपभेद होते हैं। गोचरता की दृष्टि से प्राचीन आचार्यों ने काव्य के दृश्य और श्रव्य (पाठ्य) दो भेद किए थे। पाठ्य की दृष्टि से गद्य-पद्य आदि भेद होते हैं। गद्य के अंतर्गत कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, निबंध, आलोचना आदि अनेक रूप प्रचलित हैं। दृश्य के अंतर्गत रूपक तथा उपरूपक और उसके भेद माने जाते थे। आज दृश्य या अभिनेय के मुख्य रुप हैं- नाटक, एकांकी, सीने-चित्र, रेडियो-नाटक या ध्वनि-रूपक, झलकी, नाट्य रूपांतर आदि।

समकालीन साहित्य विधाओं में उपन्यास और नाटक ही शायद जीवन के अधिकाधिक निकट सर्वाधिक विशिष्ट विधाएँ हैं। उपन्यास पाठ्य व श्रव्य विधा है। उपन्यास जीवन के यथार्थ व भाव सत्य को व्यापकता व गहनता से सभी स्तरों और आयामों में समग्रता से अभिव्यक्त करता है। नाटक दृश्य विधा है और उसका माध्यम है रंगमंच। नाटक केवल नाटककार की विधा न होकर-अभिनेताओं दर्शकों की भी विधा है और संवादों के अतिरिक्त दृश्यबंध, मंच उपकरण, प्रकाश, ध्वनि आदि भी इसकी अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। उपन्यास केवल उपन्यासकार की ही विधा होती है। पाठक का अस्तित्व उपन्यास की स्थितियों, घटनाओं और पात्रों के साथ घुला-मिला रहता है। उपन्यास में लेखक कथा, घटनाओं, विचारों, पात्रों के भावों का वर्णन-विश्लेषण अपने शब्दों में कर सकता है परंतु नाटक में वातावरण, पात्रों की वेशभूषा आदि रंगमंच निर्देश के अंतर्गत आ जाते हैं। उपन्यास समाख्यानक विधा है और नाटक संवादात्मक।

उपन्यास और नाटक दोनों साहित्यिक विधाओं में विचार, अनुभूति, कथा-पात्र आदि तत्व रहते हैं परंतु इस साम्य के होते हुए भी दोनों के शिल्प में भारी वैषम्य है। उपन्यास में कोई भी भाव-विचार प्रवेश पा सकता है। नाटककार जीवन के उन्हीं पक्षों का उद्‌घाटन कर सकता है जो रूपात्मक या सांकेतिक अभिनयक्षम हों। उपन्यास अंतरतम की गहराइयों को पूर्णतया प्रस्तुत कर सकता है, नाटक में इसकी अल्प संभावना होती है। पात्रों के चिंतन तथा उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति नाटक के विषय नहीं हैं। नाटक में चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक एवं प्रत्यक्ष न होकर केवल परोक्ष या अभिनय के माध्यम से होता है। उपन्यास में कार्यों का वर्णन होता है और नाटक में कार्यों को दिखाया जाता है। शाब्दिक भाषा के साथ-साथ अभिनयमूलकता भी नाट्य भाषा की अनिवार्य शर्त है। नाटक की भाषा में हरकत होती है। नाटक में कोई भी शब्द बोला जाए तो बोलने के साथ ही एक्शन भी जुड़ जाता है। उपन्यास की कथा हम तक दूसरे माध्यम से पहुँचती है। नाटक में कथानक सीधा प्रस्तुत होता है और प्रभाव भी गहरा पड़ता है। उपन्यास की भावाभिव्यंजना एवं शिल्प विधान नाटक की अपेक्षा निर्विवाद रूप से विशिष्ट है परंतु अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद नाटक हमारे संवेगों को जागृत और उद्दीप्त करने में अधिक समर्थ है। नाटक अपनी रचना, प्रस्तुतिकरण, आस्वाद सभी दृष्टियों से सामूहिक तथा सामाजिक है। टॉलस्टॉय के शब्दों में, ''यद्यपि हर आर्ट अपने आप में ह्यूमन एक्टिविटी है

परंतु नाटक रंगमंच से वास्तविक अभिव्यक्ति पाने के कारण पूर्णत:'ह्यूमन एक्टिविटी' है ।'' (डॉ० गिरीश रस्तोगी, नाटक तथा रंग परिकल्पना, पृ० 10)

यद्यपि आधुनिक गद्य साहित्य परंपरा का प्रवर्तन नाटक से हुआ। तथापि आजादी के बाद से यह वक्तव्य लगातार दोहराया जाता रहा है कि हिंदी में मौलिक नाट्य लेखन की मौजूदा हालत बड़ी खराब है। डॉ० गिरीश रस्तोगी के अनुसार- ''अनुवादों की भीड़ और तीव्र गति से अजीब मन:स्थिति ने हमारे रंगकर्मी को त्रस्त किया कि हिंदी में कुछ है ही नहीं।'' 1967 से 77 तक के समय में देशी विदेशी कृतियों के अनुवाद और उसके नाट्य रूपांतरण पर लोगों का ध्यान अधिक केंद्रित हुआ। यह समय मुख्यत: बादल सरकार, विजय तेंदुलकर, गिरीश कर्नाड, ब्रेख्त, गोर्की, चेखव आदि की कृतियों का रहा। नाटक और रंगमंच के प्रभाव क्षेत्र का अनुभव करते हुए और हिन्दी में मौलिक नाटकों के अभाव को देखते हुए अनेक कवि, कथाकार और उपन्यासकार नाट्य लेखन की ओर उन्मुख हुए और इसी दिशा में नाट्य रूपांतरण का तीव्र दौर शुरू हुआ और अनेक उल्लेखनीय कृतियों को नाट्य रूप में प्रस्तुत किया गया। 'कामायनी' (जयशंकर प्रसाद), 'राम की शक्ति पूजा' (निराला), 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' (रामधारी सिंह दिनकर), मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय आदि की कविताओं को लेकर मंचीय प्रयोग किए गए। 'मंटो इस्मत हाजिर हैं' (मंटो और इसमत चुगतई) 'बड़े भाई साहब' और 'शतरंज के खिलाड़ी' (प्रेमचंद) 'नरमेध' शीर्षक से साग - मीट','त्रास' और 'अमृतसर आ गया' (भीष्म साहनी), 'कफन', 'ठाकुर का कुआँ' (प्रेमचंद), एकान्त नाम से 'धूप का टुकड़ा','डेढ़ इंच ऊपर', 'वीकेंड' (निर्मल वर्मा), मोहन राकेश, प्रसाद आदि की कहानियों को कोलाज रूप में मंचित किया गया। 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल), 'मित्रों मरजानी' और 'डार से बिछुड़ी' (कृष्णा सोबती),'महाभोज' (मन्नू भंडारी),'बेगम का तकिया' (आनंद कुमार), 'गोदान' और 'रंगभूमि' (प्रेमचंद), 'सुहाग के नूपुर' (अमृतलाल नागर), 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (हजारी प्रसाद द्विवेदी),'मैला आँचल' (रेणू), 'तमस' (भीष्म साहनी) आदि उपन्यासों का मंचन किया गया। वस्तुत: साहित्य में प्रयोग का महत्व निर्विवाद है, नाटक तथा रंगमंच के क्षेत्र में भी शिल्प की दृष्टि से (कहानी, उपन्यास का रंगमंच, नुक्कड़ नाटक, कविता का मंचन आदि) अनेक प्रयोग किए गए।

कुछ रचनाओं के रूपांतर स्वयं लेखकों ने किए व कुछ के दूसरों द्वारा भी करवाए गए। 'महाभोज' उपन्यास (पाठ्य) को नाट्य (दृश्य) में रूपांतरित करने का चुनौती भरा काम स्वयं लेखिका मन्नू भंडारी ने बहुत मेहनत से आठ महीने लगाकर कम से कम चार ड्राफ्ट तैयार कर अपने अन्य सहयोगियों अमाल अलाना, प्रेम मटियानी, विजय कश्यप, डॉ० शैल कुमारी के सहयोग से किया।

मन्नू भंडारी का बहुचर्चित उपन्यास 'महाभोज' वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था जो मात्र वोट में सिमट आयी है पर करारा व्यंग्य है। आए दिन जनसाधारण पर होने वाले अत्याचार, आगजनी, जीवन-दहन जैसी अमानुषिक घटनाएँ प्रत्येक नागरिक को विचलित कर उसके कारणों पर सोचने के लिए मजबूर कर देती हैं। ऐसे ही ''बेलछी हत्याकांड'' की खबर ने मन्नू भंडारी को हिला दिया और इसी घटना को आधार बनाकर 'महाभोज' उपन्यास की रचना की। तत्पश्चात् उपन्यास को नाट्य में रूपांतरित कर इसे हजारों दर्शकों तक पहुँचाया। महाभोज में दा साहब मुख्यमंत्री हैं और सुकूल बाबू विरोधी पक्ष के नेता। जोरावर राजनीतिक सुरक्षा में पलने वाला गुंडा और हत्यारा है। सक्सेना पुलिस अधिकारी है। दत्ता बाबू संपादक हैं और महेश शर्मा बुद्धिजीवी है जो गाँव में ''क्लास स्ट्रगल और कास्ट स्ट्रगल'' पर रिसर्च करने पहुँचा है। बीसू, बिंदा, हीरा, रुक्मा आदि गाँव की निरीह एवं असंतुष्ट जनता है। इन पात्रों के माध्यम से लेखिका ने यथार्थ स्थितियों का चित्रण संवेदना के धरातल पर किया है। उपन्यास नेताओं के विविध रूपों, सत्ता के मनमाने दबाव और शासनतन्त्र के बदले हुए ढाँचे को सामने लाता है। उपन्यास राजनीति के उस पक्ष को भी सामने लाता है जिसमें प्रशासनिक व्यवस्था और जनसंचार के माध्यमों को 'एक्सप्लायटल' कर अपने अनुकूल मोड़ लिया जाता है। साथ ही पुलिस की कार्यप्रणाली का भी सटीक चित्र उपन्यास में मिलता है। उपन्यास में जहाँ एक और दा साहब जैसे साधन सम्पन्न राजनीतिज्ञ और उनका पूरा अमला है वहीं दूसरी ओर बिसू, बिन्दा, महेश, लोचन, सक्सेना, हीरा, रुक्मा जैसे साधारण जन भी हैं जो अपने-अपने ढंग से व्यवस्था के विरुद्ध संघर्षरत हैं और न्याय लेने पर तुले हैं। सक्सेना का रुक्मा के साथ दिल्ली जाना इस बात का प्रतीक है कि बीसू का विद्रोह बिंदा तक और बिंदा का आक्रोश सक्सेना तक निरंतर संक्रमित होता रहेगा, अनवरत चलने वाला शोषण और दमन चक्र भी इसे नष्ट नहीं कर सकता।

उपन्यास प्रमुख रूप से समाख्यानक विधा है लेकिन उसमें नाटक शिल्प के तत्वों का समावेश भी संभव है। आधुनिक जीवन अत्यंत अनिश्चित होने के साथ ही अत्यंत नाटकीय भी है। ''आधुनिक जीवन की नाटकीय अभिवृत्ति'' ने प्रेमचंदोतर उपन्यास संरचना को निश्चय ही नवीन आयाम एवं दृश्यत्व, गतिशीलता, द्वंद्व, अंतर्विरोध, विडंबना जैसे नाटकीय तत्वों से समृद्ध किया है। 'महाभोज' उपन्यास आधुनिक मनुष्य से जुड़े इस सच को उभारता है कि आज राजनीति मानव नियति को संचालित ही नहीं करती निर्धारित भी करती है। 'महाभोज' उपन्यास की शिल्पविधि में, उसकी संपूर्ण बुनावट में नाटकीय व रोमानी तत्व अनिवार्यत: आ गए हैं। स्वयं लेखिका के शब्दों में ''....रोमानी तत्व तो उसमें हैं ही...इस तत्व को मैं रचना का दुर्गुण नहीं, अनिवार्य तत्व मानती हूँ।...आज की भयावह स्थितियों में एक साहित्य ही तो है जो मनुष्य की संवेदना को जगाए रखता है और यह शायद रोमानी तत्व के समावेश से ही संभव है।'' (साक्षात्कार, अक्टूबर 1992, पृ० 14)

'महाभोज' में राजनीतिक छद्म का उद्घाटन नाटकीय है जिसके द्वारा नेताओं में चेहरे पहनने की प्रवृत्ति उद्घाटित होती है। वस्तुत: ''यह कहना कठिन है कि आधुनिक व्यक्ति के आचरण में वास्तविक अनुभूति कितनी है और अभिनय कितना।'' (प्रेमचंदोतर उपन्यासों में नाटकीय तत्व, डॉ० ओम प्रकाश शर्मा प्रकाश पृ० 78) 'महाभोज' के कथानक में तीव्र नाटकीय घटनाओं का रोचक संयोजन है और चरित्रों में वैविध्य। उपन्यास का आरंभ भी बड़े नाटकीय व रहस्यात्मक ढंग से होता है। बीसू की हत्या को केंद्र बनाकर चुनाव की सारी नौटंकी खेली जाती है। एक ही मुद्दे को अपने-अपने लाभ के लिए अलग-अलग रंग देना नाटकीय है। एक ओर साधन संपन्न सत्ता है तो दूसरी ओर न्याय लेने पर तुला साधारण जन-न्याय प्रतिष्ठा की दिशा में यह ठोस संघर्ष अपनी टकराहट और सक्रियता में नाटकीय है। डॉ० ओम प्रकाश शर्मा 'प्रकाश' के शब्दों में-''ये द्वन्द्व आधुनिक परिस्थितियों और संदर्भों की उपज है। संप्रति संघर्षरत, संशयमना व्यक्ति अंतर्विरोधी स्थितियों से गुजरते हुए अपनी विडंबित नियति को भोगने में पूर्ण नाटकीय बिम्ब प्रस्तुत करता है।'' (डॉ० ओम प्रकाश शर्मा 'प्रकाश', प्रेमचंदोतर उपन्यासों में नाटकीय तत्त्व)

'महाभोज' के संवादपरक अंश (विशेषत: एस०पी० सक्सेना की तहकीकात के रूप में) भी अत्यंत नाटकीय हैं। इसके अतिरिक्त दावतों के दृश्य भी व्यंजक हैं, जो साधन सम्पन्न और साधनहीन के अंतराल को रेखांकित करते हैं। हरिजन टोले में आदमियों सहित उनकी झोपड़ियों में आग लगा दिया जाना, बिसू तथा उसकी हत्या, लाश और हत्या को लेकर मचे तूफान से राजनीतिक चरित्रों के दांवपेंच, पुलिस की अंदरूनी नीति, अखबारों की अवसरवादिता का उभरकर आना व उसके समानांतर बिंदा, महेश और सक्सेना का संघर्षरत होना- उपन्यास की ये समस्त घटनाएँ एक के बाद एक पाठक के मानस पटल पर तीव्रता से अंकित होती जाती हैं और घटनात्मकता की ये त्वरा उपन्यास की नाटकीयता तय करती है।

हर साहित्यिक विधा और कला माध्यम का अपना निश्चित शिल्प और विशिष्ट शर्तें होती हैं फिर भी विभिन्न साहित्यिक विधाओं के संबंध-सूत्र परस्पर एक दूसरे से जुड़ते भी हैं। उपन्यासों के नाट्य रूप और उसकी नाट्य प्रस्तुतियाँ इसका प्रमाण हैं कि उपन्यास विधा को रंगमंचीय शक्ति और जीवन्तता से जोड़ा गया है। उपन्यास को मंचित करना वस्तुत: अतीत को वर्तमान में और पाठ्य को दृश्य में परिवर्तित करने की रचनात्मक प्रक्रिया है। नाट्य रूपांतर भी अपने आप में सर्जनात्मक कार्य है। एक मौलिक कृति का पुन: सृजन। किसी उपन्यास या कृति को संवादबद्ध कर देना ही नाट्य रूपांतर नहीं है बल्कि रूपांतरकार को मूल रचना की आंतरिक शक्ति, उसके कथ्य को संप्रेषित शक्ति से जोड़कर अधिक सशक्त रचना के रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। डॉ० गिरीश रस्तोगी के अनुसार, ''नाट्य रूपांतर करते समय तिहरे दायित्व से जूझना पड़ता है-एक उपन्यास की मूल आत्मा, लेखक के व्यक्तित्व, दृष्टिकोण तथा स्तर की रक्षा, दूसरे उस मूल आत्मा को नाट्य-विधा का संश्लिष्ट, स्वाभाविक और उपन्यास के अनुकूल स्वरूप प्रदान करना, तीसरे नाट्य रूपांतर करते समय दर्शक, अभिनेता आदि का ध्यान रखते हुए रंगमंच की सीमाओं, संभावनाओं, शर्तों, आवश्यकताओं आदि सभी के प्रति पूर्णत: सतर्क रहना।'' (डॉ० गिरीश रस्तोगी, नाटक तथा रंग परिकल्पना, पृ० 31)

'महाभोज' उपन्यास का फलक बहुत बड़ा है, नाट्य रूपांतर में इसे संक्षिप्त किया गया है। परंतु इस संक्षिप्तीकरण में उपन्यास के महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित स्थल कहीं भी छूटे नहीं हैं, लेखिका ने बड़ी सूझ-बूझ से कथानक के बिखरे सूत्रों को, नाट्य स्थितियों को इकाइयों में बाँधकर ग्यारह दृश्यों की

योजना की है। उपन्यास के लंबे-लंबे वर्णनात्मक स्थल नाट्य रूप में आकर अत्यंत सूक्ष्म और सांकेतिक बन गए हैं। कथा और कार्य की क्रमबद्धता एवं सघनता को बनाए रखने के लिए घटनाओं, स्थितियों, प्रसंगों तथा पात्रों की आवश्यकतानुसार काँट छाँट की गई है। साथ ही स्थितियों की माँग के अनुसार पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान को पुनर्नियोजित किया गया है। शब्दों के साथ-साथ रंगभाषा का उपयोग किया गया है। संवाद अधिकतर ज्यों के त्यों हैं, कहीं-कहीं संवाद बनाए गए हैं और कहीं वर्णन-क्रम में आयी बातों को संवादों के साथ जोड़ा गया है। लेखिका के शब्दों में, ''...उपन्यास के पूरे विस्तार को कसी हुई और प्रभावपूर्ण दृश्य योजना में बदलना, अपने को अनुपस्थित करके केवल संवादों और क्रियाओं या मुद्राओं के माध्यम से सारे पात्रों और स्थितियों को उजागर करना, सारी प्रस्तुति को सीमित अवधि और रंग-स्थलों में केंद्रित कर देना-ये और ऐसी ही जाने कितनी अपेक्षाएँ और सीमाएँ थीं जिनसे बंध कर मुझे अपनी बात कहने थी, कथ्य के प्रभाव को पूरी तरह सुरक्षित रखते हुए।'' ('महाभोज' नाट्य रूपांतर, मंच प्रस्तुति से पहले, पृ० 9)

नाट्य रूपांतर की निर्देशिका अमाल अलाना के तर्क पर कि ''नाटक में केंद्रीय पात्र की अनुपस्थिति में सारी स्थिति को एक तटस्थ दर्शक की तरह देखकर समेटने के लिए सूत्रधार की आवश्यकता है ताकि पूरे नाटक को एक एंगिल दिया जा सके।'' ('महाभोज' नाट्य रूपांतर, मंच प्रस्तुति के बाद, पृ० 10-11) लेखिका ने नाट्य रूपांतर में सूत्रधार की कल्पना कर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया और यह काम उन्होंने मध्यवर्गीय प्रबुद्ध शोध-छात्र महेश से लिया।

नाटक में पात्रों का चिंतन, स्वगत भाषण या फ्लैशबैक अपवाद हो सकते हैं, नाटक में एक्शन होना चाहिए, उसमें बोलने के साथ ही एक्शन जुड़ जाना चाहिए। उपन्यास में एक स्थल पर एस०पी० सक्सेना के आगे बयालीस के दिन उभर आते हैं, उनके अंतर्जगत में दिनेश कौंध जाता है कि वह एक बार दिनेश को अन्याय का विरोध करते हुए अकेला छोड़ आए थे। उन्हें बिंदा के चेहरे में दिनेश का चेहरा दिखने लगता है और वे संकल्प करते हैं-''नहीं इस बार वह दिनेश को अकेला नहीं छोड़ेंगे, साथ देंगे अंत तक।'' - यह स्थल यद्यपि उपन्यास की संवेदना को घनत्व देता है परंतु नाटक में इसका संप्रेषण या प्रस्तुति असंभव है क्योंकि उपन्यास भूतकाल में विन्यस्त होता है और नाटक वर्तमान में। इसलिए उपन्यास की इस स्थिति को दर्शकों तक संप्रेषित करने के लिए लेखिका ने नए ढंग से पूरे दृश्य की योजना नाटक में की है, जिसमें एक्शन है। जहाँ महेश एस०पी० को बताता है कि कुछ लोगों ने बिंदा की जबरदस्त पिटाई की है और महेश निर्णयात्मक स्वर में कहता है-''अब वह बच नहीं सकेंगे।'' ('महाभोज' नाट्य रूपांतर, पृ० 95)

जहाँ उपन्यास के कुछ स्थल नाट्य रूपांतर में छोड़े गए हैं वहीं कुछ प्रसंग जोड़े भी गए हैं जैसे बिंदा और महेश का 'मशाल' के दफ्तर में आगजनी और बिसू की हत्या के प्रमाण छपवाने जाना। साथ ही उपन्यास में कहीं भी इसका संकेत नहीं है कि महेश (शोध-छात्र) गाँव की समस्याओं, घटनाओं और गाँव के लोगों के साथ इनवॉल्व होकर अपनी पढ़ाई छोड़ देता है—

सक्सेना-''...लेकिन महेश, तुम इन सब में इनवॉल्व कैसे हो गए? सुबह तो तुम कह रहे थे कि तुम्हें परमिशन नहीं है..''

महेश : (बातचीत बीच में काटकर तैश में) इनवॉल्व? इन हालातों में रह सकता है कोई बिना इनवॉल्व हुए? (निर्णयात्मक स्वर में) अब तो मैं पूरी तरह इनवॉल्व हूँ सर! नो क्वेश्चन अबाउट इट।'' ('महाभोज' नाट्य रूपान्तर, पृ० 94)

इन सबके अतिरिक्त नाटक की समाप्ति में बहुत बड़ा परिवर्तन किया गया है। इस देश में पुलिस अधिकारियों की समग्र छवि कुछ अच्छी नहीं है, कोई पुलिस अधिकारी व्यक्तिगत रूप से अच्छा हो सकता है परंतु अधिकतर पुलिस के नाम पर उनका आतंकपूर्ण, अन्यायी, क्रूर व स्वार्थी स्वरूप ही उभर कर सामने आता है। अत: उपन्यास में एस० पी० सक्सेना का सच्चाई को प्रकट करने के लिए कृत-संकल्प होने वाली बात इतनी सहजता से गले नहीं उतरती। इसी कारण नाट्य रूपांतर में यह काम एस०पी० द्वारा न लिया जाकर सूत्रधार एवं शोध छात्र महेश द्वारा लिया गया है।

इसके साथ ही जहाँ उपन्यास का अंतिम दृश्य अधूरी क्रांति को पूर्ण करने का आह्वान देता प्रतीत होता है, सक्सेना का बिसु और बिंदा की सत्य व अन्याय के लिए लड़ी गई लड़ाई को आगे भी जारी रखने का प्रयत्न करता प्रतीत होता है वहाँ नाट्य रूपांतर के अंत में यह संघर्ष और आक्रोश-चेतना समाप्त होती प्रतीत होती है। स्वयं लेखिका के अनुसार-''नाटक की समाप्ति पर सूत्रधार का शब्दहीन संवाद इस बात को तो स्पष्ट कर देता है कि स्थितियाँ कहने सुनने से परे चली गई हैं,

लेकिन उससे उपन्यास में विद्रोह संघर्ष की जिस निरंतरता की ओर संकेत है, वह कहीं न कहीं धुँधला होकर टूटता सा लगता है...।'' ('महाभोज' नाट्य रूपांतर, मंच प्रस्तुति के बाद, पृ० 11)

प्राप्त जानकारी के आधार पर 'महाभोज' की कुछ मुख्य प्रस्तुतियाँ एवं प्रतिक्रियाएँ इस प्रकार हैं- राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल संस्था द्वारा अमाल अलाना के निर्देशन में 1983 में 'महाभोज' का प्रथम प्रदर्शन हुआ। मार्च, 1984 में संभव संस्था द्वारा देवेन्द्र राज अंकुर के निर्देशन में दिल्ली में 'महाभोज' का प्रस्तुतीकरण किया गया। 1986 में रंगसमूल भोपाल के रंगकर्मियों ने जबलपुर में 'महाभोज' की प्रस्तुति की। 1988 में दिल्ली में प्रकाश भाटिया के निर्देशन में यांत्रिक संस्था द्वारा 'महाभोज' का मंचन किया गया। 1990 में दिल्ली में दिनेश ठाकुर के निर्देशन में अंक संस्था द्वारा 'महाभोज' का मंचन किया गया। 1990 में नटरंग (जम्मू) संस्था द्वारा बलवंत ठाकुर के निर्देशन में 'महाभोज' का मंचन हुआ। इसके अतिरिक्त दर्पण संस्था द्वारा एस०के० श्रीवास्तव के निर्देशन में गोरखपुर में, रंगकर्मी संस्था द्वारा उषा गांगुली के निर्देशन में कलकत्ता में, प्रयास संस्था द्वारा धनसिंह धनेन्द्र के निर्देशन में मुरादाबाद में भी 'महाभोज' की प्रस्तुतियां की गईं। इसे अस्मिता थिएटर ग्रुप और एलटीजी रिपर्टरी द्वारा भी सफलतापूर्वक मंचित किया गया है। इसे भारत के प्रतिष्ठित थिएटर उत्सवों जैसे 'भारत रंग महोत्सव' के विभिन्न संस्करणों (जैसे 25वां संस्करण) में भी प्रदर्शित किया जा चुका है। इसके अलावा, इसे नेपाली भाषा में (अनुवादक) विप्लब प्रतीक, (निर्देशक) अनुप बराल) मंडला थिएटर (नेपाल) द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है।

'महाभोज' की रचना लेखिका ने वास्तविक जीवन में घटी घटना बेलछी हत्याकांड से प्रेरित होकर की। आए दिन जनसाधारण पर होने वाले अत्याचार, आगजनी, जीवन-दहन की घटनाओं ने लेखिका को विचलित किया और यह लेखिका की अतिरिक्त सजगता है कि उन्होंने सामयिक कथ्य को लेकर गहरा अनुभव जगाने वाली कृति 'महाभोज' की रचना की। वस्तुत: आए दिन होने वाली अमानुषिक घटनाओं को अखबार की सुर्खियों में पढ़कर उनके दर्द को नहीं समझा जा सकता परंतु 'महाभोज' की प्रस्तुति द्वारा निर्देशक लोगों को उनपर होने वाले अत्याचारों से, सच्चाई से अवगत कराना चाहते हैं, जिससे चाहे थोड़े समय के लिए ही सही जीवन उनके लिए वैसा ही न रह जाए जैसा है। महाभोज नाटक प्रदर्शन-मूल्यों की दृष्टि से भी एक सफल प्रस्तुतीकरण रहा है परंतु फिर भी दर्शकों, समीक्षकों, प्रेस रिपोर्ट्स का ध्यान उसकी प्रस्तुति, उसके मंचन की अपेक्षा उसके कथ्य पर ही अधिक गया। 'महाभोज' का कथ्य तत्कालीन जीवन स्थितियों में प्रासंगिक है जो वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था और संवेदनहीन अमानवीय वातावरण में संवेदनशील मनुष्य की नियति का, उसके जीवन की विडंबनाओं का चित्रण करता है। 'महाभोज' जैसे उपन्यास के कथ्य को, उसमें अंतर्निहित दूरगामी संभावनाओं को अधिक से अधिक प्रेक्षकों तक पहुँचाने का सामाजिक दायित्व नाट्यांतर को सार्थक बनाता है।

नाटककार रंगमंच को दृष्टि में रखकर नाटक लिखता है अर्थात् वे जो कुछ लिखता है उसे अपनी कल्पना के रंगमंच पर घटित होते हुए भी देखता है जबकि रूपांतरकार रंगमंच की सीमाओं के प्रति पूर्णत: सतर्क रहते हुए लिखित कथ्य को मंच पर प्रस्तुत करता है, वह साहित्य विधा की मूल संवेदना को विधा की निजता के साथ संप्रेषित करने का प्रयत्न करता है। रूपांतरकार नाटकीय स्थितियों और रंगयुक्तियों के चयन, बिम्बों, प्रतीकों, संकेतों के प्रयोगों (शैली-शिल्पगत) के प्रति अधिक सजग रहता है जिससे नाट्य का उन्मुक्त प्रवाह बाधित हो जाता है।

महाभोज नाट्य रूपांतर रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया नाटक नहीं अपितु नाट्यांतर को देखते हुए इसकी प्रस्तुतियों के लिए विशेष रंगमंच की योजना की गई है-इसमें यथार्थवादी दृश्यबंध का, विस्तृत व्यय-साध्य और सूक्ष्म ब्यौरों से भरे दृश्यबंध का इस्तेमाल किया गया है। यद्यपि इस नाट्यांतर की नाट्य वस्तु ऐसी है कि इसे बिना ताम-झाम के सूने मंच पर भी प्रस्तुत किया जा सकता है और इस दिशा में प्रयत्न भी किए जाते रहे, परंतु ऐसा करने पर या तो प्रस्तुति का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ सका या फिर नाट्यालेख अपने मूल रूप में प्रस्तुत नहीं हो सका। इस प्रकार यदि लेखिका, दर्शकों, रंगकर्मियों, रंग संस्थाओं की आर्थिक सीमाओं को देखते हुए इसी कथ्य को पहले उपन्यास और फिर नाटक रूप में न लिखकर अयथार्थवादी मंच को दृष्टि में रखकर इसे सीधे नाट्य रूप में प्रस्तुत करतीं तो यह प्रयोग अधिक उपयुक्त हो सकता था। उस स्थिति में इसे छोटी-छोटी रंगमंडलियों और सीमित कलाकारों वाली संस्थाओं द्वारा भी खुले मंच पर सीमित उपकरणों के साथ सहजता से प्रस्तुत करना संभव होता व यह रचना नि:संदेह अधिक प्रभावपूर्ण होती।

लेखिका ने सामयिक समस्या और घटनाओं पर लेखनी उठाते हुए एक प्रासंगिक व कालजयी साहित्य दिया। एक ही 'प्लॉट' को लेकर लेखिका ने दो भिन्न रचनाओं (उपन्यास और नाटक) को प्रस्तुत किया। उपन्यास का नाट्य रूपांतर रचनात्मक स्तर पर एक बड़ी चुनौती का काम है और लेखिका मन्नू भंडारी ने इस चुनौती को बखूबी निभाया है। लेखिका उपन्यास की मूल संवेदना को रूपांतर करते समय निश्चित रूप से आरंभ से अंत तक सुरक्षित रख सकी हैं व अपने पाठक को दर्शक के रूप में बदलने में भी सफल हो सकी हैं। वे केवल कथाकार ही नहीं हैं उनमें नाटककार और निर्देशक की कल्पना दृष्टि और उसकी पूरी प्रक्रिया भी है। नि:संदेह मन्नू भंडारी रूपांतरकार के रूप में समस्त दृष्टियों से अपने दायित्व का निर्वाह कर सकी हैं। फलत: 'महाभोज' सशक्त उपन्यास होने के साथ-साथ प्रभावशाली नाटक बन सका।

एसोसिएट प्रोफेसर
जीसस एंड मेरी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल sgandhi@jmc.du.ac.in

सन्दर्भ ग्रंथ

1. मन्नू भंडारी, महाभोज (उपन्यास), राधाकृष्ण प्रकाशन
2. मन्नू भंडारी, महाभोज (नाट्य रूपांतर), राधाकृष्ण प्रकाशन
3. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन
4. डॉ० कृष्णदेव झारी / डॉ० सुरेश गौतम, साहित्य सिद्धांत और साहित्य विधाएँ, शारदा प्रकाशन
5. जयदेव तनेजा, हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन
6. डॉ० गिरीश रस्तोगी, नाटक तथा रंग परिकल्पना, विश्वविद्यालय प्रकाशन (वाराणसी)
7. डॉ० ओम प्रकाश शर्मा 'प्रकाश', प्रेमचंदोतर उपन्यासों में नाटकीय तत्त्व, विक्रम प्रकाशन
8. साक्षात्कार, अक्टूबर 1992, पृ० 14

महक

ग्रामीण भारत में 'कृषि का महिलाकरण' (Feminization of Agriculture)

महिला किसानों के अधिकार, चुनौतियाँ और नीतिगत समाधान पर एक विस्तृत अकादमिक शोध-लेख

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र ग्रामीण भारत में तेजी से बढ़ते 'कृषि के महिलाकरण' (Feminization of Agriculture) परिघटना का एक गहन अकादमिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पिछले कुछ दशकों में, ग्रामीण क्षेत्रों से पुरुषों के गैर-कृषि रोजगार और शहरों की ओर व्यापक पलायन के कारण कृषि कार्यों में महिलाओं की भागीदारी अप्रत्याशित रूप से बढ़ी है। हालाँकि, श्रम बल में इस भारी वृद्धि के बावजूद, महिला किसान आज भी भूमि स्वामित्व के अधिकार, संस्थागत ऋण, आधुनिक कृषि इनपुट और कृषि विपणन प्रणालियों में संरचनात्मक असमानताओं का सामना कर रही हैं। इस शोध-लेख का मुख्य उद्देश्य महिला किसानों को 'मजदूर' के बजाय 'कृषक' के रूप में मान्यता देने की आवश्यकता, उनके कानूनी अधिकारों के हनन और भारतीय कृषि के सतत विकास के लिए आवश्यक नीतिगत सुधारों को रेखांकित करना है।

मुख्य शब्द

कृषि का महिलाकरण, महिला किसान, भूमि अधिकार, लैंगिक असमानता, ग्रामीण पलायन, संस्थागत ऋण।

प्रस्तावना

भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज का मूल आधार हमेशा से कृषि रहा है। देश की आधी से अधिक आबादी आज भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। हाल के दशकों में, भारतीय कृषि क्षेत्र ने एक ऐतिहासिक और संरचनात्मक बदलाव देखा है, जिसे वैश्विक और राष्ट्रीय अर्थशास्त्रियों ने 'कृषि का महिलाकरण' नाम दिया है। इस शब्द का सीधा अर्थ कृषि कार्यबल में महिलाओं की संख्या और उनके द्वारा किए जाने वाले श्रम के अनुपात में निरंतर होने वाली वृद्धि से है।

पारंपरिक रूप से, भारतीय ग्रामीण समाज में महिलाओं को केवल गृहणी या कृषि कार्यों में सहायक के रूप में देखा जाता था। लेकिन समकालीन आर्थिक परिदृश्य में, बुवाई, रोपाई, निराई, कटाई से लेकर फसल कटने के बाद के प्रबंधन और पशुपालन तक के कार्यों का मुख्य भार महिलाओं के कंधों पर आ गया है। इस बदलाव का प्राथमिक कारण ग्रामीण क्षेत्रों में पैदा हुआ गंभीर कृषि संकट और पुरुषों का शहरों की ओर पलायन है। कम जोत आकार और खेती की बढ़ती लागत के कारण ग्रामीण परिवारों के पुरुष सदस्य अब शहरों में दिहाड़ी मजदूरी या अन्य गैर कृषि कार्यों की तलाश में पलायन कर रहे हैं, जिससे पीछे छूटी जमीन और खेती की पूरी जिम्मेदारी महिलाओं के हिस्से आ गई है।

परंतु, विडंबना यह है कि जहाँ एक ओर भारतीय कृषि पूरी तरह से महिला श्रम पर टिकी हुई है, वहीं दूसरी ओर देश के कानूनी, सामाजिक और आर्थिक ढांचे में उन्हें आज भी 'किसान' का दर्जा प्राप्त नहीं है। उन्हें केवल 'खेतिहर मजदूर' या 'पारिवारिक सहायक' मानकर उनके श्रम का अवमूल्यन किया जाता है। यह शोध-पत्र इसी विरोधाभास का विस्तार से विश्लेषण करता है और महिला किसानों के अधिकारों की बहाली के मार्ग तलाशता है।

कृषि के महिलाकरण के प्रमुख कारक

ग्रामीण भारत में कृषि के इस तीव्र महिलाकरण के पीछे

कोई एक कारण नहीं है, बल्कि यह कई सामाजिक-आर्थिक कारकों का संचयी परिणाम है। इन प्रमुख कारकों को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत समझा जा सकता है :

1. पुरुषों का बाह्य-पलायन

कृषि क्षेत्र में लाभप्रदता की कमी और जलवायु परिवर्तन के कारण फसलों के लगातार नुकसान ने ग्रामीण परिवारों को आय के वैकल्पिक स्रोत खोजने पर मजबूर कर दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर होने वाले इस पलायन में पुरुषों की हिस्सेदारी सबसे अधिक होती है। जब पुरुष सदस्य गाँव छोड़कर शहरों (जैसे निर्माण क्षेत्र, विनिर्माण या सेवा क्षेत्र) में चले जाते हैं, तो ग्रामीण पारिवारिक कृषि की कमान पूरी तरह से महिलाओं के हाथों में आ जाती है। यह पलायन केवल अल्पकालिक नहीं होता, बल्कि कई बार साल के 8 से 10 महीनों तक चलता है।

2. कृषि का विखंडन और कम जोत आकार

पीढ़ी-दर-पीढ़ी जमीन के बंटवारे के कारण भारत में औसत भूमि जोत का आकार लगातार घट रहा है। सीमांत और लघु खेतों से होने वाली आय अब पूरे परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त नहीं रह गई है। ऐसी स्थिति में, परिवार के पुरुष बाहर जाकर कमाते हैं, जबकि महिलाएँ उस छोटे से भूमि के टुकड़े पर जीवन निर्वाह खेती (Subsistence Farming) करती हैं ताकि परिवार के लिए खाद्यान्न सुरक्षा सुनिश्चित हो सके।

3. श्रम का सस्ता विकल्प

कृषि क्षेत्र में बड़े पैमाने पर ठेका कृषि या दिहाड़ी कृषि में महिलाओं को प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि उन्हें पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी दी जाती है। लैंगिक मजदूरी अंतराल (Gender Wage Gap) के कारण, बड़े जमींदार महिला श्रमिकों को नियुक्त करना अधिक किफायती समझते हैं। यह भी एक बड़ा कारण है कि कृषि श्रम बल में महिलाओं की सांद्रता लगातार बढ़ रही है।

> ''कृषि का महिलाकरण वास्तव में महिलाओं के सशक्तिकरण का सूचक नहीं है, बल्कि यह ग्रामीण संकट और गरीबी के कारण महिलाओं पर बढ़े अत्यधिक कार्यभार (Work Burden) का परिणाम है।''
>
> *- राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) रिपोर्ट*

सांख्यिकीय परिदृश्य और डेटा विश्लेषण

भारतीय कृषि में महिलाओं की भूमिका को समझने के लिए विभिन्न राष्ट्रीय सर्वेक्षणों के आंकड़ों का विश्लेषण करना अत्यंत आवश्यक है। आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (PLFS) और जनगणना के आंकड़े इस वास्तविकता को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं।

कृषि कार्य का प्रकार	महिला श्रम की भागीदारी (%)	पुरुष श्रम की भागीदारी (%)	मुख्य उत्तरदायित्व
धान की रोपाई (Transplantation)	82%	18% केंद्रित	पूर्णत: महिला
निराई और गोड़ाई (Weeding)	86%	14:	अत्यधिक श्रम - साध्य कार्य
फसल कटाई (Harvesting)	65%	35%	संयुक्त भागीदारी
पशुपालन और डेयरी	74%	26%	दैनिक प्रबंधन और चारा संग्रहण

सारणी 1: ग्रामीण भारत में विभिन्न कृषि गतिविधियों में महिलाओं और पुरुषों की भागीदारी का प्रतिशत (स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण एवं नीति आयोग रिपोर्ट)

उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि अत्यधिक थका देने वाले और निरंतरता चाहने वाले कार्यों में महिलाओं की भागीदारी पुरुषों की तुलना में कहीं अधिक है। ऑक्सफैम (Oxfam) की रिपोर्ट के अनुसार, ग्रामीण भारत में लगभग 80% कामकाजी महिलाएँ कृषि क्षेत्र में कार्यरत हैं, जिनमें से लगभग 33% खेतिहर मजदूर के रूप में और 48% आत्म-नियोजित या पारिवारिक किसानों के रूप में काम कर रही हैं। इसके बावजूद, भारत में केवल 13.9% महिलाओं के पास अपनी खुद की कृषि भूमि है।

महिला किसानों की मुख्य चुनौतियाँ और अधिकार हनन

यद्यपि महिलाएँ कृषि के केंद्र में हैं, फिर भी उन्हें कई ऐसे संरचनात्मक और कानूनी अवरोधों का सामना करना पड़ता है जो उन्हें एक स्वतंत्र और समृद्ध किसान बनने से रोकते हैं। ये चुनौतियाँ निम्नलिखित हैं –

कानूनी भूमि स्वामित्व का अभाव

भारतीय ग्रामीण समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण

भूमि का स्वामित्व आमतौर पर पिता से पुत्र को हस्तांतरित होता है। महिलाओं के नाम पर भूमि का पंजीकरण अत्यंत दुर्लभ है। हिंदू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005 जैसे प्रगतिशील कानूनों के बावजूद, सामाजिक दबाव, जागरूकता की कमी और प्रशासनिक जटिलताओं के कारण ग्रामीण महिलाओं को उनका वास्तविक जमीनी हक नहीं मिल पाता। भूमि स्वामित्व न होने के कारण उन्हें आधिकारिक रूप से शकिसानश ही नहीं माना जाता ।

संस्थागत ऋण तक पहुँच की कमी

भारतीय बैंकिंग प्रणाली में कृषि ऋण (Crop Loans या KCC) प्राप्त करने के लिए भूमि के दस्तावेजों (खसरा-खतौनी) को गिरवी या बंधक रखना अनिवार्य होता है। चूंकि जमीन महिलाओं के नाम नहीं होती, इसलिए बैंक उन्हें ऋण देने से इनकार कर देते हैं। परिणामस्वरूप, महिला किसानों को स्थानीय साहूकारों और बिचौलियों के चंगुल में फंसना पड़ता है, जो उनसे अत्यधिक ब्याज दर वसूलते हैं, जिससे वे ऋण के दुष्चक्र में फंस जाती हैं।

आधुनिक तकनीकों और इनपुट्स का अभाव

भारत में कृषि विस्तार सेवाएँ (Extension Services) और वैज्ञानिक प्रशिक्षण (जैसे कृषि विज्ञान केंद्रों द्वारा दिए जाने वाले प्रशिक्षण) मुख्य रूप से पुरुष किसानों को ध्यान में रखकर तैयार किए जाते हैं। महिला किसानों को नए बीजों, कीटनाशकों के सही उपयोग और आधुनिक सिंचाई तकनीकों के बारे में जानकारी बहुत कम मिल पाती है। इसके अतिरिक्त, अधिकांश कृषि उपकरण (जैसे ट्रैक्टर, टिलर आदि) पुरुषों के शारीरिक विन्यास के अनुकूल डिजाइन किए गए हैं, जो महिलाओं के उपयोग के लिए काफी भारी और असुविधाजनक होते हैं।

विपणन और बाजार तक पहुँच का संकट

ग्रामीण समाज में महिलाओं की गतिशीलता (Mobility) पर कई सामाजिक प्रतिबंध होते हैं। वे स्थानीय कृषि उपज विपणन समितियों (APMC मंडियों) में जाकर अपनी फसल बेचने में असहज महसूस करती हैं क्योंकि वहाँ पुरुषों का वर्चस्व होता है। परिवहन सुविधाओं के अभाव और मोलतोल की क्षमता कम होने के कारण वे अपनी उपज को स्थानीय व्यापारियों को औने-पौने दामों पर बेचने के लिए मजबूर हो जाती हैं।

दोहरे कार्यबल का बोझ और स्वास्थ्य पर प्रभाव

कृषि के महिलाकरण का एक अन्य स्याह पहलू महिलाओं पर पड़ने वाला अत्यधिक शारीरिक और मानसिक तनाव है। ग्रामीण महिलाओं को 'दोहरे कार्यदिवस' (Double Burden of Work) का सामना करना पड़ता है। एक ओर जहाँ वे खेतों में औसतन 8 से 10 घंटे कठिन शारीरिक श्रम करती हैं, वहीं दूसरी ओर घर लौटने पर खाना बनाना, पानी लाना, बच्चों की देखभाल करना और ईंधन के लिए लकड़ी एकत्र करना जैसी घरेलू जिम्मेदारियाँ भी पूरी तरह उन्हीं की होती हैं।

इस अत्यधिक कार्यभार के कारण उनके स्वास्थ्य पर अत्यंत विपरीत प्रभाव पड़ता है। अधिकांश महिला किसान क्रोनिक एनीमिया (रक्तअल्पता), कुपोषण, रीढ़ की हड्डी और जोड़ों के दर्द से पीड़ित रहती हैं। लगातार धान के खेतों के पानी में खड़े रहने के कारण उन्हें त्वचा संबंधी संक्रामक रोग हो जाते हैं। इसके बावजूद, ग्रामीण स्वास्थ्य ढांचे में महिला किसानों की इन विशिष्ट व्यावसायिक स्वास्थ्य समस्याओं (Occupational Health Hazards) के उपचार के लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं है।

मौजूदा सरकारी नीतियां और उनके क्रियान्वयन की स्थिति

भारत सरकार ने समय-समय पर महिला किसानों की स्थिति में सुधार के लिए कई योजनाओं और नीतिगत दिशा-निर्देशों की घोषणा की है। इनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

- **महिला किसान सशक्तिकरण परियोजना (MKSP) :** यह राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (DAY-NRLM) का एक उप-घटक है। इसका मुख्य उद्देश्य महिला किसानों की उत्पादकता बढ़ाना और उनके लिए स्थायी आजीविका के अवसर पैदा करना है। इसके तहत स्वयं सहायता समूहों द्धैभ्ेऋ के माध्यम से महिलाओं को जैविक खेती और टिकाऊ कृषि तकनीकों का प्रशिक्षण दिया जाता है।
- **कृषि यंत्रीकरण उप-मिशन (SMAM) :** इस योजना के अंतर्गत महिला किसानों को कृषि उपकरण और मशीनरी खरीदने के लिए विशेष सब्सिडी (40% से 50% तक) प्रदान की जाती है ताकि कृषि कार्यों में उनके शारीरिक श्रम को कम किया जा सके।
- **राष्ट्रीय महिला किसान दिवस :** केंद्रीय कृषि मंत्रालय द्वारा प्रतिवर्ष 15 अक्टूबर को 'राष्ट्रीय महिला किसान

दिवस' के रूप में मनाया जाता है ताकि कृषि क्षेत्र में उनके अमूल्य योगदान को राष्ट्रव्यापी पहचान मिल सके।

नीतियों में कमियां और कार्यान्वयन की चुनौतियाँ :

यद्यपि ये योजनाएं कागज पर अत्यंत प्रभावी दिखाई देती हैं, लेकिन जमीनी स्तर पर इनका क्रियान्वयन धीमा है। मुख्य समस्या यह है कि अधिकांश योजनाएं अभी भी पात्रता के मानदंड के रूप में 'भूमि स्वामित्व' की मांग करती हैं। जब तक भूमि सुधारों को कड़ाई से लागू कर महिलाओं को जमीन का मालिकाना हक नहीं दिया जाता, तब तक इन कल्याणकारी योजनाओं का पूर्ण लाभ उन तक नहीं पहुँच सकता।

नीतिगत सिफारिशें और आगे की राह

ग्रामीण भारत में कृषि के महिलाकरण को एक संकट के बजाय एक अवसर में बदलने के लिए और महिला किसानों को उनके मौलिक व आर्थिक अधिकार दिलाने के लिए निम्नलिखित बहु-आयामी रणनीतियों को अपनाना अनिवार्य है—

⋆ व्यापक भूमि सुधार और संयुक्त स्वामित्व (Joint Land Titling)

सरकारों को एक विशेष अभियान चलाकर कृषि भूमि के पंजीकरण में पति-पत्नी के संयुक्त स्वामित्व (Joint Titling) को अनिवार्य बनाना चाहिए। इसके अलावा, सरकारी भूमि के आवंटन में एकल महिलाओं, विधवाओं और भूमिहीन महिला खेतिहर मजदूरों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इससे महिलाओं की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ेगी और उन्हें संस्थागत ऋण मिलना आसान हो जाएगा।

⋆ 'किसान' की परिभाषा का सरलीकरण

राष्ट्रीय किसान नीति (National Policy for Farmers) के दिशानिर्देशों के अनुसार, 'किसान' की आधिकारिक परिभाषा को व्यापक बनाया जाना चाहिए ताकि इसमें भूमिहीन खेतिहर मजदूर, काश्तकार और वास्तविक खेती करने वाली महिलाएँ भी शामिल हो सकें, चाहे जमीन उनके नाम पर हो या न हो। आधार कार्ड और स्थानीय ग्राम पंचायत के सत्यापन के माध्यम से उन्हें 'किसान क्रेडिट कार्ड' (KCC) जारी किए जाने चाहिए।

⋆ महिला अनुकूल कृषि प्रौद्योगिकियों का विकास

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (ICAR) और केंद्रीय कृषि इंजीनियरिंग संस्थान (CIAE) को ऐसे कृषि उपकरणों के अनुसंधान और निर्माण पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए जो वजन में हल्के हों और महिलाओं के शारीरिक गठन के अनुकूल हों। एर्गोनोमिक रूप से डिजाइन किए गए उपकरण महिलाओं की कार्यकुशलता बढ़ाएंगे और उनके स्वास्थ्य जोखिमों को कम करेंगे।

⋆ महिला किसान उत्पादक संगठनों (FPO) को बढ़ावा

महिला किसानों को बिचौलियों के शोषण से बचाने के लिए विशेष रूप से 'महिला FPOs' (Farmer Producer Organizations) के गठन को वित्तीय सहायता दी जानी चाहिए। जब महिलाएँ सामूहिक रूप से अपनी उपज का विपणन करेंगी, तो उनकी सौदेबाजी की शक्ति (Bargaining Power) बढ़ेगी और वे सीधे बड़े बाजारों या कॉर्पोरेट खरीदारों से जुड़ सकेंगी।

निष्कर्ष

21वीं सदी के ग्रामीण भारत की वास्तविकता यह है कि कृषि का भविष्य अब पूरी तरह से महिलाओं के हाथों में सुरक्षित है। 'कृषि का महिलाकरण' केवल एक जनसांख्यिकीय बदलाव नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक सच्चाई है जिसे अब और अधिक समय तक अनदेखा नहीं किया जा सकता। भारतीय कृषि को संकट से उबारने और सतत विकास लक्ष्यों (SDG-5 : लैंगिक समानता और SDG-2 : भुखमरी की समाप्ति) को प्राप्त करने के लिए महिला किसानों को मुख्यधारा में लाना ही होगा।

जब तक हम महिला किसानों को केवल एक अदृश्य श्रमिक के रूप में देखते रहेंगे, तब तक कृषि क्षेत्र का समग्र विकास असंभव है। समय आ गया है कि पितृसत्तात्मक बेड़ियों और प्रशासनिक जटिलताओं को तोड़कर महिलाओं को भूमि का कानूनी अधिकार, ऋण की सुविधा, तकनीकी ज्ञान और सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाए। महिला किसानों का सशक्तिकरण न केवल ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करेगा, बल्कि पूरे देश की खाद्य सुरक्षा और पोषण स्तर को एक नई ऊंचाई पर ले जाएगा।

शोधार्थी
रोल नं. 22-1-05-004844
दिल्ली विश्वविद्यालय, SOL

सन्दर्भ ग्रंथ

1. नीति आयोग (NITI Aayog), ''भारतीय कृषि में महिलाओं की भूमिका और चुनौतियाँ'', राष्ट्रीय रिपोर्ट।
2. ऑक्सफैम इंडिया (Oxfam India), ''अदृश्य किसान : ग्रामीण भारत में महिला श्रम का विश्लेषण'', शोध पत्र।
3. मानव विकास संस्थान (IHD), ''ग्रामीण पलायन और कृषि का महिलाकरण : उत्तर और पूर्वी भारत का एक अध्ययन।''
4. केंद्रीय कृषि और किसान कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, ''वार्षिक सांख्यिकीय रिपोर्ट।''
5. देसाई, एस. और बनर्जी, ए., ''महिलाएँ, भूमि अधिकार और भारतीय कृषि में उत्पादकता'', जेंडर एंड डेवलपमेंट जर्नल।

कुमकुम

महिला सशक्तिकरण (Women Empowerment) इक्कीसवीं सदी का सबसे संकल्प

A Comprehensive Essay on Gender Equality and Social Transformation

''एक औरत को शिक्षित और सशक्त बनाने का मतलब है, एक पूरे परिवार, समाज और आने वाली पीढ़ी को एक नई दिशा देना।''

प्रस्तावना : 21वीं सदी का सबसे बड़ा अंतर्विरोध

आज हम 21वीं सदी के तीसरे दशक में जी रहे हैं। यह वह दौर है जहाँ चांद-तारों को छूने की बातें होती हैं, सुपरकंप्यूटर, क्वांटम कंप्यूटिंग और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) की चर्चाएं आम हैं। तकनीक और विज्ञान के इस स्वर्ण युग में मानव सभ्यता ने विकास के नए प्रतिमान स्थापित किए हैं। लेकिन इस चमक-दमक और आधुनिकता के बीच एक बुनियादी और कड़वा सवाल आज भी हमारे वैश्विक समाज के सामने सीना ताने खड़ा है क्या समाज की आधी आबादी, यानी महिलाएं, वाकई आजाद, सुरक्षित और सशक्त हैं?

महिला सशक्तिकरण (Women Empowerment) सिर्फ एक नारा, एक अकादमिक विमर्श या राजनीतिक भाषणों का हिस्सा नहीं है। यह एक ऐसी अनिवार्य मानवीय और सामाजिक जरूरत है जिसके बिना कोई भी देश, समाज या परिवार कभी भी अपनी पूर्ण क्षमता के साथ तरक्की नहीं कर सकता। जब हम सशक्तिकरण की बात करते हैं, तो इसका सीधा और स्पष्ट मतलब होता है महिलाओं को अपनी जिंदगी के फैसले खुद लेने की पूर्ण आजादी देना, उन्हें पुरुषों के बराबर अधिकार और अवसर प्रदान करना और समाज में उन्हें एक स्वतंत्र, आत्मसम्मान से युक्त स्थान दिलाना। आधी आबादी को बंधनों में रखकर कोई भी राष्ट्र पूर्ण विकसित होने का दावा नहीं कर सकता।

1. महिला सशक्तिकरण का वास्तविक और बहुआयामी अर्थ

अक्सर सतही तौर पर लोग यह सोच लेते हैं कि किसी महिला को नौकरी मिल जाना, उसका पारंपरिक बंधनों से बाहर निकलना या उसका केवल पढ़-लिख लेना ही सशक्तिकरण है। बेशक, ये इसके बहुत महत्वपूर्ण और प्राथमिक हिस्से हैं, लेकिन सशक्तिकरण का सच इससे कहीं ज्यादा गहरा और व्यापक है। वास्तविक सशक्तिकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसके मुख्य रूप से चार मजबूत स्तंभ होते हैं—

वैचारिक और व्यक्तिगत आजादी : इसके तहत एक महिला को यह तय करने का पूर्ण और संप्रभु अधिकार होता है कि उसे क्या पहनना है, क्या पढ़ना है, किस करियर का चुनाव करना है, किससे और कब शादी करनी है, या उसे बच्चा कब चाहिए अथवा नहीं चाहिए। यह उसकी शारीरिक और मानसिक स्वायत्तता का सम्मान है।

आर्थिक आत्मनिर्भरता : इसका अर्थ केवल धन कमाना नहीं है, बल्कि खुद के कमाए पैसों और संसाधनों पर उसका पूरा नियंत्रण होना है। घरेलू और व्यावसायिक वित्तीय फैसलों में उसकी उतनी ही हिस्सेदारी और निर्णायक भूमिका होनी चाहिए, जितनी घर के पुरुषों की होती है।

सामाजिक समानता : समाज में महिलाओं को किसी पुरुष की संपत्ति, वस्तु या सिर्फ घर संभालने और वंश बढ़ाने वाली मशीन के रूप में न देखा जाए। उन्हें एक स्वतंत्र इंसान, एक नागरिक और समाज के एक समान स्तंभ के रूप में

पहचान और सम्मान मिलना अनिवार्य है।

राजनैतिक और निर्णय लेने की शक्ति (Decision Making) : इसका दायरा घर के छोटे-मोटे फैसलों और रसोई के बजट से लेकर देश की संसद, न्यायपालिका, राजनीति और कॉर्पोरेट जगत के बोर्डरूम्स तक फैला हुआ है। जहाँ भी नीतियाँ बनती हैं, वहाँ महिलाओं की आवाज को न केवल सुना जाना चाहिए, बल्कि उसे निर्णायक तवज्जो मिलनी चाहिए।

2. इतिहास के झरोखे से : हमारी जड़ें, पतन और बदलाव का सफर

भारतीय उपमहाद्वीप में महिलाओं की स्थिति का इतिहास उतार-चढ़ाव और अंतर्विरोधों से भरा रहा है। यदि हम प्राचीन भारत के वैदिक काल को देखें, तो उस समय महिलाओं की स्थिति काफी सुदृढ़ और गरिमापूर्ण थी। उन्हें शिक्षा का, उपनयन संस्कार का और वेदों के अध्ययन का अधिकार था। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा और अपला जैसी विदुषी महिलाओं ने समाज के शीर्ष विद्वानों के साथ शास्त्रों पर शास्त्रार्थ किया और अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता साबित की। उस दौर में स्त्रियों को 'अर्धांगिनी' (शरीर का आधा हिस्सा) और 'गृहलक्ष्मी' के रूप में वास्तविक सम्मान प्राप्त था।

तरंगें तब बदलीं जब भारत में मध्यकाल का आगमन हुआ। विदेशी आक्रमणों, राजनीतिक अस्थिरता और सामंती व्यवस्था के मजबूत होने के साथ ही महिलाओं की स्थिति में तेजी से गिरावट आई। सामाजिक असुरक्षा के नाम पर महिलाओं पर अनगिनत पाबंदियाँ थोप दी गईं। सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा, देवदासी प्रथा और कन्या भ्रूण हत्या जैसी अमानवीय कुप्रथाओं ने समाज को जकड़ लिया। महिलाओं को चारदीवारी के अंदर कैद कर दिया गया और उन्हें सिर्फ 'पराया धन', 'भोग की वस्तु' या 'घर की इज्जत' के नाम पर बंधनों की बेड़ियों में जकड़ दिया गया।

आधुनिक काल और पुनर्जागरण : इस गहरे अंधकार को मिटाने की शुरुआत 19वीं और 20वीं शताब्दी में हुई। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के खिलाफ कानूनी लड़ाई लड़ी। ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह को कानूनी मान्यता दिलाने के लिए अपना जीवन लगा दिया। महात्मा ज्योतिराव फुले और क्रांतिज्योति सावित्रीबाई फुले ने भारत में स्त्री शिक्षा की नींव रखी। सावित्रीबाई फुले ने जब 1848 में पुणे में लड़कियों के लिए पहला स्कूल खोला, तो रूढ़िवादी समाज उन पर कीचड़, गोबर और पत्थर फेंकता था। लेकिन उन्होंने हार नहीं मानी। उनका वह ऐतिहासिक संघर्ष और दृढ़ संकल्प बेकार नहीं गया। आज यदि भारत की बेटियाँ स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों की दहलीज लांघ रही हैं, तो इसके पीछे सावित्रीबाई जैसी अनगिनत वीरांगनाओं का संघर्ष है। बाद के दौर में महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं को जोड़कर इसे एक जन आंदोलन बना दिया, जिसने महिलाओं में राजनीतिक चेतना का संचार किया।

3. महिला सशक्तिकरण के संवैधानिक और कानूनी प्रावधान

भारतीय संविधान निर्माताओं ने यह भली-भांति समझ लिया था कि बिना कानूनी और संवैधानिक संरक्षण के सामाजिक समानता का लक्ष्य हासिल नहीं किया जा सकता। इसलिए भारतीय संविधान में महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष और विशेष अधिकार दिए गए हैं—

⋆ **समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14) :** यह राज्य को किसी भी नागरिक के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव करने से रोकता है और कानून के समक्ष सबको समान संरक्षण देता है।

⋆ **भेदभाव का निषेध (अनुच्छेद 15) :** विशेष रूप से अनुच्छेद 15(3) राज्य को महिलाओं और बच्चों के कल्याण के लिए विशेष सकारात्मक कदम उठाने और कानून बनाने की शक्ति देता है।

⋆ **अवसर की समानता (अनुच्छेद 16) :** सार्वजनिक रोजगार या नौकरियों में लिंग के आधार पर किसी भी भेदभाव को प्रतिबंधित करता है।

⋆ **जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 21) :** यह महिलाओं को गरिमापूर्ण जीवन जीने और अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बनाए रखने का अधिकार देता है।

⋆ **समान काम के लिए समान वेतन (अनुच्छेद 39-डी) :** राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के तहत यह सुनिश्चित किया गया है कि पुरुषों और महिलाओं को एक ही काम के लिए समान पारिश्रमिक मिले।

इसके अतिरिक्त, समय-समय पर भारतीय संसद ने महिलाओं की सुरक्षा के लिए कई कड़े कानून पारित किए हैं। इनमें घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम (2005), दहेज प्रतिषेध अधिनियम (1961), बाल विवाह प्रतिषेध अधिनियम (2006) और कार्यस्थलों पर महिलाओं की सुरक्षा

के लिए पॉक्सो (POCSO) तथा पॉश (POSH) एक्ट (2013) शामिल हैं। कानून कागजों पर मजबूत हैं, परंतु इनका वास्तविक क्रियान्वयन आज भी एक बड़ी चुनौती बना हुआ है।

4. प्रमुख क्षेत्र जहां व्यापक और त्वरित बदलाव की सबसे ज्यादा जरूरत है

सशक्तिकरण कोई ऐसी चीज नहीं है जो रातों-रात या किसी एक जादू की छड़ी से आ जाए। इसके लिए हमें समाज, सरकार और बाजार के विभिन्न मोर्चों पर एक साथ, समग्र रूप से काम करना होगा—

(क) शिक्षा : सशक्तिकरण की पहली और अनिवार्य सीढ़ी

एक प्रसिद्ध वैश्विक कहावत है कि ''अगर आप एक लड़के को पढ़ाते हैं, तो सिर्फ एक व्यक्ति शिक्षित होता है; लेकिन अगर आप एक लड़की को पढ़ाते हैं, तो पूरा परिवार और आने वाली नस्लें शिक्षित होती हैं।'' शिक्षा ही वह सबसे अचूक हथियार है जो सदियों पुराने अंधविश्वास, रूढ़ियों और मानसिक दासता को तोड़ता है।

शिक्षा महिलाओं में तार्किक क्षमता और आत्मविश्वास पैदा करती है। आज भी भारत के कई ग्रामीण और दूरदराज के इलाकों में 'ड्रॉप-आउट' रेट (स्कूल छोड़ने की दर) लड़कियों में बहुत अधिक है। उन्हें सिर्फ इसलिए स्कूल से उठा लिया जाता है क्योंकि या तो स्कूल बहुत दूर हैं, या उन्हें घर का चूल्हा-चौका संभालना होता है या अपने छोटे भाई-बैठनों की देखरेख करनी होती है। जब तक शिक्षा सार्वभौमिक और लैंगिक रूप से सुलभ नहीं होगी, सशक्तिकरण का ढांचा कमजोर रहेगा।

(ख) आर्थिक आजादी और वित्तीय साक्षरता (Financial Independence)

जब तक एक महिला अपने अस्तित्व, भोजन, कपड़ों और बुनियादी जरूरतों के लिए अपने पिता, पति या बेटे पर पूरी तरह निर्भर रहेगी, वह कभी भी स्वतंत्र निर्णय नहीं ले सकती और न ही पूरी तरह सशक्त हो सकती है। आर्थिक रूप से स्वतंत्र महिला न केवल अपने पैरों पर खड़ी होती है, बल्कि परिवार में उसकी बात का वजन बढ़ता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक आत्मनिर्भरता महिलाओं को घरेलू हिंसा, शोषण और अपमानजनक परिस्थितियों का डटकर मुकाबला करने का साहस और साधन प्रदान करती है। आज के समय में शहरी क्षेत्रों में महिलाएं बड़े-बड़े कॉर्पोरेट और तकनीकी स्टार्टअप्स शुरू कर रही हैं। वहीं ग्रामीण भारत में 'स्वयं सहायता समूहों' (Self Help Groups - SHGs) के माध्यम से लाखों महिलाएं सूक्ष्म ऋण लेकर छोटे व्यवसाय चला रही हैं और पूरी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का चेहरा बदल रही हैं।

(ग) स्वास्थ्य, पोषण और प्रजनन अधिकार (Health and Nutrition)

एक स्वस्थ और मजबूत समाज का निर्माण एक स्वस्थ मां या स्त्री के बिना पूरी तरह असंभव है। हमारे देश में आज भी महिलाओं और किशोरियों में एनीमिया (खून की कमी), कुपोषण और स्त्री-रोग संबंधी समस्याएं बड़े पैमाने पर मौजूद हैं। इसके पीछे हमारी सामाजिक संरचना भी जिम्मेदार है; अक्सर परिवारों में आज भी यह देखा जाता है कि महिलाएं सबको खाना खिलाने के बाद खुद सबसे बाद में और बचा-कुचा रूखा-सूखा खाना खाती हैं।

उनकी सेहत, मासिक धर्म स्वच्छता (Menstrual Hygiene) और प्रजनन स्वास्थ्य को प्राथमिकता देना किसी भी परिवार के लिए पहली जिम्मेदारी होनी चाहिए। महिलाओं को अपने शरीर और गर्भधारण पर निर्णय लेने का अधिकार देना उनके स्वास्थ्य सशक्तिकरण का मूल बिंदु है।

(घ) सुरक्षा और सार्वजनिक स्पेस पर अधिकार (Safety and Security)

हम चाहे आर्थिक विकास के कितने भी ऊंचे और थोथे दावे कर लें, डिजिटल इंडिया और वैश्विक महाशक्ति बनने की कितनी भी बातें कर लें, लेकिन जब तक देश के किसी भी हिस्से में एक महिला रात के समय सड़क पर चलते हुए खुद को असुरक्षित, भयभीत या आशंकित महसूस करेगी, तब तक हमारा सशक्तिकरण का हर दावा खोखला और बेमानी है।

कार्यस्थलों पर होने वाले यौन उत्पीड़न (POSH एक्ट के होने के बावजूद), सार्वजनिक परिवहन में अभद्र व्यवहार, घरेलू हिंसा और साइबर स्टॉकिंग को रोकने के लिए केवल कड़े कानून और पुलिस की संख्या बढ़ाना काफी नहीं है। इसके लिए सबसे बुनियादी जरूरत है पुरुषों की मानसिकता, उनके देखने के नजरिए और सामाजिक परवरिश में बदलाव लाना।

5. आज की भारतीय महिलाएं : रूढ़ियों को तोड़ती नई उड़ान

तमाम सामाजिक, आर्थिक और सुरक्षा संबंधी बाधाओं के बावजूद आज की भारतीय नारी किसी की सहानुभूति की मोहताज नहीं है। उसने अपनी प्रतिभा, कड़े संघर्ष और अटूट इच्छाशक्ति के दम पर हर उस क्षेत्र में अपना परचम लहराया है,

जिसे कभी 'सिर्फ पुरुषों का विशेषाधिकार क्षेत्र' माना जाता था।

क्षेत्र प्रमुख उदाहरण और अभूतपूर्व उपलब्धियां

अंतरिक्ष, विज्ञान और तकनीक कल्पना चावला और सुनीता विलियम्स जैसी रोल मॉडल्स से लेकर भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (ISRO) की वे सैकड़ों महिला वैज्ञानिक, जिन्होंने चंद्रयान-3 और मंगलयान मिशन में 'प्रोजेक्ट डायरेक्टर' और मुख्य वैज्ञानिकों के रूप में अग्रिम भूमिका निभाई।

रक्षा, सेना और पुलिस बल : इतिहास गवाह है कि आज भारत की बेटियाँ न केवल फाइटर जेट्स उड़ा रही हैं, बल्कि सियाचिन जैसे दुनिया के सबसे ऊंचे और दुर्गम युद्ध क्षेत्रों में तैनात हैं। वे सेना में कमांडिंग ऑफिसर बन रही हैं और पुलिस व अर्धसैनिक बलों का नेतृत्व कर रही हैं।

खेल जगत और वैश्विक मंच : पी.वी. सिंधु (बैडमिंटन), मैरी कॉम (बॉक्सिंग), मीराबाई चानू (वेटलिफ्टिंग), मिताली राज और हरमनप्रीत कौर (क्रिकेट) तथा विनेश फोगट (कुश्ती) जैसी बेटियों ने दुनिया के सबसे बड़े खेल मंचों और ओलंपिक में तिरंगा लहराकर देश का मस्तक गर्व से ऊंचा किया है।

बिजनेस, कॉर्पोरेट और स्टार्टअप : किरण मजूमदार शॉ (बायोकोन), फाल्गुनी नायर (नायका) और रोशनी नादर (HCL) जैसी महिला उद्यमियों ने अपनी काबिलियत और बिजनेस सूझबूझ के दम पर शून्य से शुरुआत करके अरबों डॉलर के वैश्विक बिजनेस साम्राज्य खड़े किए हैं।

6. राह की मुख्य चुनौतियां : जो आज भी हमें पीछे खींचती हैं

1. पितृसत्तात्मक मानसिकता (Patriarchal Mindset) : यह हमारे समाज की सबसे गहरी और पुरानी बीमारी है। आज भी पढ़े-लिखे आधुनिक घरों में बेटा पैदा होने पर ढोल-नगाड़े बजाकर जश्न मनाया जाता है और बेटी पैदा होने पर मां के चेहरे पर मायूसी और घर में मातम छा जाता है। लड़कों को बाहर घूमने, देर रात तक रहने और गलतियां करने की भी आजादी होती है, जबकि लड़कियों के हंसने, बोलने, पहनने और बाहर निकलने पर पाबंदियों की एक लंबी फेहरिस्त लगा दी जाती है।

2. दोहरा बोझ (The Double Burden / Second Shift) : आज की कामकाजी महिलाओं पर दोहरा सामाजिक और शारीरिक दबाव है। उन्हें ऑफिस में पुरुषों के बराबर काम करके खुद को एक कुशल पेशेवर साबित करना होता है, और घर लौटकर चौका-बर्तन, खाना बनाना, बच्चों की परवरिश, पढ़ाई और बुजुर्गों की सेवा की पूरी जिम्मेदारी भी अकेले उठानी पड़ती है। पुरुष आज भी घरेलू कामों को साझा करने में कतराते हैं।

3. कांच की छत (Glass Ceiling) और वेतन विसंगति : कॉर्पोरेट और व्यावसायिक जगत में शीर्ष पदों (जैसे CEO, मैनेजिंग डायरेक्टर या बोर्ड मेंबर्स) पर महिलाओं की संख्या आज भी पुरुषों की तुलना में बेहद कम है। एक अदृश्य दीवार (ग्लास सीलिंग) उन्हें ऊपर जाने से रोकती है। इसके अलावा, वैश्विक स्तर पर 'समान काम के लिए असमान वेतन' की समस्या आज भी मौजूद है, जहाँ महिलाओं को उसी पद के लिए पुरुषों से कम आंका जाता है।

4. डिजिटल डिवाइड (Digital Divide) : आज के इस तकनीक-प्रधान और इंटरनेट-संचालित दौर में भी एक नया लैंगिक अंतर पैदा हो गया है। ग्रामीण और अर्ध-शहरी इलाकों में पुरुषों के मुकाबले महिलाओं के पास स्मार्टफोन, इंटरनेट डेटा और डिजिटल साक्षरता की पहुंच बेहद सीमित है, जिससे वे डिजिटल अर्थव्यवस्था और ज्ञान के इस नए दौर में पीछे छूट रही हैं।

7. सरकार की सक्रिय भूमिका और कल्याणकारी योजनाएं

⋆ **बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ :** इस राष्ट्रव्यापी अभियान ने समाज की सोच को झकझोरा है और देश के उन राज्यों (जैसे हरियाणा और पंजाब) में बाल लिंगानुपात (Sex Ratio) को सुधारने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है जहाँ यह बेहद चिंताजनक स्तर पर था।

⋆ **प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना :** ग्रामीण और गरीब महिलाओं को चूल्हे के हानिकारक धुएं और लकड़ियां चुनने की मशक्कत से आजादी दिलाकर मुफ्त एलपीजी (LPG) सिलेंडर देना, उनके स्वास्थ्य और जीवन सुगमता के लिए एक क्रांतिकारी सामाजिक कदम साबित हुआ है।

⋆ **संशोधित मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) :** कामकाजी महिलाओं के लिए सवैतनिक मातृत्व अवकाश (Paid Leave) को 12 सप्ताह से बढ़ाकर 26 सप्ताह (6 महीने) अनिवार्य किया गया है। यह कदम यह सुनिश्चित करता है कि महिलाओं को अपने करियर और मातृत्व के बीच किसी एक को चुनकर अपने सपनों की बलि न देनी पड़े।

⋆ **नारी शक्ति वंदन अधिनियम (महिला आरक्षण बिल) :** दशकों के इंतजार के बाद संसद और राज्यों की

विधानसभाओं में महिलाओं को 33% आरक्षण देने का यह ऐतिहासिक कानून भारतीय राजनीति के इतिहास में मील का पत्थर है। इससे जमीनी स्तर पर महिला नेतृत्व और नीति-निर्माण में उनकी भागीदारी अभूतपूर्व रूप से बढ़ेगी।

8. पुरुषों की सहभागिता और समाज की जिम्मेदारी : असली समाधान

एक बात जिसे बहुत गहराई से समझने की आवश्यकता है वह यह है कि महिला सशक्तिकरण का मतलब कभी भी ''पुरुषों के खिलाफ कोई जंग या विद्रोह'' नहीं है। यह पुरुषों को नीचा दिखाने या उनसे आगे निकलने की कोई अंधी अखाड़े की दौड़ नहीं है, बल्कि यह पुरुषों के साथ जीवन के हर मोर्चे पर कदम से कदम मिलाकर, कंधे से कंधा मिलाकर चलने की बात है। जब तक पुरुष इस आंदोलन को अपना आंदोलन नहीं मानेंगे, जब तक वे इसमें सक्रिय और बराबर के साझीदार नहीं बनेंगे, तब तक समाज में कोई भी बदलाव स्थायी या पूरा नहीं हो सकता।

⋆ **बचपन की परवरिश में बदलाव :** बदलाव की शुरुआत हमारे अपने घरों से होनी चाहिए। माता-पिता को अपने बेटों की परवरिश इस तरह करनी होगी कि वे महिलाओं का वस्तुकरण करने के बजाय उनका एक इंसान के रूप में सम्मान करें। बेटों को भी बचपन से घर के काम जैसे खाना बनाना, सफाई करना, कपड़े धोना और बच्चों को संभालना सिखाया जाना चाहिए, ताकि वे बड़े होकर एक संवेदनशील और जिम्मेदार जीवनसाथी बन सकें।

सहानुभूति नहीं, समान अवसर चाहिए : महिलाओं को किसी पुरुष या समाज की दया, खैरात या सहानुभूति की बैसाखी नहीं चाहिए। उन्हें सिर्फ और सिर्फ एक सुरक्षित, भयमुक्त माहौल और पुरुषों के समान निष्पक्ष अवसर चाहिए, ताकि वे अपनी असीम प्रतिभा, बुद्धिमत्ता और क्षमता को खुद के दम पर साबित कर सकें।

निष्कर्ष

महिला सशक्तिकरण साल में किसी एक दिन जैसे 'अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस' (8 मार्च) पर सोशल मीडिया पर स्टेटस लगाने, बधाई संदेश भेजने या मंचों पर खोखले भाषण देने तक सीमित नहीं होना चाहिए। यह किसी एक दिन का उत्सव नहीं, बल्कि हमारे चौबीसों घंटे की सोच, हमारे व्यवहार और हमारी संस्कृति का हिस्सा होना चाहिए। जब हम एक लड़की को उड़ने के लिए खुला, निर्बाध आसमान देते हैं, तो वह सिर्फ खुद नहीं उड़ती, बल्कि अपने पंखों की ताकत से पूरे परिवार, समाज और राष्ट्र को विकास की असीम ऊंचाइयों पर ले जाती है।

जिस दिन हमारे देश की हर बेटी बिना किसी डर, हिचकिचाहट या खौफ के रात के किसी भी पहर सड़क पर अकेली सुरक्षित चल सकेगी, जिस दिन उसे अपने करियर या निजी जीवन के सपने पूरे करने के लिए किसी पुरुष या समाज की बंदिशों और अनुमतियों की जरूरत नहीं होगी, और जिस दिन उसे जन्म लेने से पहले ही किसी संकीर्ण सोच के कारण कोख में नहीं मारा जाएगा उसी दिन हम सही मायनों में एक सच्चे, आधुनिक, सशक्त और महान राष्ट्र कहलाने के हकदार होंगे।

''नारी शक्ति केवल समाज का एक हिस्सा या अंग नहीं है, वह इस संपूर्ण मानव समाज का आधार है। यदि आधार मजबूत और सशक्त होगा, तभी उस पर टिकी राष्ट्र की इमारत बुलंद और अमर होगी।''

सन्दर्भ सूची

- ⋆ भारत का संविधान. (2026). अनुच्छेद 14, 15, 16, 21, और 39-डी. विधायी विभाग, कानून और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार.
- ⋆ महिला एवं बाल विकास मंत्रालय. (2023). नारी शक्ति वंदन अधिनियम (महिला आरक्षण बिल) और बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ अभियान रिपोर्ट. भारत सरकार.
- ⋆ Ministry of Law and Justice. (2013). The Sexual Harassment of Women at Workplace (Prevention, Prohibition and Redressal) Act, 2013 (POSH). Government of India.
- ⋆ Ministry of Petroleum and Natural Gas. (2016). Pradhan Mantri Ujjwala Yojana (PMUY). Government of India https://www.pmuy.gov.in
- ⋆ Sarkar, S. (2000). Women and Social Reform in Modern India. Permanent Black.
- ⋆ World Economic Forum. (2025). Global Gender Gap Report 2025: Understanding the Glass Ceiling and Digital Divide. WEF Reports.
- ⋆ फुले, म. ज. (1848). भारत में स्त्री शिक्षा का इतिहास और संघर्ष. पुणे प्रकाशन.

भारतीय कृषि में जल उपयोग दक्षता

दिपेश

प्रस्तावना

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ लगभग आधी से अधिक जनसंख्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। कृषि न केवल देश की खाद्य सुरक्षा का आधार है, बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का प्रमुख स्तंभ भी है। कृषि क्षेत्र की सफलता काफी हद तक जल संसाधनों की उपलब्धता पर निर्भर करती है। भारत विश्व के उन देशों में शामिल है जहाँ मीठे जल के संसाधन सीमित हैं, जबकि जनसंख्या और खाद्यान्न की मांग लगातार बढ़ रही है। ऐसे में जल का कुशल और प्रभावी उपयोग अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

जल उपयोग दक्षता (Water-Use Efficiency) का अर्थ है उपलब्ध जल से अधिकतम कृषि उत्पादन प्राप्त करना। दूसरे शब्दों में, प्रति इकाई जल उपयोग पर अधिक फसल उत्पादन प्राप्त करना ही जल उपयोग दक्षता कहलाता है। वर्तमान समय में जलवायु परिवर्तन, अनियमित वर्षा, भूजल स्तर में गिरावट तथा बढ़ती सिंचाई आवश्यकताओं के कारण भारतीय कृषि में जल उपयोग दक्षता का महत्व और भी बढ़ गया है।

भारतीय कृषि में जल का महत्व

भारत में कृषि क्षेत्र कुल उपलब्ध मीठे जल का लगभग 80 प्रतिशत से अधिक उपयोग करता है। अधिकांश फसलें, विशेषकर धान, गन्ना और गेहूँ, सिंचाई पर निर्भर हैं। यद्यपि भारत के पास विशाल नदी तंत्र और भूजल संसाधन हैं, फिर भी इनका वितरण असमान है। कई क्षेत्रों में जल की कमी एक गंभीर समस्या बन चुकी है।

कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए जल एक महत्वपूर्ण इनपुट है। हरित क्रांति के दौरान सिंचाई सुविधाओं के विस्तार से कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, लेकिन इसके परिणामस्वरूप भूजल का अत्यधिक दोहन भी हुआ। आज पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और गुजरात जैसे राज्यों में भूजल स्तर तेजी से नीचे जा रहा है। इसलिए जल संसाधनों के संरक्षण और कुशल उपयोग की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक है।

जल उपयोग दक्षता की अवधारणा

जल उपयोग दक्षता का तात्पर्य फसल उत्पादन और उपयोग किए गए जल की मात्रा के अनुपात से है। यदि कम जल में अधिक उत्पादन प्राप्त किया जाए तो जल उपयोग दक्षता अधिक मानी जाती है।

जल उपयोग दक्षता के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

- ⋆ जल की बर्बादी को कम करना।
- ⋆ प्रति बूंद अधिक फसल उत्पादन प्राप्त करना।
- ⋆ सिंचाई लागत को कम करना।
- ⋆ भूजल संसाधनों का संरक्षण करना।
- ⋆ कृषि को जलवायु परिवर्तन के प्रति अधिक अनुकूल बनाना।

भारतीय कृषि में जल उपयोग दक्षता की वर्तमान स्थिति

भारत में जल उपयोग दक्षता अपेक्षाकृत कम है। पारंपरिक बाढ़ सिंचाई (Flood Irrigation) पद्धति अभी भी व्यापक रूप से उपयोग की जाती है, जिसमें बड़ी मात्रा में जल व्यर्थ हो जाता है। अनुमान है कि सिंचाई जल का एक बड़ा हिस्सा वाष्पीकरण, रिसाव और अनुचित प्रबंधन के कारण नष्ट हो जाता है।

कई क्षेत्रों में किसान आवश्यकता से अधिक सिंचाई करते हैं, जिससे न केवल जल की बर्बादी होती है बल्कि मिट्टी की गुणवत्ता भी प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त, नहरों और सिंचाई प्रणालियों के रखरखाव की कमी के कारण भी जल हानि होती है।

जल उपयोग दक्षता को प्रभावित करने वाले कारक

1. सिंचाई पद्धति

सिंचाई की तकनीक जल उपयोग दक्षता को सीधे प्रभावित करती है। पारंपरिक सिंचाई की तुलना में आधुनिक तकनीकें जल की बचत करती हैं।

2. फसल चयन

कुछ फसलें अधिक जल की मांग करती हैं, जबकि कुछ कम जल में भी अच्छी उपज देती हैं। उदाहरण के लिए, धान और गन्ना अत्यधिक जल उपभोग करने वाली फसलें हैं।

3. मिट्टी का प्रकार

मिट्टी की जल धारण क्षमता सिंचाई की आवश्यकता को प्रभावित करती है। रेतीली मिट्टी में जल जल्दी निकल जाता है जबकि दोमट मिट्टी जल को अधिक समय तक रोक सकती है।

4. जलवायु परिस्थितियाँ

तापमान, वर्षा और आर्द्रता जैसे कारक जल की मांग को प्रभावित करते हैं।

5. कृषि प्रबंधन

उन्नत कृषि तकनीकों और उचित जल प्रबंधन से जल उपयोग दक्षता में सुधार किया जा सकता है।

जल उपयोग दक्षता बढ़ाने के उपाय

1. सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली (Micro Irrigation)

सूक्ष्म सिंचाई में ड्रिप सिंचाई और स्प्रिंकलर सिंचाई प्रमुख हैं।

ड्रिप सिंचाई

इस तकनीक में जल सीधे पौधों की जड़ों तक पहुँचाया जाता है। इससे जल की बर्बादी कम होती है और 30–70 प्रतिशत तक जल की बचत संभव है।

स्प्रिंकलर सिंचाई

इस प्रणाली में जल का छिड़काव वर्षा की तरह किया जाता है। यह विशेष रूप से असमतल भूमि और जल की कमी वाले क्षेत्रों के लिए उपयोगी है।

2. फसल विविधीकरण

अधिक जल उपयोग करने वाली फसलों के स्थान पर कम जल वाली फसलों को बढ़ावा देना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, धान की जगह मोटे अनाज, दालें और तिलहन फसलें उगाई जा सकती हैं।

3. वर्षा जल संचयन

वर्षा जल का संग्रहण और संरक्षण जल उपलब्धता बढ़ाने का प्रभावी उपाय है। खेत तालाब, चेक डैम और जलाशय इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

4. मृदा संरक्षण तकनीकें

मल्चिंग, शून्य जुताई और संरक्षण कृषि जैसी तकनीकें मिट्टी में नमी बनाए रखने में सहायता करती हैं।

5. वैज्ञानिक सिंचाई अनुसूची

फसल की आवश्यकता के अनुसार उचित समय पर सिंचाई करने से जल की बचत होती है और उत्पादन में वृद्धि होती है।

6. आधुनिक तकनीक का उपयोग

सेंसर आधारित सिंचाई, ड्रोन, रिमोट सेंसिंग और कृत्रिम बुद्धिमत्ता जैसी तकनीकें जल प्रबंधन को अधिक प्रभावी बना सकती हैं।

सरकारी पहलें

भारतीय सरकार ने जल उपयोग दक्षता बढ़ाने के लिए कई कार्यक्रम शुरू किए हैं।

प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना (PMKSY)

इस योजना का मुख्य उद्देश्य 'हर खेत को पानी' तथा 'प्रति बूंद अधिक फसल' सुनिश्चित करना है। इसके अंतर्गत सूक्ष्म सिंचाई को बढ़ावा दिया जाता है।

अटल भूजल योजना

इस योजना का उद्देश्य भूजल संसाधनों का सतत प्रबंधन और संरक्षण करना है।

जल शक्ति अभियान

यह अभियान जल संरक्षण और वर्षा जल संचयन को प्रोत्साहित करता है।

राष्ट्रीय जल नीति

राष्ट्रीय जल नीति जल संसाधनों के कुशल और टिकाऊ उपयोग पर बल देती है।

जल उपयोग दक्षता के लाभ

- ⋆ जल संसाधनों का संरक्षण।
- ⋆ कृषि उत्पादन में वृद्धि।

- ⋆ सिंचाई लागत में कमी।
- ⋆ किसानों की आय में वृद्धि।
- ⋆ भूजल स्तर का संरक्षण।
- ⋆ जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से बेहतर अनुकूलन।
- ⋆ पर्यावरणीय स्थिरता को बढ़ावा।

चुनौतियाँ

यद्यपि जल उपयोग दक्षता बढ़ाने के लिए अनेक प्रयास किए जा रहे हैं, फिर भी कई चुनौतियाँ मौजूद हैं–

1. जागरूकता की कमी

कई किसान आधुनिक जल प्रबंधन तकनीकों से परिचित नहीं हैं।

2. उच्च प्रारंभिक लागत

ड्रिप और स्प्रिंकलर जैसी प्रणालियों की स्थापना में अधिक लागत आती है।

3. छोटे और सीमांत किसान

भारत में अधिकांश किसान छोटे और सीमांत हैं, जिनके लिए नई तकनीकों को अपनाना कठिन हो सकता है।

4. संस्थागत बाधाएँ

नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन और समन्वय में कई बार समस्याएँ आती हैं।

5. जलवायु परिवर्तन

अनियमित वर्षा और बढ़ते तापमान जल प्रबंधन को और जटिल बनाते हैं।

भविष्य की संभावनाएँ

भविष्य में भारतीय कृषि की स्थिरता काफी हद तक जल उपयोग दक्षता पर निर्भर करेगी। आधुनिक तकनीक, डिजिटल कृषि, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और सटीक कृषि (Precision Agriculture) जल प्रबंधन में क्रांतिकारी बदलाव ला सकती हैं। साथ ही किसानों को प्रशिक्षण, वित्तीय सहायता और तकनीकी मार्गदर्शन प्रदान करना आवश्यक है।

मोटे अनाजों (Millets) को बढ़ावा देना, भूजल पुनर्भरण को प्रोत्साहित करना तथा सामुदायिक जल प्रबंधन मॉडल अपनाना भी भविष्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे। जल संरक्षण को केवल सरकारी कार्यक्रम न मानकर जन आंदोलन का रूप देना होगा।

निष्कर्ष

भारतीय कृषि में जल उपयोग दक्षता वर्तमान समय की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक है। बढ़ती जनसंख्या, सीमित जल संसाधन, भूजल के अत्यधिक दोहन तथा जलवायु परिवर्तन की चुनौतियों के बीच कृषि क्षेत्र में जल का विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक उपयोग अनिवार्य हो गया है। सूक्ष्म सिंचाई, फसल विविधीकरण, वर्षा जल संचयन तथा आधुनिक तकनीकों के माध्यम से जल उपयोग दक्षता में उल्लेखनीय सुधार किया जा सकता है।

यदि भारत को दीर्घकालिक खाद्य सुरक्षा, किसानों की समृद्धि और पर्यावरणीय स्थिरता सुनिश्चित करनी है, तो जल उपयोग दक्षता को कृषि नीति के केंद्र में रखना होगा। ''प्रति बूंद अधिक फसल'' केवल एक नारा नहीं, बल्कि भारतीय कृषि के सतत विकास का मार्ग है। जल का संरक्षण और उसका कुशल उपयोग ही भविष्य की कृषि और आने वाली पीढ़ियों की सुरक्षा का आधार बनेगा।

सन्दर्भ

1. 'वॉटर रिसोर्सेज, कंजर्वेशन एंड मैनेजमेंट' लेखक: एस. एन. चटर्जी (S.N. Chatterjee)
2. 'एप्रोचेस टू इम्प्रूव एग्रीकल्चरल वाटर प्रोडक्टिविटी' लेखक: ए. के. सिंह (A. K. Singh)
3. 'मैनेजमेंट ऑफ वाटर यूज इन एग्रीकल्चर' लेखक: विभिन्न कृषि विशेषज्ञों द्वारा संपादित
4. 'भारतीय कृषि का अर्थतंत्र' लेखक: डॉ. ए. एन. अग्रवाल (Dr. A. N. Agrawal)

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त बाज़ारवाद

प्रियंका शर्मा

इक्कीसवीं सदी अपने आप में अनेक चुनौतियों और संभावनाओं से परिपूर्ण है। यह ऐसा दौर है जहाँ चारों ओर से आग की लपटें निकल रही हैं जिनमें एक सामान्य मनुष्य को जीवनयापन करना दुभर हो गया है। यही वह समय से जब वैश्वीकरण, बाज़ारवाद, उदारवाद अपने चरम रूप में दिखाई पड़ते हैं। सभी का चित्रण साहित्य में हुआ है। उपन्यास जैसी विशिष्ट विधा इससे कैसे अछूती रह सकती है। हिंदी के मुख्यत: सभी साहित्यकारों द्वारा बाज़ारवाद के चिह्न अपने साहित्य में उकेरे हैं। बाज़ारवाद, भूमंडलीकरण आदि को केंद्र में रखकर इक्कीसवीं सदी में अनेक उपन्यास लिखे गए जिनमें बाज़ारवाद का सशक्त चित्रण किया गया है।

बाज़ारवाद एक ऐसी अवधारणा के रूप में उभरा जिसमें मानवता की जगह धन को महत्त्व दिया गया। यहाँ केवल पैसा कमाना ही व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य रह गया उसके लिए रिश्ते-नाते, माता-पिता सब महत्त्वहीन हो गए। मानवता की जगह आर्थिकता ने ले ली है। इस दृष्टिकोण के चलते ही आर्थिक असमानता को बढ़ावा मिला जिससे समाज में अव्यवस्था फैली और मनुष्य में असंतुष्टता बोध को जन्म हुआ क्योंकि पैसा कमाने की यह अंधी दौड़ मनुष्य को सदैव असंतुष्टि भरा जीवन ही देता है। इन सभी दृष्टियों को इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में बख़ूबी चित्रित किया गया है।

'उपन्यास की सबसे बड़ी चिंता यह रही है कि इस भूमंडलीय वर्चस्ववादी संस्कृति ने हमारी सांस्कृतिक अस्मिता पर सीधे-सीधे आक्रमण कर उसे एक प्रकार से विजित ही कर लिया है, हममें हम बाकी नहीं रहा, 'वह' छाता चला गया। किसी भी देश में जीवन के किसी भी क्षेत्र में स्थानिकता के लिए कोई अवकाश नहीं रहा, निरंतर और निरंतर राष्ट्रों की पुरानी सभ्यताओं का अमेरिकीकरण होता चला गया। ब्रिटिश औपनिवेशिक समय में पहले हमारा 'मैकालेकरण' हुआ था और अब वैश्वीकरण की प्रक्रिया में बीसवीं शती के अंतिम दशक के प्रारंभ से ही हमारा 'मैक्डोनलीकरण' होता चला गया। आज स्थिति यह हो गई है कि किसी भी क्षेत्र में हमारी निजता की विलुप्ति हो गई है और तेज़ी से होती जा रही है। मांगलिक अवसरों पर परंपरागत देसी मिठाइयों से मुँह मीठा कराने के बजाय 'कुछ मीठा हो जाए' के नाम पर कैडबरी के लड्डू और मिठाइयाँ बांटी जा रही हैं। सगुन के रूप में विवाह के निमंत्रण पत्र के साथ परंपरागत मिठाई के स्थान पर डिब्बे में कैडबरी की चॉकलेटी मिठाइयाँ आ रही हैं। हमारी भाषा से रंगों के देशज पहचान विलुप्त हो गई है। खोजते रह जाते हैं कि हमारे घर-परिवार के सदस्य पीच कलर, कोकाकोला कलर, बॉटल ग्रीम, स्काई वल्यू आदि से तो परिचित हैं किंतु बादामी नारंगी, कत्थई, किशमिशी, मूंगिया, आसमानी नीला, प्याजी, जामुनी आदि रंगों की पहचान और उनसे अपनी मानसिक जुड़ाव पूरी तरह भूल चुके है।'[1] मनुष्य के जीवन में यह सब बदलाव बाज़ारवाद के बढ़ते वर्चस्व के कारण ही हो रहा है। बाज़ारवाद से समाज में नित नये-नये उपभोक्ता वर्ग का जन्म होता है जिसने अपनी संस्कृति, सभ्यता, मूल्यों सभी को दरकिनार कर दिया है। हिंदी के उपन्यासकारों ने बाज़ारवाद जैसे विषय को केंद्र में रख प्रमुख उपन्यास लिखे हैं - काशी का अस्सी, ईंधन, दस बरस का भंवर, एक ब्रेक के बाद, विर्सजन, स्वर्णभृग और पागलखाना आदि। इन सभी उपन्यासों के माध्यम से उपन्यासकारों ने समाज की वास्तविकता को पाठक के सम्मुख

लाने का सार्थक प्रयास किया है।

काशीनाथ सिंह का प्रमुख उपन्यास 'काशी का अस्सी' बाज़ारवाद की एक-एक परत को खोलता जाता है। बाज़ारवाद के विस्तार को लेखक ने शब्दबद्ध करते हुए लिखा है, ''सेठ ने ज़ोर देकर कहा - हम काहे के लिए हैं? इस पूरे मामले का संबंध बाज़ार से है। तुम्हारा काम है सरकार देखना, हमारा काम है बाज़ार देखना। हम अपना काम देखते हैं, आप अपना काम देखो। हम तो बाज़ार का एक ही मतलब जानते हैं सरकार बाज़ार वह नहीं है जो सड़क पर है, दुकान में है, नुक्कड़ पर है, शोकेस में है। बाज़ार वह है जो तुम्हारे दरवाज़े पर है, पोर्टिको में है, ड्राइंगरूम में है, बैडरूम में है, अलमारी में है, किंचन में है, टॉयलैट में है और यहीं क्यों तुम्हारे बदन पर है, सिर पर बालों से लेकर पैर के नाख़ून तक है।' ऐसा कि जो तुम्हारे घर जाए या तुम्हें देखे उसके लार टपकने लगे, उसकी नींद और उसका चैन छिन जाए, तड़प उठे कि वह चीज़ जो तुम्हारे पास है, उसके पास सुबह नहीं तो शाम तक आ ही जाए। और जब तक न आए तब तक न खाना अच्छे लगे, न पीना, न जीना।''[2] यहाँ लोगों के जीवन में बाज़ार के बढ़ते हुए हस्तक्षेप को लेखक ने चिह्नित किया है।

स्वयं प्रकाश का 'ईंधन' उपन्यास बाज़ारवाद के चलते ईंधन बनते व्यक्ति की कहानी है जिसने स्वयं को ही बाज़ार की अग्नि में ईंधन बनकर होम कर दिया। पूरा उपन्यास रोहित और स्निग्धा के माध्यम से आधुनिक युग के मनुष्य की कथा बयां करता है। रोहित मध्यवर्गीय परिवार का युवक है जबकि उसकी पत्नी स्निग्धा आधुनिक विचारयुक्त उच्च वर्ग से संबद्ध है। दोनों के विचारों में ज़मीन-आसमान का अंतर है। इसी के चलते दोनों में तनाव भी रहता है। इन्हीं आधुनिक विचारों के चलते अंततः रोहित को भी पैसे कमाने और समाज में प्रतिष्ठित होने का भूत चढ़ जाता है और रात दिन पैसे कमाने की अंधी दौड़ में शामिल हो जाता है। यहीं बाज़ारवादी मानसिकता का शिकार होकर एक दिन वह अपने बेटे को भी खो देता है।

''रोहित चाहता था मैं उसके साथ शाम को होटलों में जाऊँ। सज-धज कर वहाँ दूसरों को अपने रूप और अंग्रेज़ी से प्रभावित करूँ - सिड्यूज करूँ - आकर्षित करूँ - बींधूँ और इसका फायदा रोहित को और उसके धंधे को मिले। बच्चे को बाई के या आया के पास छोड़ा जा सकता है। वह चाहता था मैं उसका ऑफिस देखूँ, उसके काम को समझूँ, उसके टेलीफोन अटेण्ड करूँ, उसके सेक्रेट्री की सी भूमिका स्वीकार कर लूं और उसकी अनुपस्थिति में उसका धंधा सम्हालूँ।''[3] इस प्रकार पैसों की लत व्यक्ति को किस हद तक ले जा सकती है इसका सफलतापूर्वक चित्रण लेखक ने यहाँ किया है।

बाज़ारवाद की चपेट में आने वाले आधुनिक युग के युवावर्ग का चित्रण भी हिंदी उपन्यासों में किया है। रवीन्द्र वर्मा का उपन्यास 'दस बरस का भंवर' हो या अलका सरागवी का 'एक ब्रेक के बाद' दोनों में ही बाज़ारवाद के सभी लक्षण देखने को मिलते हैं। 'दस बरस का भंवर' में लेखक ने कहा कि ''दो शती पहले अंग्रेजों ने एक हाथ में सलीब और दूसरे हाथ में बन्दूक लेकर हमारे देश में प्रवेश किया था। इस दशक में गोरों ने फिर एक हाथ में पेप्सी और दूसरे हाथ में टी०वी० का केबल लेकर हमारी धरती पर कदम रखे हैं। धरती पर कदम रखने वाले वे ख़ुद नहीं है। उनके अक्स हैं। ये अक्स अंतरिक्ष में घूमते सैटलाइट के ज़रिए हमारे घरों में आते हैं। हमें पता नहीं चलता। हम अमरिकी बिंबों के गुलाम हैं। हम एक का संक्रामक रोग हमें बुरी तरह अपनी चपेट में ले रहा है। नवविकासवाद ने अमीर और ग़रीब के बीच की खाई को और भी चौड़ा कर दिया है, हम जिस समय में जी रहे हैं, उसमें शिज़ोफेनिया का अंदेशा और भी ज़्यादा है। यह ऐसा समय है जिसमें देश के एक तिहाई लोग भूखे थे और एक चौथाई पिज्जा खा रहे थे - बाकी लोग प्रदर्शन खिड़की में आँखें गड़ाए खड़े थे।''[4] बाज़ार ने लोगों की सोचने-समझने की शक्ति भी क्षीण कर दी और व्यक्तियों में अमीर-ग़रीब की खाई बना दी और नई पीढ़ी की वैचारिका को भी इस उपन्यास में कुछ इस ढंग से रवीन्द्र वर्मा ने चिह्नित किया है। ''बाज़ार इन्हें भड़काता है''.... हर लड़के को ली बाइट जींस, सेल-फ़ोन, मारुति और उन तीन लड़कियों में से एक लड़की चाहिए जो ब्रीफ के विज्ञापन में समुद्र की लहरों से दौड़ती हुई लड़के की ओर रोज़ टी०वी० के परदे पर आती है।''[5]

अलका सरागवी अपने उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में इसे वैश्वीकरण की आर्थिकता, देश की मौद्रिक नीति, बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा देश के बाज़ार और घरों में प्रवेश व्यवसाय (कार्पोरेट) जगत के मुनाफे के धंधों के विभिन्न समीकरणों 'डिपार्टमेंटल स्टोरों' की सफलता के राज़, अमेरिकीकरण के फलस्वरूप देश में अमीरी-ग़रीब के बीच निरंतर बढ़ती खाई आदि का बहुत गंभीर विवेचन एक अर्थशास्त्री जैसी दृष्टि से किया है। वैश्वकीकरण की प्रक्रिया में जीवन

में तीव्र गति से परिवर्तन आया है, ''जमाना हर समय बदलता है, पर पिछले दस सालों में ज़माना एक बार छलांग लगाकर जैसे सौ साल आगे निकल गया है।' बाज़ारवाद और विज्ञापन की तिकड़मों से माल की खपत बढ़ाने की जुगतों, ब्रांडिड संस्कृति के आकर्षणों आदि की चर्चा उपन्यास को बहुत पठनीय रूप प्रदान करती है।''[6] लेखिका ने 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में बाज़ारवाद ने समाज के लिए जो चक्रव्यूह रचा है उसका अनेक स्थलों पर ज़िक्र किया है। यह ऐसा बाज़ारवाद रूपी चक्रव्यूह है जिसमें व्यक्ति फंसता ही चला जाता है। उसे आगे कोई राह नज़र नहीं आती। यथा – ''दो विदेशी लोग बड़े ज़ालिम हैं। उन्हें क्या इस देश की भूखी-नंगी जनता को खिलाने-पिलाने की चिंता है, जो ये सब सवाल उठाते हैं? उन्हें तो सिर्फ़ अपना माल सस्ते में बनवाने की फिक्र है क्योंकि उनके अपने देश में लगभग मुफ्त में माल बनाने वाले गुलाम कहाँ मिलेंगे? या फिर अपना माल यहाँ के पच्चीस करोड़ मिडिल क्लास लोगों में खपाने की फिक्र है। एक तरफ़ पश्चिम के बड़े-बड़े ब्रांड-गैंप, पोलो, टॉमी, हिलफिगर, मार्क्स एण्ड स्पेंसर अपना सारा माल इंडिया की फैक्टरियों में सस्ते में बनवा रहे हैं तो दूसरी तरफ़ लेवी, सोनी, ब्रासकिन, राबिंस जैसे ब्रांड जीन्स और टी०वी० से लेकर आइसक्रीम तक महानगरों के बड़े-बड़े शॉपिंग मॉलों में बेच रहे हैं। पर बात जब करेंगे तो ग़रीबी रेखा के नीचे रचाने वाले लोगों की या फिर 'चाइल्ड लेबर' की।''[7]

इसी क्रम में राजू शर्मा के 'विसर्जन' उपन्यास में भी नवउदारवाद एवं बाज़ारवाद को रेखांकित किया गया है। विकासवाद के चलते देश को छले जाने का प्रक्रम सामने आया है। दूसरी ओर गिरिराज किशोर का 'स्वर्णमृग' उपन्यास है जो भूमण्डलीकरण की वास्तविकता का बड़ी गहनता से चित्रण करता है। वर्तमान युवा वर्ग को उधार का जीवन अर्थात् क्रेडिट कार्ड वाला जीवन बाज़ारवाद की ही देन है। इसी प्रकार बाज़ारवाद ने मानव को स्वर्ण मृग की माया-मरीचिका में भटका दिया है जिससे वह स्वयं को सही राह पर नहीं ला पाता है जिसे लेखक ने उपन्यास के माध्यम से व्यक्त किया है यथा – ''आखिर वह इंसान है या कोई दाना है जो जब आता है तो निबटाता चला जाता है या सिमसिम जैसी कोई चीज़ है जो खुलते ही मालामाल कर देता है। लेकिन आधी-अधूरी बातों से अंदाज़ा लगाना मुश्किल होता है। उसने शुरू में जो लिखा था उससे लगा था कि वैश्वीकरण जैसी कोई मिथ है। लेकिन उसने बाद में लिखा वह तो कालीदह है जिसमें रह रहे भयंकर सहस्र सिरों वाले नाग को नाचने के लिए ऋण उसमें कूद गए थे। उसने बड़े मज़े से अमेरिका का ज़िक्र किया था कि उसने ही इस कालीदह का निर्माण किया। जिसने दूसरों के लिए कालीदह का निर्माण किया आज वह स्वयं ही उसमें डूब रहा है।''[8] यही आधुनिक युग की वास्तविकता है कि मनुष्य वैश्वीकरण, बाज़ारवाद के गहरे गर्त में धसता चला जा रहा है। इसी क्रम में अनेक उपन्यास 21वीं सदी में बाज़ारवाद की चुनौतियों को सामने लाते हैं। इनमें ही एक विशिष्ट उपन्यास है 'पागलख़ाना'। यह उपन्यास बाज़ारवाद के भयावह दलदल में मनुष्य के फंसते जाने की स्थिति को बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त करता है। लेखक ने उपन्यास की भूमिका में बाज़ारवाद के विषय में बहुत कुछ कहा है यथा-''बाजारवाद मुझे ठीक उसी तरह डराता है, जैसा वह आजकल किसी भी समझदार शख़्स को डराता होगा। बाज़ार जीवन के लिए बड़ा ज़रूरी है परंतु जीवन को जब पूर्णत: बस बाज़ार के लिए होना ही मान लिया जाए, तब? जब जीवन का हर भाव, पल, निर्णय, रोना, गाना, हँसना, खाना, पीना, सोना, संबंध, लोक, कला, संस्कृति, किताब तथा हर सोच बाज़ार ही नियंत्रित करने लगे, तब? बाज़ारवाद द्वारा निर्देशित यह दुनिया तब एक विराट 'पागलख़ाना' नहीं बन जाएगी क्या? हाँ यह पागलपन ही कहलाएगा। परंतु वर्तमान समय की मुसीबत यह है कि इसी तरह के बाज़ारवाद को वैश्विक स्वीकृति देने के चालाक आग्रह है इस विचार के विरुद्ध सोचने वालों को पागल करार दिया जा रहा है।''[9] यहाँ बाज़ारवाद को समझने वाले लोगों जिन्हें बाज़ार की वास्तविकता का बोध हो गया है। उन्हें पागल करार दिया है। इस बात का ज़िक्र लेखन उपन्यास के शुरू में कुछ इस लहज़े में करते हैं-

''एक दिन जीवन पर बाज़ार का पूरा क़ब्ज़ा हो गया। समय ऐसा आया कि विचार, सोचे, धज, कपड़े-लत्ते, भाव, प्यार, मुस्कान, संस्कृति, कला, संगीत, साहित्य, लोक-जीवन ही हर रौ बाज़ार के इशारे पर चलने लगी।

पर तब भी कुछ सिर फिरे जीवन को बाज़ार से बड़ा मानते रहे। वे मानते थे कि बाज़ार जीवन के लिए है पर जीवन मात्र बाज़ार के लिए नहीं, जीवन के अर्थ बड़े हैं।

''ये पागल गहलाए
यह उन्हीं पागलों की कथा है
यह उसी पागल समय की कथा है

यह आपके समय की कहानी है।''[10]

इस प्रकार से यह उपन्यास बाज़ार के मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों की सच्ची पड़ताल करता है। इसमें वह वास्तविकता रची-बसी है जो वास्तव में बाज़ार के द्वारा समाज में घटित हो रही है। टी०वी० पर बाज़ार के विज्ञापन थे। बाज़ार ने सपनों को सामान बचने के काम पर लगा दिया था। बाज़ार ने सामान और सपनों को ऐसा मिला दिया था कि आदमी सामान का सपना देखने लगा। उसने अपने सारे सपनों को बाज़ार की ताबेदारी में विज्ञापनों का काम करते देखा उस दिन। उसके सारे सपने। सच ईमानदारी, प्यार, सफलता, भाईचारा, लोकतंत्र, वात्सल्य, भलाई, सुंदरता, स्वास्थ्य, सुकून भरी नींद, एकता, बराबरी उसके हर सपने का बाज़ार ने उठा लिया था और काम पर लगा दिया था।''[11]

इस उपन्यास में ज्ञान चतुर्वेदी ने बाज़ारवाद के एक-एक पहलू को चित्रित किया है। बाज़ार ने कैसे मनुष्य को अपनी गिरफ़्त में ले रखा है। इसका सच्चा दस्तावेज़ प्रस्तुत करता है यह उपन्यास। जैसे साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया ठीक वैसे ही 21वीं सदी के उपन्यासों पर यह बात चरितार्थ होती है क्योंकि सभी उपन्यासों में अपने समय की वास्तविक स्थिति की झलकियाँ देखने को मिलती हैं। बाज़ारवाद के बढ़ते वर्चस्व को सभी उपन्यासों में चिह्नित किया है। अत: बाज़ार को बाज़ार तक ही सीमित रखा जाना चाहिए ना कि उसे घर तक या अपने जीवन में इतना दाखिल होने देना चाहिए जब बाज़ार का दायरा सीमित होगा तभी राष्ट्र व समाज का कल्याण होगा।

शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
एवं
सहायक प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग,
शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई मेल : priyanka.gv95@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. 21वीं शती का हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ-85
2. काशी का अस्सी, पृष्ठ-142
3. ईंधन, स्वयं प्रकाश, पृष्ठ-191
4. दस बरस का भंवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ-74
5. वही, पृष्ठ-77
6. इक्कीसवीं शती का हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ-86
7. एक ब्रेक के बाद, पृष्ठ-52
8. स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ-28
9. पागलख़ाना, ज्ञान चतुर्वेदी, पृष्ठ-10
10. वही, पृष्ठ-16
11. वही, पृष्ठ-48

शोध-पत्र

आराधना

दलित महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण में सरकारी योजनाओं की भूमिका

सारांश :

भारतीय समाज में दलित महिलाओं की स्थिति लंबे समय से सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से कमजोर रही है। एक ओर दलित महिलाओं को गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी तथा सामाजिक भेदभाव जैसी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, इन परिस्थितियों को सुधारने के लिए सरकार द्वारा विभिन्न योजनाएँ प्रारंभ की गई हैं, जिनका उद्देश्य महिलाओं को आत्मनिर्भर एवं आर्थिक रूप से सशक्त बनाना है। यह लेख दलित महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण में सरकारी योजनाओं की भूमिका का अध्ययन प्रस्तुत करता है। स्वरोजगार योजनाएं, स्वयं सहायता समूह, कौशल विकास कार्यक्रम तथा वित्तीय सहायता योजनाएं महिलाओं के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। इन योजनाओं के माध्यम से महिलाओं को रोजगार, प्रशिक्षण तथा ऋण सुविधाएं प्राप्त हुई हैं, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। हालांकि आज भी जागरूकता की कमी, अशिक्षा, सामाजिक भेदभाव जैसी समस्याएं मौजूद हैं, इसलिए योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन तथा महिलाओं में जागरूकता बढ़ाने की आवश्यकता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सरकारी योजनाएं दलित महिलाओं को आर्थिक रूप से मजबूत बनाने तथा समाज में उनकी स्थिति को बेहतर बनाने में सहायक सिद्ध हो रही हैं।

बीज शब्द

दलित महिलाएँ, आर्थिक सशक्तकरण, सरकारी योजनाएं, स्वरोजगार, स्वर्ण जयंती स्वरोजगार योजना, महिला विकास, आत्मनिर्भरता, स्वयं सहायता समूह, ग्रामीण विकास।

प्रस्तावना

भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति हमेशा से चर्चा का विषय रही है, मुख्य रूप से दलित महिलाओं की स्थिति अधिक चिंताजनक रही है। दलित महिलाएँ समाज के उस वर्ग से संबंधित हैं जिन्हें लंबे समय तक सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक असमानताओं का सामना करना पड़ता है। गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा तथा सामाजिक भेदभाव के कारण उनका जीवन अत्यंत कठिन रहा है।

भारत एक लोकतांत्रिक देश है जहाँ सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं। फिर भी सामाजिक संरचना में दलित महिलाओं की स्थिति कमजोर बनी हुई है। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली अधिकांश दलित महिलाओं को षि कार्य, मजदूरी, अस्थायी रोजगार तथा कार्यस्थल पर भेदभाव जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

दलित महिलाओं की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए सरकार द्वारा अनेक योजनाएँ प्रारंभ की गई हैं। इन योजनाओं का मुख्य उद्देश्य महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाना, रोजगार उपलब्ध कराना तथा समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाना है। स्वरोजगार योजनाएँ, स्वयं सहायता समूह, कौशल विकास कार्यक्रम तथा ऋण सुविधाएँ इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं। आज के समय में महिलाएँ केवल घरेलू कार्य तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे व्यापार, शिक्षा, राजनीति में भाग ले रही हैं। सरकारी योजनाओं ने दलित महिलाओं को आर्थिक रूप से मजबूत बनाने तथा उन्हें आत्मनिर्भर बनने का अवसर प्रदान किया है।

दलित महिलाओं की आर्थिक स्थिति

भारतीय समाज में दलित महिलाओं की आर्थिक स्थिति अत्यंत कमजोर मानी जाती है। अधिकांश दलित महिलाएँ गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली महिलाएँ मुख्य रूप से खेतों में मजदूरी और निर्माण कार्यों में लगी रहती हैं। इन कार्यों में उन्हें कम वेतन मिलता है तथा रोजगार भी स्थायी नहीं होता है।

अशिक्षा दलित महिलाओं की सबसे बड़ी समस्याओं में से एक है। शिक्षा की कमी के कारण वे बेहतर रोजगार प्राप्त नहीं कर पातीं तथा सरकारी योजनाओं की जानकारी से भी वंचित रह जाती हैं। कई परिवारों में लड़कियों की शिक्षा को महत्व नहीं दिया जाता, जिसके कारण महिलाएँ आर्थिक रूप से पिछड़ी रह जाती हैं। सामाजिक भेदभाव भी उनकी आर्थिक प्रगति में बड़ी बाधा है। जातिगत भेदभाव के कारण उन्हें समान अवसर नहीं मिल पाते और कई बार कार्यस्थलों पर भी उनके साथ असमान व्यवहार किया जाता है।

स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी, कुपोषण तथा आर्थिक संसाधनों का अभाव भी दलित महिलाओं की स्थिति को प्रभावित करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली महिलाओं के पास उचित स्वास्थ्य सेवाएँ तथा प्रशिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं। इन सभी समस्याओं के कारण दलित महिलाओं का जीवन संघर्षपूर्ण बना रहता है। इसलिए उनके आर्थिक विकास के लिए सरकारी सहायता और योजनाओं की आवश्यकता अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है।

सरकारी योजनाओं की भूमिका

दलित महिलाओं के आर्थिक विकास एवं सशक्तिकरण के लिए सरकार द्वारा अनेक योजनाएँ चलाई गई हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य ऋण, प्रशिक्षण और आत्मनिर्भरता प्रदान करना है।

1. स्वर्ण जयंती स्वरोजगार योजना

स्वर्ण जयंती स्वरोजगार योजना गरीब वर्ग को स्वरोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से शुरू की गई थी। इस योजना के अंतर्गत महिलाओं को छोटे व्यवसाय शुरू करने के लिए प्रशिक्षण तथा ऋण सुविधा प्रदान की जाती थी। दलित महिलाओं को इस योजना में विशेष प्राथमिकता दी गई ताकि वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन सकें। इस योजना के माध्यम से उन्होंने सिलाई, डेयरी, हस्तशिल्प, बुनाई तथा दुकानों जैसे व्यवसाय शुरू किए, जिससे उनकी आय में वृद्धि हुई तथा परिवार की आर्थिक स्थिति मजबूत हुई।

2. स्वयं सहायता समूह (SHG)

स्वयं सहायता समूहों ने ग्रामीण महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन समूहों के माध्यम से महिलाएँ छोटी-छोटी बचत जमा करती हैं तथा सामूहिक रूप से ऋण प्राप्त कर छोटे व्यवसाय प्रारंभ करती हैं।

3. कौशल विकास योजनाएं

सरकार द्वारा महिलाओं को विभिन्न प्रकार के कौशल प्रशिक्षण प्रदान किए जाते हैं; जैसे- सिलाई, कंप्यूटर शिक्षा, ब्यूटी पार्लर प्रशिक्षण, खाद्य प्रसंस्करण तथा हस्तशिल्प प्रशिक्षण। इन प्रशिक्षणों के माध्यम से महिलाएँ स्वयं का व्यवसाय शुरू करने तथा रोजगार प्राप्त करने में सक्षम बनती हैं।

4. मुद्रा योजना एवं वित्तीय सुविधाएं

मुद्रा योजना तथा अन्य वित्तीय योजनाओं के माध्यम से महिलाओं को बिना गारंटी के ऋण उपलब्ध कराया जाता है। इससे महिलाएँ छोटे उद्योग तथा व्यवसाय स्थापित कर पाती हैं। आज कई दलित महिलाएँ बुटीक, डेयरी, किराना दुकान तथा अन्य छोटे उद्योग चलाकर आत्मनिर्भर बन रही हैं।

सरकारी योजनाओं का प्रभाव

सरकारी योजनाओं ने दलित महिलाओं के जीवन में सकारात्मक परिवर्तन लाने का कार्य किया है। सबसे बड़ा परिवर्तन आत्मनिर्भरता के रूप में दिखाई देता है। पहले जो महिलाएँ केवल मजदूरी पर निर्भर थीं, वे आज छोटे व्यवसाय तथा उद्योग चला रही हैं।

महिलाओं की आय में वृद्धि होने से उनके परिवारों का जीवन स्तर बेहतर हुआ है। बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य तथा पोषण पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। आर्थिक रूप से मजबूत होने के बाद महिलाओं का आत्मविश्वास बढ़ा है तथा समाज में उनका सम्मान भी बढ़ा है। वे परिवार के निर्णयों में भाग लेने लगी हैं तथा सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं।

स्वयं सहायता समूहों तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों ने महिलाओं में नेतृत्व क्षमता का विकास किया है। इससे महिलाएँ सामाजिक एवं आर्थिक दोनों स्तरों पर सशक्त हुई हैं।

चुनौतियाँ एवं समस्याएँ

हालांकि सरकारी योजनाओं ने सकारात्मक प्रभाव डाला

है, फिर भी अनेक समस्याएँ आज भी मौजूद हैं–

⋆ **जानकारी का अभाव :** कई ग्रामीण महिलाओं को सरकारी योजनाओं की सही जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती, जिसके कारण वे योजनाओं का लाभ लेने से वंचित रह जाती हैं।

⋆ **अशिक्षा :** शिक्षा की कमी के कारण महिलाएँ आवेदन प्रक्रिया तथा बैंक संबंधी कार्यों को समझ नहीं पाती हैं।

⋆ **भ्रष्टाचार एवं प्रशासनिक कठिनाइयाँ :** कई बार योजनाओं का लाभ सही लोगों तक नहीं पहुंच पाता। भ्रष्टाचार तथा जटिल प्रक्रियाएं भी एक बड़ी समस्या हैं।

⋆ **सामाजिक भेदभाव :** दलित महिलाओं को आज भी जातिगत भेदभाव तथा लैंगिक असमानता का सामना करना पड़ता है।

⋆ **संसाधनों की कमी :** ग्रामीण क्षेत्रों में प्रशिक्षण केंद्र, बैंक सुविधा तथा बाजार की कमी महिलाओं के व्यवसाय को प्रभावित करती है।

सुधार हेतु सुझाव

स्थिति में और सुधार लाने तथा योजनाओं को अधिक प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित कदम उठाए जा सकते हैं–

⋆ सरकारी योजनाओं की जानकारी गाँव-गाँव तक पहुंचाई जाए।
⋆ महिलाओं के लिए नि:शुल्क शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।
⋆ ऋण प्रक्रिया को सरल बनाया जाए ताकि वे आसानी से इसका लाभ ले सकें।
⋆ ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के नए अवसर बढ़ाए जाएं।
⋆ महिलाओं को डिजिटल शिक्षा एवं तकनीकी प्रशिक्षण प्रदान किया जाए।
⋆ योजनाओं के क्रियान्वयन में पूर्ण पारदर्शिता लाई जाए।
⋆ महिलाओं के प्रति समाज में सकारात्मक सोच विकसित की जाए।

निष्कर्ष

दलित महिलाओं का आर्थिक सशक्तिकरण समाज एवं राष्ट्र के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। सरकारी योजनाओं ने उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वरोजगार योजनाएं, स्वयं सहायता समूह, कौशल विकास कार्यक्रम तथा वित्तीय सहायता योजनाएं महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

हालांकि अभी भी अशिक्षा, सामाजिक भेदभाव, गरीबी तथा जागरूकता की कमी जैसी समस्याएं मौजूद हैं; लेकिन सही नीति एवं प्रभावी क्रियान्वयन के माध्यम से इन चुनौतियों को कम किया जा सकता है। यदि सरकार तथा समाज मिलकर प्रयास करें, तो दलित महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त बनाकर उन्हें समाज की मुख्यधारा में लाया जा सकता है। इससे न केवल महिलाओं का विकास होगा, बल्कि पूरे समाज तथा देश की प्रगति भी सुनिश्चित होगी।

शोध-पत्र

देवकी मिश्रा

वाचस्पति मिश्र के दर्शन में आध्यात्मिक द्विरूपता : भाषाविज्ञान में यथार्थवादी अनेकत्ववाद एवं तत्वमीमांसा में एकत्ववाद

प्रस्तुत शोध-पत्र दसवीं शताब्दी के प्रकांड मनीषी वाचस्पति मिश्र के बौद्धिक जीवन में दिखाई देने वाले तत्वमीमांसीय (मेटाफिजिकल) एवं पद्धतिगत (मेथडोलॉजिकल) अंतर्द्वंद्व का आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदांत पर सर्वोत्कृष्ट व्याख्या 'भामती' के रचयिता के रूप में प्रतिष्ठित वाचस्पति मिश्र ने अपने स्वतंत्र ग्रंथ 'तत्त्वबिंदु' के माध्यम से मीमांसा भाषाविज्ञान के क्षेत्र में वैयाकरण-दार्शनिक मंडन मिश्र द्वारा प्रतिपादित अखंड स्फोट सिद्धांत का साङ्गोपाङ्ग खंडन किया है। यह विमर्श विवेचन करता है कि किस प्रकार वाचस्पति मिश्र पारमार्थिक स्तर पर अद्वैतवाद (ऐब्सोल्यूट मोनिज्म) के प्रति अपनी दार्शनिक निष्ठा को अक्षुण्ण रखते हुए, व्यावहारिक धरातल पर एक सुदृढ़, अनेकत्ववादी यथार्थवाद (वर्णवाद) का प्रतिपादन करते हैं। शास्त्रीय भारतीय परंपरा में 'प्रासंगिक सत्तामीमांसा' (कॉन्टेक्स्टुअल ऑन्टोलॉजीज) के समन्वय द्वारा लौकिक व्यवहार को पारमार्थिक मोक्ष-सत्ता से पृथक रखने की प्रविधि का विश्लेषण यहाँ अभीष्ट है। निष्कर्षतः, यह अध्ययन प्रतिपादित करता है कि श्रुति-वाक्यों के अद्वैतपरक विश्लेषणात्मक बोध के लिए पदों और वर्णों पर आधारित एक अवयववादी (कंपोजीशनल) भाषाई ढांचा ही मूलाधार है।

दसवीं शताब्दी के मिथिला का बौद्धिक परिदृश्य अत्यंत प्रखर शास्त्रार्थों और वैचारिक संप्रदायों के संघर्ष से परिभाषित था, जहाँ अपने सिद्धांतों की मर्यादा और रक्षा के लिए प्रतिपक्षी दर्शन-प्रणालियों पर असाधारण अधिकार होना अनिवार्य था। इस जीवंत दार्शनिक केंद्र के अंतर्गत किसी भी विचारक से केवल एक सैटही समन्वय की नहीं, बल्कि अपने विशिष्ट संप्रदाय के सिद्धांतों को तीक्ष्ण करने तथा अंतः-रूढ़िवादी प्रतिद्वंद्वियों एवं नास्तिक चुनौती देने वालों के विरुद्ध उसकी रक्षा करने के लिए विभिन्न दर्शन-प्रणालियों में पारंगत होने की अपेक्षा की जाती थी। इस अत्यधिक प्रतिस्पर्धी वातावरण में, वाचस्पति मिश्र ने शास्त्रीय भारतीय दर्शन के लगभग प्रत्येक आस्तिक संप्रदाय पर आधारभूत टीकाएँ लिखकर एक अद्वितीय दार्शनिक विरासत का निर्माण किया। उनका विशाल वाङ्मय 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में न्याय की तार्किक प्रखरता, 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में सांख्य के द्वैतवादी ब्रह्मांड विज्ञान, और 'तत्त्ववैशारदी' में योग के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तक विस्तृत है। सबसे विशेष रूप से, शंकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' पर उनकी कालजयी व्याख्या, अर्थात् विशाल 'भामती' ने उन्हें सर्वोच्च कोटि के परम अद्वैतवादी के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस कृति ने उनकी ख्याति को इतनी सुदृढ़ता दी कि अद्वैत वेदांत के भीतर शंकर-पश्चात के दो प्राथमिक दार्शनिक उप-संप्रदायों में से एक का नाम सीधे इस महान कृति के आधार पर 'भामती प्रस्थान' स्वीकृत हुआ।

हालाँकि, वाचस्पति की यह व्यापक बहुशास्त्रज्ञता एक गहन दार्शनिक विरोधाभास को जन्म देती है जब इसकी तुलना उनके स्वतंत्र भाषाई ग्रंथ 'तत्त्वबिंदु' से की जाती है। एक निष्ठावान अद्वैतवेदांती के रूप में, जिनका पूर्ण एकत्ववाद आचार्य शंकर और मंडन मिश्र के अद्वैतवादी ग्रंथों से गहराई से प्रभावित था, यह सहज अनुमेय था कि वाचस्पति व्याकरण परंपरा द्वारा समर्थित उस समग्र, अद्वैत भाषा-तत्वमीमांसा को

स्वीकार करेंगे जो भाषा को एक अविभाज्य पूर्ण एकात्मकता के रूप में देखती है। इसके विपरीत, 'तत्त्वबिंदु' में वैयाकरणों के समग्रतावादी स्फोटवाद का तीव्र और आक्रामक खंडन उपलब्ध होता है। वाचस्पति यहाँ जानबूझकर कुमारिल भट्ट की भाट्ट मीमांसा परंपरा के दृढ़ यथार्थवाद का पक्ष लेते हैं। जहाँ वैयाकरणों ने यह सिद्ध करने के लिए 'स्फोटवाद' का प्रतिपादन किया था कि भाषा अंततः एक भागरहित, अविभाज्य समग्रता है, वहीं मीमांसकों ने व्यावहारिक जगत् में प्रत्येक प्रकार के एकत्ववाद का विरोध करते हुए यह तर्क दिया कि भाषा को वास्तविक, पृथक ध्वन्यात्मक अंगों (वर्णों) के समूह के रूप में ही समझा जाना चाहिए। मीमांसा के इस दृष्टिकोण को अपनाने का वाचस्पति का निर्णय एक अत्यंत परिष्कृत पद्धतिगत अनेकत्ववाद (मेथडोलॉजिकल प्लुरलिज्म) को प्रकट करता है : यह विश्वास कि मानवीय जिज्ञासा के विभिन्न क्षेत्रों को अपनी व्यावहारिक प्रामाणिकता और विमर्श की अक्षुण्णता बनाए रखने के लिए मौलिक रूप से भिन्न सत्तामीमांसा (ऑन्टोलॉजी) की आवश्यकता होती है। इन प्रणालियों को एक संकर दर्शन में विलीन करने के बजाय, वाचस्पति उन्हें अलग-अलग क्षेत्रों में विभाजित करते हैं वे 'भामती' में एक विशुद्ध अद्वैतवादी के रूप में और 'तत्त्वबिंदु' में एक विशुद्ध मीमांसक के रूप में बोलते हैं।

वाचस्पति की इस आलोचना के अनूठे परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए, उस तत्वमीमांसीय ऊंचाई को देखना होगा जिस पर मंडन मिश्र अपनी 'स्फोटसिद्धि' में भाषा को प्रतिष्ठित करते हैं। भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' से प्रचुर प्रेरणा लेते हुए, मंडन भाषाई इकाइयों को केवल लौकिक व्यवहार या व्यावहारिक संचार के लिए मात्र तकनीकी उपकरण नहीं मानते। इसके विपरीत, वे भाषा-एकत्ववाद (शब्दाद्वैत) का एक दार्शनिक ढांचा प्रस्तुत करते हैं जहाँ अविभाज्य शब्द-तत्व ही 'शब्द-ब्रह्म' यानी शाश्वत शब्द-सिद्धांत या परम-तत्व (कॉस्मिक लोगोस) के अभिन्न है। इस प्रतिमान के अंतर्गत, व्याकरण की शास्त्रीय परंपरा का तर्क था कि भाषा कोई अस्थायी मानवीय रचना नहीं है, बल्कि एक नित्य, दिव्य वास्तविकता है। भर्तृहरि ने प्रसिद्ध रूप से उद्घोषित किया था कि सारा ज्ञान भाषा से अनुविद्ध (ओत-प्रोत) है; संसार में ऐसा कोई वैध ज्ञान नहीं है जो ध्वन्यात्मक प्रक्रिया से स्वतंत्र रह सकेय मानव का समस्त ज्ञान वाणी द्वारा ही अंतःप्रकाशित और व्याप्त है।

इसी भाषाई निरपेक्षता के आधार पर, मंडन मिश्र 'स्फोटसिद्धि' में तर्क देते हैं कि चूंकि स्फोट नित्य, एक और अविभाज्य है, इसलिए यह उपनिषदों में वर्णित अनादि, अनंत ब्रह्म के ही समरूप है। वे तर्क देते हैं कि यही शब्द-ब्रह्म अविद्या (माया) की ब्रह्मांडीय शक्ति के माध्यम से भौतिक संसार के विभिन्न शब्दों, ध्वनियों और अर्थों के रूप में विवर्तित (मैनिफेस्ट) होता है। इस एकत्ववादी प्रतिमान के तहत, भाषाई एकता ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है; वाणी का वर्णों, पदों और संरचनात्मक वाक्य-अवयवों में दिखाई देने वाला विभाजन केवल एक अविभाज्य, अखंड समग्रता (गेस्टाल्ट) पर आरोपित काल्पनिक अध्यारोप है। मंडन का मॉडल पूर्णतः समग्रतावादी (होलिस्टिक) है, जो प्राथमिक और एकमात्र वास्तविक भाषाई इकाई के रूप में 'वाक्यस्फोट' का समर्थन करता है। वे तर्क देते हैं कि जब हम कोई वाक्य सुनते हैं, तो हम पृथक पद-स्तरीय ज्ञान की कोई श्रृंखला बनाकर उन्हें यांत्रिक रूप से आपस में नहीं जोड़ते; बल्कि, हम एक तात्कालिक क्षण में प्रतिभा (इन्ट्यूटिव इनसाइट) के माध्यम से एक एकल, अविभाज्य अर्थ को ग्रहण करते हैं।

इस मनोवैज्ञानिक ढांचे के समर्थन में, मंडन एक रत्न-परीक्षक का प्रसिद्ध सादृश्य प्रस्तुत करते हैं। जब कोई रत्न-विशेषज्ञ किसी बहुमूल्य पत्थर का परीक्षण करता है, तो प्रथम दृष्टि उसकी वास्तविक गुणवत्ता को प्रकट नहीं करती। प्रत्येक उत्तरोत्तर दृष्टि उस परीक्षण को तब तक स्पष्ट करती जाती है जब तक कि अंतिम दृष्टि में, परीक्षक का चित्त पूरी तरह सुसंस्कृत हो जाता, और रत्न का वास्तविक स्वरूप एक ही संपूर्ण ज्ञान में गृहीत हो जाता है। उसी प्रकार, वाणी की क्रमिक ध्वनियाँ अंतःकरण में संस्कार अंकित करती हैं, श्रोता को तैयार करती हैं, और जैसे ही अंतिम ध्वनि सुनी जाती है, वैसे ही संपूर्ण, अविभाज्य स्फोट प्रस्फुटित होता है और एक साथ ग्रहण कर लिया जाता है। मंडन के लिए, स्फोट की एकता का एकाग्र चिंतन केवल एक बौद्धिक व्यायाम नहीं है, बल्कि परम मोक्ष का एक साक्षात् मार्ग है, जहाँ जीवात्मा अनेकत्व के भ्रम से परे जाकर 'शब्द-ब्रह्म' में विलीन हो जाती है।

'तत्त्वबिंदु' में, वाचस्पति भाषा के इस एकत्ववादी उदात्तीकरण के विरुद्ध दृढ़ता से खड़े होते हैं, और एक अदृश्य, निरवयव (भाग-रहित) स्फोट की परिकल्पना को एक अनुचित तत्वमीमांसीय गौरव (मेटाफिजिकल एग्जैगरेशन) के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो लाघव-न्याय (लॉ ऑफ पार्सिमोनी) का पूर्णतः उल्लंघन करती है। 'तत्त्वबिंदु' स्वयं एक संक्षिप्त,

सघन और अत्यंत क्लिष्ट ग्रंथ है जो एक विशिष्ट लयबद्ध और उदात्त संस्कृत शैली में प्रणीत है, और इसका संपूर्ण पूर्वार्ध मंडन की 'स्फोटसिद्धि' के सीधे, बिंदु-दर-बिंदु खंडन के रूप में कार्य करता है। वाचस्पति स्वयं को भाट्ट मीमांसा परंपरा के अनुकूल रखते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि भौतिक जगत्, जीवात्माएँ, पृथक द्रव्य और गुण अंततः सत्य हैं; इस प्रकार वे किसी भी ऐसे अद्वैतवादी न्यूनीकरणवाद को अस्वीकार करते हैं जो अनुष्ठानिक क्रिया (कर्म) और नैतिक कर्तव्य (धर्म) को निरर्थक बना दे। वाचस्पति की आलोचना एक सरल, आनुभविक (एम्पिरिकल) अवलोकन से प्रारंभ होती है : जब हम कोई शब्द सुनते हैं, तो हम केवल उसके घटक वर्णों (ध्वनियों) को सुनते हैं। वे लिखते हैं कि वर्णों से अतिरिक्त किसी स्फोट की कल्पना करना समस्त प्रामाणिक ज्ञान और लोक-अनुभव के विपरीत है। जब हम 'गौः' शब्द सुनते हैं, तो हमें इसके तीन घटक वर्णों 'ग्', 'औ' और 'विसर्ग' के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। यह दावा करना कि इन वर्णों के पीछे कोई अदृश्य, अश्रव्य स्फोट विद्यमान है, प्रत्यक्ष प्रमाणों को नकार कर एक निराधार तत्वमीमांसीय गौरव को स्वीकार करना है।

मंडन के इस सिद्धांत को पूर्णतः ध्वस्त करने के लिए, वाचस्पति प्रत्यक्ष वर्णों और इस कल्पित अंतर्निहित तत्व के संबंध पर केंद्रित एक अकाट्य तार्किक दुविधा (डिलीमा) उपस्थित करते हैं : क्या व्यक्तिगत वर्ण स्फोट से भिन्न हैं अथवा अभिन्न? यदि वे अभिन्न हैं, तो एक अकेला वर्ण ही स्फोट के समरूप हो जाएगा, जिसका अर्थ है कि केवल प्रथम अक्षर ही संपूर्ण अर्थबोध कराने के लिए पर्याप्त होगा, जिससे शब्द के शेष अक्षर सर्वथा निरर्थक और निरुपयोगी हो जाएंगे। इसके विपरीत, यदि वर्ण मौलिक रूप से स्फोट से भिन्न हैं, तो इसका कोई तार्किक कारण नहीं मिलता कि उन्हें स्फोट को क्यों अभिव्यक्त करना चाहिए, और न ही किसी विशेष ध्वनि-अनुक्रम तथा एक विशिष्ट स्फोट के बीच कोई अनन्य (एक्सक्लूसिव) संबंध स्थापित हो सकता है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि स्फोट को निरवयव और अविभाज्य परिभाषित किया गया है, यह विचार कि यह वर्णों के अनुक्रम द्वारा 'क्रमशः अभिव्यक्त' होता है, तार्किक रूप से असंभव है; क्योंकि जो वस्तु अंशों और आंतरिक धर्मों से रहित है, उसमें प्रकटीकरण के चरण नहीं हो सकते। किसी रहस्यमयी स्फोट के स्थान पर, वाचस्पति भाषा-बोध को स्मृति और साहचर्य की स्वाभाविक बौद्धिक क्षमताओं द्वारा समझाते हैं। वे तर्क देते हैं कि वर्ण स्वयं, जब उन्हें नित्य वर्ण-व्यष्टि के रूप में समझा जाता है, अर्थ वाचकत्व की शक्ति रखते हैं। जैसे-जैसे क्रमिक ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, वे चित्त पर संस्कार छोड़ जाती हैं, और जब अंतिम वर्ण का श्रवण होता, तो वह पूर्ववर्ती वर्णों के स्मृति-संस्कारों (भावना-संस्कार) के साथ मिलकर शब्दार्थ के स्मरण को जाग्रत करता है।

वाचस्पति के अद्वैत तत्वमीमांसा और उनकी मीमांसा भाषाविज्ञान के बीच का यह दृश्यमान अंतर्विरोध अद्वैत वेदांत की द्विविध सत्तामीमांसा के माध्यम से सुचारू रूप से सुलझ जाता है। अद्वैत सत्ता के दो स्तरों में स्पष्ट भेद करता है : पारमार्थिक स्तर (ऐब्सोल्यूट लेवल) और व्यावहारिक स्तर (प्रैक्टिकल लेवल)। पारमार्थिक स्तर पर, भाषा सहित समस्त प्रपंच और भेद अद्वैत ब्रह्म में बाधित (लीन) हो जाते हैं। तथापि, व्यावहारिक स्तर पर, भौतिक जगत् और भाषा की संरचनाओं को पूर्णतः प्रमाणिक और व्यावहारिक रूप से नित्य स्वीकार किया जाता है। यह दार्शनिक सामंजस्य वाचस्पति को भाषाई विश्लेषण के लिए एक व्यावहारिक, अनेकत्ववादी यथार्थवाद को अपनाने की अनुमति देता है। ऐसा करने में, वे आदि शंकराचार्य का ही अनुगमन करते हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रभाष्य (देवताधिकरण) में स्फोटवाद का प्रसिद्ध रूप से खंडन किया था, और मीमांसा-आचार्य उपवर्ष के मत से सहमति व्यक्त की थी कि लोक-व्यवहार को समझाने के लिए श्वर्णश ही पर्याप्त हैं, अतः किसी स्वतंत्र स्फोट की कल्पना का कोई औचित्य नहीं है। यह विभाजन एक दार्शनिक को भाषा और शास्त्रीय विधि-निषेधों का विश्लेषण करते समय अनेकत्व को स्वीकार करने की सुविधा देता है, जबकि मोक्ष के परम सत्य के रूप में अद्वैत को अक्षुण्ण रखता है।

वास्तव में, अद्वैत परंपरा को अपने मोक्षशास्त्र (सोटेरियोलॉजी) की रक्षा के लिए व्यावहारिक स्तर पर भाषा के एक यथार्थवादी, अवयववादी (कंपोजीशनल) मॉडल की परम आवश्यकता है। अद्वैत में मुक्ति का संपूर्ण मार्ग श्रुति-वाक्यों के 'श्रवण' पर आधारित है, विशेषकर उपनिषदों के महावाक्यों जैसे श्तत्त्वमसिश (वह ब्रह्म तुम हो) पर। यदि भाषा एक अविभाज्य, रहस्यमयी स्फोट होती, तो इन महावाक्यों के अवबोध के लिए आवश्यक सटीक वाक्यात्मक (सिंटैक्टिक) और अर्थगत (सिमेंटिक) विश्लेषण करना सर्वथा असंभव हो जाता। 'तत्त्वमसि' के अर्थबोध के लिए, मुमुक्षु को

सर्वप्रथम 'तत्' (पारमार्थिक ब्रह्म) और 'त्वम्' (प्रत्यगात्मा/जीवात्मा) पदों के पृथक वाच्यार्थ को समझना होता है, और तदुपरान्त असंगत अंशों (जैसे ब्रह्मांडीय सर्वज्ञता और सीमित मानवीय अल्पज्ञता) का परित्याग कर उनकी अंतर्निहित एकता को लक्षित करने के लिए 'भागलक्षणा' (जहती-अजहती लक्षणा) के नियमों को लागू करना होता है। यह प्रक्रिया पूर्णत: अवयववादी है और मीमांसा के विश्लेषणात्मक उपकरणों (जैसे वाक्य, प्रकरण आदि) पर आश्रित है। स्फोट का खंडन कर और वर्णवाद की रक्षा करके, वाचस्पति यह सुनिश्चित करते हैं कि अद्वैत-साक्षात्कार का मार्ग व्यावहारिक स्तर पर सुदृढ़, तर्कसंगत और भाषाई विश्लेषण में प्रतिष्ठित रहे।

किसी अदृश्य, मध्यवर्ती स्फोट की आवश्यकता के बिना इस स्मृति-एकीकरण के अचूक तंत्र को स्पष्ट करने के लिए, वाचस्पति सविस्तार प्रतिपादित करते हैं कि कैसे परिमित मन आकांक्षा (म्यूचुअल एक्सपेक्टेंसी), योग्यता (सिमेंटिक कम्पैटिबिलिटी), और सन्निधि (कॉन्टिन्युटी) की मर्यादाओं के अंतर्गत क्रमिक वाणी को स्वाभाविक रूप से एक बोधपरक संपूर्णता में समन्वित करता है। वाचस्पति के प्रख्यात टीकाकार, परमेश्वर द्वितीय (तत्त्वविभावना के रचयिता), उन तीन प्रकार के प्रत्ययों (कॉग्निशन्स) को रेखांकित करते हैं जो स्मृति में पुनरुत्पादन के योग्य होते हैं, अर्थात् : पटु-प्रत्यय (एक स्पष्ट, प्रखर या तीव्र ज्ञान), अभ्यास-प्रत्यय (एक निरंतर दोहराया गया, अभ्यस्त ज्ञान), और आदर-प्रत्यय (एक आदरपूर्ण, अत्यधिक एकाग्र ज्ञान)। ये तीन मार्ग यह सुनिश्चित करते हैं कि क्षणभंगुर वर्णों द्वारा जनित भावना-संस्कार इतने सुदृढ़ हों कि अंतिम ध्वनि के श्रवण-क्षण में श्रोता की बुद्धि द्वारा उन्हें उद्बुद्ध और संश्लेषित किया जा सके, जिससे अंतत: समेकित शाब्द-बोध निष्पन्न होता है।

इसके अतिरिक्त, वाचस्पति अपनी भाषाई सत्तामीमांसा को पूज्य ऋषि उपवर्ष द्वारा प्रतिपादित प्राचीन 'प्रत्यभिज्ञा' (पहचान) सिद्धांत पर आधारित करते हैं, जो वर्णों की स्थिर और नित्य प्रकृति को सिद्ध करता है। उपवर्ष के अनुसार, वर्ण क्षणिक नहीं होते क्योंकि उनके श्रवणकाल में, उन्हें केवल पहले सुने गए वर्णों के सदृश (समान) नहीं समझा जाता, बल्कि उनसे अभिन्न (वही) रूप में प्रत्यभिज्ञात (पहचाना) जाता है। वाचस्पति अपनी 'भामती' टीका में निर्देश करते हैं कि जब हम एक हजार एक बार भी 'गौ' शब्द का उच्चारण करते हैं, तो हमें यह प्रतीति नहीं होती कि प्रत्येक बार उच्चारित शब्द भिन्न है जो पूर्व उच्चारणों से केवल साम्य रखता है; अपितु, हमें यह दृढ़ प्रतीति होती है कि उसी एक नित्य वर्ण-आनुपूर्वी (शब्द-प्रकार) का उच्चारण किया जा रहा है। इसके विपरीत, जब हम एक के बाद एक भौतिक गाय को देखते हैं, तो हम कभी यह नहीं कहते कि द्वितीय पशु वही व्यक्तिगत व्यष्टि है जो प्रथम था। इस प्रकार, जहाँ भौतिक पदार्थ पृथक व्यष्टियाँ (इंडीविजुअल्स) हैं, वहीं भाषाई वर्ण नित्य प्रकार (टाइप्स) हैं। जब विभिन्न वक्ता भिन्न-भिन्न कंठ-ध्वनि, तारत्व (पिच), मंद-तीव्र मात्रा या शैली के साथ किसी शब्द का उच्चारण करते हैं, तो जो तत्व अपरिवर्तित रहता है वह श्रोता द्वारा उसी नित्य वर्ण-आनुपूर्वी प्रकार की अकाट्य प्रत्यभिज्ञा है।

वाचस्पति की यह 'द्विरूपता' (डबल आइडेंटिटी) शास्त्रीय भारतीय दर्शन में पद्धतिगत पृथक्करण (मेथडोलॉजिकल कम्पार्टमेंटलाइजेशन) का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। अनुभव के प्रत्येक स्तर पर एक ही एकत्ववादी मॉडल को बलात् थोपने से इनकार करके, उन्होंने अद्वैत तत्वमीमांसा और मीमांसा भाषाविज्ञान दोनों को अभूतपूर्व रूप से समृद्ध किया। 'तत्त्वबिंदु' आज भी एक युगांतकारी ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित है क्योंकि यह स्फोटवाद के विरुद्ध तर्कों को सुव्यवस्थित करता है, और साथ ही लोक-संचार का एक यथार्थवादी, पद-वाक्य-केंद्रित निरूपण सुरक्षित रखता है। दार्शनिक दृष्टि से देखें तो, वाचस्पति अर्थबोध का एक क्रमिक, सोपानबद्ध आख्यान प्रदान करते हैं, जबकि मंडन मिश्र अंतिम ज्ञान-स्थिति का एक अखंड अनुभूतिपरक विवरण प्रस्तुत करते हैं। यह वैचारिक द्वंद्व आधुनिक भाषाविज्ञान के विभाजनों को भी प्रतिबिंबित करता है : स्फोट सिद्धांत एक दार्शनिक अखंडता (गेस्टाल्ट) या उस 'गहन संरचना' (डीप स्ट्रक्चर) के समरूप है जो वाणी के मूल में स्थित होती है, जबकि मीमांसा का दृष्टिकोण आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन में मान्य अवयवपरक अर्थविज्ञान (कंपोजीशनल सिमेंटिक्स) के सर्वथा अनुकूल है। 'तत्त्वबिंदु' और 'स्फोटसिद्धि' के इस शास्त्रार्थ ने दोनों पक्षों से वैचारिक सूक्ष्मता की मांग करके भारतीय अर्थविज्ञान (सिमेंटिक्स) को पराकाष्ठा पर पहुँचाया, और एक ऐसी समृद्ध दार्शनिक थाती छोड़ी जो समकालीन भाषाविज्ञान और दर्शन में आज भी उतनी ही प्रासंगिक है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
श्री कालभैरवेश्वर स्वामी
आयुर्वेदिक मेडिकल कॉलेज, बेंगलुरु

सन्दर्भ ग्रंथ

- ⋆ भर्तृहरि। वाक्यपदीय। पं. रघुनाथ शर्मा की अंबाकर्त्री टीका सहित संपादित। सरस्वती भवन ग्रंथमाला श्रृंखला, संख्या 91, वाराणसी, 1968.
- ⋆ कुमारिल भट्ट। श्लोकवार्तिक। पार्थसारथिमिश्र की न्यायरत्नाकर टीका सहित द्वारिकादास शास्त्री द्वारा संपादित। तारा पब्लिकेशंस, वाराणसी, 1978.
- ⋆ मंडन मिश्र। स्फोटसिद्धि। एस. के. रामनाथ शास्त्री द्वारा संपादित। मद्रास विश्वविद्यालय संस्कृत श्रृंखला, संख्या 6, 1931.
- ⋆ रुज्सा, फेरेंक। 'वाचस्पति मिश्र'। द एनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी ऑफ रिलिजन में, स्टीवर्ट गोएत्ज और चार्ल्स टालियाफेरो द्वारा संपादित, पृष्ठ 1–4. वायली–ब्लैकवेल, 2021.
- ⋆ शास्त्री, एस. सूर्यनारायण। 'वाचस्पतीज क्रिटिसिज्म ऑफ स्फोटवाद।' द जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, वॉल्यूम 6, पृष्ठ 311–321.
- ⋆ वाचस्पति मिश्र। भामती। ब्रह्मसूत्रभाष्य पर एक टीका। ढुंडिराज शास्त्री द्वारा संपादित। चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस, 1929.
- ⋆ वाचस्पति मिश्र। तत्त्वबिंदु। वी. ए. रामास्वामी शास्त्री द्वारा परमेश्वर द्वितीय की तत्त्वविभावना टीका के साथ संपादित। अन्नामलाई विश्वविद्यालय संस्कृत श्रृंखला, संख्या 3, 1936.

मोहम्मद आजम

नीतिकाव्य परम्परा में रहीम की कविता का महत्त्व

भारत में नीतिकाव्य रचने की परम्परा पुरानी रही है। नीतिकाव्य लिखने का प्रमुख उद्देश्य भारतीय जीवन को अपने कर्तव्य पथ से भटक जाने से रोकना रहा है। प्राचीन काल से ही नीतिकाव्य की समृद्ध परम्परा संस्कृत में प्राकृत (उपदेशमाला) से पहले में (जातकालीन गेय पद) तथा अपभ्रंश (पाहुड दोहा) में थी, जो बाद में हिन्दी में आई है। नीतिकाव्य जीवन के सच्चे और सुलझे अनुभवों पर आधारित होने के कारण यह धारा वर्तमान और भावी समाज की पथ-प्रदर्शक रही है। इस संदर्भ में डॉ. भोलानाथ तिवारी ने नीति की परिभाषा के विषय में लिखा है—''मनुष्य की सर्वोन्मुखी उन्नति की प्रदर्शिका ही नीति है।''[1]

लोक व्यवहार में नीति का महत्व लोकोक्तियों के माध्यम से भली-भाँति समझा जा सकता है। वस्तुतः नीतिकाव्य के क्षेत्र में भारत, विश्व-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

नीति का अर्थ

नीति शब्द 'नी' धातु तथा क्तिनम् प्रत्यय के संयोग से बना भारतीय वाङ्मय में अत्यंत प्राचीनकाल से प्रयुक्त होता आ रहा है। इसे श्रुतियों, स्मृतियों, महाकाव्यों, खंडकाव्यों, मुक्तकों तथा संग्रह-ग्रंथों के विभिन्न प्रयोगों तथा कोशों के आधार पर नीति के अनेक अर्थ हैं जिनका वास्तविक तात्पर्य उस मार्ग से है, जिस पर चलकर हम बिना किसी अन्य प्राणी का अहित किए अपना हित साध सकते हैं।

नीतिकाव्य परम्परा

जिस काव्य का विषय नीति हो अथवा दूसरे शब्दों में जिस काव्य का प्रमुख लक्ष्य नैतिक शिक्षा प्रदान करना हो उसकी संज्ञा नीति है। वास्तव में नीति काव्य उस कविता का बोधक है जिसमें जीवन को सुमुचित मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया जाता है। इसलिए विद्वानों ने इसे 'उपदेशात्मक काव्य' माना है। श्रव्य काव्य तीन भागों में विभक्त है : पद्य, प्रबन्ध, मुक्तक आदि। मुक्तक की उपमेय है : पाठ्य और प्रगीत। नीति की कविताएँ पाठ उपभेद से सम्बंधित है। रहीम, वृंद, गिरधर, दीनदयाल आदि की रचनाएँ मुक्तक पाठ्य की कोटि में आती हैं।

संस्कृत साहित्य में नीतिकाव्य परम्परा

नीति साहित्य की अविरल धारा आदिकाल से संस्कृत साहित्य में विद्यमान थी। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में नीतिकाव्य की दृष्टि से 'महाभारत' सर्वोपरि है, यह भारतीय नीति का प्रतिनिधि विश्वकोश है। संस्कृत साहित्य में जितनी ख्याति तथा काव्यात्मकता भर्तृहरि के तीनों शतकों की है उतनी अन्य किसी की नहीं। अतः भर्तृहरि संस्कृत साहित्य के नीति सम्राट माने जाते हैं। संस्कृत साहित्य से दोहाछन्द में प्राप्त इसी नीति परम्परा को हिन्दी में किसी ना किसी रूप में जीवित रखा गया है।

हिन्दी साहित्य में नीतिकाव्य परम्परा

नीतिकाव्य की हल्की-सी किरण जो आदिकाल के ग्रंथों में दिखाई देती है, उसका सहज विकास भक्तिकाल में हुआ है। इस दिशा में निर्गुण सन्त कवि, दादू, नानक तथा सगुण भक्त कवि तुलसीदास का योगदान स्मरणीय है। भक्तिकाल में कवि रहीम ने नीतिपरक रचनाएं रचकर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। रीतिकाल में नीतिकाव्य का पूर्ण विकास तथा लम्बी परम्परा कायम रही है। गुण एवं परिणाम की दृष्टि से

आलोच्यकाल नीतिकाव्य का श्रेष्ठ काल है। यहाँ यह स्मरणीय है जब हम सभी कवियों में नीति पर मुख्य अथवा गौण रूप में कलम चलायी। नीतिकाव्य की संख्या 32 के लगभग जान पड़ती है। इनमें से मुख्य नीति कवि वृन्द, गिरधर, दीनदयाल आदि सुविख्यात हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि रीतिकालीन नीति काव्य रचने जाने वाले कवियों तक सीमित है, जहाँ प्रधान श्रृंगारी कवि बिहारी तथा आचार्य कवियों के मूल काव्य में कुछ मात्रा में नीति सूक्तियां उपलब्ध होती है। उसमें केशव, मतिराम, देव, रसनीधि का योगदान स्मरणीय है।

नीतिकाव्य परम्परा और रहीम की कविता

रहीम उस युग के कवि है जो राजनीतिक दृष्टि से मुगल गौरव का तथा साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी का 'स्वर्ण युग' था। उन्होंने सन 1556 से 1627 ई॰ तक के 59 वर्षों दीर्घजीवन में हिन्दी के महानतम कवियों से भेंट, मित्रता तथा आश्रय देने का सौभाग्य प्राप्त किया था। निजी दरबार के कवियों के अतिरिक्त सूर, तुलसी, नन्ददास, रसखान, आलम, जमाल, होलाराय, नरहरि, केशव, गंग, बिहारी, मतिराम आदि सभी कवियों के काल में रहीम विद्यमान थे। इनके अधिकांश में से किसी कवि से उनकी मित्रता, किसी से परिचय और निकट सम्बन्ध भी रहा था।

रहीम ने अपने जीवन में न केवल राज्य तथा राजाओं का उदयास्त देखा वरन् साहित्यिक युगों की उत्पत्ति तथा प्रलय भी देखी थी। सूर काल तथा तुलसी काल के सुप्रसिद्ध लध्वानत ही नहीं साहित्य के पूर्ण युग परिवर्तन भी उनके जीवनकाल में ही हुए। सूरसागर और मानस के भक्तिभाव भरे छन्द भी उनके कान में पड़ चुके थे। अत: एक ओर भक्ति युग का यौवन रहीम के जीवनकाल में व्यतीत हुआ था, तो दूसरी ओर रीतियुग का शैशव साहित्य के इतने अधिक उतार-चढ़ावों को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। रहीम मानवीय दृष्टि के कवि थे। इस संदर्भ में डॉ॰ सत्यप्रकाश मिश्र ने रहीम रचनावली की भूमिका में कहा है—

''रहीम उस मध्ययुगीन सहज मानवीय दृष्टि के रचनाकार थे जो हिन्दू और मुसलमानों को इस महानदेश का नागरिक मानकर देवी-देवताओं के नामों और रूपों के भेदात्मक दृष्टि में एकत्व की खोज करने की विकसित हो रही थी।''[2]

भक्तिकालीन काव्य से आगे बढ़कर यदि हम रीतिकालीन कविता की बात करें तो हमें रहीम और उनकी कविता का महत्व समझ सकते हैं, कि रीतिकाल में पल्लवित, पुष्पित एवं फलित रीतिबद्ध (नायिका भेद) तथा रीति-मुक्त (नगर शोभा) आदि काव्य के बीज भी मूल रूप से कान्तिदर्शी रहीम के द्वारा ही बोए गए थे। इसके अतिरिक्त वे हिन्दी की कई साहित्य रुढियों के संस्थापक, उन्नायक तथा उद्धारक भी थे। सतसई परम्परा नायिका भेद, नीति के दोहे क्रमश: इसके उदाहरण हैं। श्रृंगार कवियों में मतिराम, बिहारी, रसनीधि आदि कवियों द्वारा उनकी कविता का अनुकरण इस बात का प्रमाण है, जैसे

''कहा करौं वैकुण्ठ लै, कल्पवृक्ष की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावनो, जो प्रीतम गल बाँह।''[3]

(रहीम)

इस दोहे का बिहारी ने इस प्रकार अनुकरण किया है—

''जो न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन।
जौ लहिये संग सजन तौ, धरक नरक हूँ कीन॥''[4]

(बिहारी)

इस दोहे में रहीम उस वैकुण्ठ तथा कल्पवृक्ष को भी प्रेम नहीं करना चाहते जहाँ प्रिय उपलब्ध न हो। वहीं बिहारी प्रियतम के साथ बेधड़क नरक में प्रवेश करना उत्तम समझते हैं और प्रिय-वियुक्त मुक्ति के मुंह पर धूरि फेंकते हैं।

इसी तरह रसनीधि भी रहीम की सी भावात्मक, सरलता उनका अनुकरण करके भी अपने दोहे में नहीं ला पाते हैं। उदाहरण—

रहिमन या सुख होत है, बढ़त देख निज गोत।
ज्यों बडरी अँखियाँ निरख, आँखिन को सुख होत॥[5]

(रहीम)

बढ़त आपुने गोत के, और सबै अनखाय।
सुदृद-नैन नैना बड़े, देखत हृदय सिहाय॥[6]

(रसनीधि)

इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—''उनकी उक्तियाँ इतनी लुभावनी हैं कि बिहारी आदि परवर्ती कवि भी बहुतों के अपहरण करने का लोभ न रोक सके।''[7]

नीति का क्षेत्र तो रहीम का अपना था। आगे चलकर वृन्द तथा गिरधरदास ने जो विपुल नीति काव्य निर्मित किया उसके आधार भी रहीम के नीतिपरक दोहे ही हैं। जैसे—

रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन्ह।
ऊपर से तो दिल मिला, भीतर फाँके तीन॥[8]

(रहीम)

रहीम के दोहों का अनुकरण करते हुए वृन्द वह विदग्धता

नहीं ला सकते हैं जो रहीम के दोहों में है जैसे–

'ऊपर दर से सुमिल सी, अन्तर अनमिल झाँक।'
'कपटिजन की प्रीति है, खीरा की सी फाँक॥'[9]

(वृन्द)

वृन्द के दोहों में वो बात नहीं जो सहजता सरलता कवि रहीम के दोहों में है। इसी प्रकार कहीं-कहीं रहीम के भावों की छाप नीतिकवि गिरधर पर भी दिखाई देती है–

जो पुरुषार्थ ते कहूँ, संपति मिलत रहीम।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम ॥[10]

(रहीम)

इसी भाव पर गिरधर की कुण्डली देखिए–

साईं अवसर के पड़े, कौन सरे दुख द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर, वे राजा हरिचन्द।
कह गिरधर कविराय, तपे वर भीम रसोई।
को न करे घटि काज, परे अवसर के सोई॥[11]

(गिरधर)

यह स्पष्ट है कि रहीम हिन्दी नीति काव्य के प्रेरणा स्रोत ही नहीं वरन् अद्वितीय आदर्श भी हैं। उनके नीति परक दोहे इतने सहज, सरल हैं कि आज भी जनता के मुह पर चढ़े रहते हैं। रहीम के दोहों के विषय में डॉ. शिवकुमार मिश्र ने कहा है–''नीतिपरक दोहे भी इनके कवि हृदय से मिलकर सरस हो उठे हैं।''[12]

वैसे तो हिन्दी में संत कवियों की प्रेरणा से नीतिकाव्य प्रणयन की शुरुआत हुई है और उनका श्रेय भी (कबीर, नानक, दादू) आदि कवियों को मिलना चाहिए। क्योंकि संत कवियों ने नीति के दोहों की स्वतंत्र रचना रहीम से पहले ही की थी, किन्तु संतों तथा रहीम के नीतिकाव्य में मौलिक अंतर भावना का है। संतों का स्वर उपदेश और भक्ति है, नीति नहीं, जबकि रहीम की कविता का उद्देश्य ही नीति काव्य का सृजन था। उदाहरण के लिए रहीम अकबर दरबार के कवि थे पर दरबार की प्रवृत्तियों, सीमाओं और मानसिकताओं से वह काफी दूर थे। क्योंकि उनकी कविता में दरबार के रत्न होने के बाद भी गरीब और गरीबों के प्रति सहानुभूति दिखाई देती है–

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखे न कोय।
जो रहीम दीनहि लखे, दीन बन्धु सम होय॥[13]

(रहीम)

रहीम चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं–

समय दसा कूल देखि के, सबे करत सममान।
रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान॥[14]

(रहीम)

याद कीजिए मध्यकाल में गरीब और गरीबों की चिन्ता करने वाले दूसरे महाकवि हैं – तुलसीदास और कबीरदास। पर वह भी मजबूर होकर दीनानाथ को पुकार रहे हैं। यही बात रहीम की कविता और उनके महत्व को बढ़ाती है। रहीम के महत्व पर प्रकाश डालते हुए प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने कहा है कि–''रहीम अकबरी दरबार के एक रत्न थे लेकिन उनकी कविता में ऐसा बहुत कुछ है जो दरबारीपन से एकदम मुक्त है।''[15]

अत: स्पष्ट है कि कबीर अथवा अन्य संत कवि रहीम की भाँति केवल नीति कवि नहीं थे।

निष्कर्ष

कुल मिलाकर कहा जाये तो रहीम नीतिकाव्य परम्परा के संस्थापक थे। उनकी नीतिपरक कविता का महत्व यह था कि वह सहज, सरल और लोकजीवन के भीतर की कविता है। इसलिए तो उनके बाद के कवि वृन्द, बिहारी, गिरधर इत्यादि ने उनकी कविता का अनुकरण किया था। इसलिए उनकी लोकप्रियता की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है–''जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा।''[16]

यही बात रहीम की कविता में मौजूद है।

पीएचडी शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल ajamsiddiqui4103@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. भोलानाथ तिवारी : नीति, पृ. 5
2. डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र : रहीम रचनावली की भूमिका से उद्धृत, पृ. 37
3. सं. मायाशंकर याज्ञिक : रहीम रत्नावली, पृ. 128
4. सं. जगन्नाथ दास रत्नाकर : बिहारी रत्नाकर, पृ. 75
5. सं. मायाशंकर याज्ञिक : रहीम रत्नावली, पृ. 220
6. डॉ. श्यामसुन्दरदास : सतसई सप्तक, पृ. 23
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 206

8. सं. मायाशंकर याज्ञिक : रहीम रत्नावली, पृ. 207
9. डॉ. श्यामसुन्दरदास : सतसई सप्तक, पृ. 323
10. सं. मायाशंकर याज्ञिक : रहीम रत्नावली, पृ. 51
11. काव्य कौमुदी, पृ. 466
12. डॉ. शिव कुमार मिश्र : हिन्दी साहित्य : संक्षिप्त इतिहास, पृ. 54
13. सं. डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र : रहीम रचनावली, पृ. 50
14. प्रो. मैनेजर पाण्डेय : हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, पृ. 47

आधार ग्रन्थ

1. रहीम रचनावली रू संद्द सत्यप्रकाश मिश्र
2. रहीम का नीतिकाव्य रू डश्वद्द बालकृष्ण अकींचन
3. रहीम रू डश्वद्द विजयेन्द्र स्नातक
4. रहीम ग्रंथावली द्धसंद्दऋ डश्वद्द विद्यानीवास मिश्र
5. वृन्द – नीति सतसई समाज और संस्कृति रू डश्वद्द उमेश कुमार सिंह
6. हिन्दी में नीति काव्य का विकास रू डश्वद्द रामसरूप शास्त्री 'रसिकेश

प्रवासी हिंदी साहित्य : एक संक्षिप्त परिचय

आसिफ खान

प्रवासी हिन्दी साहित्य भारतीय साहित्य का वह सृजनात्मक क्षेत्र है, जो भौगोलिक सीमाओं से बाहर रहने वाले भारतीय लेखकों और विशेषकर लेखिकाओं के अनुभवों, सांस्कृतिक द्वंद्वों, पहचान की तलाश और स्त्री अस्मिता के प्रश्नों को साहित्यिक स्वर देता है। स्त्री लेखन की यह शाखा केवल अनुभव का विस्तार नहीं है, बल्कि यह आत्मान्वेषण, सांस्कृतिक पुनर्रचना और भाषायी स्वाधीनता का साहित्यिक बयान भी है। इस शोधपत्र में नीना पॉल, हंसा दीप, दिव्या माथुर, स्नेह ठाकुर, सुधा ओम ढींगरा, अर्चना पैन्यूली, और इला प्रसाद जैसी सात प्रमुख प्रवासी महिला साहित्यकारों के साहित्यिक योगदान की चर्चा की गई है।

इन लेखिकाओं की रचनाओं में आत्मकथात्मकता, सांस्कृतिक प्रतीक, द्वैध पहचान, भाषा और स्मृति के प्रश्न, और स्त्रीवादी दृष्टिकोण प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। ये साहित्यकार अपने लेखन में न केवल अपनी भूमि से जुड़ाव बनाए रखती हैं, बल्कि वह एक नए समाज में अपनी पहचान बनाने की प्रक्रिया को भी रेखांकित करती हैं। प्रवासी महिला लेखन में भाषा भी एक विशेष कारक है –''अंग्रेजी भाषी देशों में रहते हुए हिन्दी में सृजन करना, हिन्दी को जीवित रखना और नई पीढ़ी को उससे जोड़ना एक प्रकार का सांस्कृतिक प्रतिरोध भी है।''[1]

प्रवासी जीवन की चुनौतियाँ केवल सांस्कृतिक या सामाजिक स्तर पर नहीं होतीं, बल्कि वे व्यक्ति की आत्मिक संरचना और लैंगिक पहचान को भी प्रभावित करती हैं। प्रवासी महिला साहित्यकार इन अनुभवों को एक संवेदनशील दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती हैं, जिसमें स्त्री चेतना, भाषायी संघर्ष, सांस्कृतिक संक्रमण और स्मृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्त्रियाँ न केवल संस्कृति की वाहक हैं, बल्कि वे नई संस्कृति के साथ संवाद करने की भूमिका भी निभाती हैं।

भारत का विश्व से संपर्क प्राचीन काल से ही रहा है। व्यापार से लेकर धार्मिक सांस्कृतिक प्रसार तक भारत और विश्व के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया भी चलती रही है। ''मिस्र जैसी प्राचीन सभ्यता के साथ भी संपर्क के कई प्रमाण मिलते हैं। सम्राट अशोक के शासनकाल में बौद्ध धर्म के वैश्विक प्रसार और विभिन्न देशों में उसकी स्थापना इसी संपर्क का परिणाम रही है। स्थानांतरण की इस प्रक्रिया में कई भारतीय न केवल विदेश गए बल्कि उनमें से कई वहीं बस गए। विदेशों का यह प्रवास और वहां पर बसना यह एक स्वतंत्र प्रक्रिया थी। कालांतर में वैश्विक स्तर पर कुछ राष्ट्रों द्वारा अन्य देशों पर अधिकार कर उन्हें उपनिवेश बनाने का खेल शुरू हुआ। इस प्रक्रिया के तहत भारत को भी उपनिवेश बनाने की कोशिश की गई जिसमें फ्रेंच, डच, ब्रिटिश आदि कंपनियों ने अपने सभी पैंतरे आजमाए।''[2]

अन्ततः अंग्रेजों को इसमें सफलता मिली। औपनिवेशीकरण की इस प्रक्रिया के अंतर्गत न केवल आर्थिक शोषण होता था बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक अपहरण की भी बाकायदा रणनीति तैयार की जाती थी। ऐसी ही रणनीति के तहत भोले भाले किसानों को बहला फुसलाकर मॉरिसस, फिजी, गयाना, त्रिनिदाद और टोबैगो आदि देशों में मजदूरी के लिए ले जाया गया। 'इंडिया इंडेनचर्ड लेबर सिस्टम' अर्थात् शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत एक परमिट को क्षेत्रीय भाषा में गिरगिट कहके पुकारा जाने लगा और बाद में यही मजदूर

गिरमिटिया मजदूर कहलाए। इस प्रकार से हजारों की तादाद में गिरमिटिया मजदूरों को मद्रास और कोलकाता के बंदरगाहों से भेड़-बकरियों की तरह ठूंस कर एक अनजान जमीन पर पहुंचा दिया गया। इस नई धरती पर न ही लोग अपने थे और न ही वहां की प्रकृति। स्वजनों से बिछड़ने की पीड़ा गुलामी की ठोकरों के बीच सिर्फ अपनी मिट्टी की यादें और उनमें बसे संस्कार ही रह गए थे।

यह भारतीय अपने साथ बहुत कुछ तो नहीं ले जा सके थे फिर भी उनके हाथों में तुलसीदास की रामचरितमानस, हनुमान चालीसा और रामायण जैसे धार्मिक ग्रंथ जरूर थे। इन्हीं ग्रंथों की छाया में उन्होंने अपने अस्तित्व और संस्कृति को जिलाए रखा। यह ग्रंथ ही गोरे मालिकों की क्रूरता, बर्बरता और अत्याचार सहने की शक्ति देते थे। दिन भर के अमानवीय श्रम के बाद एक-दूसरे को सहनशक्ति और एक-दूसरे के साथ आत्मीयता बनाए रखने का आधार उनके यही सांस्कृतिक ग्रंथ थे। उन्होंने इस अपार कष्टों और यातनाओं को अपनी सांस्कृतिक भाषा में पिरोते हुए गीतों, कविताओं, कहानियों और उपन्यासों के जरिए उसे दर्ज किया है।

प्रवासी हिंदी साहित्य में कहानी की तुलना में उपन्यास कम लोकप्रिय विधा रही है। इसका कारण स्पष्ट है कि उपन्यास का फलक कहानी के तुलना में अत्यंत विस्तृत होता है। जीवन के किसी एक या एक से अधिक पहलुओं को समग्रता से प्रदर्शित करने की क्षमता केवल उपन्यास में ही है। इसलिए उपन्यासकार को उपन्यास लेखन के लिए समय के साथ साथ विषय की समझ, संयम, एकाग्रता इन सभी गुणों से लैस होना अत्यंत आवश्यक है। प्रवासी हिंदी उपन्यास पर अगर निगाह डालें तो इसका विकास प्रवासी कहानी के बहुत बाद में हुआ है। गिरमिटिया देशों में जो साहित्य रचा जा रहा था वहां उपन्यास विधा बहुत देर से अस्तित्व में आई। कमल किशोर गोयनका ने मॉरीशस का प्रथम उपन्यास 'पहला कदम' 1960 में प्रकाशित हुआ जिसके रचियता कृष्ण लाल बिहारी थे। मॉरीशस की प्रसिद्ध हस्तलिखित पत्रिका 'दुर्गा' जिससे अधिकतर गद्य विधाओं की शुरुआत हुई, सीमित पृष्ठों के कारण उपन्यास विधा को कभी प्रकाशित नहीं कर पाई, मॉरीशस में उपन्यास के विकास में अगर किसी का नाम लिया जा सकता है तो केवल अभिमन्यु अनत का। हालांकि अभिमन्यु अनत ने केवल उपन्यास विधा को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण प्रवासी हिंदी साहित्य को विश्व में एक अलग पहचान दिलाई है, इसलिए मॉरीशस के हिंदी साहित्य को 'अभिमन्यु अनत युग' से उद्‌बोधित भी किया जाता है लेकिन प्रवासी हिंदी उपन्यास साहित्य में भी अभिमन्यु अनत का योगदान कम नहीं है।

प्रवासी हिंदी उपन्यास के इतिहास में अकेले अभिमन्यु अनत ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने कुल 30 से अधिक उपन्यासों के रचना की है। चौथा प्राणी, लाल पसीना, अपनी अपनी सीमा, हम प्रवासी, आदि जिनमें मॉरीशस की धरती पर भारतीय गिरमिटिया मजदूरों के साथ हुए अत्याचारों के इतिहास को विभिन्न संदर्भों का सहारा लेकर लिपिबद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त वहां रह रहे भारतवंशियों का अपनी मातृभूमि और अपने पूर्वजों की मातृभूमि के नजरिए को रामदेव धुरंधर वर्तमान परिस्थितियों के आईने में बड़ी गहराई से चित्रित करते हैं। मॉरीशस के अन्य उपन्यासकारों में दीप चांद बिहारी, विष्णुदत्त मधु, दानिश्वर शाम आदि उपन्यासकार भी शामिल हैं लेकिन अभिमन्यु अनत जैसे गंभीरता और निरंतरता इनके उपन्यासों में नहीं है।

गिरमिटिया देशों में फिजी का नाम मॉरीशस के बाद दूसरे स्थान पर आता है लेकिन वहां हिंदी साहित्य का विकास उस रूप में नहीं हुआ जैसे मॉरीशस में हुआ है। फिजी के उपन्यासकारों में जोगिंद्र सिंह 'कंवल' का नाम विशेष तौर पर लिया जाता है जिनके चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। करवट, सबरा, धरती मेरी माता, सात समंदर पार इसके अतिरिक्त डॉ. सुब्रमणी के डउका पुराण एवं फिजी मां भी प्रवासी हिंदी उपन्यास में महत्वपूर्ण अवदान माने जा सकते हैं।

गिरमिटिया देशों में सूरीनाम का भी अपना एक अलग स्थान है। सूरीनाम के भारतवंशी हिंदू संस्कृति के प्रति बेहद सजग और जागरूक माने जाते हैं। इसका चित्रण पुष्पिता अवस्थी के उपन्यास छिन्नमूल में भी किया गया है, जो सूरीनाम के भरतवंशियों की संघर्ष गाथा का यथार्थ दस्तावेज है। गिरमिटिया देशों के अलावा विश्व के अन्य महाद्वीपों, अमेरिका, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया, यूरोप में हिंदी का प्रचार-प्रसार काफी बढ़ा है। अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया में भी हिंदी लिखने वालों की संख्या अब नजर में आने लगी है लेकिन हिंदी के प्रति जितना प्रेम अमेरिका और ब्रिटेन में मिलता है उतना और कहीं नहीं।

मॉरीशस के बाद अगर सबसे ज्यादा कहीं उपन्यास लिखे गए हैं तो अमेरिका में। अमेरिका और ब्रिटेन में स्त्रियां लेखन क्षेत्र में अधिक सक्रिय दिखाई पड़ती हैं। उपन्यास जैसी विधा

में भी स्त्रियों का दबदबा साफ परिलक्षित होता है। हंसादीप, दिव्या माथुर, इला प्रसाद, अर्चना पैन्यूली आदि एक नाम प्रमुख रूप से 2016 के बाद लगातार चर्चा में बना हुआ है वह है सुधा ओम ढींगरा जी का। नक्काशीदार कैबिनेट उनका पहला उपन्यास आया जिसका विषय नारी संघर्ष था, भारत के लेखकों में नारी संघर्ष विषय कोई नई बात नहीं है लेकिन प्रवासी लेखक द्वारा ऐसी संघर्ष भरी गाथा लिखना नया और अनोखा अनुभव लगता है लेकिन शैली में या भाषा में कहीं आप कमी नहीं पाओगे, सुधा जी का स्वयं कहतीं हैं-''उपन्यास लिखना एक चुनौती है। उपन्यास लिखने के लिए बेहद प्रतिबद्धता, अनुशासन की जरूरत होती है। जरूरी नहीं हर एक कहानीकार उपन्यास लिखता है या लिख सकता है। कई कहानीकारों ने एक भी उपन्यास नहीं लिखा और कई हैं जिन्होंने कहानियां कम और उपन्यास अधिक लिखे हैं, हालांकि उपन्यास में हम वृहत स्तर पर अपनी बात कह सकते हैं, कई कहानियां तथा उनमें छिपे किस्से साथ-साथ बता सकते हैं। लेकिन उपन्यास जिस एकाग्रता और समय की मांग करता है, वह सब नहीं कर सकते या करना नहीं चाहते। हर लेखक का अपना 'कंफर्ट जोन' होता है। कई कहानियां लिखने में महारत हासिल कर लेते हैं और वे उसी 'कंफर्ट' में रहना चाहते हैं, और कई उपन्यास लिखने में।''[3]

सुधा जी के उपन्यास की समीक्षा कई मंचों और पत्र पत्रिकाओं में हुई नए-नए तरीकों से बात हुई और इनके उपन्यासों को न सिर्फ प्रवासी साहित्य में बल्कि भारत के लोगों ने भी खूब सराहा, आलोचना, टिप्पणी, समीक्षाएं की एक समीक्षक ने कहा-''सुधा ओम ढींगरा का अमेरिका में रहते हुए अपने देश भारत और प्रांत (पंजाब) से गहराई से जुड़े रहना इस बात को सिद्ध करता है, कि उनके भीतर भारत की मिट्टी की महक उसके दर्द, पीड़ा और संवेदनाएं जिंदा हैं। उनका उपन्यास 'नक्काशीदार केबिनेट' मूल रूप में पंजाब प्रांत के एक परिवार और उसके साथ परिवेश के बनते-बिगड़ते रिश्तों की कथा है, जिसमें नारी संघर्ष बड़े प्रभावशाली रूप में उभरा है। नारी संघर्ष में सोनल और मीनल की कहानी बड़े मर्मस्पर्शी रूप में उपन्यास के पृष्ठों पर रूपायित है। इस संघर्ष में सोनल जैसी लड़की का साहस और धैर्य पाठक के हृदय को छू लेता है। इसके साथ ही पंजाब से विदेश की ओर आकर्षण जाल में फंसी नारियों के विवाह के चक्रव्यूह को उपन्यासकार ने बड़ी सच्चाई से उतारा है। ऐसी संवेदनाएं विदेशी हो जाने के बाद, प्रवासी कहलाने के बाद इस तरह को संवेदनाएं आपको सुधा जी के उपन्यास में ही देखने को मिल सकती हैं।''[4]

नशाखोरी, आतंकवाद और खालिस्तान जैसी समस्याओं में, संवेदनाओं के मध्य गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविंद सिंह जैसे महान गुरुओं के हिंदू धर्म की रक्षा के लिए बलिदान की कहानी रोचक ढंग से लेखिका ने सुनाई है। उपन्यास में डॉ. संपदा और सार्थक पति-पत्नी हैं। अमेरिका में 'हरीकेन' और 'टॉरनेडो' तूफान पूरी शक्ति के साथ उनके प्रांत में आ जाते हैं, जिसके कारण बारिश और चक्रवात उनके निवास के स्थान पर जबरदस्त क्षति पहुंचाते हैं। उनके घर में पानी घुस आता है और पेड़ टूट कर उनका घर तोड़ देते हैं। इसी प्रकार जहां अनेक नुकसान होते हैं। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है-''वहीं नक्काशीदार केबिनेट रोज वुड से बना हुआ (मध्ययुगीन कला का सुंदर नमूना) क्षतिग्रस्त हो जाता है। वह पानी में औंधा पड़ा होता है। उसमें वर्षों की यादें थीं। इसमें एक काले रंग वाली डायरी भी थी जिसे फुर्सत में लेखिका पढ़ती जाती है और स्मृतियों में बसी कहानी डायरी शैली में उपन्यास पर उतरती जाती है। कहानी वर्तमान से अतीत की ओर, फिर अतीत से वर्तमान में आ जाती है। यह सब लिखा गया और एक प्रवासी हिंदी लेखक ने इसे लिखा आप इनको पढ़कर समझ सकते हैं की इनके भीतर कितना मोह भारत के लिए है।''[5]

इसी तरह से कोरोना काल की त्रासदी के ऊपर एक उपन्यास सुधा ओम ढींगरा जी का 2021 में आया जिसका नाम, दृश्य से अदृश्य तक का सफर जब मैं ये उपन्यास पढ़ रहा था तो मेरी आंखों के सामने वह कोरोना काल का दृश्य चलने लगा, भावुक हो गया और पाठक होने के नाते मुझे बहुत लगाव हुआ सुधा जी के उपन्यास से और इनकी रचना शैली से सुधा जी ने बिंब बनाने का जो प्रयास किया वह बहुत साफ-साफ पढ़कर महसूस किया जा सकता है-'जानवर सीमित क्षमताओं के साथ पैदा होता है और उसकी हर जरूरत के लिए प्रकृति पर निर्भर होता है, किन्तु उसके पास किसी प्राकृतिक विपदा को भांपने की अनूठी क्षमता होती है, उस विपदा के आने से पहले वह जान बचाकर भाग खड़ा होता है और अगर नहीं भाग पाता है तो खुद को हालातों के हवाले सुपुर्द कर देता है। रिश्तों के मायने भी जानवरों के लिए मनुष्य से अलग होते हैं।' आप सोच रहे होंगे की भारतीय लेखकों को भाषा और उनकी शैली में यह किसने लिख दिया तो उपरोक्त सभी पंक्तियां सुधा जी के उपन्यास से ही हैं। उनकी लेखनी में यही गुण है

कि वे उस रेंज की लेखक हैं जिसे समझने के लिए आपको जरूरी है उनके उपन्यासों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि- ''कई तरह के पुरस्कारों से सम्मानित सुधा जी वास्तव में हृदय से बहुत ही भावुक, संवेदनशील और जीवन को प्रभावित करने वाले ढंग से जीने वाली लेखिका हैं।''[7]

निश्चित तौर पर कहा जा सकता है प्रवासी हिंदी साहित्य में वर्तमान और भविष्य में सुधा जी का नाम बड़े फलक के लेखक के रूप में किया जाएगा, सुधा जी का स्थान निश्चित तौर पर प्रमुख और अद्वितीय है प्रवासी जगत के लोगों में उनके लेखन पर बहुत सकारात्मक चर्चाएं सुनने को मिलती हैं। भविष्य के लिए पाठकों को सलाह है प्रवासी साहित्य में बहुत अलग, अनोखे, और एक परिपाटी से चलते हुए विषयों से नए विषय बनाने को शैली और सृजनात्मकता बची है।

शोधार्थी
साहित्य अध्ययन पीठ (हिंदी)
डॉ. बी.आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली
कश्मीरी गेट परिसर, दिल्ली-110006
ईमेल : asifkhan59900@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य, विमलेश कांति वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 29
2. प्रवासी हिंदी साहित्य (स्वरूप और अवधारणा), डॉ. दत्ता कोल्हारे, भावना प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 65
3. नक्काशीदार कैबिनेट, सुधा ओम ढींगरा, पृ. 42
4. दृश्य से अदृश्य तक का सफर, सुधा ओम ढींगरा, पृ. 36
5. हिंदी का प्रवासी साहित्य, डॉ. कमल किशोर गोयनका, अमित प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 121
6. प्रवासी साहित्यकार हंसादीप का उपन्यास साहित्य, संपादक : डॉ. दीपक पांडे एवं डॉ. नूतन पाण्डेय, सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ. 125
7. प्रवासी महिला उपन्यासकार, संपादक : डॉ. एम. फिरोज खान, विकास प्रकाशन कानपुर, पृ. 8

ननद-भउजाई में अभिव्यक्त स्त्री के मर्म

प्रो. (डॉ.) राम किशोर यादव

शोध-सार :

'ननद-भउजाई' भिखारी ठाकुर द्वारा रचित नाटक है। इस नाटक में भिखारी ठाकुर ने स्त्री की आंतरिक मन:स्थिति का चित्रण किया है। ननद-भउजाई के संबंध मधुर और कटु दोनों होते हैं। इस नाटक में ननद अपने भाभी से अपनी युवापन की स्थिति का वर्णन करती है। इस नाटक में अखजो ननद के रूप में चित्रित है। 'भउजाई' के रूप में अखजो के बड़े भाई की पत्नी का वर्णन है। अखजो का विवाह झंझटपुर गांव में होता है। उसके पति का नाम चेथरू है। इसके साथ ही गौण पात्रों के रूप में समाजी एवं कुली का वर्णन किया गया है।

भिखारी ठाकुर ने लोक की पूरी तस्वीर पेश की है। इस लोक में निहित परम्पराएं, मान्यताएं, विविधताएं, व्यावहारिकताएं एवं सामाजिक निर्माण का विशद विवरण मिलता है। बाल्यावस्था में विवाह कर दिया जाता है। उसके बाद गौना कराने का रीति रिवाज है।

ननद-भउजाई नाटक को अगर देखें तो इसमें एक ऐसी स्त्री का वर्णन है जिसका विवाह तो बचपन अवस्था में ही हो गया है। उसका गौना नहीं हुआ है। अखजो अपनी स्थिति को भाभी के समक्ष रखती है। वह कहती है कि मेरा गौना कराकर ससुराल भेज दीजिए। भाभी समझाती है कि जितना प्यार तुम्हें मैके में मिला है उतना प्यार ससुराल में नहीं मिलेगा। यही मेरी आशंका है। फूल सी कोमल बच्ची ससुराल में कैसे रहेगी? ननद और भाभी के संवाद जीवन्त है। इसमें भावात्मकता है। उनके भीतर व्याप्त भावों को दिखाने का प्रयास किया गया है। गौना न होने से अखजो बहुत दुखी है। वह भाभी से कहती है कि अब मैं जवान हो गई हूं। मुझे ससुराल भेजन का प्रबंध करें। भाभी समझाती है। इसमें स्त्री की स्थिति स्वत: स्पष्ट हो जाती है। अखजो बार-बार निवेदन करती है कि उसकी सारी सहेलियां अपनी-अपनी ससुराल चली गई हैं। अब गांव में उसका मन नहीं लगता है। गांव के लड़के उसे लालच देते हैं। वह अपना सतीत्व बचाने का प्रयास कर रही है। वह कहती है कि अब वह अपने पति परमेश्वर के साथ रहना चाहती है। अगर आप मुझे ससुराल नहीं भेजेंगी तो मैं जोगिनी बन जाऊंगी। यहां भिखारी ठाकुर ने लोक में प्रचलित परम्परा के द्वारा स्त्री की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया है।

'ननद-भउजाई' भिखारी ठाकुर द्वारा रचित नाटक है। इस नाटक में भिखारी ठाकुर ने स्त्री की आंतरिक मन:स्थिति का चित्रण किया है। ननद-भउजाई के संबंध मधुर और कटु दोनों होते हैं। इस नाटक में ननद अपने भाभी से अपनी युवापन की स्थिति का वर्णन करती है। इस नाटक में अखजो ननद के रूप में चित्रित है। 'भउजाई' के रूप में अखजो के बड़े भाई की पत्नी का वर्णन है। अखजो का विवाह झंझटपुर गांव में होता है। उसके पति का नाम चेथरू है। इसके साथ ही गौण पात्रों के रूप में समाजी एवं कुली का वर्णन किया गया है।

भिखारी ठाकुर ने लोक की पूरी तस्वीर पेश की है। इस लोक में निहित परम्पराएं, मान्यताएं, विविधताएं, व्यावहारिकताएं एवं सामाजिक निर्माण का विशद विवरण मिलता है। बाल्यावस्था में विवाह कर दिया जाता है। उसके बाद गौना कराने का रीति रिवाज है। इसमें गांव का, लोकानुशासन विद्यमान है। डॉ. तैयब हुसैन 'पीड़ित' ने 'भिखारी ठाकुर' नामक रचना में लिखा है, ''बाल्यावस्था और किशोरावस्था में विवाह, फिर द्विरागमन

– यह तब के गांवों का लोकानुशासन, परम्पराबद्धता और रूढ़िवादिता थी।''[1]

भिखारी ठाकुर ने लोक साहित्य में लोक नाटक को जीवन्त बना दिया है। इसमें स्त्री की पीड़ा का चित्रण गीतों के माध्यम से किया गया है। वे सहज स्त्रियां हैं जो सामान्य जीवन जी रही हैं। उनकी अपनी व्यथा-कथा है। वे अपने सखियों से बात करती हैं। गीत गाती हैं। विलाप करती है। इसकी मुखर अभिव्यक्ति भिखारी ठाकुर के यहां मिलता है। डॉ. तैयब हुसैन 'पीड़ित' के अनुसार, ''भिखारी को जिन कुछ कारकों ने उन्हें लोककलाओं का ठाकुर बनाया उनमें उनकी आस्तिकता और आध्यात्मिकता का अवदान भी एक था। जैसे सूर, कबीर और तुलसी की काव्य सर्जना उनकी भक्ति का परिणाम मानी जाती है, ईश्वर प्राप्ति अथवा आत्म मुक्ति का साधन स्वयं साध्य नहीं, वैसे ही भिखारी की तमाम कृतियों के पीछे भी यह दृष्टिगत होती है।''[2]

भिखारी ठाकुर ने लोक की समस्याओं पर नाटक लिखकर लोक का कल्याण किया है। सामाजिक जीवन में सुधार लाने का संदेश दिया है। स्त्री की वास्तविक स्थिति को उजागर किया है। कोई भी रचनाकार अपने परिवेश से अलग नहीं रह सकता है। भिखारी ठाकुर भी इससे अछूते नहीं हैं। डॉ. तैयाब हुसैन 'पीड़ित' के शब्दों में, ''कोई भी सर्जक जिस देशकाल में सृजन कार्य करता है, उसके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश का प्रभाव उस पर निश्चित रूप से पड़ता है। ये प्रभाव विभिन्न परम्पराओं, जनमानस के विचारों एवं रचनाकार की कल्पनाओं से ही साहित्य या कला के क्षेत्र में न्यूनाधिक मात्रा में रूपायित होते हैं। फिर जब सर्जक अपने परिवेश में अपनी योग्यता, क्षमता तथा शिल्प के कारण अपनी पहचान बना लेता है, तब वह ऐतिहासिक महत्व ग्रहण करता है।''[3]

ननद-भउजाई नाटक को अगर देखें तो इसमें एक ऐसी स्त्री का वर्णन है जिसका विवाह तो बचपन अवस्था में ही हो गया है। उसका गौना नहीं हुआ है। अखजो अपनी स्थिति को भाभी के समक्ष रखती है। वह कहती है कि मेरा गौना कराकर ससुराल भेज दीजिए। भाभी समझाती है कि जितना प्यार तुम्हें मैके में मिला है उतना प्यार ससुराल में नहीं मिलेगा। यही मेरी आशंका है। फूल सी कोमल बच्ची ससुराल में कैसे रहेगी? ननद और भाभी के संवाद जीवन्त है। इसमें भावात्मकता है। उनके भीतर व्याप्त भावों को दिखाने का प्रयास किया गया है। गौना न होने से अखजो बहुत दुखी है। वह भाभी से कहती है कि अब मैं जवान हो गई हूं। मुझे ससुराल भेजन का प्रबंध करें। भाभी समझाती है। इसमें स्त्री की स्थिति स्वत: स्पष्ट हो जाती है। अखजो बार-बार निवेदन करती है कि उसकी सारी सहेलियां अपनी-अपनी ससुराल चली गई हैं। अब गांव में उसका मन नहीं लगता है। गांव के लड़के उसे लालच देते हैं। वह अपना सतीत्व बचाने का प्रयास कर रही है। वह कहती है कि अब वह अपने पति परमेश्वर के साथ रहना चाहती है। अगर आप मुझे ससुराल नहीं भेजेंगी तो मैं जोगिनी बन जाऊंगी। यहां भिखारी ठाकुर ने लोक में प्रचलित परम्परा के द्वारा स्त्री की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया है। भाभी मजाक करती है। उसे निरन्तर समझाती रहती है। उसे धैर्य धारण करके रहने की सलाह देती है। भाभी जोगिनी बनने पर होने वाली कठिनाइयों का उल्लेख करती है। इसी बीच अचानक उसका पति चेथरू गवना कराने के लिए आ जाता है। कथानक बहुत ही संक्षिप्त है पर विषय का संदेश बहुत ही प्रभावी है। समाज की यथास्थिति का सटीक रूप में चित्रित करने का प्रयास है।

चेथरू के आने के बाद अखजो के जीवन में आनन्द का क्षण आता है। इसका वृहद विवरण भिखारी ठाकुर ननद-भउजाई नाटक में दिया है। नाटक का अंत हास्य पैदा करता है जो कुली को एक रुपये देने का वायदा चेथरू करता है। कुली कहता है कि मैं तो सौलह आने पैसे लूंगा। यहां हास्य उत्पन्न किया गया है। यही इस नाटक का अन्त हो जाता है।

भिखारी ठाकुर के नाटकों में चरित्र मुख रूप में उभरकर आते हैं। वे समाज सुधार का कार्य करते हैं। डॉ. तैयब हुसैन 'पीड़ित' के अनुसार, ''भिखारी के नाटकों के नायक के चरित्र में संबंधित एक और बात महत्वपूर्ण यह है कि भिखारी ने कालांतर में अपने नाटकों को समाज सुधार की दिशा में अग्रसर किया, इसलिए इनके परम्परावादी नायक लोकनाटकों के नायकों की तरह अपना चरित्र लेकर वहीं के वहीं ठहरे हुए नहीं दिखते बल्कि अपने चरित्र का बेहतर विकास करते हैं।''[4]

भिखारी ठाकुर ने अपने पात्रों का बखूबी विकास किया है। एकांत में बैठी कल्पनाओं में खोयी हुई अखजो का चित्रण किया है। उसे खोजते हुए भाभी उसके पास पहुंचती है। उदाहरणस्वरूप–

''भउजाई : आय हो बाछी, तोहरा के खोजत-खोजत गोड़ के चाम छिला गइल। तूँ गाँव घर छोड़ के एहिजा मन मरले बइठल बाडू।

ननद अखजो : ए भउजी, सखि-सहेली ताना मारत

बाड़ी स। अपना-अपना सौहर के बरनन करत बाड़ी स। एह से मनमार के बइठल सोचत बानी।''[5]

ननद जब बैठकर सोचती रहती है। उसी समय भाभी आती है। वह अपने ननद से प्रश्न करती है कि क्या कारण है कि आज तुम उदास बैठी हो। ननद भाभी से अपना दु:ख कहती है। भाभी-ननद के संवाद को भिखारी ठाकुर ने जीवन्त बना दिया है। उदाहरणस्वरूप—

''भउजाई : का सोचत बाडू?

ननद अखजो : इहे कि हमार सादी-बिआह भइल बा कि ना?

भउजाई : हँ तोहार सादी बच्चेपन में हो गइल।

ननद अखजो : त हम ससुरा चल जइतीं, त पति के देखतीं कइसन बाड़न। सामी जी के सेवा क के भव-सागर से पार हो जइतीं।''[6]

ननद भाभी से ससुराल भेजने के लिए कहती है। इस संवाद में अखजो की पीड़ा साफ दिखाई पड़ रही है। वह अपने पति की सेवा करना चाहती है। अखजो का बचपन में विवाह हो गया है। उस समय वह विवाह का मतलब नहीं समझ पाती है। अब जब वह समझने लायक हो गई है तो नइहर में बैठी हुई है। यह उसके लिए पीड़ादायक लगता है। ननद भाभी के बीच गहरा संबंध है। वह अपनी भाभी से हर बात बताती है। भाभी उसे समझाती है कि तुम अभी बच्ची हो। ससुराल का दु:ख कैसे झेलेगी? इन दोनों के बीच चल रहे संवाद का मार्मिक रूप द्रष्टव्य है—

''भउजाई : अबहीं तूँ बहुत लड़का बाडू। ससुरा के सुख-दु:ख कइसे अंगेजब? नइहर अतिना दुलार होला, ससुरा के दु:ख सहल जाई? ससुरा से पहले नियार आई, तब दिन घराई। तब तोहार गवना होई, त ससुरा जइबू। बिना दिन के कइसे जइबू?

ननद अखजो : सुन; सुन; ए भउजी। तूँ कतनो हमरा के कहत बाडू, बाकिर हमरा मन में भावत नइखे। हमार मन पति में लागल बा। तू अपने लेखा हमरो के जानऽ। कइसे भइया साथ दिने-राते सटल रहत बाडू, ओसहीं तू समुझऽ।''[7]

ननद भाभी को मनाती है। वह कहती है कि भाई से बात करके मेरा गवना करवा दीजिए? वह गांव की परिस्थितियों के बारे में भी बताती है। वह कहती है कि मनचले युवक उसे देखकर तरह-तरह की बातें करते हैं। वे तरह-तरह से व्यंग्य करते हैं। यहां तक कि फेरीवाला भी प्रलोभन देता है। मैं डरी हुई हूं। वह कहती है कि कहीं पांव गलत राह पर न चले जाएं। उसे अपने सतीत्व बचाने की चुनौती है। वह निश्चय कर चुकी है कि अब ससुराल भेज दिया जाए। अगर आप ससुराल नहीं भेजेंगे तो मैं जोगिनी बन जाऊंगी। जोगिनी बनकर अलख जगाऊंगी। जंगल में जाकर रहूंगी। तपस्विनी बनकर अपना जीवन बिताऊंगी। अपना पूरा जीवन साधना में लगा दूंगी। यह सुनकर भाभी परेशान हो जाती है। भाभी भी डर जाती है कि कहीं ननद कोई गलत राह न पकड़ ले। वह ननद को बार-बार समझाती है। वह कहती है कि योग का मार्ग बहुत कठिन है। अखजो की पीड़ा को गीत के माध्यम से भिखारी ठाकुर ने अभिव्यक्त किया है। इसमें नारी का मार्ग उजागर हुआ है—

''सुनलीं हमार बात, नइखे नइहर रहल जात;
जाइके करब बन में भजन हो भउजिया।
सेज मिरिगा के छाल, ओढ़ना भेड़ी के बाल,
जंगल में मंगल उड़ाइब हो भउजिया।
सारी गेरूआ के रंग, मलि के भभूत अंग;
गलवा में तुलसी के मलवा भउजिया!
छूरा से छिला के केस, धरबि के जोगिन के भेस;
लेइब एक हाथ में सुमिरनी भउजिया।
नइहर से छूटल लाग, खाइब कंदु-मूल साग;
अनवाँ बउरावत बा बेइमानवाँ भउजिया।
पिउ-पिउ करब सोर, मन लागल काटे मोर;
बाँमाँ करवा में सोभी कमंडलवा भउजिया।
बानी पर धेयान दीहन, जंगल में खोज लिहन;
दायानिधि चरन का चेरी के भउजिया।
कहत भिखारी दास, कातिक से चार मास;
जाड़ में लेहब जलसयन भउजिया।
फागुन से महीना चारि, धुईं चउरासी जारि;
ताहि बीच में हरिगुन गाइब हो भउजिया।
रितु बरसात भर करि-करि हर-हर;
गउरी-गनेस के पूजब हो भउजिया।''[8]

ननद के इस दु:ख भरी गीत को सुनकर भाभी परेशान हो जाती है। वह बार-बार समझाती है कि जोगिन बनना कठिन है। यह मार्ग बहुत ही मुश्किल है। तुम्हारे मन में ऐसा विचार क्यों आया। मैं तुम्हारे भाई से सलाह करके तुम्हें ससुराल भेजने का प्रयत्न करूंगी।

ननद के बयान से भाभी परेशान हो जाती है। उसका एक

रूप भिखारी ठाकुर के नाटक में द्रष्टव्य है–

''भउजाई : ह्वह्वह्व(गीत-लय-पूर्वी)
सुनलीं बेयान तोर, हुलसल करेजा मोर;
अतना गेयान कहँवाँ पवलू ननदिया।
धरहीं में छोड़िके कंत, बाहर जाके होइब संत;
कहिहन भल ना सकल हो ननदिया।
छोड़ि दऽ सकल भरम, धरऽ परिव्रत धरम;
भूत बनि जइब भभूत से ननदिया।
जब तब रहे देह, पतिपद में राखऽ नेह;
मालावा से होइब ना निहालावा ननदिया।
अनुसुइयाजी के बानी, सुनलीं रामजी के रानी;
पोथी में कहात बा कहानी हो ननदिया।
पाछे तोहरा सूझे लागी, बन में से मन भागी;
जालावा बुझाई मिरिग छालवा ननदिया।
हिये बीचे सोचऽ नीके, किरती सुलोचना के;
सुनि-गुनी मुनि तरसत ए ननदिया।
अइसन करनी के छोड़ि, चातक लेखा मुँह ओड़ि;
करब तूं पिउ-पिउ रतना ननदिया।
इहे हमारे हउए तत, धरतीं रहिके बोलऽ सत;
रखिहन पंत परमातमा ननदिया।
चढ़ल बाटे जुवापन, ठंढा क के रहऽ मन;
सगरो से होइबू धन-धन हो ननदिया।
कहत भिखारी नाई, करब हम जल्दी उपाई;
जेही विधि सब बनि जाई हो ननदिया।''[9]

ननद भाभी के बीच चल रही इस संवाद को बहुत ही मार्मिक रूप में भिखारी ठाकुर ने चित्रित किया है। यह स्त्री की पीड़ा है। वह अपना दु:ख किससे कहे? कैसे कहे? कोई तो उसके मन की बात को नहीं समझता? यह युवापन है।

युवापन की गंभीर स्थिति का मार्मिक विवरण है। ननद कहती है कि पत्थर की छाती करके वह रह रही है। उसका दु:ख बहुत ही असहनीय है। गीत के संवाद जीवन्त हैं। सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। भिखारी ठाकुर ने चित्रित किया है–

''ननद अखजो : (गीत)
भउजी मति भुलिहऽ तूँ एह जुम के बतिया।
कबहूँ ना केहू सहित अइसन,
दुख करि के सहत बानी पथल के छतिया। भउजी
ई बात केहू जाने ना पावे,
लिखि के भेजा दिहतू ससूरा में पतिया। भउजी
पर-उपकार करऽ तनी मन से,
परला पर केहू-केहू होला संघतिया। भउजी
कहत 'भिखारी' तूँ कवनो जतन करऽ,
एही सोचे भइल मोर पागल के मतिया। भउजी ''[10]

ननद की पीड़ा को भाभी समझती है। वह जानती है कि स्त्री की दशा क्या होती है। उस संपूर्ण स्थिति को समझकर ही ननद को समझाती है। अपने घर के इज्जत की बात करती है। सामाजिक व्यवस्था की बात करती है। वह तरह-तरह से समझाकर मनाने का प्रयास करती है। भाभी के कथन को भिखारी ठाकुर ने अभिव्यक्त किया है,

''भउजाई : (गीत)
चुप होखऽ बात मानऽ, प्यारी सुकुमारी, हो ननद दुलरी।
मन में धरऽ तनी धीर, हो ननद दुलरी।
उगल गुलाब गाल, सूखि के खटाई होई हो ननद दुलरी।
काहे भइलू अधीर, हो ननद दुलरी।
अबहीं नदान बाड़ू, नाइखे सहूर हो ननद दुलरी।
मन में धइले रहऽ धीर, हो ननद दुलरी।
एक दिन सइयाँ तोहे, धइ झकझोरिहें, हो ननद दुलरी।
थर-थर काँपी सरीर, हो ननद दुलरी।
कहत भिखारी, तोहरा भइया से कहब, हो ननद दुलरी।
रात बा, होखे दऽ उजीर, हो ननद दुलरी।''[11]

ननद से भाभी वादा करती है कि भाई से बात करेगी। उसे ससुराल भेजने की हर संभव कोशिश करेगी। ननद-भाभी दोनों बात ही कर रहे थे कि अखजो का पति चेथरू गवना कराने के लिए आ जाता है। सारा परिदृश्य बदल जाता है। भाभी अपने मेहमान की खातिरदारी में लग जाती है। दुल्हा चेथरू अखजो को विदा करने की प्रार्थना करता है। वह कहता है–

चेथरू : पानी पीअल आ खाइल छोड़ी। हम आइल बानी विदा करावे। बिदाई क दीं।

भउजाई : राहे-राहे कहीं विदाई होला? हड़बडाइल बानी, ना कवनो सवारी ले आइल बा ना कुछ, ते बिदाई कइसे होई।

दुल्हा चेथरू : हम जातानी सवारी ले आवे।''[12]

भिखारी ठाकुर ने ग्रामीण परिवेश में गौना कराने के तरीके का विश्लेषण किया है। जीवन में आने वाले हर संकट का वर्णन किया है। दुल्हा आकर गौना कराना चाहता है। यह लोक में प्रचलित मान्यता है। विवाह के बाद ही गौना कराया

जाता था। इसमें पूरी लोक की परम्परा को भिखारी ठाकुर ने जीवन्त बना दिया है। यह सामाजिक यथार्थ है। ननद भउजाई नाटक के माध्यम से नारी की मन:स्थिति को रेखांकित किया है। यह समाज में पालन किये जा रहे मान्यताओं एवं परम्पराओं का एक रूप है। इस प्रकार स्त्री की पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति भिखारी ठाकुर ने की है। यह स्त्री की अस्मिता का एक रूप है।

प्रोफेसर
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. 'पीड़ित', डॉ. तैयब हुसैन, *भिखारी ठाकुर,* साहित्य अकादमी, संस्करण 2008, पृष्ठ 19
2. वही, पृष्ठ 18
3. वही, पृष्ठ 20
4. वही, पृष्ठ 59
5. सिंह, प्रो. राम बुझावन एवं मिश्र, डॉ. मिथिलेश कुमारी (संपादक), *भिखारी ठाकुर रचनावली,* द्वितीय संस्करण 2011, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना-800004, पृष्ठ 194
6. वही, पृष्ठ 195
7. वही, पृष्ठ 195
8. वही, पृष्ठ 196
9. वही, पृष्ठ 196
10. वही, पृष्ठ 197
11. वही, पृष्ठ 197
12. वही, पृष्ठ 198

सागार धर्मामृत में वर्णित अपरिग्रह अणुव्रत का अध्ययन (आधुनिक पर्यावरण तथा अर्थशास्त्र के विशेष संदर्भ में)

प्रो. कौशल पंवार*

शुभम शर्मा**

शोध सारांश

12-13वीं शताब्दी के महान जैन आचार्य पण्डित आशाधर द्वारा रचित 'सागार धर्मामृत' में वर्णित अपरिग्रह अणुव्रत का-आधुनिक पर्यावरण तथा अर्थशास्त्र के विशेष संदर्भ में विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार, अपरिग्रह केवल भौतिक वस्तुओं का अभाव नहीं है, बल्कि यह 'मूर्च्छा' (आसक्ति) का त्याग और यह अपनी इच्छाओं पर नहीं अपितु आवश्यकता के अनुसार भौतिक वस्तुओं के उपभोग करने के लिए प्रेरित करता है। जैन आगमों, अन्य ग्रंथों तथा आधुनिक शोध साहित्य के आधार पर यह सुनियोजित करने का प्रयास किया गया है कि अपरिग्रह का सिद्धांत आज के पर्यावरण संकट तथा आर्थिक असमानताओं का व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द

सागार धर्मामृत, अपरिग्रह अणुव्रत, मूर्च्छा, इच्छा-परिमाण, ट्रस्टीशिप, उपभोक्तावाद, पारिस्थितिक पदचिह्न, सतत विकास लक्ष्य SDG।

प्रस्तावना

21वीं सदी में मनुष्य जाति एक विचित्र असमंजस के बीच में खड़ी है जहाँ एक पक्ष में अभूतपूर्व भौतिक समृद्धि है, तो दूसरे पक्ष में जलवायु संकट, जैव-विविधता का क्षय (bio-diversity loss), संसाधनों का अतिदोहन, सामाजिक असमानताओं की गहरी खाई है। संयुक्त राष्ट्र के SDG (सस्टेनेबल डेवलपमेंट गोल्स) ढांचे से लेकर IPCC (इन्टर गवन्मेन्टल पैनल ऑन क्लाइमिट) की चेतावनियों तक, सभी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि वर्तमान आर्थिक प्रतिमान (Economic paradigm), जो अनन्त वृद्धि (infinite growth) की परिकल्पना पर टिका है, पारिस्थिति तंत्र (eco system) की सीमाओं के साथ असंगत है। ऐसी विकट परिस्थितियों में जब आधुनिक अर्थशास्त्र 'Degrowth', 'Circular Economy' और 'Doughnut Economics', जैसी वैकल्पिक परिकल्पनाओं का अनुसंधान कर रहा है, तब ऐसा चिंतन जरूरी है कि भारत की प्राचीन परम्पराओं में विशेष रूप से जैन धर्म की आचार परम्परा में विद्यमान अनेकांत, पाँच अणुव्रत इत्यादि ऐसे सिद्धांत हैं, जो इन आधुनिक चिंताओं का उत्तर देने में सक्षम प्रतीत होते हैं।

सागार धर्मामृत एवं अणुव्रतों का परिचय

12-13वीं शताब्दी में पण्डित प्रवर आशाधर जी ने जैन धर्म के अमूल्य आचार परंपरा को उद्देशीत करके साधु वर्ग तथा श्रावक वर्ग के लिए विद्वत्तापूर्ण तथा सर्वांगीण विवेचन से युक्त 'धर्मामृत' ग्रन्थ की रचना की। विशेषकर यह ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के मुनि और गृहस्थों के आचार-धर्म को लक्षित करने वाला अद्वितीय ग्रन्थ हैं। इसी आधार पर यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है—अनगार धर्मामृत और सागार (गृहस्थ) धर्मामृत। प्रस्तुत शोध सागार धर्मामृत पर केंद्रित है। इसमें बारह व्रतों का व्यापक विश्लेषण है तथा पं आशाधर जी ने इन्हें उत्तर गुण कहा है। ये 12 व्रत तीन भागों मे विभक्त हैं (क) अणुव्रत (ख) गुण व्रत (ग) शिक्षा व्रत। इनका उल्लेख इसी ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय में प्राप्त होता है।[1] चूंकि हमारे शोध पत्र का केंद्र बिन्दु अणुव्रत है। अत: इन अणुव्रतों का उल्लेख करना अत्यंत

आवयश्क है।

अणुव्रत

जैन धर्म में अणुव्रत गृहस्थों (श्रावकों) के लिए निर्धारित वह नैतिक आचार संहिता है, जो उन्हें पूर्ण संयम की ओर ले जाने का मार्गदर्शन करती है। चूँकि गृहस्थ जीवन में पूर्णत: महाव्रतों का पालन करना कठिन है, अत: उन्हें आंशिक या सीमित रूप में 'अणुव्रत' के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि इन्हें दूसरे शब्दों में कहें तो ये मुनियों के महाव्रत के ही सरल तथा सीमित रूप है, जिन्हें गृहस्थ अपनी परिधि में रहकर ही पालन करते हैं।

- ⋆ **अहिंसा अणुव्रत :** संकल्पपूर्वक किसी भी त्रस (दो या अधिक इंद्रिय वाले) जीव की हत्या न करना।[2]
- ⋆ **सत्य अणुव्रत :** पं आशाधर जी ने इस व्रत को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न परिभाषित किया है। कन्या के विषय, गौ के विषय, भूमि के विषय तथा न्यास के विषय में झूठ बोलना साथ ही साथ झूठी गवाही देना यह पाप है अत: स्थूल रूप से झूठ का त्याग करना ही सत्य अणुव्रती कहलाता है।[3]
- ⋆ **अचौर्य अणुव्रत :** बिना दी गई वस्तु को न लेना (स्थूल चोरी का त्याग)।
- ⋆ **ब्रह्मचर्य अणुव्रत :** अपनी पत्नी या पति में संतोष रखना (स्वदारसंतोष) और पर-स्त्री/पुरुष का त्याग करना।
- ⋆ **अपरिग्रह अणुव्रत (परिग्रह-परिमाण व्रत) :** अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं की एक सीमा तय करना।

इन पाँच अणुव्रतों का विस्तृत विवेचन है, जिनमें से अपरिग्रह केन्द्रीय स्तम्भ के रूप में है।

अपरिग्रह अणुव्रत

जैन धर्म में अपरिग्रह एक अत्यंत महत्वपूर्ण और गहरा सिद्धांत है। अपरिग्रह अणुव्रत के विवेचन से पूर्व हमें शाब्दिक तथा दार्शनिक अर्थ का अवलोकन करना चाहिए।

शाब्दिक तथा दार्शनिक अर्थ

संस्कृत पद	अर्थ
अ	निषेध
परिग्रह	संग्रह
अपरिग्रह	आवश्यकता से अधिक संचय न करना

इसका साधारण अर्थ 'परिग्रह का अभाव' या 'मूर्च्छा (आसक्ति) का त्याग' है।

दार्शनिक अर्थ

जैन दर्शन में अपरिग्रह का अर्थ केवल भौतिक वस्तुओं का त्याग नहीं है, बल्कि यह एक गहरी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्थिति है जिसे 'मूर्च्छा' या आसक्ति के अभाव के रूप में परिभाषित किया गया है।

अपरिग्रह के दार्शनिक अर्थ के प्रमुख पहलू निम्नलिखित हैं :

1. 'मूर्च्छा' ही परिग्रह है

जैन शास्त्रों के अनुसार, बाहरी वस्तुओं का संग्रह मात्र परिग्रह नहीं है; वास्तविक परिग्रह उन वस्तुओं के प्रति होने वाला आंतरिक लगाव, ममत्व या आसक्ति है। तत्वार्थसूत्र[4] में मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। पूज्यपाद[5] ने इसको व्याख्या करते हुए बाह्य गाय, भैस मनिमुक्ता आदि चेतन-अचेतन वस्तुओं को तथा राग आदि आभ्यन्तर परिग्रहों के संरक्षण, उपार्जन, संस्कार आदि संलग्न रहने को मूर्च्छा कहा है। उनमें ममत्व रखना परिग्रह। अमृतचन्द्र ने भी मोह के उदय से हुए ममत्व परिणाम को मूर्च्छा और इसी के भाव को परिग्रह कहा है।[6] पं. आशाधर ने चेतन, अचेतन एवं चेतन-अचेतन से मिश्रित वस्तुओं में ममत्व ये मेरी है। ऐसे संकल्प रखने को परिग्रह कहा है। इस परिग्रह को कम करके चेतनादि वस्तुओं को कम करना परिग्रह परिमाणाव्रत कहलाता है।[7]

2. बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह

सागार धर्मामृत ग्रंथ में अपरिग्रह को दो स्तरों में परिभाषित किया है :

⋆ **बाह्य अपरिग्रह** - इसमें सजीव तथा निर्जीव संपत्तियां उल्लेखित हैं—जैसे भूमि, धन, वस्त्र, भवन आदि भौतिक वस्तुओं का सीमित स्वामित्व।[8]

⋆ **आभ्यंतर अपरिग्रह** - इसमें 14 प्रकार के विकार उल्लेखित हैं जैसे -

- मिथ्यात्व (गलत धारणा)।
- तीन लिंग-वेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद)।
- छह दोष (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, और जुगुप्सा)।
- चार कषाय (क्रोध, मान, माया, और लोभ)।[9]

अपरिग्रह तथा आधुनिक पर्यावरण

पर्यावरणीय संकटों के समाधान के लिए एक अत्यंत शक्तिशाली और व्यावहारिक मार्ग जैन दर्शन का अपरिग्रह सिद्धांत है। आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति (Consumerist Culture), जो असीमित संचय और संसाधनों के दोहन पर

टिकी है,[10] पर्यावरण विनाश का मुख्य कारण बनी हुई है। यदि हम वास्तव में किसी भी समस्या में परिवर्तन चाहते हैं तो उसके लिए बाहरी परिवर्तन से पहले भीतरी परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए तो पण्डित आशाधर जी ने अपरिग्रह के दो स्तर बताए अर्थात् जब मनुष्य आन्तरिक परिग्रहों पर विजय पा लेगा तो बाहरी परिग्रह पर भी इसका असर देखने को मिलेगा।

अपरिग्रह और आधुनिक पर्यावरण के बीच संबंधों को निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है :

1. 'इकोलॉजिकल स्टीवर्डशिप' (पारिस्थितिक प्रबंधन) और ट्रस्टीशिप

जैन दर्शन के अनुसार, मनुष्य प्रकृति का स्वामी या श्रेष्ठ नहीं है, बल्कि वह इस ग्रह का एक 'ट्रस्टी' (Guardian or Trustee) है।[11] यह दृष्टिकोण पर्यावरण चेतना (Ecological Consciousness) का आधार है जहाँ मनुष्य अपने और पर्यावरण के बीच के संबंध को समझते हुए अपने कर्तव्यों का निर्वहण करता है। *'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'* (सभी जीव एक-दूसरे पर निर्भर हैं) का मूल मंत्र पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने की प्रेरणा देता है।

2. SDGs में अपरिग्रह का योगदान

अपरिग्रह का सिद्धांत सीधे तौर पर SDG 12 जिम्मेदारीपूर्ण उपभोग और उत्पादन (Responsible Consumption and Production) से जुड़ा है।[12]

- ⋆ **उपभोक्तावाद को चुनौती :** अपरिग्रह आज की 'विस्तारित उपभोक्तावादी संस्कृति' (Consumerist Culture) को चुनौती देता है, जहाँ खुशी को भौतिक संचय से जोड़ा जाता है।[13]
- ⋆ **इच्छा-परिमाण :** श्रावकों (गृहस्थों) के लिए 'इच्छा-परिमाण व्रत' यह सुनिश्चित करता है कि व्यक्ति अपनी जरूरतों की सीमा तय करे, जो प्राकृतिक संसाधनों के अति-दोहन को रोकने में मदद करता है।[14]
- ⋆ **न्यूनतमवाद (Minimalism) :** यह 'स्वैच्छिक सादगी' को बढ़ावा देता है, जिससे कचरा कम होता है और वस्तुओं के पुनः उपयोग (Reuse) की प्रवृत्ति बढ़ती है, जो सर्कुलर इकोनॉमी का आधार है।[15]

अपरिग्रह तथा आधुनिक अर्थशास्त्र पर्यावरण

आधुनिक अर्थशास्त्र 'असीमित इच्छाओं' और 'सीमित संसाधनों' के बीच संघर्ष पर आधारित है।[16] अपरिग्रह इस समस्या का समाधान 'इच्छाओं के नियमन' के माध्यम से देता है।

1. सापेक्ष अर्थशास्त्र बनाम निरपेक्ष अर्थशास्त्र

आचार्य महाप्रज्ञ और अन्य जैन विद्वानों ने 'सापेक्ष अर्थशास्त्र' (Relative Economics) का प्रस्ताव दिया है, जो अहिंसा और अपरिग्रह पर टिका है। यह मॉडल 'निरपेक्ष अर्थशास्त्र' (Absolute Economics) के विपरीत है, जो केवल लाभ और संचय पर ध्यान केंद्रित करता है।[17] अपरिग्रह आधारित अर्थशास्त्र में मनुष्य स्वयं को संसाधनों का स्वामी नहीं, बल्कि 'ट्रस्टी' (Trustee) मानता है।

2. आधुनिक मश्वडलों के साथ सामंजस्य

- ⋆ **डिग्रोथ (Degrowth) :** यह मॉडल GDP की अंधी दौड़ के विपरीत उपभोग को कम करने और संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण की वकालत करता है। अपरिग्रह का 'इच्छा-परिमाण' सिद्धांत सीधे तौर पर डिग्रोथ के दर्शन से मेल खाता है।[18]
- ⋆ **सर्कुलर इकोनॉमी (Circular Economy) :** यह संसाधनों की उत्पादकता बढ़ाने और कचरे को न्यूनतम करने पर जोर देता है। जैन परंपरा की 'मितव्ययिता' और संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग इस मॉडल के लिए एक नैतिक आधार प्रदान करता है।[19]
- ⋆ **डोनट इकोनॉमिक्स (Doughnut Economics) :** यह मॉडल सामाजिक आधार और पारिस्थितिक सीमा के बीच एक सुरक्षित स्थान की तलाश करता है। अपरिग्रह व्यक्ति को अपनी 'पारिस्थितिक सीमा' (Ecological Ceiling) को न लांघने का अनुशासन सिखाता है।[20]

3. EMI (ऋण) और अपरिग्रह का आर्थिक दृष्टिकोण

यद्यपि आधुनिक जीवन में EMI (ऋण) को पूरी तरह गलत नहीं माना जा सकता, लेकिन जैन आर्थिक सिद्धांत ऋण या कर्ज को एक 'बोझ' (burden) के रूप में देखता है।[21]

⋆ स्रोतों के अनुसार, कर्ज अक्सर जोखिम और भविष्य के प्रति असुरक्षा को बढ़ाता है।

⋆ जैन दर्शन मितव्ययिता (Thrift) और संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग की वकालत करता है। यदि EMI का उपयोग वास्तविक आवश्यकताओं के लिए किया जाए, तो वह प्रबंधनीय हो सकता है, परंतु यदि यह केवल विलासिता और वस्तुओं के प्रति आसक्ति के कारण लिया जा रहा है, तो यह अपरिग्रह के सिद्धांत के विपरीत है।

⋆ अपरिग्रह हमें सिखाता है कि हम संसाधनों के स्वामी नहीं बल्कि केवल 'ट्रस्टी' (Trustee) या संरक्षक हैं, जिसका अर्थ है कि संसाधनों का उपयोग केवल न्यायोचित कारणों और सामाजिक कल्याण के लिए होना चाहिए।

निष्कर्ष

यदि हम वास्तव में एक स्थायी और न्यायपूर्ण विश्व का निर्माण करना चाहते हैं, तो हमें 'असीमित उपभोग' के बाहरी मार्ग को छोड़कर 'संयमित जीवन' के आंतरिक मार्ग को अपनाना होगा। आन्तरिक परिग्रहों (विशेषकर लोभ) का क्षय ही वह बीज है, जिससे एक प्रदूषण-मुक्त और मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत समाज रूपी वृक्ष विकसित हो सकता है।

⋆ शोध निर्देशक
⋆⋆ शोधार्थी
संस्कृत अनुशासन मानविकी विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. पञ्चधाऽणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमगारिणाम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्धेति गुणाः सयुद्व दिशोत्तरे॥
सागारधर्मामृत 4/4
2. शान्ताद्यकष्टं कषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान्।
अहिंसतों दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम्॥
सागारधर्मामृत 4/7
3. कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्षीन्यासपलापवत्।
स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि सवान्यापदे त्यजन्॥
सागारधर्मामृत 4/39
4. मूर्च्छा परिग्रहः ॥7.17॥
5. ममेदं बुद्धिलक्षणः सर्वार्थसिद्धि ॥6.15॥
6. पुरुषार्थसिद्धयुपाय 111
7. सागारधर्मामृत 4/59
8. सागारधर्मामृत 4/60
9. सागारधर्मामृत 4/60-61
10. प्रीति रानी जैन, "Aparigrah : The Jain Philosophy of Non-Possession and Its Ethical Implications in Fostering Minimalism and Sustainable Practices," Hans Shodh Sudha, vol 4, अंक 2, 2023, पृष्ठ-2
11. अतुल के. शाह, "Aparigraha: Jain Theory and Practice of Finance", City University London, 2020, Page 16.
12. एम.डी. अबू सईम और मोंजिला बिंते मुस्तफा, "Aparigraha: Ecological Stewardship in Jain Ethics", Studia Ecologiae et Bioethicae, वॉल्यूम 24, अंक 2, 2026, पृष्ठ-1।
13. प्रीति रानी जैन, "Aparigraha: The Jain Philosophy of Non-Possession and Its Ethical Implications in Fostering Minimalism and Sustainable Practices", Hans Shodh Sudha, वॉल्यूम 4, अंक 2, 2023, पृष्ठ 1-2
14. यक्षिता जैन, "Anuvrata: Voice of Existence of Jain Lay People", International Journal of Creative Research Thoughts (IJCRT), वॉल्यूम 11, अंक 6, जून 2023, पृष्ठ-76
15. नीर्वी जैन, "A Minimalist Lifestyle and Aparigraha", Samyak: An Undergraduate Journal of Jain Studies, वॉल्यूम 1, अंक 1, 2025, पृष्ठ 1।
16. Aparigraha: The Jain Philosophy of Non&Possession and Its Ethical Implications in Fostering Minimalism and Sustainable Practices page no-7
17. प्रतिभा पार्श्वनाथ और के. रामचंद्र, "Economical dimensions of Jain principle of ahimsa", International Journal of Applied Research, वॉल्यूम 2, अंक 12, 2016, पृष्ठ 634
18. फेडरिको सावि‌नी, "Post-Growth, Degrowth, the Doughnut, and Circular Economy: A Short Guide for Policymakers", 2024, पृष्ठ 1152
19. वही, पृष्ठ 1153
20. वही, पृष्ठ 1152
21. अतुल के. शाह, "Aparigraha: Jain Theory and Practice of Finance", City University London, 2020, Page 17

मूल ग्रंथ

⋆ पण्डित प्रवर आशाधर, स. ध. स. (11वां संस्करण :-

2022). सागार धर्मामृत. लोदी रोड, नई दिल्ली -110003 : प्रकाशक -भारतीय ज्ञानपीठ
* उमास्वाति. (दि.न.). तत्त्वार्थसूत्र (8 सं.). (पं. सुखलाल संघवी, अनु.) वाराणसी -5
* अमृतचन्द्र, आचार्य। पुरुषार्थसिद्धयुपाय. टीकाकार पं मक्खन लाल शास्त्री (तिलक), प्रकाशक भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्
* पूज्यपाद, आचार्य. (1955). सर्वार्थ सिद्धि (पं. फूलचन्द्र शास्त्री, संपा. व अनु.). वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ।

रिसर्च जर्नल्स और शोध पत्र

* जैन, प्रीति रानी। "Aparigraha: The Jain Philosophy of Non-Possession and Its Ethical Implications in Fostering Minimalism and Sustainable Practices", Hans Shodh Sudha, वॉल्यूम 4, अंक 2, 2023, पृष्ठ 1-14
* सईम, एम.डी. अबू, और मोंजिला बिंते मुस्तफा। "Aparigraha: Ecological Stewardship in Jain Ethics", Studia Ecologiae et Bioethicae, वॉल्यूम 24, अंक 2, 2026, पृष्ठ 5-13
* शाह, अतुल के.। "Aparigraha: Jain Theory and Practice of Finance", Presented at the 21st Jaina Studies International Workshop, University of London, 2020, पृष्ठ 1-38
* जैन, विजय के. (संपादक)। Acarya Samantabhadra's Ratnakaraocaka-śrāvakācāra - The Jewel-casket of Householder's Conduct, विकल्प प्रिंटर्स, 2016
* जैन, यक्षिता। "Anuvrata: Voice of Existence of Jain Lay People", International Journal of Creative Research Thoughts (IJCRT), वॉल्यूम 11, अंक 6, जून 2023, पेज 792-798। www.ijcrt.org, ijcrt.org/papers/IJCRT2306792.pdf.
* जैन, नीर्वी। "A Minimalist Lifestyle and Aparigraha", Samyak: An Undergraduate Journal of Jain Studies, वॉल्यूम 1, अंक 1, 2025
* पार्श्वनाथ, प्रतिभा और के. रामचंद्र। "Economical dimensions of Jain principle of ahimsaA" International Journal of Applied Research, वॉल्यूम 2, अंक 12, 2016, पेज 632-635। www.allresearch journal.com
* साविनी, फेडरिको। "Post-Growth, Degrowth, the Doughnut, and Circular Economy: A Short Guide for Policymakers", यूनिवर्सिटी ऑफ एम्स्टर्डम, 2024, पृष्ठ 1150-1187
* रोहित, दर्शना एस., सुदीप वाघेला, और दीप वाघेला। "Jainism and Business Ethics: A Path to Sustainable and Responsible Corporate Practices". International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR), वॉल्यूम 7, अंक 5, 2025

श्रेया

हिंदी सिनेमा में स्त्री विमर्श का क्रमिक विकास (विशेष संदर्भ - मदर इंडिया, मर्दानी, पिंक, थप्पड़ और छपाक)

शोध सार

यह शोध पत्र भारतीय सिनेमा के 100 से अधिक वर्षों के सफर में स्त्री की बदलती छवि और स्त्री विमर्श के क्रमिक विकास का विश्लेषण करता है। इस लेख में 'मदर इंडिया' (1957) से लेकर 'थप्पड़' और 'छपाक' (2020) जैसी आधुनिक फिल्मों के माध्यम से यह दिखाया है कि कैसे सिनेमा केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि एक सामाजिक दस्तावेज है जो समाज की बदलती सोच को दर्शाता है। 'मदर इंडिया' यह फिल्म अपने प्रमुख पात्र राधा के माध्यम से भारतीय नारी के पारंपरिक स्वरूप त्याग, सहनशीलता और आर्थिक संघर्ष को समाज के सामने प्रस्तुत करती है। वहीं 'मर्दानी' फिल्म स्त्री को एक निडर 'रक्षक' के रूप में स्त्री के शक्तिशाली होने का प्रमाण देती है। यह फिल्म दिखाती है कि स्त्री को अगर शक्ति दी जाए तो वह उसका उपयोग समाज की रक्षा के लिए करेगी। 'पिंक' इस फिल्म के माध्यम से निर्देशक ने संदेश दिया है कि स्त्री की सहमति का भी समाज में महत्व होना चाहिए। 'थप्पड़' फिल्म पितृसत्ता के उस सूक्ष्म रूप को उजागर करने का प्रयास करती है जहाँ प्रेम के नाम पर स्त्रियों को आत्म-सम्मान से समझौता करना पड़ता है। 'छपाक' फिल्म के द्वारा एक एसिड सर्वाइवर के संघर्ष के जरिए सुंदरता के सामाजिक मापदंडों को चुनौती देती है और पीड़िता को एक 'योद्धा' के रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करती है। ये सभी हिंदी फिल्में स्त्री अस्मिता, सशक्तिकरण और निर्णय लेने की क्षमता के उस क्रमिक विकास को समझने में अहम् भूमिका निभाती हैं। जिसके लिए स्त्री हमेशा से संघर्ष करती आई है। उन्हीं स्त्रियों को प्रेरणा देने का कार्य ये सभी फिल्में करती हैं।

बीज शब्द

स्त्री विमर्श, पितृसत्तात्मक सोच, नारी सशक्तिकरण, सहमति, आत्मसम्मान, सामाजिक यथार्थ।

भारतीय सिनेमा को सौ से अधिक वर्ष हो चुके हैं। इतने लंबे अंतराल में भारतीय सिनेमा या कहें हिंदी सिनेमा में महिला की छवि समाज की परिवर्तित सोच की कहानी बयान करती है। सिनेमा मनोरंजन का साधन तो है लेकिन केवल मनोरंजन का साधन है ऐसा भी नहीं है, सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक यथार्थ को पर्दे पर चित्रित करने का भी साधन है, वह सामाजिक दस्तावेज है। 1957 में आई फिल्म 'मदर इंडिया' से लेकर आधुनिक समय में आई 'थप्पड़' तक, इस यात्रा में महिलाओं के संघर्षों को बदलते हुए समाज के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के बदलाव को हम सिर्फ कहानियों तक सीमित करके नहीं देख सकते, इन कहानियों में अब नारी के वे स्वरूप देखने को मिले हैं जो हमारे समाज में मौजूद हैं। मदर इंडिया, मर्दानी, पिंक, थप्पड़ और छपाक ये सभी फिल्में हमारे समाज में स्त्री सशक्तिकरण का उदाहरण बनी हैं। 'मदर इंडिया' फिल्म की नायिका राधा, भारतीय नारीत्व के उस पारंपरिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है जो त्याग और सहनशीलता की पराकाष्ठा है। इस फिल्म के द्वारा भारतीय स्त्री के उस स्वरूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया जो कि इससे पूर्व कभी हिंदी सिनेमा में नहीं दिखाया गया। हिंदी फिल्मों में यह पहली बार था जब एक महिला अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए मेहनत और मजदूरी करती दिखाई गई है। और खुद को बैल की जगह हल

में जोतने पर आमादा है। यह फिल्म अपने कालखंड और समाज को इस तरह प्रस्तुत करती है कि उसकी चर्चा वैश्विक स्तर पर होती है। फिल्म के संवाद भी नारी सशक्तिकरण को एक नई सोच से परिचित करवाते हैं। एक संवाद देखिए– ''औरत अपने सम्मान के लिए ही तो जीती है।''[1] फिल्म की नायिका राधा का यह कथन उसके चरित्र की मजबूती और भारतीय नारी की गरिमा को रेखांकित करता है। 1957 भारत को आजाद हुए लगभग 10 साल हुए हैं। उस समय में ये फिल्म आती है। इसमें स्त्री की छवि को मजबूत करने और भारत की नारियों को यह बताने के लिए कि महिलायें किसी से कमतर नहीं है।

इस फिल्म से महबूब खान ने स्त्री की ऐसी छवि विकसित की जो पहली बार घर की दहलीज से बाहर निकलकर समाज में अपना विशेष स्थान बनाती है। घर की पूरी जिम्मेदारी भी उठाती है। 'मदर इंडिया' गांव में रहनेवाली एक ऐसी स्त्री की कहानी है जिसका पूरा जीवन संघर्ष और तनाव से गुजरता है। विवाह के कुछ साल बाद ही खेत में काम करते हुए पति का हाथ पत्थर के नीचे दबकर कट जाता है। रात-दिन मेहनत करनेवाला स्वाभिमानी पति जब परिवार के लिए कुछ नहीं कर पाता तो वह आत्मग्लानि से भर जाता है और एक दिन घर छोड़कर चला जाता है। पति की अनुपस्थिति में भारत की स्त्रियों की जो दुर्दशा होती है वह इस फिल्म में बखूबी दिखाई गई है। पूरे समाज की नजर उस पर है, गांव का लाला जिससे राधा के पति ने कुछ उधार लिया था के बदले वह उसको भोगना चाहता है। फिल्म में दिखाई गई कहानी कहीं न कहीं हमारे समाज और आस-पास की कहानी जैसी प्रतीत होती है। स्त्री विधवा हो जाए, उसका पति छोड़ जाए या किसी भी कारणवश वह किसी पुरुष का सान्निध्य प्राप्त न कर पाए तो वह समाज में हेय और हीन भावना से देखी जाने लगती है। एक संवाद देखिए–''गरीबी से बड़ा कोई रोग नहीं, पर इज्जत से बड़ा कोई धन नहीं।''[2] फिल्म में राधा सम्मान से रहना चाहती है लेकिन उसके पति के छोड़कर जाने के बाद किन्हीं लोगों की कुदृष्टि उस पर बनी रहती है। यह हमारे समाज की सच्चाई को दिखाता है।

वहीं 2014 में आई फिल्म 'मर्दानी' में स्त्री पुलिस अधिकारी के रूप में वह न केवल अपराधियों से लड़ती है, बल्कि पुरुष प्रधान व्यवस्था में अपनी जगह बनाती है। वह अपनी शारीरिक शक्ति का उपयोग न्याय के लिए करती है। यह फिल्म यह स्थापित करती है कि सुरक्षा के लिए महिला को किसी 'रक्षक' की जरूरत नहीं है; वह खुद रक्षक है। कहानी की नायक शिवानी शिवाजी रॉय (रानी मुखर्जी) मुंबई पुलिस की क्राइम ब्रांच में एक वरिष्ठ निरीक्षक है। वह निडर, तेज- तर्रार और अपने काम के प्रति पूरी तरह समर्पित है। फिल्म के शुरुआती दृश्यों में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपराधियों के लिए जितनी कठोर है, आम जनता और अपनों के लिए उतनी ही संवेदनशील। वह अपनी भतीजी और पति के साथ एक संतुलित जीवन जीने की कोशिश करती है। यह रूप समाज की हर उस नारी में है जो अपने काम के साथ-साथ परिवार का भी ध्यान रखती है। फिल्म में शिवानी का चरित्र अपराधियों के लिए बहुत कठोर दिखाया गया है। जो एक पुलिस वाले और पुलिस वाली दोनों के अंतर को मिटाता है। संवाद के माध्यम से इसको समझते हैं। ''पुलिस वाली हूँ मैं गलती से भी अंडरएस्टीमेट मत करना''[3] आपने सिंघम, वांटेड, सूर्यवंशी, और विभिन्न फिल्मों में पुलिस की भूमिका में नायक के रूप में पुरुषों को देखा होगा। लेकिन शिवाजी राय की भूमिका में रानी मुखर्जी की जो भूमिका है वह कहीं न कहीं भारत की हर महिला को यह संदेश देने की कोशिश करती है कि स्त्री भी एक निडर, ताकतवर और साहसी पुलिसवाली बन सकती है। यही बात शिवानी फिल्म में कहती भी है ''हर लड़की को इतना मजबूत बनाना चाहिए कि वो किसी से डरे नहीं, और किसी को डराने की जरूरत भी न पड़े।''[4]

'पिंक' फिल्म ने महिला केंद्रित फिल्मों को एक नई वैचारिक गहराई प्रदान की। इस फिल्म ने समाज के दोहरे मापदंडों और महिलाओं के चरित्र-हनन की प्रवृत्ति पर कड़ा प्रहार किया। अनिरुद्ध रॉय चौधरी द्वारा निर्देशित और शुजीत सरकार द्वारा निर्मित 'पिंक' (2016) सिर्फ एक फिल्म नहीं है, बल्कि यह हमारे समाज की गहरे तक पैठ कर चुकी पितृसत्तात्मक सोच पर एक तीखा प्रहार करने का सफल प्रयास है। फिल्म की कहानी दिल्ली में रहने वाली तीन कामकाजी स्त्रियों मीनल, फलक और एंड्रिया को आधार बनाकर पर्दे पर उतारा गया है। इसमें एक घटना जो इन तीनों लड़कियों के जीवन में भूचाल लाने का काम करते हैं जब एक रात एक रईस और रसूखदार लड़के राजवीर और उसके दोस्तों के साथ एक पार्टी में हुई दुर्घटना फिल्म यह दिखाती है कि कैसे हमारा समाज महिलाओं के कपड़ों, उनके बाहर जाने के समय और उनके शराब पीने के आधार पर उनके चरित्र

का निर्धारण करता है। फिल्म उन 'दोहरे मापदंडों' को उजागर करती है जहाँ समाज में पुरुषों के लिए अलग और महिलाओं के लिए अलग नियम होते हैं। अमिताभ बच्चन कोर्ट में कटाक्ष करते हुए लड़कियों के लिए कुछ नियम बताते हैं, जैसे ''अकेले बाहर न जाएँ'', ''मुस्कुराकर बात न करें''।[5] फिल्म का सबसे मजबूत पक्ष इसका संदेश है : ''जब कोई महिला 'ना' कहती है, तो उसका मतलब सिर्फ 'ना' होता है। चाहे वह महिला आपकी पत्नी हो, कोई यौनकर्मी हो या कोई दोस्त—बिना उसकी सहमति के उसे छूना गलत है।''[6] फिल्म में महिला की सहमति को महत्व दिया गया है।

हमारे समाज में वैवाहिक बलात्कार पर कोई कुछ बोलता ही नहीं है। न्यायपालिका के पास उसके लिए धारायें नहीं हैं और सरकार के पास उसके खिलाफ कोई कानून नहीं है। यह स्थिति है हमारे समाज की इसलिए हमारे समाज को यह समझना होगा कि जब कोई स्त्री ना कहे तो आपको ना ही समझना है। फिल्म के एक संवाद के अनुसार, ''ना सिर्फ एक शब्द नहीं, अपने आप में एक पूरा वाक्य है। इसे किसी तर्क, स्पष्टीकरण या व्याख्या की जरूरत नहीं होती। 'ना' का मतलब सिर्फ 'ना' ही होता है।''[7] फिल्म में एक संवाद के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया है कि कैसे हम अपने बच्चों को सही मार्ग दिखा सकते हैं खासकर अपने लड़के को संवाद में कहा गया है, ''हमें अपनी लड़कियों को बचाना चाहिए, क्योंकि अगर हमने लड़कों को नहीं सुधारा, तो लड़कियों को बचाना नामुमकिन हो जाएगा।'' इस संवाद से साफ है कि हर लड़के के माता-पिता की जिम्मेदारी है कि वह अपने लड़कों को बतायें कि वह कैसे स्त्री का सम्मान और उसकी सहमति का ध्यान रखें हमारे समाज में माँ बेटी को तो बोलकर भेज देती है कि ऐसे रहना बाहर, किसी लड़के से बात मत करना। लेकिन यही माँ अपने लड़के को ये क्यों नहीं समझाती की किसी लड़की को कुदृष्टि से मत देखना या उसके साथ दुर्व्यवहार मत करना।

'थप्पड़' यह फिल्म पितृसत्ता के उस सूक्ष्म रूप को उजागर करती है जहाँ प्रेम के नाम पर महिलाओं के आत्म-सम्मान के साथ समझौता किया जाता है। यह सिखाती है एक स्त्री के लिए सम्मान प्रेम से अधिक महत्व रखता है। फिल्म की मुख्य पात्र अमृता एक खुशहाल गृहिणी है, जिसकी दुनिया अपने पति विक्रम की जरूरतों और खुशियों के इर्द-गिर्द घूमती है। सब कुछ ठीक चल रहा होता है, जब तक कि एक पार्टी के दौरान ऑफिस की खीज में विक्रम सबके सामने अमृता को एक थप्पड़ मार देता है। यह एक थप्पड़ अमृता के आत्मसम्मान को झकझोर देता है और उसे यह सोचने पर मजबूर कर देता है कि क्या जिस रिश्ते में 'सम्मान' ही नहीं, वहाँ रहना सही है? फिल्म यह सवाल उठाती है कि ''सिर्फ एक थप्पड़ ही तो था''[8] कहना कितना गलत है। समाज अक्सर महिलाओं को थोड़ा सहने और रिश्ता बचाने के लिए झुकने की सलाह देता है, जिसे फिल्म ने गलत ठहराया है। यह फिल्म इस धारणा को चुनौती देती है कि एक थप्पड़ मामूली नहीं है। यह थप्पड़ उस सम्मान का उल्लंघन है जो एक बराबरी के रिश्ते की नींव होनी चाहिए। जब अमृता कहती है, ''सिर्फ एक थप्पड़, पर नहीं मार सकता,''[9] तो वह उस पुरुष विशेषाधिकार को चुनौती दे रही होती है जो पति को अपनी पत्नी पर स्वामित्व का अधिकार देता है। फिल्म में अमृता की सास और उसकी माँ का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है। वे पितृसत्ता के उस रूप को दर्शाती हैं जहाँ महिलाएँ ही दूसरी महिलाओं को सहनशीलता का पाठ पढ़ाती हैं। अमृता की सास उसे अपनी गलतियाँ सुधारने की सलाह देती है, न कि अपने बेटे को फटकारती है। यह दर्शाता है कि कैसे पितृसत्तात्मक समाज ने महिलाओं के मन में यह बात बैठा दी है कि रिश्ते को बचाए रखने की पूरी जिम्मेदारी केवल स्त्री की है।

फिल्म केवल अमृता की कहानी नहीं है, बल्कि यह विभिन्न वर्गों की महिलाओं को जोड़ती है। सुनीता कामवाली वह शारीरिक हिंसा को अपनी नियति मान चुकी है क्योंकि उसके पास आर्थिक सुरक्षा नहीं है। नेत्रा वकील वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र और सफल है, लेकिन वह भी एक ऐसे रिश्ते में है जहाँ उसका पति उसकी सफलता को कम आंकता है। 'थप्पड़' फिल्म समाज के सामने न्याय की नई परिभाषा रचती है जहाँ अमृता का तलाक मांगना केवल कानूनी प्रक्रिया नहीं है, बल्कि अपनी स्वयं के निर्णय लेने की शक्ति को प्राप्त करना है। वह विक्रम से नफरत नहीं करती, लेकिन वह उस पुरुष के साथ नहीं रह सकती जो उसे एक इंसान के बजाय एक वस्तु की तरह देखता है जिस पर वह अपना गुस्सा निकाल सके। यह फिल्म यह सिद्ध करती है कि पितृसत्ता हर वर्ग की महिला को प्रभावित करती है, चाहे वह अमीर हो या गरीब।

'छपाक' फिल्म में शोषित स्त्री को विजेता के रूप में दिखाया गया है। यह फिल्म चित्रित करती है कि किसी व्यक्ति की खूबसूरती चेहरे में नहीं होती, हौसले से जीवन जीने में

होती है। फिल्म मालती के इर्द-गिर्द घूमती है, जो एक 19 साल की खुशमिजाज और महत्वाकांक्षी लड़की है। एक तरफा प्यार और बदले की भावना में जलकर बशीर खान फिल्म में उस पर एसिड फेंक देता है। फिल्म मालती के इस दर्दनाक हादसे के बाद के संघर्ष, उसकी कई सर्जरी, लंबी कानूनी लड़ाई और समाज के नजरिए में आए बदलाव को दिखाती है।

नारीवादी सिद्धांत के अनुसार, एसिड अटैक केवल एक अपराध नहीं है, बल्कि यह पुरुष प्रधान समाज का एक ऐसा हथियार है जिसका उपयोग स्त्री को सबक सिखाने के लिए किया जाता है। फिल्म में बब्बू मालती पर एसिड इसलिए फेंकता है क्योंकि उसने उसके प्रेम-प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। यह 'मेल ईगो' (पुरुष अहंकार) को दर्शाता है, जहाँ पुरुष स्त्री की ना को स्वीकार नहीं कर पाता और उसे अपनी संपत्ति समझकर उसके अस्तित्व या कहें उसके चेहरे को नष्ट करने का प्रयास करता है। पितृसत्ता ने सदियों से स्त्री की पहचान को उसकी सुंदरता से जोड़कर रखा है। 'छपाक' इस रूढ़ि को ध्वस्त करती है। फिल्म दिखाती है कि कैसे समाज एक एसिड सर्वाइवर को बेचारी या अपशकुन की नजर से देखता है। नारीवादी नजरिए से, मालती का अपने झुलसे हुए चेहरे के साथ सार्वजनिक स्थानों पर घूमना और सेल्फी लेना एक सामाजिक विद्रोह है। वह समाज को यह दिखाना चाहती है कि उसकी पहचान उसके चेहरे की त्वचा से कहीं अधिक गहरी है। वह कहती भी है—''उन्होंने मेरी सूरत बदली है मेरा मन नहीं।''[10] फिल्म छपाक मालती को एक बेचारी पीड़िता के रूप में नहीं, बल्कि एक 'फाइटर' (योद्धा) के रूप में चित्रित करती है। नारीवाद 'विक्टिमहुड' के बजाय 'सर्वाइवरशिप' पर जोर देता है। मालती का अपनी पीड़ा को अपनी शक्ति में बदलना, अदालतों के चक्कर काटना और एसिड की बिक्री के खिलाफ कानून बनवाने के लिए संघर्ष करना इस बात का प्रतीक है। एक संवाद में वकील उससे कहता है—''सेशन कोर्ट के बाद हाई कोर्ट उसके बाद सुप्रीम कोर्ट शोर की आदत डाल लो बहुत साल चलने वाली है ये लड़ाई।''[11] मालती चाहे तो पीछे हट सकती थी, लेकिन उसने लड़ना पसंद किया और वह एक योद्धा के रूप में समाज के सामने आती है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि 'मदर इंडिया' फिल्म से लेकर और 'छपाक' तक भारतीय सिनेमा ने स्त्री छवि को सशक्त बनाने का प्रयास किया है। यह अधिकतर सफल भी रहा है। 'मदर इंडिया' की राधा से लेकर समाज के खूबसूरती के मापदंडों को तोड़ती मालती तक का सफर आसान नहीं रहा लेकिन स्त्री को निर्णय लेने की आजादी और चुनने की स्वतंत्रता अब समाज धीरे-धीरे प्रदान कर रहा है। महिलायें हर क्षेत्र में अच्छा कर रही हैं। इसमें इस तरह की फिल्मों का बड़ा योगदान है जो उन्हें प्रेरणा देने का कार्य करती हैं।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल -shreya.singh.du1296@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. मदर इंडिया - महबूब खान https://youtu.be/Ss7lc5kB0BY\si¾1ZKlAb_qALT0czNb
2. मदर इंडिया - महबूब खान https://youtu-be/Ss7lc5kB0BY\si¾1ZKlAb_qALT0czNb
3. मर्दानी - प्रदीप सरकार, https://www-netflix-com/in/title/80005320\s¾i&trkid¾13747225-shareType¾Title-shareUuid¾398814B7-8F66-46B7&B2A2&A71FC334723C-trg¾cp-unifiedEntityId Encoded¾Video: 80005320-vlang¾en
4. वही
5. पिंक - अनिरुद्ध रॉय https://youtu-be/wjkqm&MZÛ80\si¾9vC1A2eJiJLÛ9Dn_
6. वही
7. वही
8. थप्पड़ - अनुभव सिन्हा https://app-primevideo.com/detail\gti¾amzn1-dv-gti-88b8b7c3-e6c4&8c81-b441&1c5887d29ef5-territory¾IN&ref_¾share_ios_movie-r¾web
9. वही
10. छपाक - मेघना गुलजार, jio hotstar
11. वही

चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियों में व्यक्त प्रेम संवेदना

कल्पना कुशवाहा

शोध सार

यह लेख हिंदी के प्रसिद्ध कहानीकार चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियों में व्यक्त प्रेम संवेदना का विश्लेषण करता है। गुलेरी जी ने केवल तीन कहानियाँ लिखीं, लेकिन अपनी कला और परिपक्व गद्य के कारण वे हिंदी कथा साहित्य के शिखर पुरुष माने जाते हैं। लेख का मुख्य विवरण इस प्रकार है : प्रमुख कहानियाँ—गुलेरी जी ने तीन कहानियाँ लिखीं- 'सुखमय जीवन' (1911), 'बुद्धू का कांटा' (1913) और उनकी कालजयी रचना 'उसने कहा था' (1915)। प्रेम के विभिन्न रूप—'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का कांटा'—इन दोनों कहानियों में प्रेम की सफलता दिखाई गई है और इनका अंत सुखद (सुखान्त) है। 'सुखमय जीवन' में रूप के प्रति आकर्षण और संयोगवश विवाह को दिखाया गया है, जबकि 'बुद्धू का कांटा' में प्रेम के साहचर्य रूप और सामाजिक समस्याओं (जैसे बाल विवाह) को उभारा गया है। 'उसने कहा था'—यह कहानी हिंदी साहित्य में 'मील का पत्थर' मानी जाती है। इसमें प्रेम की असफलता के साथ-साथ बलिदान, कर्तव्य और निस्वार्थ निष्ठा का बेमिसाल चित्रण है। कहानी का नायक लहना सिंह बचपन के एक छोटे से संवाद और वचन की रक्षा के लिए युद्ध में अपने प्राण न्योछावर कर देता है। डॉ. नगेंद्र और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने गुलेरी जी की कला की सराहना की है। शुक्ल जी के अनुसार, यह कहानी 'मर्यादा के भीतर रहकर प्रेम की अभिव्यंजना' करने वाली अद्‌भुत रचना है। गुलेरी जी की कहानियों में प्रेम केवल रसिकता नहीं, बल्कि जीवन के गंभीर अनुभवों से निकला रस है। उन्होंने अपनी अंतिम कहानी तक आते-आते प्रेम को उसके सर्वोत्कृष्ट और मर्यादित रूप में स्थापित किया।

बीज शब्द

प्रेम, अभिव्यक्त, मर्यादा, सौंदर्य, सर्वोत्कृष्ट।

कहानी आन्दोलन के विकास क्रम की दृष्टि से हिंदी कहानी के शुरुआती दौर में चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी का स्थान निश्चय ही महत्वपूर्ण है। गुलेरी जी की कहानियाँ कहानी आंदोलन के विकास का सिंहद्वार है। प्रभाव और प्रेरणा की दृष्टि से गुलेरी जी का स्थान स्वतंत्र है। जिस समय गुलेरी जी कहानियाँ प्रकाश में आयीं उस समय प्रेमचंद और प्रसाद जी पाँच परमेश्वर और ग्राम जैसी कहानियाँ लिख रहे थे। उस दौर में गुलेरी जी समृद्ध और परिपक्व गद्य लेकर उपस्थित होते हैं जिसे देखकर सभी को आश्चर्य होता है। डॉ. नगेंद्र जैसे प्रसिद्ध समीक्षक भी गुलेरी जी कहानियों को अपने समय से 35-36 वर्ष आगे की कहानियाँ स्वीकार करते हैं। इस दौर में जब हिंदी कहानी घुटनों के बल चलना सीख रही थी। तो गुलेरी जी की कहानियाँ पाँव के बल चलकर चौकड़ी भरने में समर्थ थी। चंद्रधर शर्मा गुलेरी द्विवेदी युग के सशक्त कहानीकार हैं। जिन्होंने हिंदी कहानी को यौवन की शक्ति और ऊर्जा से पुष्ट कर उसे गंभीर धरातल पर उतारा। कम लिखकर नाम कमाने वालों में गुलेरी जी भी एक हैं। जिन्होंने केवल तीन कहानियाँ लिखीं—'सुखमय जीवन' (1911), 'बुद्धू का कांटा' (1913), 'उसने कहा था' (1915) जिसमें उसने कहा था सबसे प्रसिद्ध

कहानी है। यह कहानी रमणीयता की कसौटी पर खरी उतरती है। 'उसने कहा था' कहानी गुलेरी जी का सम्पूर्ण कथा साहित्य बनकर हिंदी जगत के सम्मुख आया। हिंदी के प्रख्यात मनोविश्लेषणवादी लेखक जैनेद्र ने गुलेरी जी के बारे में कहा था—''पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी विलक्षण विद्वान थे। उनकी प्रतिभा बहिर्मुखी थी। उनमें गजब की जिंदादिली थी और उनकी बोली भी अनोखी थी। गुलेरी जी न केवल विद्वता में अपने समकालीन साहित्यकारों से ऊँचे ठहरते थे अपितु, एक दृष्टि से वह प्रेमचंद से भी ऊँचे साहित्यकार हैं। प्रेमचंद ने समसायिक स्थितियों का चित्रण तो बहुत बढ़िया किया है, पर व्यक्ति-मानस के चितेरे के रूप में 'गुलेरी' का जोड़ नहीं है।''[1]

कुछ ऐसे रचनाकार होते हैं जिनकी ख्याति उनकी एक ही रचना के कारण बहुत अधिक होती है। उदाहरण के लिए हम फणीश्वर नाथ रेणु का नाम ले सकते हैं। जिनका जिक्र आते ही उनके उपन्यास 'मैला आँचल' का नाम कौंध पड़ता है। इसी तरह जब चंद्रधर शर्मा गुलेरी की बात आती है तो उनकी कहानी 'उसने कहा था' का जिक्र अनिवार्य रूप से होता है। वर्तमान समय में इस कहानी के 100 वर्ष पूरे हो गए और आज भी यह कहानी हिंदी कथा जगत में मील के पत्थर की तरह अपना कीर्तिमान बनाये हुए उपस्थित है। द्विवेदी जी लिखते हैं-''चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियों की संख्या तो बहुत थोड़ी है, पर इन स्वल्प रचनाओं के बल पर वे साहित्य में अपूर्व गौरव के अधिकारी हुए हैं।''[2]

जैसा कि इस पत्र का विषय गुलेरी जी की कहानियों में व्यक्त प्रेम संवेदना है। इस दृष्टि से गुलेरी जी की तीनों कहानियों पर विचार करना अधिक समीचीन है। गुलेरी जी की प्रारंभिक दो कहानियों में 'सुखमय जीवन और बुद्धु का कांटा' प्रणय के सफलता को दिखाया गया है वहीं 'उसने कहा था' कहानी प्रणय के सफलता देखने को मिलती है। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं कि ''गुलेरी की कहानियों का प्रमुख आकर्षण तो रस ही है। यह रस उथली रसिकता या मानसिक विकसता का तरल द्रव्य नहीं है। जीवन भर के गंभीर उपभोगों से खींचा गाढ़ा रस है।''[3]

गुलेरी जी की कहानी 'सुखमय जीवन' में 'भारतमित्र' पत्रिका प्रकाशित हुई थी और यह गुलेरी जी की पहली कहानी है। इस कहानी में गुलेरी जी एक ओर हिंदू धर्म लेखकीय जीवन छद्म लेखन तथा तत्कालीन स्थिति जैसे बाल विवाह आदि पर व्यंग्य करते हैं। वहीं दूसरी ओर यह कहानी कला शिल्प तथा मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से सहज सामाजिक प्रणय कर्तव्य पर आधारित है। जयदेव शरण वर्मा और कमला के प्रेम और विवाह के मध्य सामाजिक संघर्ष स्पष्ट करना लेखक का लक्ष्य था सुखमय जीवन कहानी में लेखक ने खुद के अनुभव को नहीं व्यक्त किया बल्कि दूसरे के आधार पर सुखमय जीवन की रचना की है। सुखमय जीवन कहानी में रूप के प्रति आसक्ति देखने को मिलती है। इस कहानी में प्रेम का बाह्य पक्ष चित्रित हुआ है। सुखमय जीवन लेखक जयदेव शरण वर्मा और कमला को एकांत में देखकर कर कहते हैं ''प्यारी कमला तुम मुझे प्राणों से बढ़कर हो। प्यारी कमला मुझे अपना भ्रमर बनने दो मेरा जीवन तुम्हारे बिन मरुस्थल है। उसमें मंदाकिनी बनकर आओ और जलते हुए हृदय में अमृत की पट्टी बन जाओ जब से तुम्हें देखा है। मेरा जीवन मेरे अधीन नहीं है।''[4] इस कहानी में रूप आसक्ति को देखा जा सकता है। जयदेव शरण वर्मा केवल चंद मिनटों के लिए कमला से मिलते हैं और उन चंद मिनटों में वह कमला के हो जाते हैं। उसके उपरांत कमला के पिता से अपनी शादी की बात करते हैं। अंततः दोनों का विवाह हो जाता है। इस प्रकार से 'सुखमय जीवन' कहानी का सुखद अंत होता है।

गुलेरी जी की दूसरी कहानी 'बुद्धू का कांटा' दूसरी महत्त्वपूर्ण कहानी मानी जाती है। गुलेरी जी के इस कहानी में विविध आयाम देखने को मिलते हैं। इस कहानी में भी समसामयिक समस्या बाल विवाह, दहेज प्रथा को बखूबी दिखाया गया है। मुसलमान पात्र ठट्ठू वाला की करुणा भरी गाथा के रूप में न्याय प्राप्ति की समस्या को दिखाया गया है। रघुनाथ से कहता है—''कचहरियाँ गरीबों के लिए नहीं है बा छा वे तो सेठों के लिए हैं।''[5] कहानी का नायक रघुनाथ उसकी व्यथा को सुनकर सोचता है कि ''कितने गरीबों का इतिहास ऐसी विचित्र घटनाओं के धूप छाँव से भरा है। हम लोग प्रकृति के इन सच्चे अर्थों को न देखकर उपन्यासों में मृग तृष्णा में चमत्कार देखते हैं।''[6] गुलेरी जी की इस कहानी में प्रेम का साहचर्य रूप भी दिखाया गया है। जो रास्ते में अपरिचित के रूप में मिलकर एक दूसरे में घुलमिल जाते हैं। वे जान पाते हैं कि आपस में उनका विवाह होना है। गुलेरी जी की इस कहानी में अलग तरह का प्रेम देखने को मिलता है।

इस कहानी का कथानक प्रेम के विभिन्न घटनाओं के माध्यम से आगे बढ़ता है। कुंए में पानी से लेकर दौड़ लगाने पैर में कांटा घुसने पर निकलने आदि रूप में प्रेम के रूप को

दिखाया गया है। इस कहानी में रघुनाथ और भगवती को प्रणय को चित्रित किया गया है। गुलेरी जी कहानी 'बुद्धू का कांटा' बहुत ही लंबी तथा बहुस्तरीय कहानी है। इसके बावजूद भी गुलेरी जी प्रेम के विविध रूप को बहुत ही कलात्मक रूप दिखाए हैं तथा प्रणय के बंधन को सामाजिक स्थिति का सजीव चित्रण किए हैं।

'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का कांटा' दोनों कहानियों में प्रणय की सफलता को दिखाया गया है। और इन कहानियों का अंत भी सुखान्त है लेकिन दोनों के प्रेम में अंतर दिखाई पड़ता है। 'सुखमय जीवन' के अपेक्षा, 'बुद्धू का कांटा' में गुलेरी जी प्रेम संबंधित संवेदना ज्यादा निखर के सामने आती है। और इस कहानी में प्रेम के विविध रूप भी दिखाई पड़ते हैं।

प्रेम संवेदना तथा कर्तव्य की दृष्टि से उसने कहा था कहानी अद्वितीय है। गुलेरी जी की कहानी उसने कहा था सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। प्रेम कर्तव्य युग बोध आदि का जितनी मार्मिक व्यंजना इस कहानी में देखने को मिलती है उतनी मार्मिक व्यंजना अन्यत्र दुर्लभ है। 'उसने कहा था' प्रेम सौंदर्य बलिदान की अद्‌भुत प्रेम कथा है। प्रथम विश्व युद्ध के समय लिखी यह प्रेम कथा कई मायनों में अप्रियतम है। प्रथम दृष्टि प्रेम तथा साहचर्यजन्य प्रेम दोनों का ही इस प्रेमोदय में सहकार है। बालपन की यह प्रीति इतना अगाध विश्वास लिए है कि 25 वर्षों के अंतराल भी प्रेमिका को यह विश्वास है कि वह अपने उस प्रेमी से जिसने बचपन में कई बार अपने प्राण संकट में डालकर उसकी जान बचाई है। यदि आँचल पसार कर उससे कुछ माँगोगी तो अवश्य मिलेगा और दूसरी ओर प्रेमी का उसने कहा था कि बात रखने के लिए प्राण न्योछावर कर वचन निभाना उसके अद्‌भुत बलिदान और प्रेम पर सर्वस्व अर्पित करने की बेमिसाल कहानी है। 'उसने कहा था' का नायक अंत तक किसी को नहीं बताना चाहता स्वयं अपने अधिकारी सूबेदार को भी नहीं इतनी बड़ी कुबानी सिर्फ उसने कहा था कि वचन रक्षा के लिए दे दी बस केवल इतना भर कहकर दुनिया को छोड़ने को तैयार है। सूबेदारनी को चिट्ठी लिखना तो मेरा माथा टेकना लिख देना। और जब जाओ तो कह देना जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया। सूबेदार भी हैं कि उसने क्या कहा था तो भी लहना सिंह का उत्तर यही है कि मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना। प्रेमिका के वचनों पर सहर्ष प्राण त्यागकर ऐसी मौन महायात्रा धन्य है। यह कहानी व्यवहार कर्तब्य के साथ ही साथ प्रेम की गहराई को भी लक्षित करती है। 25 वर्ष बीत जाने पर भी अपनी उम्र के सैंतीस में प्रवेश करने पर केवल इस संवाद की पुनरावृत्ति ''तेरी कुड़माई हो गई?''[7] सारे अतीत को लहना सिंह के सामने प्रत्यक्ष तथा जीवंत कर देती है। यौवन की प्रीति पर सर्वस्व न्योछावर कर देने वालों का उदाहरण संसार की प्रेम कथाओं में मिल जाएगा किंतु बालपन की साहचर्य जन्म सहज प्रीति पर प्राणों का बलिदान कर देने वाला यह उदाहरण सर्वथा विरल केवल लहना सिंह का है। लहना सिंह इसी कारण प्रेम कथाओं में सबसे निराला नायक है। प्राणों की बाजी लगाकर अपने प्रेम को दिए गए वचन की रक्षा करता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस कहानी की प्रशंसा करते हुए ठीक ही लिखा है कि ''मर्यादा के भीतर रहकर प्रेम की अभिव्यंजना करने वाली अद्‌भुत कहानी है।''[8]

इस कहानी की मूल संवेदना यह है कि इस संसार में कुछ ऐसे निस्वार्थ व्यक्ति होते हैं जो किसी के कहे को पूरा करने के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं। इस कहानी का पात्र लहना सिंह ने अपने प्राण देकर बोधा सिंह और हजारा सिंह की प्राण रक्षा की। और लहना सिंह ने ऐसा इसलिए किया क्योंकि सूबेदारनी के उसने कहा था के वचन के कारण अपने प्राणोत्सर्ग कर दिए। इसी संदर्भ में विजयेंद्र स्नातक ने लिखा है- ''रचना शिल्प की दृष्टि से यह कहानी प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गई थी किंतु यह रोमांटिक शैली और उत्सर्ग भावना के सामंजस्य की प्रसिद्ध कहानी है।''[9]

चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रारंभिक दोनों कहानियों से भिन्न 'उसने कहा था' कहानी है। जहाँ दोनों कहानियों में प्रणय की सफलता को दिखाया गया है तथा 'उसने कहा था' में प्रणय असफलता को दिखाया गया है। जहाँ 'सुखमय जीवन' कहानी में सुखमय जीवन का नायक जयदेव शरण वर्मा बी. ए. गृहस्थ जीवन पर रचित अपनी पुस्तक सुखमय जीवन के बहाने नायिका के संपर्क में आता है और उससे उसका विवाह हो जाता है। इसी तरह 'बुद्धू का कांटा' नामक कहानी में जो प्रयोग में इंटरमीडिएट की पढ़ाई कर घर लौटते समय भगवती नाम की लड़की से मिलता है और संयोग से उसी से उसका विवाह हो जाता है। वहीं दूसरी ओर प्रेम कर्तव्य के लिए जान न्योछावर कर देने वाली कहानी 'उसने कहा था' है। इस प्रकार से हम ये देखते हैं कि गुलेरी की प्रारंभिक दो कहानियों में प्रेम

का वह स्वरूप सामने नहीं आता जो उनकी कहानी 'उसने कहा था' में देखने को मिलता है। इसी तरह गुलेरी जी ने अंतिम कहानी तक आते-आते प्रेम को सर्वोत्कृष्ट रूप प्रदान करते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि ''सुखमय जीवन में गुलेरी जी की कहानी कला शैशव है 'बुद्धू का कांटा' में और 'उसने कहा था' में आकर में पूर्णत: प्रेषित हो गई है।''[10]

निष्कर्षत: हिंदी को समृद्ध तथा व्यापक फलक प्रदान करने में गुलेरी जी का अवदान अन्यतम है। उन्होंने कम लिखा परंतु जो भी लिखा अमरत्व की स्याही से लिखा गुलेरी जी ऐसे अकेले कथा लेखक थे जिन्होंने कहानियाँ लिखकर कथा साहित्य को नई दिशा और आयाम प्रदान किया। गुलेरी जी की कहानियों प्रेम की संवेदना का व्यापक स्तर दिखाई पड़ता है तथा उनकी कहानियों में प्रेम को मर्यादित रूप देखा जा सकता है। इस तरह गुलेरी जी प्रेम संवेदना के अन्यतम लेखक हैं। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने गुलेरी ने साहित्य को अमूल्य रत्न माना है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल -madhusinghkumd@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. यादव राजेन्द्र, कहानी स्वरूप और संवेदना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ 168
2. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 244
3. हिंदी साहित्य का इतिहास - संपा. डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स, पृष्ठ 530
4. सुखमय जीवन - चंद्रधर शर्मा गुलेरी https://share.google/Eoa9gjT7MSnfvtCj4
5. बुद्धू का कांटा - चंद्रधर शर्मा गुलरी https://share.google/w67qd9cNED5yCuNT2
6. वही
7. उसने कहा था - चंद्रधर शर्मा गुलेरी https://share.google/MEkztfkJhM8sIBrOt
8. हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 306
9. स्नातक, विजेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, पृष्ठ 243
10. हिंदी साहित्य का इतिहास - संपा. डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स, पृष्ठ 530

मंदिरों में सकारात्मक ऊर्जा का मानव जीवन एवं मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

सोमवती माहौर

शोध सार

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में मंदिरों को केवल धार्मिक उपासना के स्थलों के रूप में सीमित नहीं किया गया है, बल्कि उन्हें मानव चेतना के विकास, मानसिक संतुलन तथा आध्यात्मिक उन्नति के केंद्र के रूप में देखा गया है। मंदिर एक ऐसा संरचित वातावरण प्रस्तुत करते हैं, जहाँ मनुष्य बाह्य जीवन की जटिलताओं से हटकर आंतरिक शांति और स्थिरता का अनुभव करता है। यह अनुभव केवल आस्था पर आधारित नहीं है, बल्कि इसके पीछे एक गहन सांस्कृतिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक संरचना कार्य करती है। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य यह विश्लेषण करना है कि मंदिरों में उपस्थित विभिन्न तत्व—जैसे ध्वनि (मंत्रोच्चार एवं घंटानाद), प्रकाश (दीप), सुगंध (धूप-अगरबत्ती), स्थापत्य संरचना तथा सामूहिक धार्मिक क्रियाएँ मानव मन और मस्तिष्क पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं तथा किस प्रकार ये सभी तत्व मिलकर 'सकारात्मक ऊर्जा' का वातावरण निर्मित करते हैं। भारतीय दार्शनिक परंपरा में 'प्राण' को जीवन शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, जो मानव शरीर, मन और चेतना के बीच संतुलन स्थापित करता है। उपनिषदों में प्राण को जीवन का आधार माना गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि मानव स्वास्थ्य केवल शारीरिक स्थिति तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें मानसिक एवं ऊर्जा-संतुलन भी सम्मिलित है। इस दृष्टि से मंदिरों को ऐसे स्थानों के रूप में देखा जा सकता है जहाँ प्राण-ऊर्जा का संतुलन सहज रूप से स्थापित होता है। मंदिरों में होने वाले मंत्रोच्चार से उत्पन्न ध्वनि तरंगें मस्तिष्क की तरंगों को प्रभावित करती हैं, जिससे मानसिक तनाव में कमी और एकाग्रता में वृद्धि होती है। इसी प्रकार घंटानाद व्यक्ति के ध्यान को वर्तमान क्षण में केंद्रित कर मानसिक विचलन को कम करता है। दीपक का प्रकाश अंधकार से प्रकाश की ओर जाने का प्रतीक है, जो मानसिक जागरूकता और आशा का संचार करता है। धूप एवं सुगंध वातावरण को शुद्ध कर भावनात्मक स्थिरता प्रदान करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक और न्यूरोवैज्ञानिक अध्ययन भी यह स्वीकार करते हैं कि ध्वनि, प्रकाश और सुगंध जैसे संवेदी तत्व मानव मस्तिष्क के भावनात्मक तंत्र एवं संज्ञानात्मक कार्य पर प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार मंदिरों की परंपरागत व्यवस्थाएँ आधुनिक विज्ञान द्वारा भी आंशिक रूप से समर्थित प्रतीत होती हैं। यह शोधपत्र यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि मंदिर केवल धार्मिक संस्थान नहीं हैं, बल्कि वे बहुआयामी मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पारिस्थितिकी तंत्र हैं, जो मानव जीवन में मानसिक संतुलन, सकारात्मक ऊर्जा तथा भावनात्मक स्थिरता को बढ़ावा देते हैं।

बीज शब्द

मंदिर, सकारात्मक ऊर्जा, मानसिक स्वास्थ्य, मंत्रोच्चार, ध्यान, भारतीय संस्कृति।

प्रस्तावना

भारतीय सभ्यता विश्व की उन प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है, जहाँ जीवन को केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में नहीं, बल्कि एक गहन आध्यात्मिक यात्रा के रूप में देखा गया है। यहाँ मानव जीवन का उद्देश्य केवल भोग या अर्जन नहीं, बल्कि आत्मबोध, मानसिक शांति और समग्र विकास माना गया है। इसी समग्र दृष्टिकोण के कारण भारतीय जीवन-दर्शन में मंदिरों की अवधारणा विकसित हुई, जो केवल

धार्मिक अनुष्ठान के स्थल नहीं, बल्कि मानव चेतना को उन्नत करने वाले विशिष्ट ऊर्जा-क्षेत्र के रूप में प्रतिष्ठित हैं। मंदिर भारतीय संस्कृति में ऐसे स्थान हैं जहाँ व्यक्ति बाहरी जगत की भागदौड़, तनाव और मानसिक विक्षेपों से दूर होकर एक विशिष्ट मानसिक अवस्था में प्रवेश करता है। यह अवस्था केवल धार्मिक भावनाओं का परिणाम नहीं होती, बल्कि इसके पीछे एक सुव्यवस्थित सांस्कृतिक, स्थापत्य, ध्वनि-संरचना और मनोवैज्ञानिक व्यवस्था कार्य करती है। मंदिरों की संरचना इस प्रकार की गई है कि वहाँ प्रवेश करते ही व्यक्ति का मन शांत होने लगता है और उसकी चेतना एकाग्रता की दिशा में अग्रसर होती है।

भारतीय दर्शन में मानव अस्तित्व को तीन स्तरों शरीर, मन और आत्मा में विभाजित किया गया है। इन तीनों के बीच संतुलन को ही स्वास्थ्य और सुख का आधार माना गया है। यदि मन असंतुलित है तो शारीरिक स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है, और यदि चेतना अस्थिर है तो जीवन में आंतरिक शांति संभव नहीं होती। मंदिर इस त्रिस्तरीय संतुलन को स्थापित करने में सहायक माने गए हैं। उपनिषदों में मानसिक शांति को आत्मिक उन्नति की पूर्वशर्त माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है—**''शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।''**[1]

यह श्लोक इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि शांत, संयमित और स्थिर मन वाला व्यक्ति ही आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। मंदिरों का वातावरण इसी मानसिक शांति को उत्पन्न करने में सहायक माना गया है।

वर्तमान समय में मानव समाज तीव्र औद्योगिकीकरण, तकनीकी विकास और प्रतिस्पर्धात्मक जीवनशैली के कारण अनेक प्रकार के मानसिक दबावों से गुजर रहा है। तनाव, चिंता, अवसाद और अनिद्रा जैसी समस्याएँ आज सामान्य हो चुकी हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इन समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न उपचार प्रस्तुत करता है, किंतु मानसिक स्थिरता और आंतरिक शांति के लिए पारंपरिक आध्यात्मिक साधनों की आवश्यकता आज भी बनी हुई है। ऐसे संदर्भ में मंदिरों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

मंदिरों का महत्त्व केवल धार्मिक विश्वास तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक अनुभवात्मक संरचना है, जहाँ ध्वनि, प्रकाश, सुगंध, स्थानिक संरचना और सामूहिक चेतना मिलकर एक विशेष मनोवैज्ञानिक वातावरण का निर्माण करते हैं। मंदिर में प्रवेश करते ही घंटानाद, मंत्रोच्चार और शांत वातावरण व्यक्ति की चेतना को बाह्य विकर्षणों से हटाकर आंतरिक केंद्र की ओर ले जाते हैं। यह प्रक्रिया आधुनिक मनोविज्ञान में 'ध्यान पुनर्निदेशन' और 'तनाव कम करना' के रूप में देखी जा सकती है।

भारतीय परंपरा में 'प्राण' को जीवन का आधार माना गया है। यह केवल शारीरिक ऊर्जा नहीं, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक संतुलन का भी प्रतीक है। जब व्यक्ति का प्राण संतुलित होता है, तब वह सकारात्मक ऊर्जा का अनुभव करता है। मंदिरों का वातावरण इस प्राण-ऊर्जा के संतुलन को बढ़ाने में सहायक माना गया है, क्योंकि यहाँ सभी संवेदी तत्व एक विशेष सामंजस्य में कार्य करते हैं।

मंदिर स्थापत्य भी इस अनुभव को गहराई प्रदान करता है। गर्भगृह का शांत, सीमित प्रकाश वाला वातावरण व्यक्ति को बाहरी उत्तेजनाओं से दूर कर ध्यान की स्थिति में ले जाता है। यह संरचना आधुनिक पर्यावरण मनोविज्ञान के उस सिद्धांत के अनुरूप है जिसमें यह माना जाता है कि कम संवेदनी उत्तेजना वाले स्थान मानसिक शांति को बढ़ाते हैं।

इस प्रकार मंदिर केवल पूजा के स्थान नहीं हैं, बल्कि वे मानव मन के लिए एक 'restorative environment' के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ व्यक्ति अपनी मानसिक ऊर्जा को पुनः प्राप्त करता है। यह शोध इसी तथ्य का विश्लेषण करता है कि मंदिरों में उपस्थित विभिन्न तत्व किस प्रकार मानव जीवन में सकारात्मक ऊर्जा का संचार करते हैं और मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं।

सकारात्मक ऊर्जा की अवधारणा

भारतीय दार्शनिक परंपरा में 'सकारात्मक ऊर्जा' की अवधारणा किसी एक स्थिर वैज्ञानिक परिभाषा तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और अनुभवात्मक सिद्धांत के रूप में विकसित हुई है। यह ऊर्जा मानव जीवन की उस आंतरिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है, जो विचारों, भावनाओं और चेतना को संतुलित अवस्था में बनाए रखती है। भारतीय ज्ञान परंपरा में इसे 'प्राण' के रूप में समझा गया है, जो सम्पूर्ण जीवन-तंत्र का आधार माना जाता है।

उपनिषदों में प्राण को केवल शारीरिक क्रिया का आधार नहीं माना गया, बल्कि इसे समस्त अस्तित्व को धारण करने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद्

में कहा गया है –''**प्राणो हि भूतानामायुः।**''[2]

यह कथन स्पष्ट करता है कि प्राण ही जीवन का मूल आधार है। इसी प्राण-शक्ति का संतुलित प्रवाह ही व्यक्ति को मानसिक स्थिरता, शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मिक शांति प्रदान करता है। सकारात्मक ऊर्जा को इस दृष्टि से समझा जा सकता है कि यह वह मानसिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति के भीतर नकारात्मक विचारों का प्रभाव न्यूनतम होता है तथा आशा, आत्मविश्वास, करुणा और संतोष जैसे भाव प्रबल रहते हैं। जब व्यक्ति का मन इन सकारात्मक अवस्थाओं में स्थित होता है, तब उसकी निर्णय क्षमता, व्यवहार और मानसिक स्वास्थ्य सभी पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। मंदिरों का वातावरण इसी सकारात्मक ऊर्जा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वहाँ होने वाले मंत्रोच्चार, घंटानाद, दीप प्रज्वलन और सुगंधित धूप जैसे तत्व व्यक्ति की संवेदी प्रणाली पर प्रभाव डालते हैं। यह प्रभाव केवल बाह्य नहीं होता, बल्कि यह मस्तिष्क की तरंगों और भावनात्मक स्थिति को भी प्रभावित करता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, निरंतर सकारात्मक संवेदी अनुभव व्यक्ति के भावनात्मक तंत्र को शांत करता है, जिससे तनाव हार्मोन का स्तर घटता है और मानसिक स्थिरता बढ़ती है।

भारतीय परंपरा में यह माना गया है कि जब व्यक्ति किसी पवित्र स्थान में प्रवेश करता है, तो उसका मन स्वतः ही एकाग्र और शांत होने लगता है। इसका कारण केवल धार्मिक विश्वास नहीं, बल्कि उस स्थान की संरचना, ध्वनि तरंगें और सामूहिक चेतना का प्रभाव भी होता है। मंदिरों में नियमित रूप से होने वाले मंत्रोच्चार और भजन एक प्रकार का ध्वनि-समन्वय उत्पन्न करते हैं, जो मन को बाहरी विकर्षणों से हटाकर आंतरिक केंद्र की ओर ले जाता है। इसके अतिरिक्त, सकारात्मक ऊर्जा को केवल व्यक्तिगत अनुभव के रूप में नहीं देखा जा सकता, बल्कि यह सामाजिक और सामूहिक चेतना का भी परिणाम होती है। जब अनेक व्यक्ति एक ही स्थान पर एक साथ भक्ति, ध्यान या प्रार्थना में संलग्न होते हैं, तो एक प्रकार का सामूहिक मानसिक क्षेत्र निर्मित होता है, जो वातावरण को और अधिक शांत एवं संतुलित बनाता है।

इस प्रकार सकारात्मक ऊर्जा एक बहुआयामी अवधारणा है, जिसमें दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सभी आयाम सम्मिलित हैं। मंदिर इस ऊर्जा को सक्रिय करने वाले ऐसे केंद्र हैं जहाँ मानव चेतना बाहरी जगत से हटकर आंतरिक शांति और स्थिरता की ओर अग्रसर होती है।

मंदिर स्थापत्य एवं पर्यावरणीय प्रभाव

भारतीय मंदिर स्थापत्य केवल धार्मिक या कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि यह एक सुव्यवस्थित दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं पर्यावरणीय व्यवस्था का परिणाम है, जिसका उद्देश्य मानव चेतना को संतुलित एवं ऊर्जावान बनाना रहा है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मंदिर निर्माण को केवल भवन निर्माण की प्रक्रिया के रूप में नहीं देखा, बल्कि इसे मानव-पर्यावरण संबंधों को संतुलित करने वाली एक समग्र प्रणाली के रूप में विकसित किया।

वास्तुशास्त्र के अनुसार किसी भी देवालय का निर्माण दिशा, स्थान, भूमि की गुणवत्ता और प्राकृतिक ऊर्जा प्रवाह को ध्यान में रखकर किया जाता था। विशेष रूप से पूर्व दिशा को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि यह सूर्य ऊर्जा का स्रोत है, जो जीवन, चेतना और सकारात्मकता का प्रतीक है। इस संदर्भ में वास्तु परंपरा में कहा गया है–

''**पूर्वाभिमुखं देवगृहं प्रशस्यते।**''[3]

मंदिर का गर्भगृह विशेष रूप से अत्यंत शांत, सीमित प्रकाश और नियंत्रित ध्वनि वाला स्थान होता है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को बाहरी संवेदी उत्तेजनाओं से दूर कर आंतरिक ध्यान और एकाग्रता की स्थिति में ले जाना होता है। यह संरचना आधुनिक पर्यावरण मनोविज्ञान के उस सिद्धांत के अनुरूप है जिसमें यह माना जाता है कि कम संवेदी उत्तेजना वाले वातावरण मानसिक तनाव को कम करते हैं और एकाग्रता को बढ़ाते हैं। मंदिरों की संरचना में ऊँचा शिखर, सममित आकृति, और केंद्रीय अक्ष का विशेष महत्त्व होता है। यह ज्यामितीय व्यवस्था व्यक्ति की दृष्टि और मानसिक ध्यान को एक केंद्र की ओर ले जाती है, जिससे मन में स्थिरता उत्पन्न होती है। आधुनिक वास्तु मनोविज्ञान के अनुसार भी सममित संरचनाएँ मानव मस्तिष्क में संतुलन और सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती हैं।

मंदिर केवल भौतिक संरचना नहीं है, बल्कि यह एक ऊर्जा क्षेत्र के रूप में भी कार्य करता है। वहाँ प्रयुक्त पत्थर, स्थान चयन, ध्वनि का प्रसार, और सामूहिक उपस्थिति मिलकर एक ऐसा वातावरण निर्मित करते हैं, जो व्यक्ति के मानसिक स्तर पर सकारात्मक प्रभाव डालता है। मंदिर में प्रवेश करते ही व्यक्ति बाहरी शोरगुल से अलग होकर एक भिन्न मानसिक अवस्था में प्रवेश करता है, जिसे 'मनोवैज्ञानिक संक्रमण क्षेत्र' भी कहा जा सकता है।

मंदिरों के निर्माण में प्राकृतिक तत्वों जैसे वायु प्रवाह, सूर्य प्रकाश, जल स्रोतों की निकटता आदि का विशेष ध्यान रखा जाता था। यह दर्शाता है कि भारतीय स्थापत्य परंपरा पर्यावरणीय संतुलन के साथ गहराई से जुड़ी हुई थी। आधुनिक विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि प्राकृतिक वातावरण में समय बिताने से मानसिक तनाव में कमी आती है और भावनात्मक स्थिरता बढ़ती है।

इस प्रकार मंदिर स्थापत्य केवल धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता, बल्कि यह मानव मनोविज्ञान और पर्यावरणीय संतुलन के बीच एक सेतु का कार्य करता है। यह संरचना व्यक्ति को एक ऐसी मानसिक अवस्था में ले जाती है जहाँ वह आत्मचिंतन, ध्यान और आंतरिक शांति का अनुभव कर सकता है।

मंत्रोच्चार, घंटानाद एवं ध्वनि-चिकित्सा

भारतीय परंपरा में ध्वनि को केवल संचार का माध्यम नहीं माना गया है, बल्कि इसे चेतना को प्रभावित करने वाली एक सूक्ष्म ऊर्जा के रूप में स्वीकार किया गया है। वेदों और उपनिषदों में ध्वनि की शक्ति का विशेष उल्लेख मिलता है, जहाँ मंत्रोच्चार को मानसिक शुद्धि, एकाग्रता एवं आध्यात्मिक उन्नति का साधन बताया गया है। मंदिरों में होने वाले मंत्रोच्चार और घंटानाद इसी ध्वनि-परंपरा के व्यावहारिक रूप हैं, जो मानव मन और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डालते हैं। माण्डूक्योपनिषद् में 'ॐ' को सम्पूर्ण ब्रह्मांड का प्रतीक माना गया है—**''ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वम्।''**[4]

यह कथन दर्शाता है कि ध्वनि केवल भौतिक कंपन नहीं, बल्कि ब्रह्मांडीय चेतना का प्रतीक भी है। जब मंदिरों में नियमित रूप से मंत्रोच्चार किया जाता है, तो वातावरण में एक विशिष्ट प्रकार की ध्वनि तरंगों का निर्माण होता है, जो व्यक्ति की मानसिक स्थिति को प्रभावित करती हैं।

मंत्रोच्चार की लयबद्धता मस्तिष्क की तरंगों को संतुलित करने में सहायक मानी जाती है। आधुनिक न्यूरोसाइंस के अनुसार, नियमित और धीमी लय वाली ध्वनियाँ मस्तिष्क में अल्फा तरंगों को सक्रिय करती हैं, जो विश्राम, ध्यान और मानसिक स्थिरता से संबंधित होती हैं। इस प्रकार मंत्रोच्चार को एक प्रकार की 'ध्वनि-चिकित्सा' के रूप में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार मंदिरों में घंटानाद का भी विशेष महत्त्व है। घंटी की ध्वनि अचानक उत्पन्न होकर वातावरण में व्याप्त अन्य ध्वनियों को संतुलित करती है, जिससे मनुष्य का ध्यान वर्तमान क्षण में केंद्रित हो जाता है। यह प्रक्रिया मानसिक विकर्षण को कम करने में सहायक होती है। घंटानाद के पश्चात उत्पन्न होने वाला सूक्ष्म कंपन वातावरण को एकाग्रता के अनुकूल बनाता है, जिससे ध्यान और प्रार्थना की अवस्था गहरी हो जाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो ध्वनि का मानव मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है, विशेषकर सपउइपबे लेजमउ पर, जो भावनाओं और स्मृति को नियंत्रित करता है। नियमित रूप से शांत और लयबद्ध ध्वनियों के संपर्क में आने से तनाव हार्मोन का स्तर घटता है तथा मानसिक संतुलन बढ़ता है। मंदिरों में मंत्रोच्चार और घंटानाद का संयुक्त प्रभाव इसी वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुरूप प्रतीत होता है।

भारतीय परंपरा में ध्वनि को शुद्धिकरण का माध्यम भी माना गया है। यह विश्वास किया जाता है कि पवित्र मंत्रों की ध्वनि नकारात्मक ऊर्जा को समाप्त कर सकारात्मक वातावरण का निर्माण करती है। यद्यपि यह अवधारणा आध्यात्मिक आधार पर स्थापित है, परंतु आधुनिक अध्ययन यह संकेत देते हैं कि ध्वनि तरंगें वातावरणीय कंपन को प्रभावित कर सकती हैं, जिससे मनोवैज्ञानिक अनुभवों में परिवर्तन होता है।

इस प्रकार मंदिरों में प्रयुक्त मंत्रोच्चार और घंटानाद केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं हैं, बल्कि वे एक प्रकार की सूक्ष्म ध्वनि-प्रणाली हैं, जो मानव मन को स्थिरता, शांति और सकारात्मक ऊर्जा की ओर प्रेरित करती हैं। यह परंपरा प्राचीन भारतीय ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच एक महत्त्वपूर्ण सेतु के रूप में देखी जा सकती है।

दीप, सुगंध एवं संवेदी अनुभव

भारतीय मंदिर परंपरा में दीप प्रज्वलन और सुगंध का प्रयोग केवल धार्मिक अनुष्ठान तक सीमित नहीं है, बल्कि यह मानव मनोविज्ञान और संवेदी अनुभवों को संतुलित करने वाली एक सूक्ष्म प्रणाली का हिस्सा है। मंदिर में प्रयुक्त प्रकाश (दीप), सुगंध (धूप-अगरबत्ती) और दृश्य वातावरण मिलकर व्यक्ति के मानसिक एवं भावनात्मक अनुभव को प्रभावित करते हैं, जिससे एक प्रकार की आंतरिक शांति और सकारात्मकता उत्पन्न होती है।

भारतीय दार्शनिक परंपरा में प्रकाश को ज्ञान, चेतना और जागरूकता का प्रतीक माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—**''तमसो मा ज्योतिर्गमय।''**[5]

यह मंत्र अज्ञानता से ज्ञान की ओर, अंधकार से प्रकाश

की ओर तथा अस्थिरता से स्थिरता की ओर ले जाने की प्रक्रिया को दर्शाता है। मंदिरों में दीपक का प्रज्वलन इसी दार्शनिक विचार का भौतिक प्रतिनिधित्व है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश का मानव मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है। पर्याप्त एवं संतुलित प्रकाश व्यक्ति के मूड, ध्यान और भावनात्मक स्थिति को प्रभावित करता है। मंद एवं शांत प्रकाश वातावरण में व्यक्ति अधिक एकाग्र और आत्मचिंतनशील अवस्था में प्रवेश करता है। मंदिरों में दीपक की लौ का स्थिर और धीमा कंपन मन को शांत करने में सहायक माना जाता है, जिससे ध्यान और प्रार्थना की अवस्था सरल हो जाती है।

इसी प्रकार सुगंध का प्रभाव भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। धूप, अगरबत्ती और प्राकृतिक सुगंधित पदार्थों का उपयोग वातावरण को शुद्ध करने के साथ-साथ मानसिक शांति उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान में यह स्वीकार किया गया है कि सुगंध सीधे मस्तिष्क के भावनात्मक तंत्र से जुड़ी होती है, जो भावनाओं और स्मृति को नियंत्रित करती है। इस कारण सुगंध व्यक्ति के मूड और मानसिक स्थिति को तीव्रता से प्रभावित करती है।

मंदिरों में प्रयुक्त चंदन, धूप और प्राकृतिक सुगंध वातावरण में एक शांत एवं स्थिर अनुभव उत्पन्न करते हैं, जिससे तनाव और मानसिक बेचैनी में कमी आती है। यह प्रभाव आधुनिक 'aromatherapy' की अवधारणा के अनुरूप माना जा सकता है, जिसमें सुगंध का उपयोग मानसिक स्वास्थ्य सुधार हेतु किया जाता है।

दीप और सुगंध के साथ-साथ मंदिर का समग्र दृश्य वातावरण भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शांत प्रकाश, धुएँ की हल्की लहरें, और प्राकृतिक सामग्री से निर्मित संरचना मिलकर एक ऐसा संवेदी वातावरण बनाते हैं, जो व्यक्ति को बाहरी तनावों से दूर कर आंतरिक अनुभव की ओर ले जाता है। यह प्रक्रिया मानसिक पुनर्स्थापन में सहायक होती है।

इस प्रकार मंदिरों में दीप, सुगंध और दृश्य अनुभव केवल धार्मिक प्रतीक नहीं हैं, बल्कि वे मानव मन के संवेदी तंत्र को संतुलित करने वाली एक परिष्कृत प्रणाली हैं। यह प्रणाली व्यक्ति को मानसिक शांति, भावनात्मक स्थिरता और सकारात्मक ऊर्जा की ओर प्रेरित करती है।

ध्यान, मानसिक स्वास्थ्य एवं मंदिर का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

भारतीय ज्ञान परंपरा में ध्यान (ध्यान/ध्यानाभ्यास) को मानसिक शुद्धि, चेतना के विस्तार और आंतरिक स्थिरता का प्रमुख साधन माना गया है। यह केवल एक साधना-पद्धति नहीं, बल्कि मन की चंचल प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने की वैज्ञानिक एवं अनुभवात्मक प्रक्रिया है। मंदिरों का वातावरण ध्यान की इस प्रक्रिया को सहज बनाने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, क्योंकि यहाँ बाह्य संवेदी विक्षेप न्यूनतम होते हैं और आंतरिक एकाग्रता की संभावनाएँ अधिक होती हैं। योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा देते हुए कहा है—**''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।''**[6]

यह सूत्र स्पष्ट करता है कि योग का मूल उद्देश्य मन की चंचल वृत्तियों का निरोध करना है। जब मन स्थिर होता है, तब व्यक्ति मानसिक संतुलन और आत्मिक शांति का अनुभव करता है। मंदिरों का शांत और नियंत्रित वातावरण इस मानसिक स्थिरता को उत्पन्न करने में सहायक माना गया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान को एक ऐसी प्रक्रिया माना जाता है, जिसमें व्यक्ति अपनी चेतना को वर्तमान क्षण पर केंद्रित करता है और बाहरी विचारों तथा तनावपूर्ण मानसिक अवस्थाओं से दूरी बनाता है। नियमित ध्यान अभ्यास से चिंता, तनाव और अवसाद जैसी समस्याओं में कमी आती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि ध्यान मस्तिष्क की कार्यप्रणाली को संतुलित करता है और भावनात्मक स्थिरता बढ़ाता है।

मंदिरों में ध्यान की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से विकसित होती है, क्योंकि वहाँ का वातावरण ध्वनि, प्रकाश और सामाजिक व्यवहार के स्तर पर अत्यंत नियंत्रित होता है। घंटानाद, मंत्रोच्चार और शांत वातावरण मिलकर व्यक्ति के ध्यान को बाहरी जगत से हटाकर आंतरिक केंद्र की ओर ले जाते हैं। यह प्रक्रिया मानसिक 'de-stressing mechanism' के रूप में कार्य करती है।

इसके अतिरिक्त, मंदिरों में सामूहिक उपस्थिति भी मानसिक स्वास्थ्य पर सकारात्मक प्रभाव डालती है। जब अनेक व्यक्ति एक साथ भक्ति, प्रार्थना या ध्यान में संलग्न होते हैं, तो एक प्रकार की सामूहिक ऊर्जा और भावनात्मक समरसता उत्पन्न होती है। यह सामाजिक जुड़ाव व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को मजबूत बनाता है और अकेलेपन की भावना को कम करता है।

मंदिर का वातावरण व्यक्ति में आस्था, विश्वास और आत्मिक सुरक्षा की भावना उत्पन्न करता है। यह भावनात्मक

सुरक्षा मानसिक तनाव को कम करने में सहायक होती है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी यह स्वीकार किया गया है कि आस्था आधारित वातावरण व्यक्ति के तनाव-स्तर को कम कर सकते हैं और जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं।

इस प्रकार मंदिर केवल धार्मिक स्थल नहीं हैं, बल्कि वे एक प्रकार के 'psychological restoration spaces' हैं, जहाँ व्यक्ति अपने मानसिक दबावों से मुक्त होकर पुनः ऊर्जा प्राप्त करता है। ध्यान, ध्वनि, वातावरण और सामूहिकता का संयुक्त प्रभाव व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को संतुलित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

मंदिरों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक भूमिका

भारतीय समाज में मंदिर केवल धार्मिक उपासना के केंद्र नहीं रहे हैं, बल्कि वे सामाजिक एकता, सांस्कृतिक निरंतरता और सामूहिक चेतना के प्रमुख आधार भी रहे हैं। प्राचीन काल से ही मंदिरों ने न केवल आध्यात्मिक जीवन को दिशा दी है, बल्कि समाज के नैतिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

मंदिरों का सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक पक्ष यह है कि वे विभिन्न वर्गों, जातियों और समुदायों के लोगों को एक साझा आध्यात्मिक मंच प्रदान करते हैं। यहाँ व्यक्ति अपनी सामाजिक पहचान से ऊपर उठकर एक सामूहिक चेतना का हिस्सा बनता है। यह प्रक्रिया सामाजिक समरसता और एकता को बढ़ावा देती है, जिससे समाज में सहयोग और सह-अस्तित्व की भावना मजबूत होती है। ;ग्वेद में सामूहिक चेतना और सामाजिक एकता का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—"**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**"[7]

यह मंत्र सामाजिक समन्वय, संवाद और मानसिक एकता की भावना को प्रोत्साहित करता है। मंदिर इसी सामूहिक चेतना के व्यावहारिक केंद्र के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ व्यक्ति व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठकर सामाजिक एकता का अनुभव करता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से मंदिर भारतीय परंपराओं, कला, संगीत, नृत्य और साहित्य के संरक्षण एवं विकास के केंद्र रहे हैं। मंदिरों में होने वाले उत्सव, भजन-कीर्तन और धार्मिक अनुष्ठान न केवल आध्यात्मिक अभ्यास हैं, बल्कि वे सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के माध्यम भी हैं। इन गतिविधियों के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सांस्कृतिक ज्ञान का संचार होता है, जिससे भारतीय सांस्कृतिक पहचान संरक्षित रहती है।

इसके अतिरिक्त, मंदिर शिक्षा और ज्ञान के भी प्राचीन केंद्र रहे हैं। कई ऐतिहासिक मंदिर परिसरों में वेद, उपनिषद, व्याकरण, दर्शन और अन्य शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार मंदिर केवल पूजा स्थल नहीं, बल्कि ज्ञान परंपरा के संवाहक भी रहे हैं।

मंदिरों में आयोजित सामूहिक उत्सव और पर्व सामाजिक जीवन में आनंद, सहयोग और सहभागिता को बढ़ाते हैं। यह सामाजिक सहभागिता व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर भी सकारात्मक प्रभाव डालती है, क्योंकि यह अकेलेपन की भावना को कम करती है और सामाजिक जुड़ाव को मजबूत करती है।

आधुनिक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी यह स्वीकार किया जाता है कि धार्मिक संस्थान सामाजिक पूंजी के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मंदिर इस सामाजिक पूंजी को विकसित करने में सहायक होते हैं, क्योंकि वे विश्वास, सहयोग और पारस्परिक संबंधों को मजबूत करते हैं।

इस प्रकार मंदिर केवल आध्यात्मिक स्थल नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय समाज के सांस्कृतिक, सामाजिक और नैतिक ढांचे के आधार स्तंभ हैं। वे व्यक्ति और समाज के बीच एक सेतु के रूप में कार्य करते हैं, जो सामूहिक विकास और सांस्कृतिक निरंतरता को सुनिश्चित करते हैं।

निष्कर्ष : प्रस्तुत शोधपत्र के समग्र विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय परंपरा में मंदिर केवल धार्मिक उपासना के स्थल नहीं हैं, बल्कि वे मानव जीवन के मानसिक, भावनात्मक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक संतुलन को प्रभावित करने वाले बहुआयामी संस्थान हैं। मंदिरों की संरचना, उनके अनुष्ठान, ध्वनि-प्रणाली, प्रकाश व्यवस्था, सुगंध एवं सामूहिक गतिविधियाँ मिलकर एक ऐसा समग्र वातावरण निर्मित करती हैं, जिसे 'सकारात्मक ऊर्जा' के अनुभवात्मक क्षेत्र के रूप में समझा जा सकता है।

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मंदिरों में प्रयुक्त विभिन्न तत्व जैसे मंत्रोच्चार, घंटानाद, दीप प्रज्वलन और सुगंध मानव मस्तिष्क और मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। ये सभी घटक मिलकर व्यक्ति की संवेदी प्रणाली को संतुलित करते हैं, जिससे मानसिक तनाव में कमी आती है तथा एकाग्रता और भावनात्मक स्थिरता में वृद्धि होती है।

दार्शनिक दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय उपनिषदों में वर्णित 'प्राण' की अवधारणा इस बात की पुष्टि करती है कि जीवन केवल भौतिक क्रियाओं का परिणाम नहीं है, बल्कि इसमें एक सूक्ष्म ऊर्जा भी विद्यमान है, जो मानसिक और आध्यात्मिक संतुलन का आधार है। मंदिर इस प्राण-ऊर्जा को संतुलित करने वाले वातावरण के रूप में कार्य करते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण, विशेषकर मनोविज्ञान और न्यूरोसाइंस के अध्ययन यह संकेत देते हैं कि ध्वनि, प्रकाश और सुगंध जैसे संवेदी तत्व मानव मस्तिष्क के भावनात्मक केंद्रों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार मंदिरों में होने वाली परंपरागत गतिविधियाँ आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षों के साथ आंशिक रूप से सामंजस्य स्थापित करती हैं।

सामाजिक स्तर पर मंदिर सामूहिक चेतना, सांस्कृतिक निरंतरता और नैतिक मूल्यों के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे समाज में एकता, सहयोग और आध्यात्मिक जुड़ाव को बढ़ावा देते हैं, जिससे सामाजिक संरचना अधिक सुदृढ़ होती है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि मंदिर भारतीय संस्कृति में ऐसे समग्र संस्थान हैं जो व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य, भावनात्मक संतुलन और आध्यात्मिक विकास को एक साथ प्रभावित करते हैं। वे केवल पूजा के स्थल नहीं, बल्कि मानव जीवन को संतुलित और सकारात्मक दिशा प्रदान करने वाले जीवंत सांस्कृतिक केंद्र हैं।

इस प्रकार यह शोध यह स्थापित करता है कि मंदिरों में 'सकारात्मक ऊर्जा' की अवधारणा केवल आध्यात्मिक विश्वास नहीं, बल्कि एक बहुआयामी अनुभवात्मक वास्तविकता है, जिसे दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है।

अतिथि संकाय (हिन्दी विभाग)
गैर-कॉलेजिएट महिला शिक्षा बोर्ड
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. मुण्डकोपनिषद्, 3.1.4, गीताप्रेस, गोरखपुर, सायण/आनन्दगिरि टीका सहित संस्करण।
2. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.2.1, गीताप्रेस, गोरखपुर।
3. विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र, अध्याय 4, श्लोक संदर्भ, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
4. माण्डूक्योपनिषद्, 1.1, गीताप्रेस, गोरखपुर।
5. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.3.28, गीताप्रेस, गोरखपुर।
6. पतंजलि योगसूत्र, 1.2, व्यास भाष्य सहित संस्करण, गीताप्रेस, गोरखपुर।
7. ऋग्वेद, 10.191.2, सायण भाष्य सहित संस्करण, गीताप्रेस, गोरखपुर।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

★ बृहदारण्यकोपनिषद्. (n.d.). बृहदारण्यकोपनिषद्. गीताप्रेस, गोरखपुर. (प्रकाशन वर्ष : 2012 संस्करण)
★ माण्डूक्योपनिषद्. (n.d.). माण्डूक्योपनिषद्. गीताप्रेस, गोरखपुर. (प्रकाशन वर्ष : 2011 संस्करण)
★ मुण्डकोपनिषद्. (n.d.). मुण्डकोपनिषद्. गीताप्रेस, गोरखपुर. (प्रकाशन वर्ष : 2010 संस्करण)
★ पतंजलि योगसूत्र. (n.d.). योगसूत्रम्. चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी. (प्रकाशन वर्ष : 2015 संस्करण)
★ ऋग्वेद. (n.d.). ऋग्वेद संहिता. गीताप्रेस, गोरखपुर. (प्रकाशन वर्ष : 2008 संस्करण)
★ श्रीमद्भगवद्गीता. (n.d.). श्रीमद्भगवद्गीता. गीताप्रेस, गोरखपुर. (प्रकाशन वर्ष : 2013 संस्करण)
★ तैत्तिरीयोपनिषद्. (n.d.). तैत्तिरीयोपनिषद्. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी. (प्रकाशन वर्ष : 2014 संस्करण)
★ विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र. (n.d.). विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र. चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी. (प्रकाशन वर्ष : 2016 संस्करण)

डॉ. दिनेश कुमार

एपीजे अब्दुल कलाम का देश के विकास में योगदान

प्रस्तावना

किसी भी देश का विकास उसे देश की समृद्धिशाली अर्थव्यवस्था पर निर्भर करता है और अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ कर दिया करता है। संसाधन विभिन्न प्रकार के होते हैं जो किसी भी देश के विकास में महती भूमिका निभाते हैं। मानवीय संसाधन, मानव निर्मित और प्राकृतिक संसाधन यह मुख्य रूप से तीन प्रकार के संसाधन होते हैं, जो किसी भी देश के विकास में उसकी दशा और दिशा तय करते हैं। प्राकृतिक संसाधन प्राकृतिक धरोहरों से निकलते हैं और मानव निर्मित संसाधन मुख्यत: ज्ञान और विज्ञान के विकास को इंगित करता है, किंतु मानव संसाधन उपरोक्त तीनों संसाधनों में सबसे प्रमुख है क्योंकि यही वह संसाधन है जो अन्य दोनों संसाधनों की उपयोगिता, आवश्यकता और महत्व को स्पष्ट करता है। इसलिए मानव संसाधन किसी भी देश का अत्यंत महत्वपूर्ण संसाधन होता है।

प्रत्येक देश अपने संसाधनों का आधिकाधिक प्रयोग और उपभोग करके विकास के मार्ग को तय करता है मानव का सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक, आर्थिक, व्यावहारिक स्तर ही उसके और उस देश के विकास के मानक की कसौटी होती है। जिस देश के व्यक्ति अपने सभी पक्षों का बेहतर अपने देश को देते हैं, वह देश या राष्ट्र उतना ही तेजी से विकास करता है, इस मुद्दे पर भारत सदैव से एक समृद्धिशाली देश रहा है। क्योंकि समय-समय पर इस देश में अनेक महारथी, विभिन्न प्रतिभाओं के धनी पैदा हुए हैं जो देश के विकास में अपना अद्वितीय योगदान दिए हैं। इन्हीं प्रतिभाओं में से एक नाम आता है डॉक्टर एपीजे अब्दुल कलाम साहब का, इस प्रपत्र में इस देश के विकास में डॉक्टर कलाम साहब के योगदान को समन्वित करने का प्रयास किया गया है।

कलाम साहब का जीवन परिचय

भारत देश के तमिलनाडु राज्य के एक छोटे से गांव धनुषकोडी में जैनुलाब्दीन के घर 15 अक्टूबर 1931 को एक बच्चे का जन्म होता है जिसकी मां का नाम आशिया जैनुलाब्दीन था। जैनुलाब्दीन एक मध्यम वर्गीय मुस्लिम अंसारी परिवार से थे। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार और मुस्लिम समुदाय में होने के कारण यह पांच भाई और पांच बहन थे उनके पिता स्वयं भले ही कम पढ़े-लिखे थे किंतु, पढ़ाई के महत्व को भली-भांति जानते थे इसलिए अपने बच्चों को पढ़ाने का पूरा प्रयास किया। कलाम साहब का पूरा नाम डॉक्टर अबुल पाकिर जैनुलआब्दीन अब्दुल कलाम था, उनकी प्रारंभिक शिक्षा 5 वर्ष की आयु से ही गांव के एक सरकारी स्कूल से प्रारंभ हुई थी, उनके शिक्षक इयादुराई सोलोमन ने बचपन से ही उनकी प्रतिभा को पहचान और उसे निखारने का पूरा प्रयास किया। उन्होंने बताया कि ''जीवन में सफलता तथा अनुकूल परिणाम प्राप्त करने के लिए तीव्र इच्छा, आस्था और अपेक्षा इन तीन शक्तियों को भलीभांति समझ लेना और उन पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहिए।'' कक्षा 5 से ही आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को देखकर भविष्य में विमान विज्ञान और अंतरिक्ष विज्ञान को अपने जीवन का महत्वपूर्ण अंग बनाया और इस मार्ग पर आगे बढ़कर 'मिसाइल मैन' के नाम को चरितार्थ किया।

सन 1950 में मद्रास इंस्टीट्यूट आफ टेक्नोलॉजी से अंतरिक्ष विज्ञान में स्नातक की उपाधि प्राप्त की, विभिन्न परियोजनाओं

में कार्य करते हुए भारतीय रक्षा अनुसंधान एवं विकास संस्थान में प्रवेश किया सन 1962 में भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन में आए और कई उपग्रह प्रक्षेपण परियोजनाओं में अपनी सफल भूमिका निभाई। परियोजना निदेशक के रूप में भारत से प्रथम स्वदेशी उपग्रह प्रक्षेपण यान यस एल बी 3 के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए 1982 में रोहिणी उपग्रह को अंतरिक्ष में सफलतापूर्वक प्रक्षेपित किया और इसके बाद भारत की ख्याति का परिचम दुनिया भर में लहरा दिया और भारत में 'मिसाइल मैन' के नाम से मशहूर हो गए।

व्यक्तिगत जीवन

अब्दुल कलाम साहब बचपन से ही अनुशासन प्रिय व्यक्ति थे। अनुशासन में विश्वास रखते थे और अनुशासन का पूरे जीवन पालन करते रहे। कलाम साहब शिक्षा को ही किसी व्यक्ति समाज व राष्ट्र के विकास की कुंजी मानते थे, इसलिए बचपन से ही शिक्षा से प्रेरित होकर शिक्षा को ही गले लगाया। जब कभी आर्थिक संकट आया फिर भी पढ़ाई नहीं छोड़ी। उनके कुछ पुस्तकों में मिलता है कि आर्थिक संकट के दिनों में इन्होंने अखबार वितरण का कार्य भी किया, किंतु पढ़ाई से विरक्त नहीं हुए। वह ज्ञान और दर्शन के सीमा से ऊपर उठ चुके थे इसलिए जितना आसक्त इस्लाम के प्रति थे उतनी ही श्रद्धा हिंदू और अन्य धर्म के प्रति भी थी। यही कारण था कि वह बच्चों और युवाओं के बीच अत्यधिक लोकप्रिय हो गए थे। उनका जीवन बचपन से लेकर अंत तक संघर्षों से लिपटा रहा इतने बड़े-बड़े पदों पर सुशोभित होने के बावजूद भी उनकी सरलता के लोग कायल थे। मानो सादा जीवन उच्च विचार मुहावरा उनके जीवन वृत्त को देखकर ही बनाया गया हो जबकि ऐसा नहीं है। यह एक नेक दिल, परिश्रमी, बेहद ईमानदार, कर्मठ एवं उच्च प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे।

वैज्ञानिक जीवन

यह एक कुशल नेतृत्व, उच्च कोर्ट की प्रतिभा के एवं सरल स्वभाव के विधाता के अद्वितीय कोटि के असाधारण व्यक्तित्व के महान मानव थे। ये वास्तव में मुख्य रूप से वैज्ञानिक थे, रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन (डीआरडीओ) तथा भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) में लगभग चार दशक तक वैज्ञानिक व्यवस्थापक के रूप में प्रमुख भूमिका का निर्वहन किया। भारत में सैन्य मिसाइल की दुनिया में सराहनीय कार्य किया, बैलिस्टिक मिसाइल एवं प्रक्षेपण प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विकास के पुरोधा सिद्ध हुए। इसीलिए इनको लोग 'मिसाइल मैन' के नाम से जानने लगे। सन 1974 में भारत में प्रथम परमाणु परीक्षण एवं 1998 में द्वितीय परमाणु परीक्षण जिसे पोखरण परमाणु परीक्षण के नाम से भी जाना जाता है, के नेतृत्व की कमान संभाल कर देश को ऊंचाई के एक नए शिखर तक पहुंचाया। 'अग्नि' एवं 'पृथ्वी' नामक मिसाइल के सफल प्रक्षेपण में प्रमुखता से अपनी भूमिका निभाकर देश को दुनिया भर में एक अलग प्रतिमान स्थापित कराया।

शिक्षक जीवन

एपीजे अब्दुल कलाम साहब राष्ट्रपति पद से सुशोभित होने के बाद एक शिक्षक के रूप में भारत के कई प्रतिष्ठित संस्थानों में अपनी सेवाएं प्रदान किए, जिनमें कुछ प्रमुख का जिक्र यहाँ किया जा रहा है, जैसे- आईआईएम शिलांग में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में कार्य किया, अन्ना यूनिवर्सिटी चेन्नई में एयरोस्पेस इंजीनियरिंग के प्रोफेसर के रूप में अपनी सेवाएं प्रदान किए, आईआईएम अहमदाबाद और आईआईएम इंदौर में शिक्षण कार्य करके अपने विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गए थे। आईआईटी तिरुअनंतपुरम में तो कुलपति के पद पर भी सुशोभित हुए। एक कुशल अध्यापक, सहृदय व्यक्तित्व और वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकांड विद्वान के रूप में आपकी छवि न केवल आपके विद्यार्थियों में रही, बल्कि हर पढ़ने वाले विद्यार्थियों के दिलों में आपका स्थान सुरक्षित हो गया। 27 जुलाई 2015 को आईआईएम शिलांग में छात्रों को संबोधित करते समय अचानक दिल का दौरा पड़ने के कारण असमय काल के काल में समा गए। वे जिस भी शिक्षण संस्था में अपना योगदान देने के लिए गए वहां के विद्यार्थियों के दिलों में अपनी एक अलग और अनूठी पहचान बन गए। उनके विद्यार्थी आज केवल भारत में ही नहीं बल्कि दुनिया के अनेक देशों में अपनी प्रतिभा के पुंज से प्रकाशित कर रहे हैं और देश का नाम रोशन कर रहे हैं।

विभिन्न योगदान

जैसा की विदित है एक कुशल अंतरिक्ष वैज्ञानिक होने के कारण इनको 'मिसाइल मैन' के उपनाम से लोग जानते हैं। एपीजे अब्दुल कलाम साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। इस बात की प्रमाणिकता इस बात से सिद्ध होती है कि उनको देश के तीन सर्वोच्च नागरिक अलंकरण से सुशोभित किया गया है- 1981 में पद्मभूषण, 1990 में पद्म विभूषण और 1997 में 'भारत रत्न' से सम्मानित किया गया है। जुलाई

2002 में भारत के राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित किया गया। उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की जिसमें अपने जीवन और अनुभव से जुड़ी अनेक महत्वपूर्ण बातों और घटनाओं की चर्चा भी की है। हिंदी में ''भारत 2020 : नवनिर्माण की रूपरेखा'' बहुत ही लोकप्रिय पुस्तक के रूप में अपनी पहचान बनाई। इसके अतिरिक्त एक अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक ''अदम्य साहस'' कलाम साहब के जीवन दर्शन और चिंतन का सार तत्व के रूप में है।

रामेश्वर के सागर तट से राष्ट्रपति भवन तक की यात्रा के बीच के अनोखे और अनोखे अनुभव का संग्रह है अदम्य साहस। देश के प्रथम नागरिक के दिल से निकली वह आवाज है, जो गहराई के साथ देश और देशवासियों के सुनहरे भविष्य के बारे में सोचने की दास्तां है। इसमें जीवन के अनुभव से जुड़े संस्मरणों, रोचक प्रसंग, मौलिक विचारों और कार्य परियोजनाओं का प्रेरणाप्रद चित्रण है। एक चिंतक के रूप में, एक वैज्ञानिक और एक शिक्षक के रूप में तथा राष्ट्रपति के रूप में अब्दुल कलाम के व्यक्तित्व के अनेक प्रेरणादाई पक्ष इस पुस्तक में संजीव हो उठे, जो उनके भाषणों और आलेखों पर आधारित है। उपरोक्त सभी के अतिरिक्त उनकी कुछ विशेष उपलब्धियां हैं जो निम्नवत हैं- विंग्स आफ फायर (आत्मकथा), इग्नाइटेड माइंड्स, अनलिसनिंग द पावर विदिन इंडिया, माई जर्नी आदि अनेक साहित्य को लिखकर समाज को नई दिशा और दशा देने का प्रयास किया। वे भारत के 11वें राष्ट्रपति के रूप में नियुक्त हुए। सन 1992 से 99 तक भारत के रक्षा मंत्री के रूप में कार्य किया। इसके अतिरिक्त इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार-1997, वीर सावरकर पुरस्कार-1998, रामानुजन पुरस्कार-2000, डी ऑफ साइंस की मानद उपाधि-2007 में, वार्न कॉर्मन विंग्स अंतरराष्ट्रीय अवार्ड-2009 में प्राप्त किया।

निष्कर्ष

किसी भी देश को विकास के पथ पर आगे बढ़ाने में वहां की जनता की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस देश के नागरिक जितना अधिक शिक्षित और परिश्रमी रहेंगे उस देश की आर्थिक स्थिति उतनी ही सुदृढ़ होगी जो उस देश के विकास के लिए आवश्यक होती है। इस प्रकार देखा जाए तो अब्दुल कलाम साहब ने अपने पूरे जीवन काल के माध्यम से भारत के प्रत्येक नागरिक को एक ऐसा संदेश देना चाहते थे जो देश के विकास में योगदान दे सके वह अपने देश के प्रत्येक नागरिक को परिश्रमी, अनुशासित, शिक्षा ग्रहण करने वाला, ईमानदार, कर्मठ इंसान बनने के लिए प्रेरित करते रहे। प्रतिकूल वातावरण और परिस्थितियों के बावजूद आगे बढ़ने की प्रेरणा देने का कार्य किया। यदि देश का प्रत्येक नागरिक उनके जीवन के किसी हिस्से से प्रेरित होकर आगे बढ़ जाए तो इस देश को बहुत ही कम समय और लागत में बहुत ही अधिक ऊंचाई और बुलंदियों पर आसानी से पहुंचा जा सकता है। इसलिए देश ही नहीं पूरी दुनिया के प्रत्येक नागरिक को उनके जीवन वृत्त को पढ़ना चाहिए, अपने जीवन में उतरना चाहिए और देश के विकास में अपना योगदान देना चाहिए। तभी हमारा देश अपने पूर्व के गौरव को प्राप्त कर सकेगा और एक शक्तिशाली और समृद्धि साली राष्ट्र के रूप में उभर सकेगा।

एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र
गुलाब देवी महिला पीजी कॉलेज बलिया

संदर्भ ग्रंथ सूची

- एपीजे अब्दुल कलाम और अरुण तिवारी (1999), 'विंग्स आफ फायर', यूनिवर्सिटी प्रेस इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद।
- एपीजे अब्दुल कलाम और अरुण तिवारी (1999), 'अग्नि की उड़ान', प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
- यू आर बोर्न इन ब्लॉसम (2011), प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
- टर्निंग पॉइंट्स (2012), हार्पर कोलिंस पब्लिकेशंस इंडिया, हिंदी एडिशन राजपाल एंड संस दिल्ली।
- एपीजे अब्दुल कलाम (2013), 'अदम्य साहस', राजपाल एंड संस, नई दिल्ली।
- द वेरी बेस्ट ऑफ एपीजे अब्दुल कलाम (2014), रूपा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।
- मेरी जीवन यात्रा (2014), प्रभात प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- शिव तनु पिल्लई (2020), 'अनटोल्ड स्टोरी', पेंटागन प्रेस, नई दिल्ली।
- http:www.prabhatbosoks.com

शोध-पत्र

नौटंकी में भारतबोध : सांस्कृतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

अमित

आज, स्वतंत्रता प्राप्ति के दशकों बाद भी, भारतबोध की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि वैश्वीकरण, औद्योगिकीकरण, और पश्चिमी प्रभावों के कारण भारत की मौलिक सांस्कृतिक जड़ों और उसकी बहुलवादी पहचान पर खतरे उत्पन्न हो रहे हैं। भारतबोध का मुख्य उद्देश्य इन जड़ों को संरक्षित रखना और उन्हें नए संदर्भों में पुनर्परिभाषित करना है। भारत को एक राष्ट्र के रूप में परिभाषित करने के लिए, केवल उसकी भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या, सैन्य शक्ति, और आर्थिक उपलब्धियों का उल्लेख पर्याप्त नहीं है। भारत को समझने का अर्थ है, यहाँ की जनता, उनके सामाजिक व्यवहार, सांस्कृतिक परंपराओं और ऐतिहासिक धरोहरों को समझना। यह राष्ट्र उन भावनाओं, विचारों और आदर्शों से निर्मित हुआ है जो यहाँ बसने वाले लोगों को आंदोलित और प्रेरित करते हैं।

किसी भी देश का सम्पूर्ण सार उस देश की ज्ञान परम्परा में सहज ही लक्षित होता है। प्रत्येक पीढ़ी अपने अतीत और भविष्य के बीच पुल का काम करती है। हम दुनिया को शून्य और दशमलव देने वाली संस्कृति रहे हैं। सत्यनिष्ठा और सदाचार हमारे ज्ञान-बोध का केंद्र रहा है। इन आधारों से डिगना ही पतन का कारक बनता है और इसी के साथ प्रत्येक पीढ़ी अपनी जिम्मेदारी समझकर बदली हुई परिस्थितियों में अपनी परंपरा को सहेजती हुई नई ज्ञान धारा का विकास करती है। गांधी जी जब अफ्रीका से भारत आये थे तो राजनीति में उतरने से पहले गोपाल कृष्ण गोखले की सलाह पर उन्होंने एक वर्ष तक भारत भ्रमण किया जिससे कि वो इस देश के लिए लड़ने से पहले इस देश को जान सकें, यहाँ बसने वाले लोगों का आचार-विचार और आवश्यकताएँ महसूस कर सकें इस देश की विराट संस्कृति को समझ सकें।

भारत को जानने का अर्थ है यहाँ निवास करने वाले लोगों, उनकी सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक विविधता और उनके आचार-विचार को समझना। यह समझ केवल जनसंख्या के आँकड़ों या भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं हो सकती। भारतबोध का अभिप्राय इस गहन अध्ययन से है जो यहाँ के लोगों की जीवनशैली, उनकी परंपराओं और सामूहिक सोच को परिलक्षित करता है।

इस दृष्टिकोण से, भारत को समझने का अर्थ है यहाँ की बहुलतावादी संस्कृति, परंपराओं और सामूहिक मानस का विश्लेषण। यह दृष्टि केवल भौतिक उपलब्धियों तक सीमित नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की पहचान पर केंद्रित है, जो इस राष्ट्र की विशिष्टता और उसकी निरंतरता का आधार हैं।

साहित्य

किसी देश का साहित्य अपने समाज का संचित प्रतिबिंब होता है, इसमें समाज का भाव, विचार, दशा और दिशा सब कुछ लक्षित होता है। हम भारतीय साहित्य का अवलोकन करते हुए पाते हैं कि यहाँ के लोगों ने सबसे पहले अपने साहित्य में अलौकिक अनुभवों और घटनाओं का ही अंकन किया। वेद और पुराण जो भारत भूमि की सभ्यता के शुरुआती दौर का साहित्य है ,इस बात के प्रमाण हैं। इनकी रचना के बहुत समय बाद रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की रचना हुई जिन्हें लौकिक साहित्य में स्थान दिया गया। रामायण को पहला लौकिक ग्रंथ माना गया है परंतु इन लौकिक ग्रंथों का बारीकी से विश्लेषण करने पर हम पायेंगे कि इनके मुख्य

पात्र भी साधारण मनुष्य नहीं हैं। अगर इन्हें ईश्वर ना भी माने तो ये राजा तो स्पष्ट रूप से हैं। अत: इन्हीं के प्रभाव से जो लोककथाएँ 18-19वीं सदी में भारत में फैली थी उनके नायक भी पौराणिक पुरुष या राम, कृष्ण होते थे।

आधुनिक आर्य भाषा के विकास के दौरान लिखे गये साहित्य में भी यही घटना दुहराई जाती दिखती है, आदिकाल में राजाओं को देवता बनाने की होड़ लगी हुई थी तो भक्तिकाल में ब्रह्मोपासना का साहित्य रचा जा रहा था। रीतिकाल को और चाहे जिस कारण दोष दिया जाए परंतु उस काल में एक काम तो अवश्य हुआ कि उसमें लौकिक वासनाओं का चित्रण हुआ। रीति साहित्य में जो अलौकिक पुरुष आए भी हैं वे भी मानवीय भावनाओं को दर्शाने का एक साधन मात्र बनकर। आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास के बाद ऐसा पहली बार हो रहा था। यह काल इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी समय उत्तर-भारत में अनेक लोक-कलाओं का उदय हुआ।

लोक का महत्व

अक्सर हम भारतीय परंपरा की बात करते हुए वेद ,उपनिषद् तक ही सिमटकर रह जाते हैं। हम शायद यह भूल जाते हैं कि शास्त्र के साथ-साथ एक परंपरा लोक की भी चलती चली आ रही है, शास्त्रों की धारा के रुकने के बावजूद यह वाचिक लोक परंपरा चलती चली आई है। जिसे ज्ञान परम्परा की मुख्य धारा में शामिल नहीं किया जाता। यह परंपरा अभी तक अर्थात् हमारे समय तक चली आ रही है, केवल हमारा ध्यान उधर से हट गया है। लौकिक कलाओं की शुरुआत अलौकिक घटनाओं की प्रस्तुति करने वाली लोककलाओं से हुई जैसा कि हमने साहित्य के संदर्भ में भी देखा। 'नौटंकी' की शुरुआत के विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है, ऐसा माना जाता है कि इस विधा का उद्गम स्रोत 'भगत' नामक लोकनाट्य शैली है। भगत में जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है, भक्ति परक कथाओं का प्रदर्शन होता था, साथ में इसमें एक नाटक को एक ही बार खेलने की भी परंपरा है। इसकी प्रतिलिपि को भी बहुत गुप्त रखा जाता है जिस कारण आलोचकों के लिए इसका ठीक-ठीक दावा कर पाना कठिन हो जाता है कि नौटंकी इसी से उपजी है, परंतु नौटंकी के मूर्धन्य कलाकार पंडित रामदयाल शर्मा जी का यही मत है। इसी शैली में जब लौकिक नाटक प्रस्तुत किये जाने लगे तब उन्हें नाम दिया गया 'स्वाँग' लंबे समय तक यह इसी नाम से प्रचलित रहा। सन् 1882 में वाराणासी के 'खुशीराम' नें 'संगीत रानी नौटंकी का' नामक एक स्क्रिप्ट लिखी-यह स्क्रिप्ट लोगों को बहुत पसंद आयी और इसका मंचन सैकड़ों बार हुआ, इस कथा का ऐसा प्रभाव रहा कि इस विधा का ही नाम इस कथा की मुख्य पात्र नौटंकी के नाम पर रख दिया गया। ऐसे जन्म हुआ 'नौटंकी' का।

नौटंकी में भारत : एक सांस्कृतिक धरोहर की झलक

नौटंकी जो कि उत्तर भारत की सांस्कृतिक विरासत है, केवल एक मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि भारतीय समाज का प्रामाणिक दर्पण है। इसमें हमारे समाज का वह स्वरूप उभरकर आता है, जो किसी अन्य विधा में देख पाना कठिन है। इसके माध्यम से इतिहास, परंपराएं, आदर्श और समाज की समसामयिक समस्याएं, सभी कुछ अभिव्यक्त होती हैं। यह विधा भारत के उस प्राचीन विचार और जीवंत संस्कृति का वाहक है जिसने पीढ़ियों को न केवल जोड़ा बल्कि राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना का संचार भी किया।

नौटंकी का ऐतिहासिक विकास : भक्ति से क्रांति तक

जयशंकर प्रसाद ने लिखा है कि मुसलमानी शासनकाल में भारतीय नाट्य परंपरा को गहरा आघात पहुंचा। इस्लाम में नाटकों पर प्रतिबंध के चलते, नाट्य कला का मंचन मंदिरों में असंगठित ढंग से शुरू हुआ, जिससे भगत की परंपरा विकसित हुई। इसी से आगे चलकर नौटंकी का जन्म हुआ।

नौटंकी ने अपनी शुरुआत भक्ति और धार्मिक कथाओं से की। गणेश वंदना से प्रारंभ होने वाली इस कला में शास्त्रीय संगीत जैसे ध्रुपद का उपयोग हुआ, लेकिन इसके साथ ही ठुमरी, रसिया और दादरा जैसे लोकगीतों को भी अपनाया गया। समय के साथ इसने लोककथाओं और पौराणिक कथाओं को मंच पर प्रस्तुत कर समाज का मनोरंजन किया।

अंग्रेजों के शासनकाल में, यह कला स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण हथियार बन गई। क्रांतिकारियों ने नौटंकी का उपयोग जनता में जागरूकता फैलाने और क्रांति की भावना भरने के लिए किया। इस दौरान, यह केवल मनोरंजन का साधन नहीं रही, बल्कि जनता की राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक बन गयी।

यह कला अपने रंगमंचीय विधान में वैसी ही स्वतंत्रता प्रदान करती है जैसी कि भारतीय चिंतन परंपरा आगामी विचारों को। वो किसी भी दिशा में जा सकते हैं कोई भी मार्ग अपना सकते हैं, ऐसे ही नौटंकी में मंचन का कोई विशेष नियम नहीं है कलाकार और दर्शक आ गये, नौटंकी शुरू हो गयी, कभी तखत लगाकर तो कभी दरी बिछाकर और अगर सुविधा मिले तो स्टेज और पर्दे लगाकर भी। इसमें गीत और अभिनय के

समन्वित संयोजन से कथा को आगे बढ़ाया जाता है, कोई निश्चित पैमाना नहीं रखा गया है कि गीत और अभिनय कितनी-कितनी मात्रा में रहेंगे। जिस मंडली की जैसी रुचि हुई वैसा कर लिया। इसमें एक विदूषक होता है जिसे 'रंगा' कहा जाता है। रंगा नौटंकी की बहुत महत्वपूर्ण इकाई है यह उछाल-कूद करके और व्यंग्यात्मक संवादों के माध्यम से लोगों का मनोरंजन करता है और गाकर कथा भी सुनाता है।

जैसा कि हम जानते हैं भारत बोध का अर्थ है भारत को जानना और भारतीयों के संदर्भ में इसका अर्थ है अपनी जड़ों को पहचानना। ऊपर हम बात कर आए हैं कि किस तरह नौटंकी में पौराणिक, ऐतिहासिक कथाओं का मंचन होता है, पुराण लोककथाएँ और लोक-गीत इस देश का इतिहास है। इतिहास उस संदर्भ में नहीं जैसा आज लिखा जाता है, बल्कि यह इतिहास की भारतीय दृष्टि रही है। भारत के पास अपना भूत याद रखने की अपनी एक अलग शैली थी वह इसे कथाओं, प्रतीकों, मिथकों और गीतों में याद रखता आया है इनमें भारत का इतिहास और संस्कृति दोनों संचित हैं। नौटंकी में इन सभी तत्वों का भरपूर इस्तेमाल किया जाता रहा है, उसके अलावा लौकिक नौटंकियों नें समाज को समरसता के संदेश दिये, राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत नौटंकियों नें लोगों में राष्ट्रीयता का संचार किया, साथ ही साथ भारतीय आदर्शों को भी संजोये रखा जिसका उपदेश गांधी जी, कबीर, तुलसी, तुलसी के राम और कृष्ण भी देते हैं। इन्हीं आदर्शों पर चलकर भारत ने आज तक की यात्रा तय की है, जिन्हें नौटंकी जैसी कलाओं ने जीवित रखा और पीढ़ी दर पीढ़ी लोगों में प्रसारित करती रहीं। इन शिक्षाओं और आदर्शों के बिना भारत का अस्तित्व असंभव था। कोई भी राष्ट्र मूलत: एक विचार से ही जन्म लेता है और उस विचार को बल मिलता है इन्हीं आदर्शों से, इन्हीं के आधार उस विचार को अमल में लाया जाता है और यही आदर्श अगली पीढ़ियों का दिशानिर्देश भी करते हैं। इस लोक कला का महत्व इस कारण भी बढ़ जाता है क्योंकि इसने ना सिर्फ इन्हें बचाया और संजोया अपीतु उन्हें समाज में बड़े स्तर पर प्रचारित भी करती रही।

नौटंकी में भारत बोध के विभिन्न पहलू

लोकजीवन और सांस्कृतिक प्रतीक

नौटंकी में पौराणिक कथाओं, लोक कथाओं, और सामाजिक समस्याओं का अभिव्यक्ति होती है। इसके गीत, नृत्य और संवाद जनता के मनोविज्ञान, उनकी भावनाओं, और उनकी दैनिक समस्याओं को चित्रित करते हैं।

★ **पौराणिकता :** रामायण और महाभारत की कहानियों के मंचन के माध्यम से यह कला भारत की धार्मिक और नैतिक परंपराओं को जीवित रखती है।

★ **लोककथाएँ :** इसमें राजा हरिश्चंद्र, नल-दमयंती, या लैला-मजनूं जैसी कहानियाँ भारतीय समाज की नैतिकता, प्रेम, और संघर्षों को उजागर करती हैं।

सामाजिक समस्याएँ और सुधार

नौटंकी ने समय के साथ खुद को समसामयिक समस्याओं से जोड़ा।

★ **स्वतंत्रता आंदोलन :** क्रांतिकारियों ने नौटंकी का उपयोग जनता में राष्ट्रीय चेतना और स्वतंत्रता की भावना जागृत करने के लिए किया।

★ **सामाजिक बुराइयाँ :** दहेज प्रथा, भ्रूण हत्या, और महिलाओं की असमान स्थिति जैसे विषयों पर आधारित प्रस्तुतियों ने समाज को जागरूक किया।

सामाजिक और सांस्कृतिक पुल

नौटंकी लोक और शास्त्र दोनों को जोड़ने का कार्य करती है।

⋆ इसमें शास्त्रीय गायन जैसे ध्रुपद के साथ-साथ लोकगीतों (ठुमरी, रसिया, दादरा) का समावेश है।

⋆ यह कला लोगों के दिलों में स्थान बनाते हुए पौराणिकता और आधुनिकता के बीच एक सेतु का निर्माण करती है।

मंचीय स्वतंत्रता और सहजता

नौटंकी की सबसे बड़ी विशेषता इसकी लचीलापन है।

⋆ मंच की कोई कठोर आवश्यकता नहीं होती यह कला तख्तों, दरियों, या स्टेज पर कहीं भी प्रस्तुत की जा सकती है।

⋆ इसमें गीत और अभिनय का अनुपात कलाकार और कथानक के अनुसार तय होता है।

भारत की विचारधारा का प्रचार

नौटंकी ने भारतीय समाज के मूल आदर्शों जैसे अहिंसा, सत्यनिष्ठा, और धर्म का प्रचार किया। यह आदर्श केवल उपदेशों तक सीमित नहीं रहे बल्कि लोकजीवन का हिस्सा बने।

सोशल मीडिया और ओटीटी की दुनिया में नौटंकी जैसी लोककलाओं की प्रासंगिकता :

आज के डिजिटल युग में, यह सवाल बार-बार उठता है

कि क्या नौटंकी जैसी पारंपरिक लोककलाओं का अस्तित्व सोशल मीडिया और ओटीटी प्लेटफॉर्म्स के बढ़ते प्रभाव के बीच कायम रह सकता है। यह सवाल सतही तौर पर सही लग सकता है, लेकिन गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान समय में इन लोककलाओं की प्रासंगिकता पहले से भी अधिक हो गई है।

सोशल मीडिया और ओटीटी प्लेटफॉर्म्स पर बड़े उद्योगपतियों और पूंजीपतियों का वर्चस्व है। ये माध्यम अक्सर उनके निजी एजेंडा और प्रचार का साधन बन जाते हैं, जिससे आम जनता के विचारों और मुद्दों को हाशिए पर धकेला जा सकता है। ऐसी स्थिति में, नौटंकी जैसी लोककला एक प्रभावी और स्वतंत्र 'पब्लिक स्फीयर' के रूप में उभर सकती है।

नौटंकी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि यह जनता के बीच से जन्मी कला है और इसका स्वामित्व भी जनता के पास ही रहता है। इसमें किसी एक व्यक्ति या केंद्रीय सत्ता का प्रभुत्व नहीं होता। यह समाज के हर वर्ग की भागीदारी सुनिश्चित करती है और लोकतांत्रिक मूल्यों को सशक्त बनाती है।

यदि किसी मंडली का रुख किसी खास एजेंडे की ओर भी मुड़ जाए, तो जनता आसानी से एक नई मंडली का गठन कर सकती है। यह लचीलापन और सामूहिकता नौटंकी को अन्य आधुनिक माध्यमों से अलग बनाती है। इसके माध्यम से लोग न केवल अपनी समस्याओं को पहचान सकते हैं, बल्कि उनके समाधान की दिशा में सार्थक संवाद भी कर सकते हैं।

नुक्कड़ नाटक बनाम नौटंकी

हालांकि नुक्कड़ नाटक भी एक लोकमंच है, लेकिन इसमें वैचारिक पक्ष अधिक हावी रहता है, जिससे इसमें रस और मनोरंजन का अभाव दिखता है। नौटंकी, इसके विपरीत, मनोरंजन और संदेश दोनों का संतुलन साधती है। इसकी रसपूर्ण शैली और आकर्षक प्रस्तुतिकरण समाज में गहरी छाप छोड़ने में सक्षम है।

भारतीयता की पहचान

नौटंकी जैसी विधा के पुनरुत्थान से समाज अपने मुद्दे और प्राथमिकताएं स्वयं तय करने की स्थिति में आ सकता है। यह कला किसी राजनीतिक दल या बाजार के प्रभाव में आए बिना, जनता को अपनी असली आवाज देने का माध्यम बन सकती है। यह न केवल लोकतंत्र को मजबूत करेगी, बल्कि भारतीय जनता में भारत बोध और सांस्कृतिक पहचान को भी सुदृढ़ बनाएगी।

सांस्कृतिक धरोहर का पुनर्जीवन

नौटंकी, जो कभी भारतीय समाज के दिल की धड़कन थी, आज भी हमारे मूल्यों, परंपराओं और सांस्कृतिक विरासत को सहेजने का सामर्थ्य रखती है। इसे केवल मनोरंजन के साधन के रूप में देखना गलत होगा। यह लोककला भारतीयता की आत्मा है, जो हमारी सोच और दृष्टिकोण को सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध बनाती है। इसलिए, डिजिटल युग में नौटंकी जैसी लोककलाएं केवल प्रासंगिक ही नहीं, बल्कि समाज को एक नई दिशा देने में सक्षम और अत्यंत आवश्यक हैं। नौटंकी सिर्फ कला नहीं है, यह भारत का आत्मबोध है। यह वह धरोहर है, जो हमें हमारी जड़ों से जोड़े रखती है और भविष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : ramit114115@gmail.com

सहायक ग्रंथ सूची

1. 'नौटंकी की मलिका गुलाब बाई'-दीप्ति प्रिया महरोत्रा, Penguin Books कैपिटल टावर-1, एम जी रोड गुड़गांव, 2023
2. 'लोक नाट्य - नौटंकी : एक विवेचन' - नन्दल हितैषी, राका प्रकाशन, 40ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) 2018
3. 'नौटंकी लोक-परंपरा और संघर्ष' - ज्योतिष जोशी, सेतु प्रकाशन, सेक्टर-65 नोएडा, उत्तर प्रदेश, 2021
4. 'रंगदर्शन' - नेमीचन्द जैन, राधाकृष्ण प्रकाशन, जी-17, जगतपुरी, दिल्ली, 1983
5. हे सामाजिक-सुरेश अवस्थी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, बहावलपुर हाउस, नई दिल्ली
6. हिन्दी रंगमंच का इतिहास - डॉ. चंदूलाल दुबे, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा उत्तर प्रदेश
7. फिल्म-'एक थी गुलाब', कृष्ण राघव, प्रस्तुति-इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र
8. लेख-'मंच से उजड़ी मन में बसी'-नारायण भक्त, अभिव्यक्ति पत्रिका : 21 सितम्बर 2009
9. वक्तव्य-पंडित रामदयाल शर्मा (विषय : नौटंकी में भारतबोध)
10. पारसी थिएटर-रणवीर सिंह, सेतु प्रकाशन, सी-21, सेक्टर-65 नोएडा, उत्तर प्रदेश, 2020
11. रंगपट-आभा गुप्ता ठाकुर (संपादक) सेतु प्रकाशन, 305, प्रियदर्शिनी अपार्टमेंट पटपड़गंज, दिल्ली, 2020

विकास कुमार

लोकप्रिय स्त्री पत्रिका 'गृहशोभा' में स्त्रियों की दुनिया : 2024 के बाद के अंकों का अध्ययन

शोध सार

यह शोध लोकप्रिय हिन्दी स्त्री पत्रिका 'गृहशोभा' में प्रस्तुत स्त्री-जीवन की छवियों का विश्लेषण करता है। अध्ययन के लिए 2024 के बाद के अंकों का चयन किया गया है, क्योंकि यह कालखंड समकालीन भारतीय समाज में स्त्री की बदलती भूमिका, आत्मनिर्भरता, करियर-चेतना, संबंधों की नई संरचना और डिजिटल संस्कृति के प्रभाव को समझने के लिए उपयुक्त है। इस अवधि में पत्रिका के लेख, साक्षात्कार, कथाएँ और स्तंभ आधुनिक स्त्री के अनुभवों और चुनौतियों को विशेष रूप से उजागर करते हैं। 'गृहशोभा' केवल एक घरेलू पत्रिका मात्र नहीं है, बल्कि यह मध्यमवर्गीय भारतीय स्त्री की आकांक्षाओं, उसके द्वंद्व और पारंपरिक ढांचे में उसकी स्वायत्तता की खोज का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। शोध में यह पड़ताल की गई है कि पत्रिका ने किस प्रकार घरेलू प्रबंधन, व्यक्तिगत स्वास्थ्य, कानूनी अधिकारों और यौन चेतना जैसे विषयों को मुख्यधारा के विमर्श में शामिल किया है। विश्लेषण के दौरान पत्रिका की कहानियों, संपादकीय और नियमित स्तंभों के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि 'गृहशोभा' स्त्री को 'त्याग की मूर्ति' के रूढ़िबद्ध सांचे से निकालकर एक 'तार्किक एवं निर्णय लेने वाली इकाई' के रूप में स्थापित करती है। साथ ही, शोध इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि बाजारवाद और विज्ञापनों के दबाव ने पत्रिका की सामग्री और स्त्री की छवि को किस प्रकार प्रभावित किया है। प्रस्तुत शोध आलेख में 'गृहशोभा' को केंद्र में रखते हुए यह विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है कि समकालीन पत्रकारिता किस प्रकार स्त्री के निजी और सार्वजनिक संसार के बीच संतुलन स्थापित करती है। शोध इस बात की भी पड़ताल करता है कि बाजारवाद और वैश्विकता के इस दौर में ये पत्रिकाएँ स्त्री की स्वतंत्र पहचान, उसके आर्थिक स्वावलंबन और उसकी मनोवैज्ञानिक जटिलताओं को किस रूप में स्वर दे रही हैं। अत: यह अध्ययन नवजागरण की विरासत और समकालीन स्त्री चेतना के अंतर्संबंधों को समझने की एक गंभीर अकादमिक चेष्टा है।

बीज शब्द

समकालीन, हिन्दी स्त्री पत्रिका, गृहशोभा, स्त्री, समाज, स्त्री की दुनिया।

मूल आलेख

समकालीन हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री पत्रिकाएँ केवल मनोरंजन या घरेलू जानकारी का माध्यम भर नहीं रह गई हैं, बल्कि वे स्त्री-जीवन, उसकी पहचान और सामाजिक भूमिकाओं को निर्मित करने वाली महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक संस्थाओं के रूप में विकसित हुई हैं। आधुनिक मीडिया समाज में जिस प्रकार विचारों और जीवन-शैलियों का निर्माण करता है, उसी प्रकार स्त्री पत्रिकाएँ भी स्त्रियों के अनुभवों, आकांक्षाओं और जीवन दृष्टि को प्रभावित करती हैं। हिन्दी की लोकप्रिय स्त्री पत्रिकाओं में 'गृहशोभा' एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका के रूप में स्थापित है, जिसका प्रकाशन 1979 से हो रहा है। दिल्ली प्रेस द्वारा प्रकाशित यह पत्रिका भारतीय महिलाओं के बीच व्यापक रूप से पढ़ी जाती है और घरेलू जीवन, फैशन, स्वास्थ्य, रिश्तों तथा सामाजिक मुद्दों से जुड़े विविध विषयों को अपने लेखों और स्तंभों के माध्यम से प्रस्तुत करती है। समकालीन हिन्दी स्त्री पत्रिकाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ये

पत्रिकाएँ केवल जानकारी उपलब्ध कराने का कार्य नहीं करतीं, बल्कि वे स्त्री-जीवन की एक विशिष्ट सांस्कृतिक संरचना भी निर्मित करती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वे एक ऐसी 'स्त्री-दुनिया' का निर्माण करती हैं जिसमें स्त्री के जीवन, उसकी इच्छाओं, भूमिकाओं और आकांक्षाओं का एक सांस्कृतिक मॉडल प्रस्तुत किया जाता है। यह मॉडल समाज की बदलती परिस्थितियों और मूल्यों के साथ निरंतर परिवर्तित होता रहता है।

आज की दुनिया में स्त्रियों की स्थितियाँ एक-सी नहीं हैं। विकसित देशों की स्त्रियाँ विकासशील देशों की स्त्रियों से भिन्न परिस्थितियों में जीवन जीती हैं; शहरी स्त्रियों का अनुभव ग्रामीण स्त्रियों से अलग होता है; शिक्षित और अशिक्षित स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में भी अंतर दिखाई देता है। इसी प्रकार कामकाजी स्त्रियों और घरेलू स्त्रियों के जीवन अनुभवों में भी भिन्नता है, और धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेश भी स्त्री की स्थिति को प्रभावित करता है। इस प्रकार स्त्री-जीवन अनेक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारकों से निर्मित होता है। इसलिए स्त्री पत्रिकाओं का अध्ययन करते समय यह समझना आवश्यक हो जाता है कि वे स्त्री-जीवन की किस प्रकार की छवि प्रस्तुत करती हैं और किस प्रकार की स्त्री-दुनिया का निर्माण करती हैं।

स्त्री पत्रिकाओं के अध्ययन में नारीवादी चिंतन और मीडिया अध्ययन के सिद्धांत महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक आधार प्रदान करते हैं। प्रसिद्ध नारीवादी चिंतक सिमोन द बोउवार ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द सेकंड सेक्स' में यह कहा है कि स्त्री का अस्तित्व केवल जैविक नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक निर्माण का परिणाम है। उनका प्रसिद्ध कथन है—''स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बना दी जाती है।''[1] इस कथन का आशय यह है कि समाज विभिन्न सांस्कृतिक माध्यमों जैसे साहित्य, शिक्षा, मीडिया और लोकप्रिय संस्कृति के माध्यम से स्त्री की भूमिका और पहचान को निर्मित करता है।

हिन्दी स्त्री पत्रकारिता का इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक सुधार आंदोलनों से जुड़ा हुआ है। उस समय स्त्रियों की शिक्षा, विधवा-विवाह और सामाजिक सुधार से जुड़े मुद्दों को उठाने के उद्देश्य से अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं, जिनमें 'स्त्री दर्पण' और 'चाँद' महिला जैसी पत्रिकाएँ उल्लेखनीय हैं। इन पत्रिकाओं का उद्देश्य स्त्रियों में शिक्षा और सामाजिक चेतना का प्रसार करना था।

''शिक्षा अक्सर सार्वजनिक गतिविधियों और राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी का रास्ता खोलती थी। फिर भी, यह दलील दी जा सकती है कि स्त्रियों के मामले में, स्कूलों से भी ज्यादा महिलाओं की पत्र-पत्रिकाओं ने लड़कियों को उनकी परिचित दुनिया के दायरे से बाहर के संसार से परिचित कराया, इतिहास में और समकालीन भारत से। स्त्रियों की पत्रिकाओं और साहित्य ने नये-नये कोणों से परिवार और परिवार में औरतों की हैसियत को ले कर सवाल उठाने की अनिवार्य भूमिका भी निभायी: सबसे महत्त्वपूर्ण यह था कि उन्होंने निजी कर्तव्यों के साथ-साथ निजी भावनाओं को भी स्वीकार करने की जरूरत पर बहस चलायी, जैसा कि समकालीन सामाजिक उपन्यासों में दिखता है। शायद यही हिन्दी में महिलाओं की सबसे प्रमुख पत्रिका, 'चाँद' (इलाहाबाद, 1922) की अपार लोकप्रियता का कारण था, जो सबसे ज्यादा पढ़ी जाने वाली पत्रिका बन गयी।''[2]

स्वतंत्रता के बाद स्त्री पत्रिकाओं का स्वरूप धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगा। सामाजिक सुधार के प्रश्नों के साथ-साथ स्त्री-जीवन की दैनिक समस्याएँ, पारिवारिक जीवन, स्वास्थ्य, फैशन और जीवनशैली से जुड़े विषय अधिक प्रमुख होने लगे। इसी परिवर्तित सामाजिक संदर्भ में 'गृहशोभा' जैसी पत्रिकाएँ लोकप्रिय हुईं, जिन्होंने आधुनिक मध्यमवर्गीय स्त्री के जीवन को अपने केंद्र में रखा।

'गृहशोभा' हिन्दी की एक लोकप्रिय स्त्री पत्रिका है, जिसका प्रकाशन दिल्ली प्रेस द्वारा किया जाता है। यह पत्रिका पाक्षिक रूप से प्रकाशित होती है, अर्थात् प्रत्येक पंद्रह दिन में इसका एक अंक प्रकाशित होता है, जिसके परिणामस्वरूप वर्ष भर में इसके लगभग 24 अंक प्रकाशित होते हैं। समय के साथ इसकी लोकप्रियता और पाठक-वर्ग में निरंतर वृद्धि हुई है। दिल्ली प्रेस के अनुसार, ''इस पत्रिका की कुल पाठक संख्या लगभग 27 लाख (2.7 मिलियन)''[3] के आसपास मानी जाती है। वर्ष 2000 के आसपास इसे भारत की दूसरी सबसे अधिक बिकने वाली महिला पत्रिका के रूप में उल्लेखित किया गया है।

'गृहशोभा' की विशेषता यह है कि इसका प्रकाशन केवल हिन्दी तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसे भारत की विभिन्न भाषाओं में भी प्रकाशित किया गया, जिससे इसकी पहुँच देश के अलग-अलग भाषायी क्षेत्रों तक विस्तृत हुई। इसका हिन्दी संस्करण 1979 में प्रारंभ हुआ, जबकि गुजराती संस्करण 1989

में प्रकाशित होना शुरू हुआ। इसके बाद मराठी संस्करण 1992 में तथा कन्नड़ संस्करण 1993 में आरम्भ किए गए। नई सदी में पत्रिका के विस्तार की प्रक्रिया और तेज हुई तमिल संस्करण 2002 में, तेलुगु संस्करण 2003 में तथा मलयालम संस्करण 2004 में प्रारंभ हुए। इसके अतिरिक्त बंगला संस्करण का प्रकाशन 2006 में शुरू किया गया। इस प्रकार वर्तमान में 'गृहशोभा' कुल आठ भाषाओं हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलयालम और बंगला में प्रकाशित होती है, जो इसकी व्यापक लोकप्रियता और बहुभाषिक पाठक-वर्ग को दर्शाता है। 'गृहशोभा' की सामग्री का समग्र अध्ययन यह संकेत देता है कि पत्रिका में घरेलू जीवन से जुड़े विषयों को विशेष प्राथमिकता दी जाती है। खाना-पकाने की विधियाँ, गृह सज्जा, बच्चों की परवरिश और पारिवारिक संबंधों को बेहतर बनाने से जुड़े लेख नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार पत्रिका स्त्री को प्रायः परिवार के केंद्र में स्थित उस व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है, जो घर की व्यवस्था और भावनात्मक संतुलन बनाए रखने की मुख्य जिम्मेदारी निभाती है।

जनवरी (द्वितीय) 2024 में प्रकाशित अंक 'यंग मदर्स स्पेशल' के रूप में सामने आया। इसके कवर पृष्ठ पर, '''क्या है मॉम गिल्ट', 'पहली प्रेग्नेंसी : 11 टिप्स', 'पीरियड्स में कैसे करें ऑफिस मैनेज', 'बुनाई के आकर्षक नमूने' तथा 'नॉर्मल डिलीवरी के लिए क्या करती थीं अनुष्का शर्मा'।''[4] जैसे शीर्षक प्रमुख थे। इन विषयों के माध्यम से मातृत्व, स्त्री-स्वास्थ्य और कामकाजी जीवन की चुनौतियों को सामने लाने का प्रयास दिखाई देता है, किंतु साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि स्त्री की पहचान को मातृत्व और घरेलू कौशल से गहराई से जोड़ा जाता है।

फरवरी (प्रथम) 2024 का अंक 'कुकरी स्पेशल' के रूप में प्रकाशित हुआ, जिसमें भोजन और पाक-कला से जुड़े विषयों को केंद्रीय स्थान दिया गया। कवर पर, '''कुकिंग बिजनेस में सफल महिलाएँ', 'अचार की आसान रेसिपीज', 'झड़ते बालों का क्या है इलाज' और 'सेक्स एजुकेशन बच्चों को सतर्क करेगी'।''[5] जैसे शीर्षक मौजूद थे। इनसे यह संकेत मिलता है कि पत्रिका स्त्री को रसोई, सौंदर्य और पारिवारिक जिम्मेदारियों के संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए सीमित स्तर पर उसकी आर्थिक सक्रियता और सामाजिक जागरूकता को भी रेखांकित करती है।

इसी क्रम में अगस्त (प्रथम) 2024 का अंक 'पेरेंटिंग स्पेशल' के रूप में प्रकाशित हुआ, जिसके कवर पर, '''बेबी मसाज कब और कैसे', 'अंधविश्वास के जाल में महिलाएँ ही क्यों', 'मॉड्यूलर किचन के 5 डिजाइन' और 'डीपफेक पोर्नोग्राफी : कैसे रहें सुरक्षित'।''[6] जैसे शीर्षक दिए गए थे। यहाँ एक ओर मातृत्व और घरेलू जीवन से जुड़े मुद्दे हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक-डिजिटल चुनौतियों पर भी ध्यान आकर्षित किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पत्रिका पारंपरिक विषयों के साथ-साथ समकालीन चिंताओं को भी समाहित करने का प्रयास करती है।

'गृहशोभा' में घरेलू जीवन और सामाजिक विषयों के साथ-साथ सौंदर्य, फैशन और जीवनशैली से जुड़े स्तंभ भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन लेखों के माध्यम से स्त्रियों को अपने व्यक्तित्व, पहनावे और बाहरी रूप-रंग के प्रति सजग रहने की प्रेरणा दी जाती है। उदाहरण के लिए दिसंबर (प्रथम) 2024 में प्रकाशित 'वैडिंग स्पेशल' अंक के कवर पृष्ठ पर, '''ब्राइडल सूटकेस क्या पैक करें', 'मेकअप किट के जरूरी प्रोडक्ट्स', 'सोशल मीडिया के नए खतरे' तथा 'पोल्यूशन से कैसे बचाएँ स्किन'।''[7] जैसे शीर्षक प्रमुखता से प्रस्तुत किए गए थे। इन विषयों से स्पष्ट होता है कि पत्रिका विवाह, सौंदर्य-देखभाल और जीवनशैली से जुड़े मुद्दों को विशेष महत्व देती है। सौंदर्य प्रसाधनों, फैशन और जीवनशैली से जुड़े उत्पादों के माध्यम से स्त्री की पहचान को गढ़ने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जो आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति से गहराई से जुड़ी हुई है। परिणामस्वरूप कई बार स्त्री की सामाजिक उपस्थिति को उसके बाहरी रूप, आकर्षण और वैवाहिक संदर्भों के साथ जोड़ा जाता है। इस प्रकार पत्रिका एक ओर स्त्रियों को समकालीन जीवनशैली के प्रति जागरूक बनाती है, वहीं दूसरी ओर बाजार और उपभोक्तावाद से निर्मित स्त्री-छवि को भी अप्रत्यक्ष रूप से सुदृढ़ करती हुई प्रतीत होती है।

'गृहशोभा' में प्रकाशित कहानियाँ और सलाह स्तंभ भी स्त्री-जीवन की भावनात्मक तथा पारिवारिक दुनिया को प्रमुखता से सामने लाते हैं। इन कथाओं में पति-पत्नी संबंध, प्रेम, विवाह, तलाक, पारिवारिक संघर्ष और सामाजिक दबाव जैसे विषय अक्सर केंद्र में रहते हैं। इस प्रकार की सामग्री के माध्यम से स्त्री के अनुभवों, उसकी संवेदनाओं और संबंधों से जुड़ी जटिलताओं को कथात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पत्रिका में, 'बेडरेस्ट', 'अगर तुम साथ दो', 'हौसले की उड़ान',

'तलाक के बाद', 'शील्ड की प्रोटेक्शन', 'अंश हमारा है', 'एक पति के नोट्स', 'बीवी का मैं दूसरा पति', 'प्यार मंजूर नहीं', 'खुशहाल जिंदगी हुई बदहाल', 'हीरा', 'इंतजार शौहर का', 'लाल जोड़ा', 'रिश्तों का बंधन', 'अपना घर', 'स्वीट सिक्स्टीन', 'वर्जनाएँ लुभाती हैं', 'गर्भ की दुनिया', 'हम आप के हैं दामाद' और 'मैडम जी' जैसी कहानियाँ प्रकाशित होती रही हैं। इन कथाओं में पारिवारिक संबंधों, वैवाहिक जीवन और स्त्री की भावनात्मक दुविधाओं को प्रमुख कथावस्तु के रूप में सामने लाया जाता है। परिणामस्वरूप पत्रिका में निर्मित स्त्री-दुनिया में स्त्री की पहचान प्रायः पारिवारिक भूमिकाओं और वैवाहिक संबंधों के संदर्भ में ही अधिक स्पष्ट होती है, जिससे यह संकेत मिलता है कि भावनात्मक और पारिवारिक दायित्व अभी भी स्त्री के जीवन की केंद्रीय धुरी के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

समकालीन समय में 'गृहशोभा' ने स्त्रियों की शिक्षा, करियर और आत्मनिर्भरता से जुड़े विषयों को भी अपने दायरे में शामिल करना शुरू किया है। पत्रिका में सफल महिला उद्यमियों, पेशेवर महिलाओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं की प्रेरक कहानियाँ प्रकाशित की जाती हैं, जिनके माध्यम से स्त्रियों को आत्मनिर्भरता और पेशेवर पहचान की ओर प्रेरित करने का प्रयास दिखाई देता है। इस प्रकार पत्रिका में स्त्री की एक नई छवि उभरती है ऐसी स्त्री जो शिक्षित, आत्मविश्वासी और आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर समाज में सक्रिय भूमिका निभाने की क्षमता रखती है। उदाहरण के रूप में मार्च (प्रथम) 2026 के अंक में, '''सही समय पर चुनें प्रोफेशनल कोर्स', 'रेग्युलर ग्रेजुएशन के साथ और क्या ऑप्शन', 'मसल स्ट्रेंथ क्यों जरूरी', 'वर्चुअल मीटिंग के लिए हेयरस्टाइल' तथा 'सोशल मीडिया पर आँखें बंद कर भरोसा न करे यूथ'।''[8] जैसे विषयों को स्थान दिया गया है। साथ ही इस अंक में अमीरा शाह जैसी सफल महिला उद्यमी के अनुभवों को भी प्रस्तुत किया गया है, जो मेट्रोपोलिस हेल्थकेयर की प्रमोटर और कार्यकारी अध्यक्ष हैं।

इन सामग्रियों से यह संकेत मिलता है कि पत्रिका केवल घरेलू जीवन तक सीमित नहीं रहना चाहती, बल्कि स्त्रियों की शिक्षा, करियर और समकालीन सामाजिक चुनौतियों पर भी ध्यान देने का प्रयास करती है। घरेलू और जीवनशैली से जुड़े विषयों के बीच भी 'गृहशोभा' का संपादकीय स्तंभ कई बार अपेक्षाओं से अलग और आश्चर्यचकित करने वाला प्रतीत होता है। पत्रिका का संपादकीय स्तंभ 'विहंगम' कई अवसरों पर सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मुद्दों पर तीखी टिप्पणी करता दिखाई देता है। उदाहरण के लिए मार्च (द्वितीय) 2026 के अंक में प्रकाशित 'भेदभाव की पोल खोलते वैवाहिक विज्ञापन'[9] शीर्षक संपादकीय भारतीय समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था पर गंभीर प्रश्न उठाता है। इसमें यह रेखांकित किया गया है कि आधुनिक शिक्षा और वैज्ञानिक सोच के दावे के बावजूद विवाह के मामले में आज भी जाति, धर्म, गोत्र, रंग और क्षेत्र जैसी पहचानें निर्णायक भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार यह संपादकीय भारतीय समाज की उस संकीर्ण मानसिकता की आलोचना करता है, जो शिक्षित होने के बावजूद जातिगत और सामाजिक भेदभाव से मुक्त नहीं हो पाई है।

इसी प्रकार जनवरी (द्वितीय) 2024 के अंक में प्रकाशित 'इज्जत के आगे रुतबा भारी'[10] शीर्षक संपादकीय में महिला पहलवानों द्वारा लगाए गए आरोपों के संदर्भ में महिलाओं की स्थिति पर प्रश्न उठाया गया है। इसमें यह बताया गया है कि जब कोई महिला पुरुष सत्ता के विरुद्ध आवाज उठाती है तो उसे केवल कानूनी संघर्ष ही नहीं बल्कि सामाजिक विरोध और उपेक्षा का भी सामना करना पड़ता है। यह संपादकीय इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि भारतीय समाज में महिलाओं के लिए न्याय की राह अक्सर कठिन और संघर्षपूर्ण होती है। अगस्त (प्रथम) 2024 के अंक में 'धर्म से बड़ा नुकसान औरतों का'[11] शीर्षक संपादकीय धार्मिक संरचनाओं और सामाजिक मान्यताओं के संदर्भ में महिलाओं की स्थिति की आलोचनात्मक पड़ताल करता है। इसमें यह तर्क दिया गया है कि कई बार धर्म और उससे जुड़ी परंपराएँ स्त्रियों के जीवन पर नियंत्रण स्थापित करने का माध्यम बन जाती हैं वे क्या पहनें, क्या खाएँ, कैसे जीवन जिएँ इन सब पर सामाजिक-धार्मिक मानदंडों का प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार यह संपादकीय स्त्री-स्वतंत्रता और धार्मिक-सामाजिक संरचनाओं के बीच मौजूद तनाव को सामने लाता है।

दिसंबर (प्रथम) 2024 के अंक में 'आ बैल मुझे मार'[12] शीर्षक संपादकीय डिजिटल युग में बढ़ते ऑनलाइन फ्रॉड और साइबर अपराधों की समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करता है। इसमें यह बताया गया है कि मोबाइल और इंटरनेट के माध्यम से किस प्रकार साधारण लोगों को ठगी का शिकार बनाया जा रहा है। वहीं फरवरी 2024 के अंक में ''मंदिर दर्शन तो छलावा''[13] शीर्षक के माध्यम से समकालीन राजनीति

में धार्मिक प्रतीकों के उपयोग पर प्रश्न उठाए गए हैं, जहाँ धार्मिक यात्राओं और मंदिर-राजनीति को सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से ध्यान हटाने की रणनीति के रूप में भी देखा गया है।

समकालीन स्त्री पत्रिका 'गृहशोभा' स्त्री-जीवन की बहुआयामी छवियों को प्रस्तुत करती हैं। एक ओर पत्रिका में पारंपरिक स्त्री की छवि दिखाई देती है, जो परिवार, घरेलू जीवन और संबंधों के संरक्षण से जुड़ी भूमिकाओं के माध्यम से परिभाषित होती है; वहीं दूसरी ओर शिक्षा, करियर और सामाजिक सहभागिता के माध्यम से अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने वाली आधुनिक स्त्री की छवि भी उभरती है। यह द्वंद्व दरअसल भारतीय समाज की उस संक्रमणशील स्थिति को प्रतिबिंबित करता है जिसमें परंपरा और आधुनिकता दोनों साथ-साथ मौजूद हैं। यद्यपि पत्रिका की अधिकांश सामग्री घरेलू जीवन, सौंदर्य और जीवनशैली से संबंधित विषयों पर केंद्रित रहती है, फिर भी उसका संपादकीय स्तंभ कई बार इससे अलग एक आलोचनात्मक और प्रश्नाकुल दृष्टि प्रस्तुत करता है। जाति-आधारित वैवाहिक विज्ञापनों, धार्मिक नियंत्रण, राजनीतिक सत्ता और सामाजिक अन्याय जैसे मुद्दों पर किए गए संपादकीय हस्तक्षेप यह संकेत देते हैं कि पत्रिका समय-समय पर व्यापक सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों को भी उठाने का प्रयास करती है। इस प्रकार पत्रिका के भीतर एक ओर घरेलू और उपभोक्तावादी स्त्री-छवि दिखाई देती है, तो दूसरी ओर संपादकीय स्तर पर समाज की संरचनाओं पर प्रश्न उठाने वाला स्वर भी उपस्थित रहता है। यदि इस संदर्भ में नवजागरण काल की स्त्री पत्रिकाओं की ओर दृष्टि डाली जाए तो एक अलग परिदृश्य सामने आता है। उस समय की स्त्री पत्रिकाएँ सामाजिक और राष्ट्रीय प्रश्नों के प्रति अधिक मुखर और सक्रिय दिखाई देती हैं। साहित्येतिहासकार फ्रांचेस्का ऑर्सीनी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी का लोकवृत्त 1920-1940' में हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका चाँद के संदर्भ में लिखा है कि ''चाँद ने निश्चय ही स्त्री-उपयोगी साहित्य का दायरा बदल दिया था। उसने उन सीमाओं को तोड़ने का प्रयास किया कि 'औरतों को क्या जानना चाहिए' और 'औरतों को क्या बोलना चाहिए।''[14]

निष्कर्ष

नवजागरण काल की स्त्री पत्रिकाएँ स्त्रियों को सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने का प्रयास कर रही थीं, जबकि समकालीन स्त्री पत्रिकाओं में यह स्वर अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है। आज की लोकप्रिय स्त्री पत्रिकाएँ अधिकतर जीवन-शैली, उपभोक्ता संस्कृति और पारिवारिक जीवन के इर्द-गिर्द केंद्रित रहती हैं। इस संदर्भ में यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि क्या समकालीन स्त्री पत्रिकाएँ वास्तव में स्त्री-समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं। ग्रामीण और शहरी स्त्रियों, कामकाजी और घरेलू स्त्रियों, तथा विभिन्न सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि की महिलाओं के अनुभवों को समान रूप से स्थान मिल पाता है या नहीं यह एक विचारणीय प्रश्न है। हालाँकि, हिन्दी में कुछ साहित्यिक पत्रिकाएँ ऐसी भी हैं जो समय-समय पर स्त्री-विमर्श को गंभीरता से उठाती रही हैं। उदाहरण के लिए हंस, आलोचना और बनास जन, कथादेश, मनुषी, जैसी पत्रिकाएँ स्त्री-विमर्श से जुड़े, स्त्री-संबंधी प्रश्नों पर गंभीर बौद्धिक बहस को आगे बढ़ाती हैं। इस प्रकार समकालीन हिन्दी स्त्री पत्रिकाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे एक ओर स्त्री-जीवन के बदलते स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं, वहीं दूसरी ओर बाजार, उपभोक्ता संस्कृति और मध्यमवर्गीय जीवनशैली के प्रभावों से भी प्रभावित रहती हैं। इसलिए इन पत्रिकाओं का अध्ययन केवल पत्रकारिता के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि स्त्री-अध्ययन और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : vikasgiripoetry@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. सिंह, मोनिका, स्त्री उपेक्षिता (द सेकंड सेक्स), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-283
2. ऑर्सीनी, फ्रांचेस्का, 'हिन्दी का लोकवृत्त 1920-1940', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-300
3. https://dev.delhipress.in/about-us,13-05-2026,12:36am
4. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', जनवरी (द्वितीय), 2024, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, कवर पेज
5. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', फरवरी (प्रथम), 2024, दिल्ली

प्रेस, नई दिल्ली, कवर पेज
6. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', अगस्त (प्रथम), 2024, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, कवर पेज
7. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', दिसंबर (प्रथम), 2024, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, कवर पेज
8. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', मार्च (प्रथम), 2026, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, कवर पेज
9. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', मार्च (प्रथम), 2026, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, पृष्ठ-8
10. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', जनवरी (द्वितीय), 2024, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, पृष्ठ-8
11. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', अगस्त (प्रथम), 2024, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, पृष्ठ-8-9
12. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', दिसंबर (प्रथम), 2024, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, पृष्ठ-6
13. नाथ, परेश, 'गृहशोभा', फरवरी (प्रथम), 2024, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, पृष्ठ-8
14. ऑर्सीनी, फ्रांचेस्का, 'हिन्दी का लोकवृत्त 1920-1940', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-319

मृत्युंजय कुमार शर्मा

आधुनिक हिंदी कविता में वैचारिक बहुलता : 'अनेकांतवाद' और 'स्याद्वाद' के दार्शनिक सूत्र

(अज्ञेय, कुँवर नारायण, मुक्तिबोध और केदारनाथ सिंह के संदर्भ में)

शोध-सार

प्रस्तुत शोध-आलेख छायावादोत्तर आधुनिक हिंदी कविता—विशेषकर प्रयोगवाद, नई कविता और समकालीन कविता में व्याप्त वैचारिक बहुलता का भारतीय दर्शन की ज्ञान-मीमांसापरक दृष्टि से एक मौलिक और समाजशास्त्रीय अनुशीलन है। समकालीन आलोचना में प्रायः विचारों की इस बहुलता और एकतंत्रीय सत्य के प्रति अविश्वास को पश्चिम के 'उत्तर-आधुनिकतावाद' की बौद्धिक उधारी मान लिया जाता है। इसके विपरीत, यह शोध-पत्र स्थापित करता है कि आधुनिक हिंदी कविता का यह काव्यात्मक लोकतंत्र और वैचारिक कट्टरता के विरुद्ध प्रतिरोध, वास्तव में जैन दर्शन के दो युगांतरकारी सिद्धांतों 'अनेकांतवाद' (तात्विक बहुआयामी यथार्थ) और 'स्याद्वाद' (ज्ञान व अभिव्यक्ति की सापेक्षता) का ही एक आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील पुनराविष्कार है।

इस दार्शनिक वितान के आलोक में आलेख चार प्रमुख शीर्षस्थ कवियों के काव्य-संसार का विश्लेषण करता है। प्रथम चरण में, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के 'राहों के अन्वेषण' और उनकी कालजयी लंबी कविता 'असाध्य वीणा' के माध्यम से सत्य के 'अनंतधर्मा' स्वरूप तथा उपभोक्ता (श्रोता) के व्यक्तिगत दृष्टिकोण के अनुसार सत्य की सापेक्षता को प्रामाणिक रूप से सिद्ध किया गया है। द्वितीय चरण में, गजानन माधव मुक्तिबोध की मार्क्सवादी प्रतिबद्धता और उनके कवि-मन के अंतर्द्वंद्व का मूल्यांकन करते हुए, उनकी कविताओं में प्रयुक्त 'फैंटसी-शिल्प' को यथार्थ की बहुपरतीयता को पकड़ने का एक अनेकांतवादी उपकरण सिद्ध किया गया है। साथ ही, 'ब्रह्मराक्षस' कविता के माध्यम से 'परम सत्य' पर एकाधिकार जताने वाली एकांगी व फासीवादी बुद्धिजीविता की त्रासदी का मार्मिक विश्लेषण 'स्याद्वादी' करुणा के धरातल पर किया गया है।

तृतीय चरण में, विचारधाराओं के 'महावृत्तांतों' के पतन के बाद समकालीन कविता में कुँवर नारायण कृत 'आत्मजयी' के 'नचिकेता' के माध्यम से सत्य के एकाधिकार के विरुद्ध बौद्धिक विनम्रता के लोकतंत्र को स्थापित किया गया है। वहीं, केदारनाथ सिंह की 'बाघ' व अन्य रोजमर्रा की कविताओं के माध्यम से इस दार्शनिक ऊंचाई को गाँव की पगडंडियों और हाशिए पर खड़े आम आदमी के यथार्थ (लकड़हारे, रिक्शेवाले व रोटी के सच) से जोड़ा गया है।

अंततः, यह शोध ज्यां-फ्रांस्वा ल्योतार जैसे पश्चिमी विचारकों के शून्यवाद, विखंडन और निराशा के मुकाबले भारतीय 'अनेकांतवाद' को सह-अस्तित्व, समग्रता और गहरी मानवीय करुणा का संप्रभु विकल्प सिद्ध करता है। यह आलेख यह निष्कर्ष प्रतिपादित करता है कि हिंदी कविता का यह काव्यात्मक स्याद्वाद ही सत्ता, बाजार और राजनीतिक तानाशाही के एकतंत्रीय कोलाहल के बीच मानवीय विविधता और वैचारिक स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने का सबसे सशक्त, मूक और प्रामाणिक दस्तावेज है।

बीज शब्द

वैचारिक बहुलता, अनेकांतवाद, स्याद्वाद, राहों के अन्वेषी, परम अभिव्यक्ति की खोज, महावृत्तांतों का पतन, काव्यात्मक लोकतंत्र, मानवीय संसंस्पर्श।

मूल लेख

मानवीय चेतना का क्रमिक विकास इस बात का साक्षी है

कि सत्य कभी भी एक सपाट, इकहरी और स्थिर वस्तु नहीं रहा है। साहित्य और दर्शन, दोनों ही मनुष्य की इसी चिरंतन जिज्ञासा के दो अलग-अलग छोर हैं; साहित्य जहाँ अनुभूतियों के स्पंदन में सत्य को महसूस करता है, वहीं दर्शन उसी सत्य को तार्किक सूत्रों में बांधने का प्रयास करता है। आधुनिक हिंदी कविता के विकासक्रम विशेषकर छायावाद के अवसान के बाद उभरे प्रयोगवाद, नई कविता और समकालीन कविता के दौर को यदि हम गहराई से टटोलें, तो उसमें एक अजीब सी वैचारिक छटपटाहट और बहुलता दिखाई देती है। यह वह दौर था जब कविता ने किसी एक 'महावृत्तांत' या किसी एक विचारधारा को अंतिम सत्य मान लेने से साफ इंकार कर दिया था। प्राय: अकादमिक जगत और समकालीन आलोचना इस वैचारिक बहुलता और एकतंत्रीय सत्य के प्रति अविश्वास को पश्चिम के 'उत्तर-आधुनिकतावाद' की देन मान लेती है। किंतु, भारतीय साहित्य की अपनी एक अंतर्निहित और स्वतंत्र वैचारिक मनीषा रही है, जिसकी जड़ें हमारी सदियों पुरानी दार्शनिक सहिष्णुता में बहुत गहरी धँसी हुई हैं। आधुनिक हिंदी कविता में दिखाई देने वाला यह काव्यात्मक लोकतंत्र और वैचारिक कट्टरता के विरुद्ध मौन प्रतिरोध, वास्तव में जैन दर्शन के दो अत्यंत महत्वपूर्ण और युगांतरकारी सिद्धांतों 'अनेकांतवाद' और 'स्याद्वाद' का ही एक आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील पुनराविष्कार है।

अनेकांतवाद, तात्विक धरातल पर यह प्रतिपादित करता है कि यथार्थ या वस्तु का स्वरूप अनंतधर्मा होता है; अर्थात् किसी भी सत्य के अनंत पहलू, अनंत रूप और अनंत परतें होती हैं। कोई भी एक व्यक्ति, एक दृष्टि या कोई एक विचारधारा उस पूर्ण सत्य को अपनी मुट्ठी में कैद करने का दावा नहीं कर सकती। इसी तात्विक सत्य का व्यावहारिक और भाषाई रूप 'स्याद्वाद' है, जो ज्ञान और अभिव्यक्ति की सापेक्षता को रेखांकित करता है। स्याद्वाद का अर्थ किसी संशय, भ्रम या दुविधा में जीना नहीं है, बल्कि यह मानव मन की वह परम विनम्रता है जो यह स्वीकार करती है कि 'एक विशिष्ट दृष्टिकोण से मेरा सच भी सच है, और दूसरे दृष्टिकोण से तुम्हारा सच भी पूरी तरह सही हो सकता है।' यह दर्शन किसी विचार को खारिज करने के बजाय, सत्य के बिखरे हुए टुकड़ों को समेटने की वकालत करता है। जब आधुनिक हिंदी कविता एक ही समय में मार्क्सवाद के सामाजिक न्याय की आग, अस्तित्ववाद के वैयक्तिक अकेलेपन की पीड़ा, गांधीवाद की अगाध नैतिकता और फ्रायड के मनोविश्लेषण को अपने भीतर जगह देती है, तो वह अनजाने ही इसी अनेकांतवादी चेतना को जी रही होती है।

आधुनिक कवियों ने यह बहुत गहरे स्तर पर महसूस कर लिया था कि जब कोई एक विचारधारा स्वयं को पूर्ण और अंतिम सत्य घोषित कर देती है, तो वह अनिवार्य रूप से फासीवादी और हिंसक हो जाती है। अज्ञेय का 'राहों का अन्वेषण', जहाँ सत्य किसी मंजिल पर नहीं बल्कि खोजने की प्रक्रिया में है; मुक्तिबोध की कविताओं का वह भयावह अंतर्द्वंद्व, जहाँ ज्ञान की पूर्णता को न पकड़ पाने की पीड़ा 'ब्रह्मराक्षस' की त्रासदी बन जाती है; और कुंवर नारायण तथा केदारनाथ सिंह की कविताओं में आम आदमी के जीवन की वह साधारण बहुलता ये सभी इसी दार्शनिक सूत्र के काव्यात्मक साक्ष्य हैं। इन कवियों ने अपनी अनुभूतियों को विचारधाराओं के तंग दायरों में घुटने नहीं दिया, बल्कि उन्होंने सत्य के कई चेहरों को एक साथ देखा और स्वीकारा।

इस लेख का केंद्रीय उद्देश्य इसी अछूते वैचारिक दृष्टिकोण को स्थापित करना है। यह लेख इस बात की पड़ताल करेगा कि कैसे आधुनिक हिंदी कविता का यह बहुलवादी वितान पश्चिम की बौद्धिक उधारी नहीं, बल्कि भारतीय चिंतन-परंपरा के अनेकांतवाद और स्याद्वाद का ही सहज विस्तार है। यह दार्शनिक ढांचा हमारे कविता-विमर्श को न केवल वैचारिक दुराग्रहों और कट्टरता से मुक्त करता है, बल्कि वह हमें एक ऐसा 'ह्यूमन स्पेस' (मानवीय अवकाश) देता है जहाँ हर व्यक्ति का दर्द, हर व्यक्ति का सच और हर व्यक्ति की असहमति बिना किसी डर के कविता की पंक्तियों में सांस ले सकती है।

हिंदी कविता के इतिहास पर यदि हम एक समाजशास्त्रीय दृष्टि डालें, तो बीसवीं सदी का मध्य भाग विशेषकर छायावाद के बाद का प्रगतिशील दौर एक ऐसा समय था जब पूरी दुनिया विचारधाराओं के महायुद्ध से गुजर रही थी। वैश्विक स्तर पर मार्क्सवाद, फासीवाद और पूंजीवाद जैसी विचारधाराएँ स्वयं को मानव-मुक्ति का एकमात्र और अंतिम सत्य घोषित कर रही थीं। साहित्य पर इस वैचारिक दुराग्रह का दबाव इतना भयानक था कि कविता से यह अपेक्षा की जाने लगी कि वह किसी एक राजनीतिक वाद का भोंपू बन जाए। जब कोई विचार यह दावा करता है कि 'केवल मेरा सच ही पूर्ण सच है', तो वह अनिवार्यत: असहमति की आवाजों को कुचलने लगता है। हिंदी कविता के इस घुटन भरे वैचारिक कोलाहल

के बीच सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का आगमन केवल एक नए शिल्प का प्रयोग नहीं था, बल्कि वह भारतीय मनीषा के अनेकांतवाद का एक ऐसा मूक काव्यात्मक हस्तक्षेप था, जिसने कविता को एक राजनीतिक पर्चा बनने से बचा लिया।

अज्ञेय ने जब 'तारसप्तक' की ऐतिहासिक भूमिका लिखी, तो उन्होंने किसी भी बंधी-बंधाई वैचारिक लीक पर चलने से स्पष्ट इंकार कर दिया। उन्होंने अपने साथी कवियों को किसी मंजिल पर पहुँचा हुआ सिद्धहस्त नहीं माना, बल्कि उन्हें 'राहों के अन्वेषी' कहा। यह अन्वेषण शब्द कोई सामान्य साहित्यिक जुमला नहीं था; दार्शनिक स्तर पर यह स्याद्वाद की उस परम ज्ञानमीमांसीय विनम्रता का काव्यात्मक अनुवाद था जो यह मानती है कि सत्य इतनी विशाल और अनंतधर्मा सत्ता है कि कोई भी एक वाद या विचारधारा उसे अपनी मुट्ठी में पूरी तरह कैद नहीं कर सकती। अज्ञेय का यह स्पष्ट मानना था कि जिस दिन कवि को यह भ्रम हो जाता है कि उसने पूर्ण सत्य पा लिया है, उसी दिन उसकी मानवीय संवेदना और सर्जनात्मकता मर जाती है। इसलिए, अज्ञेय का कवि जीवन भर एक अन्वेषक रहता है, जो यथार्थ के एक-एक टुकड़े को बड़ी सावधानी और पीड़ा के साथ बीनता है, और दूसरों के सत्य को भी उतनी ही गरिमा के साथ स्वीकार करता है। उनका यह दृष्टिकोण वास्तव में अनेकांतवाद का ही एक आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष रूप था, जिसने साहित्य में 'दूसरे की आवाज' के लिए एक सुरक्षित लोकतांत्रिक स्पेस का निर्माण किया।

इस दार्शनिक बहुलता का सबसे जादुई और चरम रूप अज्ञेय की कालजयी लंबी कविता 'असाध्य वीणा' में घटित होता है। यह कविता मूलत: कला, सत्य और मनुष्य के अहंकार के विसर्जन का एक महान अनेकांतवादी आख्यान है। जब केशकंबली गुफा-गेह प्रियंवद उस वज्रकीर्ति द्वारा बनाई गई वीणा को साधने के लिए बैठता है, तो वह वीणा पर अपना कोई सत्य थोपता नहीं है, बल्कि वह स्वयं को उस वीणा की अनंत संभावनाओं के प्रति मौन और रिक्त कर देता है। प्रियंवद का यह समर्पण वास्तव में एक स्याद्वादी समर्पण है, जहाँ वह जानता है कि संगीत (यानी सत्य) किसी एक रूप में नहीं बंधा है। जब वह वीणा बजती है, तो उसका संगीत राजदरबार में बैठे हर व्यक्ति को अलग-अलग सुनाई देता है। अज्ञेय लिखते हैं कि राजा को वह संगीत 'जयमाल' और सत्ता के घोष की तरह सुनाई दिया, रानी को वह 'प्रेम-पग ध्वनि' लगा, किसी कृषक को 'पकी हुई फसल की झंकार' महसूस हुआ, तो किसी भयभीत व्यक्ति को उसमें 'अभयदान' सुनाई पड़ा। एक ही वीणा, एक ही संगीत, लेकिन उसे ग्रहण करने वाले अनंत सत्य।

अज्ञेय का यह काव्यात्मक दृश्य 'अनेकांतवाद' का सबसे प्रामाणिक साहित्यिक दस्तावेज है। सत्य (वीणा का स्वर) एक है, लेकिन उसे देखने, सुनने और जीने का दृष्टिकोण ('स्यात्') हर व्यक्ति के अपने जीवन-अनुभव के अनुसार बदल जाता है। यह कविता चीख-चीख कर कहती है कि राजा का सच कृषक के सच से अलग हो सकता है, किंतु दोनों ही सच अपनी-अपनी जगह पूर्णत: वैध और प्रामाणिक हैं। किसी एक के सच को दूसरे पर थोपा नहीं जा सकता। अज्ञेय यहाँ विचारधाराओं की उस कट्टरता पर एक गहरी दार्शनिक चोट करते हैं जो पूरे समाज को एक ही चश्मे से देखने की जिद करती है।

मानवीय स्तर पर यदि हम अज्ञेय की इस अनेकांतवादी चेतना को टटोलें, तो इसमें एक गहरा दर्द और एकाकीपन भी छिपा है। जब पूरी भीड़ किसी एक नारे के पीछे अंधी होकर दौड़ रही हो, तब 'सत्य की बहुपरतीयता' की बात करना कवि को एक भयावह अकेलेपन में धकेल देता है। अज्ञेय ने इस अकेलेपन को भोगा था। उन पर व्यक्तिवादी और पलायनवादी होने के कितने ही लांछन लगे, किंतु उन्होंने अपने 'आत्म' की स्वतंत्रता का सौदा किसी सामूहिक विचारधारा के साथ नहीं किया। अज्ञेय का यह अंतर्द्वंद्व हमें यह सिखाता है कि सत्य के कई रूपों को एक साथ स्वीकार करना (अनेकांत) कोई बौद्धिक विलासिता नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी गहरी मानवीय पीड़ा है जिसमें कवि को अपने ही भीतर पल रहे कई विरोधाभासों के साथ रोज लड़ना पड़ता है। अज्ञेय ने इसी दार्शनिक साहस के बल पर आधुनिक हिंदी कविता को यह सिखाया कि सत्य कोई ठोस पत्थर नहीं है जिसे दूसरों के सिर पर मारा जाए, बल्कि सत्य तो पानी की तरह है, जो हर पात्र के आकार और हर मनुष्य की प्यास के अनुसार अपना रूप ग्रहण कर लेता है।

आधुनिक हिंदी कविता में जब हम विचारधाराओं के टकराव और सत्य की खोज की बात करते हैं, तो गजानन माधव मुक्तिबोध का काव्य-संसार एक अत्यंत जटिल, भयावह और रहस्यमयी वैचारिक भूलभुलैया के रूप में हमारे सामने आता है। वैचारिक स्तर पर मुक्तिबोध एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी

थे, और मार्क्सवाद मूलत: एक रैखिक और द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन है जो सत्य को वर्ग-संघर्ष के एक निश्चित चश्मे से देखता है। किंतु मुक्तिबोध की महानता यह है कि उनका कवि-मन इस इकहरे और सपाट सत्य से कभी संतुष्ट नहीं हुआ। उनके भीतर का रचनाकार यथार्थ को केवल अर्थशास्त्र या राजनीति के 'ब्लैक एंड व्हाइट' सांचों में बाँधने के विरुद्ध एक भयानक आंतरिक युद्ध लड़ रहा था। मुक्तिबोध की कविताओं में जो फैंटसी का शिल्प उभरकर आता है, वह कोई पलायनवादी स्वप्नलोक नहीं है, बल्कि वह भारतीय दर्शन के अनेकांतवाद का ही एक अत्यंत आधुनिक, मनोवैज्ञानिक और काव्यात्मक उपकरण है। फैंटसी के माध्यम से मुक्तिबोध एक ही समय में सत्य की कई परतों, कई चेहरों और कई विरोधाभासों को एक साथ मंच पर ले आते हैं, जहाँ अवचेतन के डर, सामाजिक यथार्थ और वैयक्तिक कुंठाएं सब एक साथ सत्य के बहुलवादी रूप का निर्माण करते हैं।

मुक्तिबोध की कविताओं का जो केंद्रीय विषय है -'परम अभिव्यक्ति की खोज'। वह वास्तव में पूर्ण सत्य को पकड़ने की एक अंतहीन और त्रासद छटपटाहट है। उनकी कालजयी कविता 'अंधेरे में' का नायक उस परम अभिव्यक्ति को ढूँढने के लिए बेचैन है, लेकिन वह अभिव्यक्ति उसे कहीं पूर्ण रूप में नहीं मिलती। वह कभी किसी पागल के वेश में दिखती है, कभी किसी खूनी जुलूस में छिप जाती है, तो कभी तिलिस्मी खोह में बंद मिलती है। यह सत्य का वही अनंतधर्मा या अनेकांतवादी स्वरूप है, जो यह बताता है कि ज्ञान कभी भी स्थिर या एकांगी नहीं हो सकता। जब भी कवि को लगता है कि उसने सत्य को पा लिया है, सत्य अपना रूप बदल लेता है। यह छटपटाहट इस बात का दार्शनिक प्रमाण है कि मुक्तिबोध का यथार्थबोध किसी एक राजनीतिक वाद का मोहताज नहीं था, बल्कि वह जीवन की समग्रता और उसकी सापेक्षता (स्याद्वाद) को उसके सबसे खुरदरे रूप में स्वीकार करने की एक पीड़ादायक जिद थी।

मुक्तिबोध के इसी वैचारिक अंतर्द्वंद्व और ज्ञान की बहुपरतीयता का सबसे विदारक दस्तावेज उनकी सुप्रसिद्ध कविता 'ब्रह्मराक्षस' है। यह कविता केवल एक लोककथा का आधुनिक रूपांतरण नहीं है, बल्कि यह एक ऐसे बुद्धिजीवी की महाकाव्यात्मक त्रासदी है जिसने 'स्याद्वाद' की विनम्रता को भुलाकर सत्य को अपनी कठोर तार्किक और गणितीय मुट्ठी में कैद करने का दुस्साहस किया। ब्रह्मराक्षस शहर की एक सूनी बावड़ी में रहता है और लगातार अपने शरीर का मैल रगड़-रगड़ कर साफ करता रहता है। वह मैल वास्तव में उसके अचेतन का वह वैचारिक भ्रम है जिसे वह मिटाकर ज्ञान की पूर्ण शुद्धता प्राप्त करना चाहता है। मुक्तिबोध लिखते हैं कि वह बावड़ी की सीढ़ियों पर बैठकर 'सुसंगत गणित' लगाता है और सत्य के हर रहस्य को समीकरणों में बाँधने की कोशिश करता है। लेकिन उसका यह दंभ और उसकी यह पूर्णता की चाह ही उसके विनाश का कारण बनती है।

जैन दर्शन का 'अनेकांतवाद' हमें सिखाता है कि सत्य को गणित के किसी एक सुसंगत समीकरण में नहीं बांधा जा सकता, क्योंकि जीवन में जो चीज एक कोण से सही है, वह दूसरे कोण से गलत भी हो सकती है। ब्रह्मराक्षस इसी 'स्यात्' (शायद/अपेक्षाकृत) के दर्शन को भूल गया है। वह चाहता है कि दुनिया उसकी कठोर तार्किक व्याख्या के अनुसार चले। जब दुनिया के बहुलवादी यथार्थ और उसके एकांगी ज्ञान के बीच भीषण टकराव होता है, तो वह पागल हो जाता है और उसी बावड़ी में डूबकर अपनी जान दे देता है। ब्रह्मराक्षस की त्रासदी वास्तव में उस आधुनिक ज्ञान-मीमांसा की विफलता है जो 'परम सत्य' पर एकाधिकार जताना चाहती है। लेकिन इस कविता का सबसे मार्मिक और 'स्याद्वादी' हिस्सा वह है जहाँ कवि (मुक्तिबोध) उस मृत ब्रह्मराक्षस के प्रति अपना मानवीय दृष्टिकोण प्रकट करता है। कवि उस बुद्धिजीवी के अहंकार को खारिज नहीं करता, बल्कि उसकी अधूरी रह गई खोज के प्रति एक अगाध करुणा और विनम्रता से भर उठता है। कविता के अंत में मुक्तिबोध लिखते हैं : ''मैं उसका शिष्य बनूँगा, और उसके अधूरे कार्य को पूर्ण करूँगा।'' यह समर्पण 'स्याद्वाद' की सबसे बड़ी काव्यात्मक परिणति है। कवि यह स्वीकार करता है कि ब्रह्मराक्षस का सच भले ही एकांगी होकर विफल हो गया हो, लेकिन वह पूरी तरह व्यर्थ नहीं है। वह सत्य की खोज का एक महत्वपूर्ण अंश था। कवि उस अंश को अपने सच के साथ जोड़कर एक बड़ी समझ विकसित करना चाहता है। यहाँ मुक्तिबोध विचारधाराओं की कट्टरता को तोड़कर एक ऐसा 'ह्यूमन टच' पैदा करते हैं जहाँ विरोधी विचारों और विफल हो चुके दर्शनों के लिए भी शोक मनाया जाता है और उन्हें सम्मान दिया जाता है। इस प्रकार, 'ब्रह्मराक्षस' एक महान अनेकांतवादी कविता बन जाती है जो यह घोषणा करती है कि सत्य न तो केवल मेरे पास है और न ही पूर्णत: तुम्हारे पास; वह तो हम सबकी अधूरी खोजों के बीच कहीं

बिखरा हुआ एक विराट और अनंत वितान है।

आधुनिक हिंदी कविता के विकास क्रम में मुक्तिबोध की जटिल फैंटसी से बाहर निकलकर जब हम साठोत्तरी और समकालीन कविता के दौर में प्रवेश करते हैं, तो 'अनेकांतवाद' का यह दार्शनिक वितान एक नया, अधिक जनवादी और रोजमर्रा का रूप धारण कर लेता है। समकालीन कविता तक आते-आते भारतीय समाज में राजनीति और विचारधाराओं के 'महावृत्तांतों' का पूरी तरह पतन हो चुका था। राज्य, बाजार और मीडिया ने मिलकर यथार्थ को एक इकहरे, आक्रामक और भ्रामक सत्य में तब्दील करना शुरू कर दिया था। सत्ता का हमेशा से यह प्रयास रहता है कि पूरी जनता एक ही भाषा बोले, एक ही सत्य को माने और एक ही दिशा में सोचे, क्योंकि विचारों की बहुलता सत्ता के लिए सबसे बड़ा खतरा होती है। ऐसे घुटन भरे समय में कुंवर नारायण और केदारनाथ सिंह जैसे शिखर कवियों ने कविता को एकतंत्रीय नारों में बहने से रोका। उन्होंने अपने काव्य में यह स्थापित किया कि सत्य दिल्ली के किसी सत्ता-केंद्र से तय नहीं होता, बल्कि वह देश के करोड़ों आम आदमियों के पसीने, उनकी छोटी-छोटी असहमति और उनके रोजमर्रा के बहुलवादी यथार्थ में बिखरा हुआ है। यहाँ अनेकांतवाद केवल कोई अमूर्त दार्शनिक सिद्धांत नहीं रह जाता, बल्कि वह सत्ता की वैचारिक तानाशाही के खिलाफ एक मूक, किंतु मारक प्रतिरोध बन जाता है।

कुंवर नारायण की कविताएँ इस 'स्याद्वादी' विनम्रता और दार्शनिक बहुलता का सबसे प्रखर उदाहरण हैं। उनके कालजयी प्रबंध काव्य 'आत्मजयी' और बाद में रचे गए 'वाजश्रवा के बहाने' को यदि हम अनेकांतवाद की कसौटी पर कसें, तो यह महज एक उपनिषदिक कथा का काव्यात्मक अनुवाद नहीं, बल्कि सत्य के एकाधिकार के विरुद्ध एक महाविवाद है। वाजश्रवा (नचिकेता के पिता) उस प्राचीन, रूढ़िवादी और सत्ता-संपन्न सत्य के प्रतीक हैं, जो मानते हैं कि उनका ज्ञान ही अंतिम और अकाट्य है। इसके विपरीत, युवा नचिकेता एक अन्वेषी और 'स्याद्वादी' चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। नचिकेता का अपने पिता से विद्रोह किसी भौतिक संपत्ति के लिए नहीं, बल्कि सत्य की बहुपरतीयता को स्वीकार कराने के लिए है। जब कुंवर नारायण नचिकेता को यम (मृत्यु के देवता) के सामने खड़ा करते हैं, तो वहाँ भी संवादों में कोई अंतिम फतवा नहीं दिया जाता। मृत्यु जैसी शाश्वत और इकहरी सत्ता के सामने भी नचिकेता जीवन के उन अनंत अर्थों की वकालत करता है जो किसी एक दर्शन में नहीं समा सकते। कुंवर नारायण की कविता यह सिखाती है कि जब हम दूसरों के सत्य (स्यात्) को सुनने का धैर्य खो देते हैं, तो हम वैचारिक रूप से हिंसक हो जाते हैं। उनकी कविता का स्वर कभी आक्रामक नहीं होता, किंतु उनकी वह 'बौद्धिक विनम्रता' ही फासीवादी और एकांगी विचारों के लिए सबसे बड़ा काव्यात्मक अस्त्र बन जाती है। कुंवर नारायण का यह वैचारिक लोकतंत्र वास्तव में जैन दर्शन के उसी 'अनेकांत' की आधुनिक काव्यात्मक वापसी है जहाँ हर विचार को संवाद की मेज पर ससम्मान जगह दी जाती है।

दूसरी ओर, केदारनाथ सिंह की कविताओं में यह वैचारिक बहुलता अपनी दार्शनिक ऊंचाई से उतरकर सीधे गाँव की पगडंडियों, शहर के फुटपाथों और आम आदमी के चूल्हे तक पहुँच जाती है। केदारनाथ सिंह हिंदी के उन विरल कवियों में हैं जिन्होंने चीजों के 'अनंतधर्मा' स्वरूप को रोजमर्रा की साधारण वस्तुओं में देखा। उनकी कविताओं में एक सुई, एक साइकिल, एक चम्मच या एक बाघ-ये सब केवल निर्जीव वस्तुएं या सामान्य जीव नहीं हैं; ये अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र सत्य हैं। उनकी सुप्रसिद्ध कविता 'बाघ' को ही लें। यह बाघ केवल जंगल का एक जानवर नहीं है; वह सत्ता का खौफ भी है, वह आदिम वृत्ति भी है, वह शहर में घुस आया अजनबी यथार्थ भी है और वह कला का एक अमूर्त रूप भी है। केदारनाथ सिंह उस बाघ को किसी एक अर्थ में नहीं बांधते। बाघ को देखने वाले हर व्यक्ति-चाहे वह एक स्कूल का बच्चा हो, एक किसान हो या शहर का एक बाबू हो सबका अपना-अपना 'स्यात्' दृष्टिकोण है। यह यथार्थ की वह अनेकांतवादी बुनावट है जिसे पश्चिम का कोई दर्शन नहीं समझा सकता।

केदारनाथ सिंह की कविताओं में जब एक बूढ़ा किसान खाँसता है, या जब दाने चुगती हुई एक चिड़िया चुपचाप उड़ जाती है, तो वह भी एक सत्य है जो सत्ता के बड़े-बड़े दावों को मूक रूप से चुनौती दे रहा है। समकालीन सत्ता यह दावा करती है कि उसने विकास का परम सत्य पा लिया है, लेकिन केदारनाथ सिंह की कविता दिखाती है कि उस परम सत्य के समानांतर एक लकड़हारे का सत्य, एक रिक्शेवाले का सत्य और एक रोटी का सत्य भी मौजूद है, और इन छोटे-छोटे सत्यों को झुठलाया नहीं जा सकता। सत्ता के कोलाहल के बीच आम आदमी का यह 'अनेकांतवादी यथार्थ' अपना वजूद बचाए रखने की सबसे बड़ी जद्दोजहद है। केदारनाथ सिंह का

यह काव्य-बोध हमें बताता है कि लोकतंत्र केवल संसद में नहीं बचता; वह भाषा और शब्दों के बीच बची हुई उस बहुलता में बचता है जहाँ हर हाशिये के सच को कविता में सांस लेने की जगह मिलती है।

इस प्रकार, समकालीन हिंदी कविता में अनेकांतवाद और स्याद्वाद एक अत्यंत सजीव, धर्मनिरपेक्ष और प्रतिरोधी मूल्य बनकर उभरते हैं। अज्ञेय का जो दार्शनिक अन्वेषण था और मुक्तिबोध का जो भयावह अंतर्द्वंद्व था, वह कुंवर नारायण और केदारनाथ सिंह तक आते-आते एक ऐसे शांत और गहरे मानवीय स्पेस में बदल जाता है, जो किसी भी प्रकार की वैचारिक कट्टरता, धार्मिक उन्माद या राजनीतिक तानाशाही को पूरी तरह खारिज कर देता है।

आधुनिक हिंदी कविता की इस सुदीर्घ, जटिल और बहुपरतीय वैचारिक यात्रा का गहन अनुशीलन हमें अंततः इस निर्विवाद दार्शनिक सत्य तक ले जाता है कि बीसवीं सदी और उसके बाद की हिंदी कविता किसी भी प्रकार के एकाधिकारवादी सत्य के विरुद्ध एक महान और मूक बगावत है। जब हम अज्ञेय के अन्वेषी मौन से लेकर मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' की त्रासदी और कुंवर नारायण तथा केदारनाथ सिंह के आम आदमी के बहुलवादी यथार्थ तक की यात्रा करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन रचनाकारों ने सत्य को किसी एक राजनीतिक या दार्शनिक खूंटे से बंधने नहीं दिया। उन्होंने यह महसूस किया कि जब भी कोई 'वाद' अपने सत्य को अंतिम और सार्वभौमिक मान लेता है, तो वह अनिवार्य रूप से हिंसक और फासीवादी हो जाता है। ऐसे में, इन कवियों ने भारतीय मनीषा के उस अत्यंत प्राचीन और सहिष्णु दार्शनिक ढाँचे-'अनेकांतवाद' और 'स्याद्वाद' की ओर अनजाने ही वापसी की, जो यह मानता है कि सत्य एक अनंत और विराट सत्ता है जिसे किसी एक चश्मे से नहीं देखा जा सकता।

यहाँ समकालीन साहित्य-विमर्श में व्याप्त उस भारी भ्रांति का निवारण करना अत्यंत आवश्यक है जो आधुनिक कविता की इस वैचारिक बहुलता को सीधे तौर पर पश्चिम के उत्तर-आधुनिकतावाद की उधारी मान लेती है। ज्यां-फ्रांस्वा ल्योतार जैसे पश्चिमी विचारकों ने जब महावृत्तांतों के पतन की घोषणा की, तो उसका मूल स्वर विखंडन, शून्यवाद और एक प्रकार की गहरी निराशा से भरा हुआ था। पश्चिम का उत्तर-आधुनिकतावाद कहता है कि 'कोई भी सत्य नहीं है, सब कुछ केवल भाषा का खेल और विमर्श है।' यह एक बहुत ही नकारात्मक और विध्वंसक दृष्टिकोण है जो मनुष्य को पूरी तरह अनाथ और अर्थहीन छोड़ देता है। इसके ठीक विपरीत, भारतीय 'अनेकांतवाद' और 'स्याद्वाद' की काव्यात्मक परिणति शून्यवाद में नहीं, बल्कि 'सह-अस्तित्व' और गहरी करुणा में होती है। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि श्सत्य नहीं है; बल्कि वह यह कहता है कि ''सत्य इतना विशाल है कि वह मेरे पास भी थोड़ा सा है, तुम्हारे पास भी थोड़ा सा है, और उस हाशिये पर खड़े आम आदमी के पास भी थोड़ा सा है।'' पश्चिम का दर्शन जहाँ सत्य को पूरी तरह खारिज करके एक अराजकता पैदा करता है, वहीं भारतीय अनेकांतवाद सत्य के बिखरे हुए टुकड़ों को जोड़कर एक मानवीय लोकतंत्र का निर्माण करता है। अज्ञेय, मुक्तिबोध और केदारनाथ सिंह की कविताओं में जो बहुलता है, वह पश्चिम की निराशा नहीं है, बल्कि वह भारतीय अंतर्मन की वह परम विनम्रता है जो दूसरे के सत्य को भी जीने का अधिकार देती है।

इस कड़ी की अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि 'अनेकांतवाद' आधुनिक कविता के लिए केवल एक बौद्धिक या अकादमिक उपकरण नहीं है; यह इस कविता का सबसे गहरा 'ह्यूमन टच' (मानवीय संस्पर्श) है। जब कविता यह स्वीकार करती है कि यथार्थ अनंतधर्मा है, तो वह वास्तव में समाज के उन तमाम कमजोर, दबे-कुचले और असहमति रखने वाले लोगों को एक सुरक्षित पनाहगाह दे रही होती है जिन्हें सत्ता और वर्चस्वशाली विचारधाराएं मिटा देना चाहती हैं। अनेकांतवाद वह दार्शनिक ढाल है जो यह तय करती है कि किसी वैचारिक महायुद्ध में एक साधारण मनुष्य की छोटी सी खुशी, उसका छोटा सा दुःख और उसकी नितांत वैयक्तिक पीड़ा कहीं कुचली न जाए। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' का वह मौन समर्पण, मुक्तिबोध की बावड़ी में डूबते ज्ञान का वह अंतर्द्वंद्व और केदारनाथ सिंह के 'बाघ' की वह रहस्यमयी उपस्थिति-ये सब इसी बात के साक्ष्य हैं कि सत्य किसी एक रूप में कैद नहीं हो सकता।

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी कविता की महानता इसमें नहीं है कि उसने किसी एक विचारधारा को पूर्णता तक पहुँचाया, बल्कि उसकी महानता इसमें है कि उसने हर विचारधारा के अधूरेपन को पूरी ईमानदारी और पीड़ा के साथ स्वीकार किया। यह काव्यात्मक स्याद्वाद ही आधुनिक भारतीय मानस का सबसे प्रामाणिक मूक प्रतिरोध है, जिसने सत्ता और बाजार के एकतंत्रीय कोलाहल के बीच

भी मनुष्य की श्विविधता' और उसकी श्स्वतंत्रता' की आत्मा को मरने नहीं दिया। जब तक कविता में श्अनेकांत' की यह समझ और श्स्याद्वाद' की यह विनम्रता बची रहेगी, तब तक मानवीय संवेदनाओं को किसी भी तानाशाही के सांचे में ढालना असंभव रहेगा।

शोध छात्र
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई.मेल : mritunjaykmrsharma@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन (1943), तारसप्तक (भूमिका), नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ।
2. अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन (1961), आँगन के पार द्वार ('असाध्य वीणा' के विशेष संदर्भ में), नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ।
3. मुक्तिबोध, गजानन माधव (1964), चाँद का मुँह टेढ़ा है ('ब्रह्मराक्षस' और 'अंधेरे में' कविताओं के फैंटसी-शिल्प हेतु), नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ।
4. नारायण, कुंवर (1965), आत्मजयी (कठोपनिषद के बहाने सत्ता और सत्य के बहुलवादी विमर्श हेतु), नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
5. सिंह, केदारनाथ (1996), बाघ (समकालीन बहुलवादी यथार्थ और रोजमर्रा के मिथक के संदर्भ हेतु), नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
6. दिनकर, रामधारी सिंह (1956), संस्कृति के चार अध्याय (जैन दर्शन के 'अनेकांतवाद' और भारतीय सहिष्णुता के ऐतिहासिक-दार्शनिक आधार हेतु), इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
7. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद (1940), हिंदी साहित्य की भूमिका (भारतीय चिंतन परंपरा और दार्शनिक बहुलता के संदर्भ में), नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
8. सिंह, डॉ. नामवर (1968), कविता के नए प्रतिमान (मुक्तिबोध की फंतासी और यथार्थ के अंतर्द्वंद्व के आलोचनात्मक विश्लेषण हेतु), नई दिल्लीरू राजकमल प्रकाशन।

आनंदमठ की ऐतिहासिकता

मुस्कान गिरि

'आनंदमठ' भारतीय साहित्य के इतिहास में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली उपन्यास माना जाता है। यह केवल एक साहित्यिक कृति नहीं, बल्कि भारतीय राष्ट्रचेतना, सांस्कृतिक पुनर्जागरण और ऐतिहासिक स्मृति का भी दस्तावेज है। कार्तिकचंद्र दत्त अपने आलेख 'आनंदमठ और वंदेमातरम् : एक शताब्दी परिचर्चा' में आनंदमठ की ऐतिहासिकता के संदर्भ में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि ''बंकिमचंद्र ने जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को आधार बनाया उसमें एक ओर मुस्लिम-शासन के पतनोन्मुख युग का इतिहास है, दूसरी ओर अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना का प्रारम्भिक युग है। इसी समय घटित भयंकर दुर्भिक्ष भी ऐतिहासिक घटना है।''[1]

उन्नीसवीं शताब्दी का भारत सामाजिक परिवर्तन, राजनीतिक पराधीनता और सांस्कृतिक जागरण का काल था। एक ओर ईस्ट इंडिया कंपनी तथा बाद में ब्रिटिश शासन भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था, दूसरी ओर भारतीय समाज में आत्मबोध और स्वाभिमान की भावना भी धीरे-धीरे विकसित हो रही थी। बंगाल इस नवजागरण का प्रमुख केंद्र था। शिक्षा, पत्रकारिता, सामाजिक सुधार और साहित्य के माध्यम से एक नई चेतना जन्म ले रही थी। ऐसे समय में बंकिमचंद्र ने अतीत की ओर दृष्टि डालकर यह अनुभव किया कि यदि किसी राष्ट्र को जागृत करना है तो उसके भीतर गौरवपूर्ण इतिहास की स्मृति जगानी होगी। आनंदमठ इसी विचार का परिणाम है। लेखक ने अठारहवीं शताब्दी के बंगाल की ऐतिहासिक घटना को आधार बनाकर उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने का प्रयास किया। इस प्रकार यह उपन्यास अपने रचनाकाल की आवश्यकताओं से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है।

बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय एक गहरे चिंतक, प्रशासनिक अधिकारी और राष्ट्रभावना से प्रेरित बुद्धिजीवी भी थे। उनके साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष, भारतीय समाज की दुर्दशा के प्रति वेदना और राष्ट्रीय पुनर्जागरण की आकांक्षा स्पष्ट दिखाई देती है। उनका विरोध किसी जातीय घृणा पर आधारित नहीं था, बल्कि अन्यायपूर्ण शासन, मानसिक दासता और राष्ट्रीय अपमान के विरुद्ध था।

बंकिमचंद्र के ब्रिटिश-विरोधी मनोभावों का कारण भारत की राजनीतिक पराधीनता थी। अंग्रेजों ने भारत पर अपना शासन स्थापित कर भारतीय जनता को स्वशासन के अधिकार से वंचित कर दिया था। देश की नीतियाँ भारतीयों की इच्छा से नहीं, बल्कि विदेशी सत्ता के हितों के अनुसार तय होती थीं। भारतीय अपने ही देश में शासित प्रजा बन गए थे। बंकिमचंद्र जैसे शिक्षित और जागरूक व्यक्ति के लिए यह स्थिति स्वाभाविक रूप से पीड़ादायक थी। वे समझते थे कि कोई भी राष्ट्र तब तक सम्मानपूर्वक विकसित नहीं हो सकता जब तक उसके पास राजनीतिक स्वतंत्रता न हो। इसलिए अंग्रेजी शासन उनके लिए केवल प्रशासनिक व्यवस्था नहीं, बल्कि राष्ट्रीय गरिमा पर आघात था। डॉ. प्रदीप भट्टाचार्य अपने आलेख 'बंकिमचंद्र के आनंदमठ की प्रेरणा' में बंकिमचंद्र के जीवन से जुड़ी एक घटना का वर्णन करते हैं जिसमें वो बताते हैं कि किस कारण बंकिमचंद्र ब्रिटिश विरोधी भावना से ग्रसित हुए डॉ. प्रदीप भट्टाचार्य लिखते हैं कि ''बंकिमचंद्र की ब्रिटिश विरोधी भावनाओं के बीज मुर्शिदाबाद जिले के जिला मुख्यालय

बरहामपुर में बोए गए थे, जहां उन्हें डिप्टी मजिस्ट्रेट के रूप में तैनात किया गया था (वह पहले बंगाली थे जिन्हें बंगाली में ग्रेस मार्क्स के साथ स्नातक करने के बाद सिविल सेवा में नौकरी की पेशकश की गई थी, उनके परीक्षक कोई और नहीं बल्कि ईश्वरचंद्र विद्यासागर थे जिन्होंने उन्हें पास अंक नहीं दिए थे!)। यह 15 दिसंबर 1873 का दिन था जब बंकिमचंद्र हमेशा की तरह अपनी पालकी में कलेक्ट्रेट के सामने बैरक स्क्वायर मैदान को पार कर रहे थे, जबकि कुछ अंग्रेज क्रिकेट खेल रहे थे। अचानक एक लेफ्टिनेंट कर्नल डफिन ने कुछ अपमानजनक टिप्पणियों के साथ पालकी को रोक दिया और जोर देकर कहा कि इसे मैदान से बाहर ले जाना चाहिए। जब बंकिम ने अपने पारंपरिक मार्ग को छोड़ने से इनकार कर दिया, तो डफिन ने स्पष्ट रूप से उसे पालकी से उतरने के लिए मजबूर किया और उसे हिंसक रूप से धक्का दिया (जैसा कि 8.1.1974 की अमृता बाजार पत्रिका में बताया गया है)। इस घटना के गवाहों में लालगोला के राजा जोगेंद्रनारायण रॉय, बेरहामपुर के दुर्गाशंकर भट्टाचार्य, जज बेसब्रिज, रेवरेंड बार्लो, प्रिंसिपल रॉबर्ट हैंड और कुछ अन्य शामिल थे। इस अपमान से क्रोधित बंकिमचंद्र ने कर्नल के खिलाफ आपराधिक मामला दर्ज किया, जिसमें लालगोला राजा, दुर्गाशंकर भट्टाचार्यजी और हैंड को गवाह के रूप में उद्धृत किया गया। डफिन को नादिया जिले के कृष्णानगर से एक वकील बुलाना पड़ा, क्योंकि बरहामपुर में कोई भी उनकी ओर से पेश होने को तैयार नहीं था, जबकि सभी स्थानीय वकीलों ने बंकिमचंद्र के लिए वकालतनामा पर हस्ताक्षर किए थे। 12 जनवरी 1874 को मजिस्ट्रेट, श्री विंटर ने डफिन को बुलाया और जब न्यायाधीश बेसब्रिज ने प्रवेश किया और अपने कक्ष में कुछ शब्दों का अनुरोध किया तो उनसे सवाल करना शुरू कर दिया था। थोड़ी देर बाद उन्होंने बंकिमचंद्र और डफिन को बुलाया। जाहिर तौर पर उन्होंने बंकिमचंद्र को बताया कि डफिन ने यह नहीं पहचाना था कि बंकिम एक डिप्टी मजिस्ट्रेट था और इस घटना पर खेद व्यक्त किया। उन्होंने बंकिमचंद्र से मामला वापस लेने का अनुरोध किया।''[12]

अंग्रेजी शासन की आर्थिक नीतियाँ थीं, जिन्होंने भारतीय समाज को गहरे संकट में डाल दिया था। अंग्रेजों ने भारत को एक उपनिवेश की तरह इस्तेमाल किया, जहाँ से संसाधन, धन और कच्चा माल ब्रिटेन भेजा जाता था। किसानों पर भारी कर लगाए गए, परंपरागत उद्योग नष्ट हुए और भारतीय अर्थव्यवस्था निर्भर होती गई। बंगाल जैसे समृद्ध प्रदेश में भी निर्धनता और अकाल फैलने लगा। बंकिमचंद्र प्रशासनिक सेवा में होने के कारण इन स्थितियों को निकट से देखते थे। वे जानते थे कि जनता की दीनता केवल प्राकृतिक कारणों से नहीं, बल्कि औपनिवेशिक नीतियों का परिणाम है। यही अनुभव उनके भीतर अंग्रेजी शासन के प्रति असंतोष को गहरा करता गया।[3]

बंगाल का अकाल और देशवासियों की पीड़ा भी उनके ब्रिटिश-विरोधी मनोभाव का महत्वपूर्ण कारण था। अंग्रेजी शासन के प्रारंभिक दौर में बंगाल ने भयानक अकाल और खाद्यान्न संकट का सामना किया। लाखों लोग भूख, बीमारी और निर्धनता से मर गए, परंतु शासन की प्राथमिकता राजस्व वसूली बनी रही। बंकिमचंद्र ने देखा कि जनता का दु:ख प्रशासन की संवेदनहीनता के सामने नगण्य है। ऐसी स्थिति में एक संवेदनशील लेखक का मन आक्रोश से भरना स्वाभाविक था। उनके साहित्य में भूख, पीड़ा, असमानता और टूटते हुए समाज का चित्रण इसी अनुभव से जुड़ा हुआ है। उनके विरोध का एक गहरा कारण ब्रिटिश शासन की नस्लवादी मानसिकता भी थी। अंग्रेज अधिकारी स्वयं को श्रेष्ठ और भारतीयों को हीन मानते थे। प्रशासनिक पदों पर भारतीयों को सीमित अवसर दिए जाते थे और सामाजिक व्यवहार में भी भेदभाव स्पष्ट दिखाई देता था। शिक्षित भारतीयों को भी बराबरी का सम्मान नहीं मिलता था। बंकिमचंद्र स्वयं प्रशासनिक अधिकारी थे, इसलिए उन्होंने औपनिवेशिक व्यवस्था के भीतर इस असमानता को अनुभव किया। वे समझते थे कि यह शासन न्याय और समानता पर नहीं, बल्कि श्रेष्ठता-बोध और दमन पर आधारित है। इस प्रकार ब्रिटिश सत्ता उनके लिए केवल राजनीतिक प्रभुत्व नहीं, बल्कि अपमानजनक संरचना थी।

बंकिमचंद्र के ब्रिटिश-विरोध का एक महत्वपूर्ण कारण भारतीय संस्कृति के प्रति अंग्रेजी उपेक्षा थी। अंग्रेजी शिक्षा और मिशनरी गतिविधियों के माध्यम से यह प्रचार किया जाता था कि भारतीय धर्म, संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था पिछड़ी हुई है। पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठ और भारतीय परंपराओं को अविकसित बताने का प्रयास होता था। बंकिमचंद्र आधुनिक शिक्षा के समर्थक थे, परंतु सांस्कृतिक हीनभावना के विरोधी थे। वे मानते थे कि भारत की सभ्यता अत्यंत प्राचीन, गहरी और मूल्यवान है। जब उन्होंने देखा कि अंग्रेजी शासन भारतीयों को अपनी संस्कृति से विमुख कर रहा है, तब उनके भीतर प्रतिरोध की भावना उत्पन्न हुई। 'आनंदमठ' और अन्य रचनाओं

में भारतीय परंपरा के गौरव का चित्रण इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है।

बंकिमचंद्र के ब्रिटिश-विरोधी मनोभाव का एक कारण उनका प्रशासनिक अनुभव भी था। वे डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद पर कार्यरत रहे और शासन-व्यवस्था के भीतर की विसंगतियों से परिचित थे। उन्होंने देखा कि कानून और न्याय का दावा करने वाली व्यवस्था कई बार भारतीयों के साथ कठोर, पक्षपाती और असंवेदनशील व्यवहार करती है। औपनिवेशिक शासन में भारतीय अधिकारी भी सीमित अधिकार रखते थे और अंतिम नियंत्रण अंग्रेजों के हाथ में रहता था। यह अनुभव उन्हें भीतर से विचलित करता था। वे स्वयं शासन-तंत्र का हिस्सा होते हुए भी उसकी अन्यायपूर्ण प्रकृति को समझ रहे थे। उनका विरोध हिंसक क्रांति के रूप में नहीं, बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक प्रतिरोध के रूप में अधिक दिखाई देता है। वे जानते थे कि उस समय प्रत्यक्ष राजनीतिक विद्रोह व्यावहारिक रूप से कठिन था। इसलिए उन्होंने साहित्य को माध्यम बनाया। 'आनंदमठ' में संन्यासी संघर्ष, 'वंदे मातरम्' का उद्भव, मातृभूमि को देवी रूप में चित्रित करना, ये सब ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय मानस को तैयार करने के सांस्कृतिक उपाय थे। उनका विश्वास था कि जब तक जनता मानसिक रूप से स्वतंत्र नहीं होगी, तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता अधूरी रहेगी।

वहीं बंकिमचंद्र की 'आनंदमठ' उपन्यास के पीछे की ऐतिहासिकता का एक और महत्वपूर्ण आधार संन्यासी या फकीर विद्रोह की पृष्ठभूमि भी है।[4] संन्यासी विद्रोह को समझने के लिए सबसे पहले बंगाल की राजनीतिक स्थिति को समझना आवश्यक है। 1757 के प्लासी का युद्ध और 1764 के बक्सर का युद्ध के बाद ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल पर निर्णायक नियंत्रण स्थापित कर लिया। 1765 में कंपनी को दीवानी अधिकार मिले, जिससे बंगाल, बिहार और उड़ीसा के राजस्व संग्रह का अधिकार उसके हाथ में आ गया। यह घटना केवल प्रशासनिक परिवर्तन नहीं थी; इससे शासन की प्रकृति बदल गई। पहले जहाँ शासन और जनता के बीच कुछ सामाजिक संबंध, सांस्कृतिक निकटता और पारंपरिक दायित्व थे, वहीं कंपनी के लिए शासन का अर्थ अधिकतम धन संग्रह था। जनता अब शासक की प्रजा नहीं, राजस्व का स्रोत बन गई। कंपनी शासन के आने के बाद भूमि-राजस्व की व्यवस्था कठोर हो गई। किसानों पर अधिक कर लगाए गए, समय पर लगान न देने पर भूमि छीनी जाने लगी, मध्यस्तों और महाजनों का प्रभाव बढ़ा, तथा गाँवों की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था टूटने लगी। बंगाल का किसान, जो पहले प्राकृतिक आपदाओं के बावजूद किसी प्रकार जीवन चलाता था, अब नकदी आधारित कठोर कर व्यवस्था में फँस गया। इसी आर्थिक दबाव ने व्यापक असंतोष को जन्म दिया। इसी कारण इस उपन्यास का ऐतिहासिक संबंध व्यापक रूप से संन्यासी-फकीर विद्रोह से जोड़ा जाता है, क्योंकि उस समय बंगाल और आसपास के क्षेत्रों में अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन तथा उसके शोषणकारी आर्थिक तंत्र के विरुद्ध हिंदू संन्यासियों और मुस्लिम फकीरों— दोनों ने मिलकर प्रतिरोध किया था।[5]

इसी समय संन्यासियों और फकीरों की पारंपरिक संस्थाएँ भी प्रभावित हुईं। भारत में अनेक संन्यासी समूह तीर्थयात्रा करते, धार्मिक स्थलों पर जाते, दान प्राप्त करते और ग्रामीण समाज से जुड़े रहते थे। कई क्षेत्रों में उन्हें कर-मुक्त आवागमन, दान या आश्रय की सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। कंपनी शासन ने इन समूहों को संदेह की दृष्टि से देखना शुरू किया। उनके आवागमन पर नियंत्रण लगाया गया, संसाधनों पर रोक लगाई गई और कई स्थानों पर बल प्रयोग किया गया। परिणामस्वरूप संन्यासी का असंतोष जनता के आर्थिक असंतोष से जुड़ गया। यही असंतोष 'आनंदमठ' उपन्यास में दिखाई देता है।[6]

यदि संन्यासी विद्रोह की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को 'आनंदमठ' से जोड़कर देखें, तो स्पष्ट होता है कि बंकिमचंद्र ने संन्यासी विद्रोह को जस का तस इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने उसे राष्ट्रीय पुनर्जागरण की प्रतीक कथा में रूपांतरित किया। 'आनंदमठ' में संन्यासी केवल भूखे, क्रोधित या विस्थापित लोग नहीं हैं; वे मातृभूमि की रक्षा के लिए समर्पित तपस्वी योद्धा हैं। 'आनंदमठ' उपन्यास के पात्र सत्यानन्द जो उपन्यास में संतानों के गुरु के रूप में वर्णित हैं वे संतान धर्म के बारे में और संतानों के त्याग-तप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ''जो इस व्रत को अपनाता है, वह अपनी पत्नी, पुत्र, कन्या, सगे-संबंधी, किसी के साथ भी नाता नहीं रख सकता। कोई भी संतान यदि स्त्री-पुत्र-कन्या से मिलता है या उनका मुँह भी देखता है तो उसे इसके लिए प्रायश्चित करना पड़ता है। जब तक संतानों की मनोकामना पूरी नहीं हो जाती, तब तक तुम अपनी बेटी को नहीं देख सकते।....संतान धर्म का नियम है जिस दिन आवश्यकता होगी, उस दिन संतान को प्राण त्याग करना पड़ेगा।''[7] इतिहास में विद्रोह आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों से पैदा हुआ

था, पर उपन्यास में वही विद्रोह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करता है।

'आनंदमठ' की शुरुआत ही अकाल और सामाजिक संकट के वातावरण से होती है। भूख, भय, उजड़ते घर, बिखरते परिवार और असुरक्षित जनजीवन, ये सब वही यथार्थ हैं जो अठारहवीं शताब्दी के बंगाल में विद्यमान थे। बंकिमचंद्र 'आनंदमठ' उपन्यास के आरंभ में अकाल की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि ''सन 1769 के ग्रीष्मकाल में एक दिन पदचिह्न नामक गाँव में धूप बहुत तेज थी। मकान उसमें बहुत से थे, किंतु लोग नहीं दिखाई पड़ते थे। बाजार में दुकानों की कतारें थीं और हाट में छप्परों की पंक्तियाँ। बस्ती में सैकड़ों कच्चे मकान थे। कहीं-कहीं ऊँची-नीची हवेलियाँ भी थीं। किंतु आज सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था दुकानें बंद पड़ी थीं।....वृक्षों पर पंक्षी नहीं थे, चारणभूमि में गाएँ नहीं थीं, सिर्फ श्मशान में सियार और कुत्ते दिखाई पड़ रहे थे।''[8] बंकिमचंद्र का रचना संसार काल्पनिक नहीं, इतिहास से जन्मा हुआ संसार है। बंकिमचंद्र यह दिखाते हैं कि जब समाज टूटता है, तब केवल राजनीतिक शक्ति नहीं, नैतिक शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इसलिए उनके संन्यासी संगठन में अनुशासन, त्याग, तप और संघर्ष का मेल दिखाई देता है।

'आनंदमठ' के संन्यासी संसार-त्यागी साधु नहीं, कर्मयोगी योद्धा हैं। यह रूपांतरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक संन्यासी समूहों में अनेक प्रकार के लोग थे धार्मिक साधक, सशस्त्र समूह, यात्रारत दल, स्थानीय समर्थक। बंकिमचंद्र ने इन विविधताओं को एक आदर्शवादी संगठन में बदल दिया। उनका उद्देश्य इतिहास की सूक्ष्म पुनर्रचना नहीं, समाज को प्रेरित करना था। इसलिए आनंदमठ का संन्यासी विद्रोह आत्मबल, संगठन और राष्ट्रसमर्पण का आदर्श बनता है। उपन्यास में बार-बार यह भावना उभरती है कि व्यक्तिगत जीवन से बड़ा सामूहिक जीवन है। परिवार, सुख, संपत्ति और निजी मोह त्यागकर पात्र मातृभूमि की सेवा में लगते हैं। यह दृष्टि संन्यासी विद्रोह की पृष्ठभूमि से जुड़ी है, क्योंकि वास्तविक संकट के समय लोग अपने सामान्य जीवन से विस्थापित हुए थे। बंकिम ने उस विस्थापन को सकारात्मक अर्थ दिया यदि घर छिन गया है, तो अब देश ही घर है; यदि निजी सुख नष्ट हुआ है, तो अब सामूहिक मुक्ति ही लक्ष्य है।

'संन्यासी विद्रोह' और 'आनंदमठ' के बीच एक और संबंध है दोनों में जंगल, गाँव, गुप्त संगठन और गतिशील संघर्ष की भूमिका। विद्रोही समूह कंपनी चौकियों पर आक्रमण कर जंगलों में लौट जाते थे। 'आनंदमठ' में भी संन्यासियों का आश्रम, गुप्त संगठन और छापामार शैली का वातावरण मिलता है। इससे उपन्यास को ऐतिहासिक विश्वसनीयता मिलती है, यद्यपि उसका उद्देश्य साहित्यिक और वैचारिक है।

बंकिमचंद्र ने 'आनंदमठ' में संन्यासी विद्रोह को केवल अतीत का प्रसंग नहीं रहने दिया। उन्होंने उसे भारत के पुनर्जागरण की कथा बनाया। जिस प्रकार वास्तविक विद्रोह जनता की पीड़ा से उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार उपन्यास यह संदेश देता है कि राष्ट्रीय जागरण भी जनता की पीड़ा से ही जन्म लेता है। जब तक समाज अन्याय सहता रहता है, वह निष्क्रिय रहता है; जब पीड़ा असह्य हो जाती है, तब इतिहास बदलता है। बंकिमचंद्र ने आनंदमठ की ऐतिहासिकता के संदर्भ में 'देवी चौधरानी' उपन्यास की भूमिका में लिखा है जिसका उल्लेख श्रीयोगेशचंद्र बागल बांग्ला में प्रकाशित बंकिम रचनावली के खंड-1 की भूमिका में लिखते हैं—''छिहत्तर के अकाल की पृष्ठभूमि में बंगाल के संन्यासी-विद्रोह की घटना को लेकर 'आनंदमठ' की रचना की गई थी। इस कारण इसके प्रकाशित होने के बाद बहुत-से लोग इसका वास्तविक इतिहास जानने के लिए उत्सुक हुए। 'देवी चौधरानी' के 'विज्ञापन' (1884 ई.) में बंकिमचंद्र ने 'आनंदमठ' के संबंध में इस प्रकार लिखा है आनंदमठ प्रकाशित होने के बाद बहुत-से लोगों ने यह जानने की इच्छा प्रकट की कि इस ग्रंथ का कोई ऐतिहासिक आधार है या नहीं। संन्यासी-विद्रोह ऐतिहासिक तो है, किंतु पाठकों को यह बताने की विशेष आवश्यकता नहीं थी। इसी विचार से मैंने उसका परिचय नहीं दिया। ऐतिहासिक उपन्यास रचना मेरा उद्देश्य नहीं था, इसलिए ऐतिहासिकता का दिखावा भी नहीं किया। अब देखकर-सुनकर इच्छा हुई है कि आनंदमठ के भविष्य के संस्करण में संन्यासी-विद्रोह का कुछ परिचय दूँ।''[9]

यही नहीं आनंदमठ की ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार भी लिखते हैं जिसका वर्णन कार्तिकचंद्र दत्त अपने आलेख में करते हैं '"आनंदमठ' की ऐतिहासिकता के बारे में प्रख्यात इतिहासकार यदुनाथ सरकार ने अपना विचार साहित्य परिषद द्वारा प्रकाशित 'बंकिम रचनावली' में 'आनंदमठ' की भूमिका स्वरूप लिखा था। उसमें से कुछ अंश उद्धृत हैं, 'आनंदमठ' में ऐतिहासिक सत्य कितना है? यद्यपि इसमें वर्णित चरित्र सीधे इतिहास से नहीं

लिए गए फिर भी स्वीकार करना पड़ता है कि ग्रंथ में उस युग की राजनीतिक अवस्था का सही चित्रण हुआ है, मुख्य घटना वस्तुतः सत्य है और सीधे-सीधे इतिहास से ली गई है।''[10]

'आनंदमठ' की ऐतिहासिकता का सबसे प्रसिद्ध और विवादास्पद पक्ष वंदे मातरम् है। उपन्यास में यह केवल गीत नहीं, बल्कि मातृभूमि की उपासना का भी मंत्र है। भारतभूमि को माँ के रूप में संबोधित करना भारतीय सांस्कृतिक परंपरा से जुड़ा भाव है, किंतु बंकिमचंद्र ने इसे आधुनिक राष्ट्रवाद से जोड़ दिया। इस प्रकार मातृभूमि पहली बार एक जीवंत, पूज्य और राजनीतिक सत्ता के रूप में उभरती है। यह ऐतिहासिक घटना नहीं, बल्कि ऐतिहासिक चेतना का निर्माण है। वंदे मातरम् आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का प्रेरक नारा बना। इससे स्पष्ट है कि आनंदमठ की ऐतिहासिकता केवल अतीत का चित्रण नहीं, बल्कि भविष्य के इतिहास को प्रभावित करने वाली शक्ति भी है। सुख्मय मुखर्जी अपने आलेख 'वंदे मातरम् : द टेक्सचर ऑफ द सांग' में लिखते हैं कि ''वंदे मातरम् गीत बंकिमचंद्र द्वारा राष्ट्र को दिया गया सबसे महान योगदान, जिसे उनकी बहुमुखी कृतियों का सार (निचोड़) माना है। इसे देखकर कोई भी ठिठक कर कह उठेगा, यही है! यही है! यह उनके जीवन और कार्यों का केंद्रीय संदेश है एक राष्ट्रवादी पैगंबर की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि। इस गीत ने हमारे स्वतंत्रता सेनानियों की कई पीढ़ियों को प्रेरित किया और श्री अरबिंदो ने इसे उचित ही देशभक्ति का हमारा 'मंत्र' या 'धर्म' माना था।''[11]

बंकिमचंद्र ने भारतमाता के तीन रूपों का वर्णन उपन्यास में किया है एक जर्जर और निर्धन, दूसरा जाग्रत और संघर्षशील, तीसरा समृद्ध और तेजस्वी। यह रूपक अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य की सांकेतिक व्याख्या की गई है। यह किसी ऐतिहासिक दस्तावेज में नहीं मिलता, बल्कि लेखक की वैचारिक कल्पना है। किंतु इस कल्पना ने राष्ट्रीय मानस पर गहरा प्रभाव डाला। इससे देशवासियों को यह विश्वास मिला कि वर्तमान दासता स्थायी नहीं है और भविष्य में राष्ट्र पुनः गौरव प्राप्त कर सकता है। इसलिए 'आनंदमठ' की ऐतिहासिकता प्रतीकात्मक स्तर पर भी अत्यंत सशक्त है। बंकिमचंद्र केवल भारतमाता के तीन रूपों का वर्णन ही नहीं करते बल्कि वो भारत माता को माँ के रूप में चित्रित करते हैं और समस्त देशवासी इसी भारतमाता की संतान है। माता को मुक्त करवाने के लिए सभी प्रयासरत है। इस भाव को बंकिम भवानंद नामक पात्र के माध्यम से व्यक्त करते हैं वह कहता है कि ''हम और किसी माँ को नहीं मानते-जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। हम लोग जन्मभूमि को ही माँ कहते हैं। हमारी और कोई माता नहीं, पिता नहीं, भाई नहीं, बहन नहीं, मित्र नहीं-स्त्री-पुरुष नहीं, घर-द्वार नहीं, हमारे लिए है एकमात्र वही सुजला, सुफला, मलयज-शीतला, शस्यश्यामला.....।''[12] जिस प्रकार मुस्लिम और ब्रिटिश सत्ता से पीड़ित देशवासियों की भावना को जगाने का प्रयास बंकिमचंद्र 18वीं शताब्दी में करते हैं वैसे ही आगे चलकर अंग्रेजी हुकूमत से पीड़ित देशवासियों को अतीत की वीरगाथा सुनाकर जागने का प्रयास जयशंकर प्रसाद अपनी रचनाओं के माध्यम से करते हैं।

उपन्यास के पात्रों की ऐतिहासिकता पर विचार करें तो महेंद्र, कल्याणी, शांति, जीवानंद और सत्यानंद जैसे पात्र काल्पनिक हैं, किंतु वे अपने समय की सामाजिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। महेंद्र उस जमींदार वर्ग का प्रतिनिधि है जो संकट के समय भ्रमित और निष्क्रिय है, परंतु धीरे-धीरे राष्ट्रकार्य से जुड़ता है। कल्याणी भारतीय नारी के त्याग, प्रेम और साहस का प्रतीक है। शांति एक असाधारण चरित्र है जो स्त्री होकर भी योद्धा रूप धारण करती है। सत्यानंद नेतृत्व, वैराग्य और राष्ट्रसमर्पण का आदर्श है। ये पात्र इतिहास के व्यक्तियों के रूप में सत्य नहीं, किंतु इतिहास की सामाजिक शक्तियों के प्रतीक रूप में सत्य हैं।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में 'आनंदमठ' की भूमिका इसकी ऐतिहासिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अनेक क्रांतिकारियों, विद्यार्थियों और राष्ट्रवादियों ने इस उपन्यास से प्रेरणा ली। वंदे मातरम् आंदोलन का उद्घोष बना। बंगाल विभाजन के विरोध में यह गीत जनसभा से लेकर जुलूसों तक गूँजता रहा। यदि कोई साहित्यिक कृति भविष्य के राजनीतिक इतिहास को प्रभावित करे, तो उसकी ऐतिहासिकता और भी बढ़ जाती है। 'आनंदमठ' उपन्यास के माध्यम से भी बंकिमचंद्र ने क्रन्तिकारी भावना का उद्घोष किया।

'आनंदमठ' उपन्यास का रचना काल उस समय का है जब बंगाल दूहरे शासन की चक्की में पिस रहा था। बंकिमचंद्र प्रशासनिक सेवा में कार्यरत थे इसी कारण वो प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन का विरोध नहीं कर सकते थे। इस उपन्यास में भी जहाँ-जहाँ अंग्रेजों का जिक्र था उसे हटाकर मुस्लिमों की

तरफ किया गया। उपन्यास के अंत में संकेत मिलता है कि तत्कालीन परिस्थितियों में अंग्रेजी शासन कुछ हद तक व्यवस्था और स्थिरता ला सकता है। यह दृष्टि उस समय के शिक्षित भारतीय वर्ग की दुविधा को प्रकट करती है। वे अंग्रेजी शासन को शोषक भी मानते थे और आधुनिक शिक्षा, कानून तथा प्रशासन का माध्यम भी। इसलिए आनंदमठ में प्रत्यक्ष राजनीतिक विद्रोह से अधिक सांस्कृतिक जागरण पर बल दिया गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक राष्ट्रवाद में पूर्ण स्वतंत्रता की माँग अभी व्यापक नहीं हुई थी। बंकिमचंद्र उपन्यास के अंत में लिखते हैं कि ''सनातन-धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि पहले बाह्य विषयक ज्ञान का प्रचार किया जाए। इस देश में अब न तो बर्हिविर्षयक ज्ञान है, न ही कोई सिखानेवाला। हम लोग लोक-शिक्षा में भी कुशल नहीं हैं। अत: बाहरी विषयों का ज्ञान हमें दूसरे देशों से लाना पड़ेगा। अंग्रेज बाहरी ज्ञान के पंडित हैं, वे लोक-शिक्षा में भी कुशल हैं। अत: अंग्रेज को ही सत्ता सौंपनी है।''

अत: 'आनंदमठ' की ऐतिहासिकता केवल अतीत की घटनाओं के वर्णन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक जागरण से भी गहराई से जुड़ी हुई है। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने संन्यासी विद्रोह तथा बंगाल की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों को आधार बनाकर एक ऐसी रचना प्रस्तुत की, जिसमें इतिहास और कल्पना का प्रभावशाली समन्वय दिखाई देता है। इस उपन्यास में मातृभूमि के प्रति प्रेम, त्याग, बलिदान और संगठन की भावना को प्रमुखता दी गई है। वंदे मातरम् जैसे अमर गीत ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को नई ऊर्जा प्रदान की। यही कारण है कि आनंदमठ केवल साहित्यिक कृति नहीं, बल्कि राष्ट्रभावना का प्रेरक स्रोत भी बन गया। यद्यपि इसमें इतिहास का शाब्दिक चित्रण नहीं है, फिर भी इसके माध्यम से उस युग की पीड़ा, संघर्ष और आशा का सजीव रूप सामने आता है। इस दृष्टि से आनंदमठ की ऐतिहासिकता तथ्यात्मक से अधिक वैचारिक और प्रेरणात्मक है। इसलिए भारतीय साहित्य और राष्ट्रीय चेतना के विकास में इसका स्थान सदैव महत्त्वपूर्ण रहेगा।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110007
ई-मेल : 2018muskangiri@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. आनंदमठ- बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय अनु. दिलीपकुमार बनर्जी- राजकमल पेपरबैक्स- नई दिल्ली- संस्करण-2009 - पृष्ठ संख्या-16-17
2. https://www.boloji.com/articles/1678/the-inspiration-of-bankimchandras-anand-math
3. द अर्ली इनरोड्स ऑन द नागा संन्यासीज इन बंगाल (1760-1773)- एन.बी.राय -इंडियन हिस्टोरिकल रिकॉर्ड्स कमीशन, भाग-31(2)-पृष्ठ संख्या-149
4. संन्यासी एण्ड फकीर रेडर्स इन बंगाल- राय साहब जामिनी मोहन घोष- कलकत्ता बंगाल सेक्रेटेरिएट बुक डिपोट- संस्करण- 1930 पृष्ठ संख्या-9
5. द फकीर एण्ड संन्यासी रिबेलिअन- अतीस दासगुप्ता— सोशल साइंटिस्ट-जनवरी- 1982- पृष्ठ संख्या-45
6. स्वाधीनता संग्राम बदलते परिप्रेक्ष्य-रामविलास शर्मा- हिन्दी मध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय-प्रकाशन-1992-पृष्ठ संख्या-22
7. आनंदमठ- बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय - अनु. दिलीपकुमार बनर्जी- राजकमल पेपरबैक्स- नई दिल्ली- संस्करण-2009 - पृष्ठ संख्या-108
8. वही, पृष्ठ-39
9. बंकिम रचनावली-भाग-1- श्री योगेश चंद्र बागल-शिशु साहित्य संसद प्राइवेट लिमिटेड, आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र रोड, कोलकाता-प्रथम प्रकाशन-अश्विन 1360, पृष्ठ संख्या-43-44
10. आनंदमठ-बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय - अनु. दिलीपकुमार बनर्जी- राजकमल पेपरबैक्स- नई दिल्ली- संस्करण-2009 - पृष्ठ संख्या-19
11. बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय एसेज इन पर्सपेक्टिव- सं. भाबातोश चटर्जी साहित्य अकादमी- रवीन्द्र भवन, दिल्ली- प्रथम संस्करण-1994- पृष्ठ संख्या-237
12. आनंदमठ- बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय - अनु. दिलीपकुमार बनर्जी- राजकमल पेपरबैक्स- नई दिल्ली- संस्करण-2009 - पृष्ठ संख्या-59
13. वही, पृष्ठ-186

प्रभांशु गुप्ता

वैश्वीकरण के दौर में आधुनिक हिंदी साहित्य : मिथकों का संकट और पुनर्सृजन

शोध सार

प्रस्तुत शोध पत्र वैश्वीकरण की आक्रामक विस्तारवादी नीतियों और बाजारवाद के 'उपभोक्तावादी दर्शन' के बीच हिंदी साहित्य की मिथकीय चेतना के अंतर्संबंधों का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है। वैश्वीकरण ने जहाँ एक ओर 'सांस्कृतिक समरूपता' का निर्माण किया है, वहीं दूसरी ओर इसने स्थानीय और पारंपरिक मिथकों की दार्शनिक गहराई और उनके विचार को विस्थापित कर उन्हें एक 'मार्केटिंग टूल' या 'सांस्कृतिक उत्पाद' में तब्दील कर दिया है।

यह शोध इस संकट को रेखांकित करता है कि बाजारीकरण के दबाव में हिंदी साहित्य के भीतर मिथकों का प्रयोग अब 'लोक-मंगल' या 'आध्यात्मिक बोध' के बजाय 'ग्लैमरस फंतासी' और 'पॉप-कल्चर' के रूप में अधिक हो रहा है। शोध का मुख्य तर्क यह है कि मिथक, जो कभी सामूहिक मुक्ति के प्रतीक थे, जिनका संबंध मानव विकाश की परंपरा और विश्वास से था अब बाजार की 'ब्रांडिंग' के शिकार हो गए हैं। इस आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य में यह पत्र समकालीन हिंदी उपन्यासों और कविताओं (विशेषकर आधुनिक दौर की रचनाओं) का विश्लेषण करता है, जहाँ मिथक अपने मूल संदर्भों से टूटकर विखंडित हो रहे हैं।

किंतु, यह शोध केवल मिथकों के संकटों की व्याख्या नहीं करता, बल्कि 'पुनर्सृजन' की उन संभावनाओं को भी तलाशता है जहाँ आधुनिक रचनाकार मिथकों का प्रयोग 'बाजारवाद के विरुद्ध' एक प्रतिरोध के रूप में कर रहे हैं। अंततः, यह अध्ययन यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि मिथकीय चेतना का वर्तमान संकट दरअसल मनुष्य की अपनी अस्मिता का संकट है, और हिंदी साहित्य इस संकट के बीच मिथकों को एक नए श्मानवीय और जनपक्षधरश अर्थ देने हेतु संघर्षरत है।

बीज शब्द

वैश्वीकरण, बाजारवाद, मिथकीय चेतना, हिंदी साहित्य, सांस्कतिक विस्थापन, पुनर्सृजन, सांस्कृतिक समरूपता।

प्रस्तावना

वर्तमान इक्कीसवीं सदी का समय केवल तकनीक का युग नहीं है, बल्कि यह 'वैश्वीकरण' के चरम उत्कर्ष का काल है। वैश्वीकरण ने जहाँ एक ओर सीमाओं को लांघकर 'वसुधैव कुटुंबकम्' का नारा दिया है, वहीं दूसरी ओर इसने हिंदी साहित्य की उस मौलिक मिथकीय चेतना के समक्ष एक गहरा संकट खड़ा कर दिया है, जो हजारों वर्षों से हमारे समाज की सांस्कृतिक रीढ़ रही है।

बाजारवाद के इस दौर में मिथक अब 'आस्था' या 'सामूहिक लोक-मंगल' के विषय नहीं रह गए हैं, बल्कि उनको बाजार की माँग के अनुसार एक 'सांस्कृतिक उत्पाद' में तब्दील कर दिए गए हैं। आज का संकट यह है कि बाजार ने मिथकों की दार्शनिक और आध्यात्मिक गहराई को सोख लिया है और उन्हें केवल एक 'ग्लैमरस फंतासी' के रूप में परोसना शुरू कर दिया है। जब कोई बहुराष्ट्रीय कंपनी या विशाल प्रकाशन समूह किसी पौराणिक चरित्र (जैसे शिव, कृष्ण या द्रौपदी) को 'बेस्टसेलर' बनाने के लिए उसे 'सुपरहीरो' के सांचे में ढालता है, तो वहाँ मिथक का 'पुनर्सृजन' नहीं, बल्कि उसका बाजारीकरण होता है। यह हिंदी साहित्य के उस संजीदा पाठक के लिए सबसे बड़ा संकट है जो मिथक में

अपनी अस्मिता और नैतिक मूल्यों की तलाश करता है।

वैश्वीकरण की इस 'समरूप संस्कृति' ने स्थानीय और देशज मिथकों को हाशिए पर धकेल दिया है। मशीनी सभ्यता और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के इस युग में मनुष्य की 'मिथकीय चेतना' कुंठित हो रही है। किंतु, हिंदी साहित्य इस संकट को मूकदर्शक बनकर नहीं देख रहा है। समकालीन हिंदी कविता और वैचारिक उपन्यासों में इस बाजारवादी विस्थापन के विरुद्ध एक प्रतिरोध दिखाई देता है। रचनाकार अब मिथकों का प्रयोग 'अतीत के गौरव गान' के लिए नहीं, बल्कि बाजारवाद की क्रूरता और वैश्विक विषमता को बेनकाब करने के लिए कर रहा है।

प्रस्तुत शोध का मूल उद्देश्य इसी अंतर्द्वंद्व का विश्लेषण करना है कि कैसे एक ओर बाजार मिथकों को 'खिलौना' बना रहा है, तो दूसरी ओर हिंदी साहित्य उन्हें 'हथियार' के रूप में पुनर्निर्मित कर रहा है। यह अध्ययन केवल साहित्य की समीक्षा नहीं है, बल्कि बाजारवाद के वर्चस्व के खिलाफ मनुष्य की सांस्कृतिक स्मृति को बचाए रखने के संघर्ष का एक दस्तावेज है।

प्रस्तुत शोध पत्र वैश्वीकरण की आक्रामक विस्तारवादी नीतियों और बाजारवाद के 'उपभोक्तावादी दर्शन' के बीच हिंदी साहित्य की मिथकीय चेतना के अंतर्संबंधों का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है। वैश्वीकरण ने जहाँ एक ओर 'सांस्कृतिक समरूपता' का निर्माण किया है, वहीं दूसरी ओर इसने स्थानीय और पारंपरिक मिथकों की दार्शनिक गहराई और उनके विचार को विस्थापित कर उन्हें एक 'मार्केटिंग टूल' या 'सांस्कृतिक उत्पाद' में तब्दील कर दिया है।

यह शोध इस संकट को रेखांकित करता है कि बाजारीकरण के दबाव में हिंदी साहित्य के भीतर मिथकों का प्रयोग अब 'लोक-मंगल' या 'आध्यात्मिक बोध' के बजाय 'ग्लैमरस फंतासी' और 'पॉप-कल्चर' के रूप में अधिक हो रहा है। शोध का मुख्य तर्क यह है कि मिथक, जो कभी सामूहिक मुक्ति के प्रतीक थे, जिनका संबंध मानव विकाश की परंपरा और विश्वास से था अब बाजार की 'ब्रांडिंग' के शिकार हो गए हैं। इस आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य में यह पत्र समकालीन हिंदी उपन्यासों और कविताओं (विशेषकर आधुनिक दौर की रचनाओं) का विश्लेषण करता है, जहाँ मिथक अपने मूल संदर्भों से टूटकर विखंडित हो रहे हैं।

किंतु, यह शोध केवल मिथकों के संकटों की व्याख्या नहीं करता, बल्कि 'पुनर्सृजन' की उन संभावनाओं को भी तलाशता है जहाँ आधुनिक रचनाकार मिथकों का प्रयोग 'बाजारवाद के विरुद्ध' एक प्रतिरोध के रूप में कर रहे हैं। अंततः, यह अध्ययन यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि मिथकीय चेतना का वर्तमान संकट दरअसल मनुष्य की अपनी अस्मिता का संकट है, और हिंदी साहित्य इस संकट के बीच मिथकों को एक नए 'मानवीय और जनपक्षधर' अर्थ देने हेतु संघर्षरत है।

मूल आलेख

वैश्वीकरण मूलतः एक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में उभरा, जिसका उद्देश्य विश्व बाजार को एक सूत्र में पिरोना था। किंतु, धीरे-धीरे यह एक 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद' के रूप में परिवर्तित हो गया है। समकालीन चिंतक फ्रेडरिक जेमसन के अनुसार-''वैश्वीकरण उत्तर-आधुनिकता का सांस्कृतिक तर्क है। यह प्रक्रिया केवल वस्तुओं का व्यापार नहीं करती, बल्कि जीवन-शैली और सोचने के तरीकों का भी निर्यात करती है।''[1]

इस दौर में सांस्कृतिक समरूपता का निर्माण किया जा रहा है, जो स्थानीय विविधता को नष्ट कर रही है। जब एक ही तरह का संगीत, एक ही तरह का भोजन और एक ही तरह की फिल्में वैश्विक स्तर पर हावी होती हैं, तो लेखक बाजार के अनुसार मिथकों को भी एक ही तरह के साहित्य में ढालने लगता है इससे क्षेत्रीय मिथक और लोक-कथाएँ अपनी मौलिकता खोने लगती हैं। वैश्वीकरण मौलिक को 'लौकिक' में बदलकर उसकी विशिष्टता को समाप्त कर देता है।

बाजारवाद का मूल मंत्र है-''हर चीज बिकाऊ है।'' कार्ल मार्क्स ने जिसे 'वस्तु-पूजा' कहा था, वह आज अपने चरम पर है। बाजारवाद ने मिथकों को भी उनकी दार्शनिक और नैतिक गहराई से अलग कर दिया है। मिथक, जो कभी समाज को जीवन जीने की कला सिखाते थे, अब बाजार के लिए 'कंटेंट' मात्र हैं। अमीश त्रिपाठी अपनी रचना 'मेलूहा के मृत्युंजय' के प्रारंभ में ही लिखते हैं कि-''किंवदंतियाँ कहती हैं कि वे (भगवान शिव) एक देवता थे... लेकिन वास्तव में वह एक देवता ना होकर एक साधारण व्यक्ति, जिसे उसके भाग्य और कर्मों ने देवत्व तक पहुँचा दिया?''[2]

भारतीय परंपरा में शिव 'अजन्मा' और 'अनादि' हैं, लेकिन अमीश उन्हें एक 'तिब्बती कबीले का मुखिया' बनाकर पेश करते हैं। यह बाजार की उस 'तार्किक मांग' की पूर्ति है जहाँ

पाठक को चमत्कार नहीं, बल्कि 'तर्क' चाहिए। लेकिन यहाँ मिथक की 'पवित्रता' नष्ट हो जाती है।

मिथक केवल 'काल्पनिक कहानियाँ' नहीं हैं। मिर्चा एलिआड के अनुसार-''मिथक एक अत्यंत मूल्यवान सांस्कृतिक खजाना है क्योंकि यह पवित्र इतिहास का वर्णन करता है। यह मनुष्य को ब्रह्मांड में उसके स्थान का बोध कराती है। और यह एक पीढ़ी के अनुभवों और परंपराओं को दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने का माध्यम है।''[3]

बाजारवाद इसी 'सामूहिक स्मृति' पर हमला करता है ताकि मनुष्य अपनी पहचान भूलकर केवल एक 'उपभोक्ता' बनकर रह जाए। जब कृष्ण या शिव के चरित्र का उपयोग विज्ञापनों में किसी उत्पाद की बिक्री बढ़ाने के लिए किया जाता है, तो वहाँ मिथकीय गरिमा का 'वस्तुकरण' होता है। जिससे उसकी प्रतीकात्मक शक्ति नष्ट हो जाती है।

आज की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि हमारी मिथकीय चेतना पर तकनीकी सोच हावी हो गई है। बाजार हमें सिर्फ आज और अभी के फायदे दिखाता है, जबकि मिथक हमें जीवन की उन परंपराओं और मूल्यों से जोड़ते हैं जो सदियों से चले आ रहे हैं और हमेशा रहेंगे। वैश्वीकरण के चक्कर में या तो मिथकों की कहानियों को तोड़-मरोड़ दिया गया है, या फिर उन्हें सिर्फ मनोरंजन की चीज बना दिया गया है। यहीं से हिंदी साहित्य की असली लड़ाई शुरू होती है अपनी परंपरा और संस्कृति को बाजार के लालच से बचाकर उसे फिर से जीवित करने की लड़ाई।

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में मिथकों का सबसे सशक्त पुनरुत्थान छायावाद में दिखाई देता है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' केवल एक पौराणिक कथा नहीं है, बल्कि वह मानव सभ्यता के विकास और 'आनंदवाद' की स्थापना का महाकाव्य है। यहाँ मनु, श्रद्धा और इड़ा ऐतिहासिक पात्र होने के साथ-साथ 'मन', 'हृदय' और 'बुद्धि' के प्रतीकात्मक मिथक हैं।[4]

इसी प्रकार, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा' में राम का संघर्ष एक साधारण मनुष्य का संघर्ष बन जाता है। जो मर्यादा पुरुषोत्तम होते हुए देवत्त्व को धारण किए हुए है यहाँ मिथक का प्रयोग राष्ट्रीय अस्मिता और पराधीनता के विरुद्ध मानसिक शक्ति संचय के लिए किया गया है।[5]

स्वतंत्रता के बाद, द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका और मोहभंग के दौर में मिथकों का स्वरूप पूरी तरह बदल गया। धर्मवीर भारती का काव्य-नाटक 'अंधा युग' महाभारत के अंतिम दिन के मिथक के जरिए आधुनिक मनुष्य की कुंठा, युद्ध की निरर्थकता और नैतिक पतन का चित्रण करता है। यहाँ कृष्ण 'ईश्वर' के साथ-साथ 'विवेक' के रूप में उपस्थित हैं।[6]

कुँवर नारायण की कृति 'आत्मजयी' नचिकेता के मिथक के माध्यम से मृत्यु-बोध और अस्तित्ववादी प्रश्नों से जूझती है। इस दौर में मिथक 'राष्ट्रीय गौरव' के साथ-साथ भव्यता और उदात्ता के प्रतीक है यहाँ से मिथकों के मानवीयकरण की प्रक्रिया तीव्र होती है।[7]

उत्तर-आधुनिकता के आगमन के साथ ही 'महान आख्यानों' के प्रति संदेह बढ़ा। समकालीन हिंदी साहित्य में अब मिथकों को उनके पारंपरिक पवित्र ढांचे से निकालकर देखा जाने लगा। अब राम, कृष्ण या युधिष्ठिर केवल आदर्श नायक नहीं रहे, बल्कि उनके निर्णयों पर सवाल उठाए जाने लगे। साहित्य में 'लोक' और 'देशज' मिथकों को मुख्यधारा के पौराणिक मिथकों के समानांतर खड़ा किया गया।

पुराने समय में मिथक 'जीवन-दर्शन' प्रदान करते थे। लेकिन वैश्वीकरण के दस्तक देते ही साहित्य में मिथक का प्रयोग 'आकर्षण' के लिए होने लगा। आनंद नीलकंठन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'असुर : एक पराजित की गाथा' में कहते हैं - ''देवताओं ने हमें नियम दिए, लेकिन असुरों ने हमें जीना सिखाया। हमारे लिए मुक्ति नियमों के पालन में नहीं, बल्कि अपनी इच्छाओं की तृप्ति में थी।'' भारतीय मिथकों में 'मुक्ति' का अर्थ वासनाओं से ऊपर उठना है। लेकिन यहाँ लेखक उसे 'इच्छाओं को जीने' के रूप में पेश कर रहा है।[8]

यहाँ से 'गंभीर साहित्य' और 'लोकप्रिय साहित्य' की राहें जुदा हो जाती हैं। जहाँ एक ओर गंभीर लेखक मिथक का प्रयोग सामाजिक विसंगतियों को दिखाने के लिए कर रहे थे, वहीं बाजारवादी ताकतों ने इन मिथकों के 'ग्लैमरस' पक्ष को पहचान लिया। यह संक्रमण 'श्रद्धा' के 'उपभोग' में बदल जाने की प्रक्रिया है।

वैश्वीकरण के दौर में हिंदी और भारतीय अंग्रेजी साहित्य में 'माइथोलॉजिकल फिक्शन' की एक बाढ़ सी आई है। बाजार ने यह पहचान लिया है कि भारतीय पाठक अपनी जड़ों से जुड़ना चाहता है, लेकिन नए तरीके से इसलिए लेखकों ने मिथकों को 'फास्ट-फूड' की तरह परोसना शुरू किया।

अमीश त्रिपाठी या आनंद नीलकंठन जैसे लेखकों (जिनका अनुवाद हिंदी में धड़ल्ले से बिक रहा है) ने शिव, राम या रावण के चरित्रों को एक 'थ्रिलर' नायक की तरह पेश किया है। यहाँ संकट यह है कि मिथक की जो दार्शनिक गहराई और नैतिक द्वंद्व था, उसे 'एक्शन' और 'रोमांच' के नीचे दबा दिया गया है।

डिजिटल मीडिया और 'पॉप-कल्चर' ने हमारे देवताओं और मिथकीय नायकों को किसी मूवी के सुपरहीरो की तरह पेश करना शुरू कर दिया है।

जब हम हनुमान या भीम को केवल उनकी शारीरिक शक्ति और 'एवेंजर्स' जैसे लुक के लिए सराहते हैं, दिवाली पर लक्ष्मी का उपयोग सेल बढ़ाने के लिए करना, या किसी 'आयुर्वेदिक' उत्पाद को बेचने के लिए ऋषि-मुनियों के मिथक का सहारा लेना। तो हम उनके भीतर की करुणा, भक्ति और ज्ञान के मिथकीय आयाम को खो देते हैं।

मिथक अब 'आंतरिक रूपांतरण' का माध्यम न रहकर केवल मनोरंजन का साधन बन गए हैं। यह 'सुपरहीरो कल्चर' मिथक की लोक-संवेदना को मारकर उसे एक 'मशीनी छवि' में बदल देता है यहाँ मिथक का श्पवित्र अर्थश समाप्त हो जाता है और केवल उसकी 'उपयोगिता' बचती है। यह प्रक्रिया समाज की 'मिथकीय चेतना' को भ्रमित करती है, जहाँ धर्म और बाजार के बीच की रेखा धुंधली हो जाती है।

वैश्वीकरण एक 'यूनिवर्सल' भाषा और संस्कृति चाहता है। इसके दबाव में हमारे लोक-मिथक जो खेती, प्रकृति और स्थानीय लोक-देवताओं से जुड़े थे लुप्त हो रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि सामूहिक स्मृति का लोप हो रहा है। जब समाज अपने मिथक भूल जाता है, तो वह अपनी सांस्कृतिक अस्मिता भी खो देता है और बाजार के हाथों का खिलौना बन जाता है।

बाजारवाद जब मनुष्य को केवल एक 'उपभोक्ता' में बदल रहा है, तब कवि मिथकों के जरिए उसे उसकी 'मनुष्यता' याद दिलाते हैं। कुँवर नारायण की कविताओं में मिथक सभ्यता की समीक्षा करते हैं। केदारनाथ सिंह जब अपनी कविताओं में 'बाघ' या अन्य बिंबों का उपयोग करते हैं, तो वे एक नए प्रकार का मिथक रच रहे होते हैं जो शहरी मशीनीकरण के विरुद्ध 'देशज संवेदना' को खड़ा करता है। यहाँ मिथक 'बाजार' के शोर के बीच 'मौन' और 'गंभीर चिंतन' की जगह बनाते हैं।

वैश्वीकरण के दौर में हिंदी साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि मिथकों का लोकतंत्रीकरण है। स्त्री और दलित विमर्श ने उन पौराणिक चरित्रों को आवाज दी जिन्हें मुख्यधारा के बाजारू साहित्य ने हमेशा हाशिए पर रखा। अनामिका, कात्यायनी और मैत्रेयी पुष्पा जैसी लेखिकाओं ने सीता, द्रौपदी और अहिल्या के मिथकों को 'बाजारू सौंदर्य' से मुक्त कर उन्हें 'संघर्ष' और 'अस्मिता' के प्रतीक के रूप में पुनर्जीवित किया। यहाँ शम्बूक, एकलव्य और असुरों के मिथकों के जरिए उस सामाजिक विषमता पर प्रहार किया गया जिसे वैश्वीकरण अक्सर अपनी चमक-धमक में छिपा लेता है। यहाँ मिथक का 'पुनर्सृजन' सत्ता और बाजार, दोनों के विरुद्ध एक वैचारिक युद्ध है।

बाजारवाद प्रकृति को केवल एक 'संसाधन' मानता है जिसे लूटा जा सके। इसके प्रतिरोध में समकालीन साहित्य ने 'पर्यावरणीय मिथक' रचे हैं। नदियों, जंगलों और पहाड़ों को पुनः मिथकीय गरिमा दी जा रही है। यह 'पुनर्सृजन' इसलिए जरूरी है क्योंकि जब तक मनुष्य प्रकृति के साथ अपना 'मिथकीय संबंध' महसूस नहीं करेगा, वह उसे बाजार की भेंट चढ़ाता रहेगा।

बाजार जहाँ मिथक को पलायनवाद के लिए इस्तेमाल करता है, वहीं हिंदी साहित्य उसे 'यथार्थ' से टकराने के लिए इस्तेमाल करता है। यहाँ कृष्ण 'सुपरहीरो' नहीं हैं, बल्कि वे एक कूटनीतिज्ञ हैं जो आधुनिक राजनीति की जटिलताओं को समझाते हैं। यहाँ राम 'चमत्कारी' नहीं हैं, बल्कि वे एक द्वंद्वग्रस्त मनुष्य हैं जो बाजार और नैतिकता के बीच चुनाव करने को मजबूर हैं। यह पुनर्सृजन मिथक को 'बाजारू खिलौने' से 'चेतना का औजार' बना देता है।

निष्कर्ष

इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ है कि वैश्वीकरण और बाजारवाद ने हिंदी साहित्य की मिथकीय चेतना को दो ध्रुवों पर बाँट दिया है। एक ओर बाजार है, जिसने मिथक को उसकी आध्यात्मिक और दार्शनिक जड़ों से काटकर उसे एक 'पॉप-कल्चर' उत्पाद बना दिया है। यहाँ मिथक केवल मनोरंजन और आर्थिक मुनाफे का साधन है। दूसरी ओर, गंभीर हिंदी साहित्य है, जिसने इन संकटों के बीच मिथक को 'प्रतिरोध की संस्कृति' के रूप में पुनर्जीवित किया है।

शोध यह सिद्ध करता है कि बाजारवाद के कारण 'स्मृति का लोप' सबसे बड़ा संकट है। जब मिथक अपनी 'पवित्रता'

खोकर केवल 'चमत्कार' और 'एक्शन' तक सीमित हो जाते हैं, तो वे समाज को दिशा देने की शक्ति खो देते हैं। वैश्वीकरण ने 'ग्लोबल' के नाम पर 'लोकल' मिथकों को हाशिए पर धकेल दिया है। वह युवा पीढ़ी को परंपरा के नाम पर केवल एक खोखली फंतासी परोस रहा है।

संकट के बावजूद, यह शोध एक आशावादी निष्कर्ष भी प्रस्तुत करता है। समकालीन हिंदी लेखकों ने मिथकों को केवल इतिहास के रूप में नहीं, बल्कि 'वर्तमान के मुहावरे' के रूप में इस्तेमाल किया है। स्त्री, दलित और पर्यावरणीय विमर्शों ने मिथकों का जो पुनर्पाठ किया है, उसने सिद्ध कर दिया है कि मिथक कभी इतिहास में स्थिर नहीं, बल्कि वर्तमान के साथ गतिशील होते हैं।

साहित्य ने बाजार के खोखलेपन के खिलाफ मिथकों को एक 'सार्थक स्मृति' के रूप में स्थापित किया है। यही वह पुनर्सृजन है जो मनुष्य को बाजार का दास बनने से रोकता है। भविष्य में मिथकों की प्रासंगिकता इस बात पर निर्भर करेगी कि हम उन्हें बाजार के चंगुल से कितना बचा पाते हैं। शोध यह सुझाव देता है कि पाठकों में 'व्यावसायिक माइथोलॉजी' और 'साहित्यिक मिथक' के बीच अंतर करने वाली आलोचनात्मक दृष्टि विकसित करनी होगी। निष्कर्ष मिथक मरे नहीं हैं; वे केवल रूपांतरित हुए हैं। यदि हम अपनी 'मिथकीय चेतना' को बाजारवाद के शोर से बचा सकें, तो ये आज भी मानवीय संकटों का हल खोजने में सक्षम हैं।

वैश्वीकरण मिथकों को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि मनुष्य का मन बिना प्रतीकों के नहीं रह सकता। किंतु, बाजारवाद उन्हें 'विकृत' अवश्य कर सकता है। हिंदी साहित्य की सार्थकता इसी में है कि वह मिथकों के 'पुनर्सृजन' के माध्यम से मनुष्य की 'सांस्कृतिक अस्मिता' को वैश्विक बाजार की भेड़-चाल में गुम होने से बचाए रखे।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. जेमसन, फ्रेडरिक। पोस्टमोडर्निज्म, और, द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म (Postmodernism] or] the Cultural Logic of Late Capitalism)। ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, 1991
2. त्रिपाठी, अमीश। मेलूहा के मृत्युंजय। अनुवादक : हुमा बेग, वेस्टलैंड पब्लिकेशन्स, 2011, पृष्ठ-15
3. एलिआड, मिर्चा। मिथ एंड रियलिटी (Myth and Reality)। अनुवादक : विलार्ड आर. ट्रस्क, हार्पर एंड रो, 1963।
4. प्रसाद, जयशंकर। कामायनी। राजकमल प्रकाशन।
5. निराला, सूर्यकांत त्रिपाठी। राम की शक्ति पूजा। साहित्य सरोवर प्रकाशन।
6. भारती, धर्मवीर। अंधा युग। वाणी प्रकाशन।
7. कुँवर नारायण। आत्मजयी। राजकमल प्रकाशन, 1965।
8. नीलकंठन, आनंद। असुर : एक पराजित की गाथा। मंजुल पब्लिशिंग हाउस, 2012।।
9. नगेन्द्र (डॉ.)। मिथक और साहित्य। नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1979।
10. मेघ, रमेश कुंतल। मिथक और आधुनिकता। (उपलब्ध संस्करण के अनुसार)।
11. सिंह, नामवर। ''मिथक और आधुनिक साहित्य।'' कुँवर नारायण। आत्मजयी। वाणी प्रकाशन, 1965।

विक्रम सिंह

'राग दरबारी' में अभिव्यक्त भारतीय शिक्षा व्यवस्था और भ्रष्टाचार : एक विश्लेषणात्मक अनुशीलन

शोध-सार

प्रस्तुत शोध-आलेख श्रीलाल शुक्ल द्वारा रचित एवं साहित्य अकादमी से पुरस्कृत (1969) उपन्यास 'रागदरबारी' (1968) में अभिव्यक्त स्वातंत्र्योत्तर भारतीय शिक्षा व्यवस्था और उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार का आलोचनात्मक अनुशीलन करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन के अनुरूप कि ''प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है'', यह आलेख शिवपालगंज नामक कस्बेनुमा गाँव को सम्पूर्ण भारतीय समाज की व्यवस्था के प्रतिनिधि के रूप में विश्लेषित करता है। इस आलेख का मुख्य उद्देश्य शिक्षा जगत के बीमारू रूप और जनतंत्रीय व्यवस्था के खोखलेपन पर किए गए निर्मम यथार्थवादी व्यंग्य को उद्घाटित करना है। अध्ययन के क्रम में छंगामल इंटरमीडिएट कॉलेज के माध्यम से शैक्षणिक संस्थानों में पनपती गुटबाजी, वैद्य जी व प्रिंसिपल की चाटुकारिता और फर्जीवाड़े का गहराई से पर्दाफाश किया गया है। सर्वोच्च शिक्षा माने जाने वाले शोध-कार्य को महज 'घास खोदने' जैसी औपचारिकता मान लेने, शिक्षकों द्वारा राष्ट्र निर्माण के बजाय निजी व्यवसायों (जैसे आटा चक्की) में अधिक रुचि लेने, और नियुक्तियों में योग्य व्यक्तियों को विस्थापित कर कुनबापरस्ती व भाई-भतीजावाद के हावी होने जैसी गंभीर विसंगतियों को रेखांकित किया गया है। निष्कर्षतः, यह अध्ययन सिद्ध करता है कि 'रागदरबारी' केवल एक कहानी नहीं, बल्कि भारतीय विसंगतियों का एक 'व्यंग्यात्मक महाकाव्य' है।

बीज शब्द

रागदरबारी, श्रीलाल शुक्ल, स्वातंत्र्योत्तर भारत, शिक्षा व्यवस्था, भ्रष्टाचार, व्यंग्यात्मक महाकाव्य, शिवपालगंज, कुनबापरस्ती।

प्रस्तावना

हर युग में लिखा गया साहित्य तत्कालीन सामाजिक परिवेश की भूमिका पर रचा जाता है। उसमें अपने समय, समाज का अक्स साफ-साफ देखा जा सकता है। साहित्य का शाब्दिक अर्थ सहभाव है, जो शब्द और अर्थ के मध्य विद्यमान होता है। साहित्य की परिभाषा इतनी व्यापकता लिए हुए है कि इसमें सम्पूर्ण मानव जीवन को समाहित किया जा सकता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'ज्ञानराशि के संचित कोश का नाम साहित्य है'। तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार— ''प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।''

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में एक यथार्थवादी उपन्यासकार के रूप में श्रीलाल शुक्ल का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने कई उपन्यासों को लिखा है, रागदरबारी उपन्यास का लेखन काल 1968 ई. है तथा 1969 ई. में इसे साहित्य अकादमी से पुरस्कृत किया गया। भारतीय लोकतंत्र, शिक्षा प्रणाली, कानून एवं न्याय व्यवस्था, अपराध और बेरोजगारी का शुक्ल जी ने रागदरबारी उपन्यास में विशद चित्रण किया है। श्रीलाल शुक्ल जी बड़े निर्मम यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। श्रीलाल शुक्ल जी हिन्दी के उन महान व्यंग्यकारों में से हैं जिनके सम्पूर्ण लेखन में व्यंग्यात्मकता धड़कन की तरह मौजूद है। रागदरबारी उपन्यास में स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक यथार्थ की व्यंग्यात्मक प्रस्तुति है। रागदरबारी उपन्यास में व्यंग्यों का इतनी अधिक मात्रा में प्रयोग किया गया है, कि आपको लगभग

हर दूसरी पंक्ति में व्यंग्यों का प्रयोग मिल जाएगा। शायद इसीलिए रागदरबारी को व्यंग्यात्मक महाकाव्य कहना उचित समझा जाता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतवासियों ने जिस रामराज्य और सुदृढ़ जनतंत्रीय व्यवस्था का स्वप्न देखा था, वह 1960 के दशक तक आते-आते मोहभंग में तब्दील होने लगा था। मैकाले की शिक्षा पद्धति के अवशेष और भारतीय व्यवस्था के अंतर्विरोधों ने मिलकर एक ऐसी खोखली प्रणाली को जन्म दिया, जिसका सबसे अधिक खामियाजा शिक्षा जगत को भुगतना पड़ा। श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य केवल हंसाने के लिए नहीं है, बल्कि यह व्यवस्था की नसों में बह रहे भ्रष्टाचार के मवाद को बाहर निकालने का एक निर्मम ऑपरेशन है। शिवपालगंज का परिवेश इसी राष्ट्रीय मोहभंग का जीवंत साक्ष्य है।

रागदरबारी उपन्यास की शुरुआत उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में बसे शिवपालगंज नामक कस्बेनुमा गांव से होती है। शिवपालगंज ऐसा गांव है, जो स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय गांव या समाज का प्रतिनिधित्व करता है, अर्थात् यह सिर्फ शिवपालगंज की कहानी नहीं है बल्कि पूरे भारत के गांवों की कहानी है। स्वातंत्र्योत्तर जनतंत्रीय व्यवस्था का पर्दाफाश करने वाले इस उपन्यास की शुरुआत ही तीव्र व्यंग्य के साथ होती है, जिससे आरम्भ में ही यह उपन्यास पाठक वर्ग की जिज्ञासा को उद्वेलित कर देता है। श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं—''शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता था। वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था कि इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है।"

श्रीलाल शुक्ल ने अपने कई व्यंग्यात्मक लेखों और उपन्यास 'रागदरबारी' के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों को उजागर करने का कार्य किया है। चाहे वह गांव की आर्थिक, राजनैतिक समस्या हो, या भ्रष्टाचार की समस्या हो। शुक्ल जी ने अपने कई व्यंग्यात्मक लेखों और उपन्यासों के माध्यम से शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर करने का कार्य किया है। रागदरबारी उपन्यास में शुक्ल जी ने शिक्षा व्यवस्था के बीमारू रूप पर करारा व्यंग्य किया है।

किसी भी समाज या राष्ट्र के लिए यह सबसे चिंताजनक स्थिति होती है, जब उसके नागरिक अशिक्षित रह जाएं और उस अशिक्षा का कारण शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार हो। भारत में भ्रष्टाचार की जड़ें इतनी गहरी हैं कि शायद ही कोई क्षेत्र इससे अछूता रह गया हो, सबसे पवित्र माना जाने वाला शिक्षा का क्षेत्र भी भ्रष्टाचार का प्रमुख केन्द्र बन गया है। रागदरबारी उपन्यास का ट्रक ड्राइवर भी भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर व्यंग्य करता है, और कहता है कि-''वर्तमान शिक्षा पद्धति रास्ते में पड़ी हुई वह कुतिया है जिसे कोई भी लात मार सकता है।" शिक्षा व्यक्ति, समाज व राष्ट्र की प्रथम अनिवार्यता होती है, साथ ही साथ उसकी शक्ति का केन्द्र भी। लेकिन जब शिक्षा व्यवस्था में ही भ्रष्टाचार का बोलबाला हो तो उस समाज या राष्ट्र की स्थिति सोचनीय हो जाती है।

शोध कार्य को हमारे शिक्षा जगत में एक सर्वोच्च शिक्षा माना जाता है, और हम यह उम्मीद करते हैं कि एक शोधार्थी अपने शोध कार्य के माध्यम से हमारे समाज को आगे ले जाने का कार्य करेगा तथा समाज को कुछ नया देगा। लेकिन जब रागदरबारी उपन्यास का ट्रक ड्राइवर, रंगनाथ से पूछता है कि क्या कर रहे हो तो रंगनाथ जवाब देता है कि ''कहा तो, घास खोद रहा हूँ। इसी को अंग्रेजी में रिसर्च कहते हैं। परसाल M.A. किया था। इस साल से रिसर्च शुरू की है।" जब रिसर्च की तुलना घास खोदने से की जाने लगे तो हम समझ सकते हैं कि रिसर्च आज के समय में एक औपचारिकता मात्र रह गयी है। शोध के क्षेत्र में जो ये विसंगतियां हैं, शुक्ल जी ने अपनी लेखनी के माध्यम से इनको बखूबी बताया है।

रागदरबारी उपन्यास का कथा स्थान शिवपालगंज है और उसका भी प्रमुख केन्द्र है, छंगामल इंटरमीडिएट कॉलेज। वैद्य जी इस कॉलेज के प्रबन्धक हैं, जो स्वभाव से धूर्त व भ्रष्ट इंसान हैं। छंगामल इंटर कॉलेज की स्थापना का उद्देश्य था कि वह वहां के युवकों को शिक्षित करके राष्ट्र के उत्थान के लिए प्रेरित करे, लेकिन हंगामल इंटर कॉलेज में पढ़ाई को छोड़कर सारे कार्य होते हैं। कॉलेज अपनी स्थापना के उद्देश्य को भूलकर नए उद्देश्यों की स्थापना करके, गुटबाजी, भ्रष्टाचार का प्रमुख अड्डा बन गया है।

छंगामल कॉलेज के प्रिंसिपल बगल गांव के ही हैं, जो कि चाटुकार किस्म के आदमी हैं, हमेशा वैद्य जी के पीछे चलने वाले, उनकी चाटुकारिता करने वाले। वे कॉलेज की पढ़ाई से ज्यादा रुचि दूसरी बातों में लेते हैं; प्रिंसिपल हमेशा यही सोचते हैं कि खन्ना तथा उनके साथी अध्यापकों को किस प्रकार सबक सिखाया जाए और उनको पीछे धकेला जाए। प्रिंसिपल साहब की ख्याति मुख्य रूप से 2 बातों के लिए दूर-दूर तक फैली है :

⋆ फर्जी नक्शा बनाकर कॉलेज के लिए ज्यादा से ज्यादा सरकारी पैसा खींचने के लिए।

⋆ समय आने पर स्थानीय अवधी भाषा के इस्तेमाल के लिए।

छंगामल कॉलेज के अध्यापक मोतीराम B.Sc. पास थे और बच्चों को साइंस पढ़ाते थे। मास्टर मोतीराम बच्चों को आपेक्षिक घनत्व पढ़ा रहे थे, परन्तु उनका ध्यान पढ़ाई से ज्यादा अपनी आटा चक्की पर रहता था। मास्टर मोतीराम आपेक्षिक घनत्व को कुछ इस प्रकार से बच्चों को समझाते हैं- ''मान लो तुमने एक आटा चक्की खोल रखी है और तुम्हारे पड़ोस में तुम्हारे पड़ोसी ने दूसरी आटा चक्की खोल रखी है। तुम महीने में उस चक्की से 500 रुपये पैदा करते हो और तुम्हारा पड़ोसी 100। तो तुम्हें उसके मुकाबले ज्यादा फायदा हुआ। इसे साइंस की भाषा में कह सकते हैं कि तुम्हारा आपेक्षिक लाभ ज्यादा है।"

मास्टर मोतीराम तो एक प्रतीक के रूप में यहां उपस्थित हैं, यही हाल देश के बड़े-बड़े शिक्षण संस्थानों का है कि जहां शिक्षकों को अध्ययन-अध्यापन कार्य करना चाहिए और छात्रों को राष्ट्र निर्माण के लिए सशक्त करना चाहिए, लेकिन शिक्षक शिक्षण कार्य को छोड़कर सारे कार्य करते हैं। अगर अन्य कार्यों से फुर्सत पा जाते हैं, तो कभी-कभार अध्ययन-अध्यापन का कार्य भी कर लेते हैं।

छंगामल इंटर कॉलेज के प्रिंसिपल साहब कभी-कभी किसी शिक्षक को दो कक्षाओं को एक में समायोजित करके पढ़ाने को कहते हैं। जब शिक्षक मालवीय जी इस बात पर असमर्थता जाहिर करते हैं, या विरोध करते हैं, तो कॉलेज के हेड क्लर्क साहब मालवीय जी को समझाते हैं कि जैसे एक सरकारी बस बिगड़ जाती है, तो सभी सवारियों को दूसरी बस में बैठा दिया जाता है, वैसे ही दूसरी कक्षा के विद्यार्थियों को भी अपनी कक्षा में बैठा कर एक साथ पढ़ाएं।

यहां पर मालवीय जी सुचारू रूप से शिक्षण कार्य करना चाहते हैं; यहां पर हमें कॉलेजों में शिक्षकों की कमी का पता भी चलता है। विद्यालयों व विश्वविद्यालयों में शिक्षकों का अभाव है, जिससे एक शिक्षक के ऊपर ज्यादा भार पड़ जाता है। जैसा कि इस उपन्यास में दिखाया भी गया है कि कॉलेज में खन्ना मास्टर इतिहास के लेक्चरर हैं, परन्तु प्रिंसिपल साहब उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने को कहते हैं। जब खन्ना मास्टर से बच्चे अंग्रेजी में कुछ पूछते हैं, तो वह बता नहीं पाते हैं। इस तरह की अव्यवस्था आजकल शैक्षणिक संस्थानों में एकदम आम बात हो गयी है।

छंगामल इण्टर कॉलेज में अध्यापकों की जो नियुक्ति होती है, प्रिंसिपल साहब जिनको नियुक्त करते हैं, वे प्रिंसिपल साहब के रिश्तेदार होते हैं। इससे पता चलता है कि शिक्षकों की नियुक्ति में भी भाई-भतीजावाद का ही बोलबाला है। योग्य व्यक्तियों की कोई पूछ नहीं है, सिर्फ पैसे और पहुंच का ही बोलबाला है। अयोग्य व्यक्ति अपने पैसे और पहुंच के माध्यम से योग्य व्यक्तियों को विस्थापित कर देता है, और यही कुनबापरस्ती आजकल शिक्षण संस्थानों में भी चल रही है। इसके अतिरिक्त, वैद्य जी के सुपुत्र रुप्पन बाबू के माध्यम से लेखक ने परिसरों में व्याप्त खोखली छात्र-राजनीति पर भी तीखा प्रहार किया है, जहाँ शिक्षा गौण हो गई है और दबंगई ने विद्या के मंदिरों पर कब्जा कर लिया है।

श्रीलाल शुक्ल द्वारा रचित यह 'व्यंग्यात्मक महाकाव्य' केवल अपने रचना काल (1968 ई.) तक ही सीमित नहीं है, बल्कि आज के संदर्भ में भी इसकी प्रासंगिकता पूरी तरह से बनी हुई है। उपन्यास में छंगामल इंटर कॉलेज और शिवपालगंज के माध्यम से शिक्षा व्यवस्था का जो बीमारू रूप प्रस्तुत किया गया है, वही हाल आज भी देश के कई बड़े-बड़े शिक्षण संस्थानों का है। कुनबापरस्ती और अयोग्य व्यक्तियों का वर्चस्व आज भी हमारे अकादमिक जगत के लिए एक ज्वलंत समस्या है।

निष्कर्ष

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन के अनुरूप कि ''प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है'', 'रागदरबारी' उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक यथार्थ और शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार का अत्यंत जीवंत व निर्मम चित्र प्रस्तुत करता है। शिक्षा व्यक्ति, समाज व राष्ट्र की प्रथम अनिवार्यता और शक्ति का केन्द्र होती है; लेकिन जब शिक्षा व्यवस्था में ही भ्रष्टाचार का बोलबाला हो, तो उस समाज या राष्ट्र की स्थिति अत्यंत सोचनीय हो जाती है। शिवपालगंज के हंगामल इंटर कॉलेज के माध्यम से लेखक ने शोध कार्य को घास खोदने जैसी औपचारिकता मान लेने, शिक्षकों की अयोग्यता, और शिक्षण संस्थानों के गुटबाजी व भ्रष्टाचार का अड्डा बन जाने पर जो करारा व्यंग्य किया है, वह जनतंत्रीय व्यवस्था का पर्दाफाश करता है। अंतत:, श्रीलाल शुक्ल जी का यह उपन्यास केवल एक कस्बे की कहानी नहीं

है, बल्कि भारतीय शिक्षा प्रणाली और लोकतंत्र की विसंगतियों का एक ऐसा प्रामाणिक दस्तावेज है, जो हमें अपनी व्यवस्था के पतन पर गंभीरता से विचार करने के लिए विवश करता है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शुक्ल, श्रीलाल। राग दरबारी। राजकमल प्रकाशन, 1968।
2. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र। हिन्दी साहित्य का इतिहास। नागरी प्रचारिणी सभा।
3. द्विवेदी, महावीर प्रसाद। साहित्य की महत्ता।
4. शर्मा, रामविलास। भारतीय साहित्य की भूमिका। राजकमल प्रकाशन, 1998।
5. सिंह, नामवर। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ। लोकभारती प्रकाशन, 1982।
6. अवस्थी, रेखा। रागदरबारी : आलोचना की फांस। राजकमल प्रकाशन, 2014।
7. मधुरेश (संपादक)। रागदरबारी का महत्त्व। लोकभारती प्रकाशन, 2015।
8. मिश्रा, डॉ. सीमा। श्रीलाल शुक्ल के राग दरबारी का राजनैतिक संदर्भ।
9. दीक्षित, डॉ. राधा। रागदरबारी का शैली वैज्ञानिक अध्ययन।
10. शर्मा, आर.। हिंदी साहित्य में व्यंग्य की परंपरा। वाणी प्रकाशन, 2017।
11. दुबे, ए.। शिक्षा व्यवस्था और ग्रामीण भारत। शिक्षा विमर्श, 2019।
12. तिवारी, रामचंद्र। हिंदी उपन्यास और सामाजिक यथार्थ। साहित्य भवन, 2019।

शोध-पत्र

कृष्ण भक्ति परम्परा

उदित सिंह

कृष्ण और राम भारतवर्ष के दो ऐसे अवतारी पुरुष हैं जिनका प्रभाव लोक और शास्त्र दोनों पर एक समान रूप से है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और उनकी छवि मुख्यत: लोक रक्षक की है, वहीं कृष्ण लोक रक्षक के साथ-साथ लोक रंजक के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं। जिस कारण लगभग सभी कला रूपों पर कृष्ण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण साहित्य के इर्द गिर्द एक विशिष्ट संस्कृति का निर्माण हुआ है, कथाओं के माध्यम से कृष्ण भक्ति के आख्यान की एक परंपरा चल पड़ी जिसमें उनके बचपन के किस्से सबसे अधिक मनोरंजक हैं। इसमें गीतों की भी एक विशिष्ट परंपरा का जन्म हुआ गीतगोविन्द, पदावली, सूरसागर, मीरा के पद, रसखान के सवैये भारतीय गीत परम्परा को पुष्ट करते हैं। रासलीला के रूप में गीतिनाट्य की परम्परा का सृजन भी कृष्ण भक्तों की ही देन है। इसके साथ साथ जात्रा भी मुख्यत: कृष्ण भक्ति पर ही केंद्रित लोकनृत्य है, नौटंकी जो की उत्तर भारत की सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय लोकनाट्य शैली है। इसमें भी कृष्ण भक्ति का विशिष्ट स्थान है। 'बासुरी' तो जैसे कृष्ण के व्यक्तित्व का अंग हो गई है। ऐसी लोकोक्ति है कि, कृष्ण जब रुक्मिणी का हरण करके तो लौटे थे पर अपनी बंसी वहीं छोड़ आए थे, जिसका प्रभाव हम आज भी पूर्वोत्तर राज्यों के संगीत में देख सकते हैं। आज वहाँ के संगीत का मुख्य तत्व ही मानों बासुरी बन गई हो। इसके साथ जन्माष्टमी जिसमें झाँकियाँ, भजन, कीर्तन और दही हांडी का आयोजन किया जाता है, रासलीला महोत्सव ब्रज में यह उत्सव विशेष रूप से मनाया जाता है, जहाँ कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का मंचन किया जाता है।भारतीय मंदिरों में कृष्ण की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। राजा रवि वर्मा जैसे चित्रकारों ने कृष्ण को अपने चित्रों में अमर बना दिया। पिचवाई चित्रकला (नाथद्वारा) और मधुबनी चित्रकला में कृष्ण के जीवन और लीलाओं को प्रमुखता से चित्रित किया गया है। कृष्ण साहित्य भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का एक अभिन्न अंग है, जो धर्म, कला, संगीत, नृत्य, लोक परंपराओं, भाषा और सामाजिक मूल्यों से गहराई से जुड़ा हुआ है। यह साहित्य केवल धार्मिक ग्रंथों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें भारतीय समाज और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का व्यापक रूप से समावेश मिलता है।

ऐसा माना जाता है कि कृष्ण भक्ति का उदय क्षत्रिय जाति के लोगों में हुआ था, परंतु कालांतर में यह सभी का धर्म हो गया, इस मत के दूसरे उत्थानक नयनार ज्यादातर तथाकथित नीची जातियों से थे अत: जाति व्यवस्था का खंडन तो ये सन्त स्वयं ही थे। इसके साथ-साथ कृष्ण की गोपियाँ और महिला संत साधिकाओं नें महिलाओं के लिए भी इस धर्म को सुलभ बना दिया, कृष्ण के प्रेम का जो स्वरूप है निर्बाध और शुद्ध प्रेम है उसपर सामाजिक बंधनों का असर ना के बराबर है। राधा और कृष्ण के प्रेम को तो प्रेम की पराकाष्ठा माना जाता है। मीरा बाई की माधुर्य भक्ति, रसखान की की माधुर्य भक्ति, सूरदास का सख्य भाव और वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग, निम्बार्क की राधा-कृष्ण युगलोपासना आदि भक्ति के हर सम्भव मार्ग से कृष्ण की उपासना हुई है और आज भी हो रही है। और हिन्दू, मुसलमान, दलित, महिला सब को भक्ति का पूरा अधिकार रहा है।

मध्यकाल में भक्ति आंदोलन में कृष्ण भक्ति शाखा का

बहुत महत्वपूर्ण योगदान है, इस काल में कृष्ण की भक्ति की अनेक सुरमई वीणाएँ बज उठी थीं और अपनी धुन से समूचे भारत को आनंदित एवं आन्दोलित कर दिया। कृष्ण भक्ति का उद्‌भव भक्ति आंदोलन से पहले 600 ई.पू. में ही हो चुका था जिसे मध्यकालीन भक्तों ने पुन:सृजित किया। इसकी जड़ें 600 ई.पू. में उपजे सात्वत धर्म में पाई जाती हैं जिसमें विष्णु को परमब्रह्म और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाता है। पुराणों और महाभारत में कृष्ण को 'सत्वतर्षभ' कहा गया है, जिससे इसकी पुष्टि होती है। यही धर्म आगे चलकर भागवत पुराण की मदत से 'भागवत धर्म' में रूपांतरित हो गया और इसी भागवत धर्म को बाद 'वैष्णव धर्म' कहा गया। गुप्तकाल (500 ई.) जिसे भारत का स्वर्णकाल भी कहा जाता है, के आस-पास वैष्णव धर्म नें अपना संगठित रूप ग्रहण किया। कृष्ण का व्यक्तित्व बहुत विराट है उन्हें विष्णु का पूर्ण अवतार माना जाता है, वह रसिया भी हैं और कुशल राजनीतिज्ञ भी, परम दयालु भी हैं और कुशल योद्धा भी महान दानवीर भी हैं और प्रबल छलिया भी।

'भागवत पुराण' कि रचना, 'भगवत गीता' का उपदेश आलवारों के भक्ति पद और फिर मध्यकाल में भक्ति आंदोलन, कृष्ण भक्ति के विकास में ये प्रमुख सोपान हैं। कृष्ण भक्त कृष्ण के साकर रूप की पूजा करते हैं, पूज्य कृष्ण विष्णु के अवतार हैं, विष्णु परमब्रह्म हैं अर्थात् निराकार, निर्गुण की साकार अभिव्यक्ति। उस रूप-गुणयुक्त निर्गुण/निराकार की शरणागति ही इन कृष्ण भक्तों का अंतिम लक्ष्य है जिसे इन्होंने 'प्रपत्ति' कहा है। कृष्ण भक्ति का विस्तार अखिल भारतीय तो शताब्दियों पहले से रहा है, आज तो इस दर्शन का विस्तार भारत से बाहर भी है, सिर्फ उपमहाद्वीप में नहीं अपितु विश्व के अन्य महाद्वीपों जैसे अमेरिका यूरोप में भी आज कृष्ण भक्ति और दर्शन की परम्परा विकसित हो रही है। यूरोप का कृष्ण साहित्य से संपर्क औपनिवेशिक दौर से ही चला आ रहा है, 'विलियम जोंस', 'एडविन अर्नोल्ड' ने गीता का अनुवाद करके पश्चिमी जगत को इससे परिचित कराया और आगे आने वाले विद्वान भी इससे प्रभावित होते रहे 'एल्डस हक्सले' और 'हरमन हेस' ने कृष्ण के दर्शन को अपने साहित्य में शामिल किया। साहित्य के साथ-साथ इसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा, रॉबर्ट ओपेनहाइमर और आइंस्टीन भी गीता पढ़ने की बात स्वीकार करते हैं और इसे एक प्रभावशाली ग्रंथ बताते हैं। यूरोप से होते हुए यह दर्शन अमेरिका पहुंचा और वहाँ के विद्वानों को प्रभावित किया। 1965 में प्रभुपाद द्वारा ISCON की स्थापना अमेरिका में कृष्ण भक्ति के प्रसार की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस आंदोलन के तहत आज विश्व भर में कृष्ण कन्शियसनेस और भगवत गीता का प्रचार किया जा रहा है।

'सेवन हैबिट्स ऑफ हाइली इफेक्टिव पीपल' पुस्तक जिसकी अभी तक 25 मिलियन प्रतियाँ बिक चुकी हैं और जिसे मैनेजमेंट की दुनिया की सबसे प्रभावशाली पुस्तकों में से एक माना जाता है के लेखक स्टीफन कॉवे कहते हैं कि उन्होंने अपनी पुस्तक में वर्णित नियमों को भगवत गीता से लिया है, और उन्हें वैज्ञानिक भाषा में लोगों के सामनें प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक गीता में निहित मात्र एक तत्व को उजागर करती है, इसकी व्याख्या अन्यान्य दृष्टियों से की जा सकती है और आधुनिक समाज के हितार्थ अनेक सिद्धांत स्थापित किए जा सकते हैं।

यहाँ हम लोकनाटकों में कृष्ण भक्ति के स्वरूप की विस्तार से चर्चा करेंगे। लोकनाटकों में हमें मुख्यत: कृष्ण का छलिया और लीलाधर रूप देखने को मिलता है, इसका स्पष्ट कारण भी है-कृष्ण नें गीता में जीवन की जो व्याख्या की है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन एक रंगमंच है जहाँ हर कोई अपना-अपना किरदार निभा रहा है। इसका संकेत हमें कृष्ण के इस वाक्य से मिलता है जब कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि और हर व्यक्ति को अपना किरदार पूरी ईमानदारी से निभाना चाहिए। इसी कारण कृष्ण भक्तों नें लीला पर इतना जोर दिया।

रासलीला की शुरुआत सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य नें की थी, वे मानते थे कि कृष्ण के प्रति समर्पण से ही परम आनंद की प्राप्ति संभव है। उनके पुष्टिमार्ग में भक्ति का स्थान सबसे ऊंचा है, उनके अनुसार कृष्ण नें अपने रंजन के लिए जगत का विस्तार किया, यह जड़त भी स्वयं कृष्ण का ही विस्तार है अत: इस जगत में कृष्ण की लीला का हिस्सा बनकर ही कृष्ण का सानिध्य प्राप्त होगा रास के लिए रसराज श्रृंगार को ही योग्य माना गया और प्रेमभाव के साथ ही इस नृत्य की शुरुआत हुई। इसमें कृष्ण और गोपियों के प्रेम का अद्‌भुत चित्रण होता है परन्तु इसका केन्द्र है राधा और कृष्ण का प्रेम। राधा और कृष्ण का प्रेम आज आदर्श प्रेम का पर्याय बन गया है, इसी प्रेम का चित्रण इस रासलीला में किया जाता है, 'रास' भारत मुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित रसक का प्राकृत

रूप है। इस नाट्यशैली में नृत्य, संगीत और आंगिक अभिनय का अद्‌भुत संगम देखने को मिलता है, राधा-कृष्ण के साथ गोपियाँ नृत्य करती हैं। इसका दार्शनिक पक्ष शुद्धाद्वैत है, जो की भारतीय भक्ति परंपरा का एक प्रमुख दर्शन है। लोक और शास्त्र का यह बहुत ही महत्वपूर्ण और दुर्लभ संगम है और ऐसा अद्‌भुत संयोग कृष्ण जैसे विराट व्यक्तित्व के बिना संभव नहीं है।

नौटंकी का उद्‌भव भगत नामक लोकनाट्य शैली से हुआ है, भगत भक्तिप्रधान शैली है जिसका आज भी पश्चिमी उत्तरप्रदेश और हरियाणा के क्षेत्रों में प्रचलन है। यह शैली सभी देवी देवताओं को समर्पित है और ब्रज क्षेत्र में इसका केंद्र कृष्ण ही रहे हैं। नौटंकी जो की अधिक लौकिक विधा है में पुराणों से कथानक उठाकर अनेक नौटंकियाँ खेली गईं, इन नौटंकियों में कृष्ण का अधिकांशत: लोकरंजक पक्ष ही दिखाया गया परंतु ऐसी भी नौटंकियाँ हैं जिनमें कृष्ण का लोकरक्षक रूप सामने आया है, द्रौपदी का चीर-हरण होने से रोकने वाले कृष्ण को भी देखा जा सकता है।

प्रदर्शन के लिए चुने गए प्रसंगों के माध्यम से हममें लोक की रुचि का पता चलता है, कि वह अपने आराध्य को किस रूप में देखना चाहती है। लोकरक्षण के लिए हमारे पास कई देव हैं परंतु रंजन के लिए लोक ने कृष्ण को चुना है, कृष्ण ने अनेक राक्षसों का संहार किया और महाभारत के युद्ध में अर्जुन को धर्म रक्षण के लिए युद्ध करने की प्रेरणा दी, वो चाहते तो युद्ध को एक झटके में समाप्त कर सकते थे परंतु उन्होंने मनुष्य को कर्मयोग की शिक्षा देने के लिए अर्जुन से युद्ध करवाया। इसके बावजूद लोक ने उनके प्रेमी रूप को ही अधिक सराहा भक्तों नें उनके प्रेम के भजन गाए और उनकी भक्ति में लीन हो अनेक नृत्यों और नाट्यों के माध्यम से उनके प्रेम का अनुकरण किया।

जात्रा मुख्यत: उड़ीसा बिहार और बंगाल में प्रचलित है, इसका उद्‌भव चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से हुआ माना जाता है, वे कृष्ण की आराधना में मगन होकर भजन गाते थे और नाचने लग जाते थे। धीरे-धीरे उनके भक्तों ने भी उनका अनुकरण किया और सब एक साथ एक सुर में भजन गाया करते और नाचते थे। इसी में आगे चलकर अभिनय का भी कुछ समावेश हुआ और एक सुंदर परम्परा का सृजन हुआ। इसमें कृष्ण को आराध्य मानकर खुद को गोपी मानकर उनकी आराधना की जाती है। बंगाल में एक गायन शैली है करिया, जो नौवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच लोकप्रिय थी। अमर कोस पर दिए गए वृतांत में इसके अस्तित्व का उल्लेख मिलता है और इनके कुछ खण्ड ताम्र पत्रों में भी पाए गए हैं। इन गीतों की भाषा को उन लोगों के वर्ग का सृजन माना गया है, महायान बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इसमें बुद्ध नाटक के संदर्भ भी मिलते हैं। इस साक्ष्य से कोई निश्चित कटौती नहीं की जा सकती, फिर भी यह स्पष्ट है कि यह एक प्रकार का संगीतमय नाटक था, जो संभवतया उस समय प्रचलित था। इस अवधि के दौरान उड़ीसा में करिया पद लोकप्रिय थे। चैत्यन्य और उनके अनुयायियों ने इन्हें दोबारा जीवित करने में योगदान दिया और वे उस समय सांस्कृतिक स्तर पर भारत के अनेक हिस्सों में राष्ट्रीय एकता लाने के लिए भी उत्तरदायी थे, जब सभी भारतीय क्षेत्र राजनीतिक और आर्थिक संकट से प्रभावित थे। वे सृजक थे, वे नाटक के निर्देशक थे और धार्मिक-सामाजिक प्रयोजन के लिए नाटक के स्वयं सचेत वाहक हुआ करते थे। इतिहास गवाह है कि वे नाटकीय परिप्रक्षेप में इसकी प्रथम निश्चित प्रस्तुति थे, जहां चैत्यन्य ने स्वयं रूकमणी का अभिनय किया था। तब संभवतया यह कृष्ण जात्रा की शुरुआत थी। अत: वे नि:स्संदेह रूप से बंगाल और उड़ीसा की समकालीन यात्रा के पूर्ववर्ती थे।

जात्रा एक सादे मंच पर की जाती है जिसके चारों ओर दर्शक होते हैं। सामूहिक गीत गायक और संगीतकार मंच पर अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। इस पर मंच संबंधी कोई आडम्बर नहीं होता, यहाँ केवल बैठने का एक स्थान होता है जो विभिन्न कार्यक्रमों में एक सिंहासन, एक बिस्तर या किनारे रखी बैंच के तौर पर कार्य करता है। मंच पर अभिनेता अत्यंत सैद्धांतिक रूप में गीतशील होते हैं। वे अपनी ऊँची आवाज में भाषण देते हैं और उन्हें इतनी तेजी से बोलना होता है कि चारों ओर बैठे दर्शक उनकी आवाज सुन सकें। परिणाम स्वरूप वे एक अत्यंत उत्तेजित शैली में बोलते हैं और उनकी हाव-भाव भी उसके अनुसार होते हैं। उनकी वेशभूषा चमकदार और उनकी तलवारें चकाचौंध पैदा करती हैं और जल्दी ही उनके शब्दों के साथ संघर्ष शुरू हो जाता है। कभी-कभार ये अभिनेता भावनात्मक मन:स्थिति को दर्शाते हैं जैसे कि प्रेम, दुख, करुणा, किन्तु इन सभी में उत्तेजना का तत्व हमेशा मौजूद होता है। क्योंकि उन्हें अपने आप को जीवन से बड़े आकार में प्रस्तुत करना होता है। आधुनिक युग में जात्राओं के लिए नाटक लिखने की शैली में अनेक बदलाव हुए हैं। अब जात्रा के

नाटक केवल धार्मिक, ऐतिहासिक या काल्पनिक विषयों पर सीमित नहीं हैं। उनमें आधुनिक रुचि के लिए उपयुक्त सामाजिक विषयवस्तु भी जोड़ी गई हैं।

शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीमद्भागवत महापुराण (विशिष्ट हिंदी अनुवाद सहित), व्यास देव, गीता प्रेस, गोरखपुर
2. सूरसागर (दो भागों में), महाकवि सूरदास, संपादक-जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', नागरीप्रचारिणी सभा
3. मीराबाई की पदावली, मीराबाई, संपादक-आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
4. कृष्णा भक्ति काव्य में सखी भाव, डॉ. शरणबिहारी गोस्वामी, ग्रंथायन प्रकाशन, अलीगढ़
5. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डॉ. दीनदयाल गुप्त, नवयुग साहित्य सदन, आगरा
6. सूर की काव्य साधना, डॉ. रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद
7. राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, डॉ. विजयेंद्र स्नातक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागंज
8. मध्यकालीन वैष्णव संप्रदाय और हिंदी साहित्य, डॉ. सरला शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
9. उत्तर भारत की संत परंपरा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, लीडर प्रेस भवन, इलाहाबाद
10. चैतन्य संप्रदाय और उसका साहित्य, डॉ. जनार्दन मिश्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद सैदपुर, पटना
11. भारतीय संस्कृति और वैष्णव धर्म, डॉ. हीरेंद्रनाथ सिन्हा मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल
12. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, प्रभुदयाल मीतल साहित्य संस्थान, मानसी पब्लिकेशन, मथुरा

उदय प्रकाश के कथा साहित्य में 'हाशिये का समाज' और 'सत्ता-विमर्श'

आयुष दुबे

शोध सार

समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में उदय प्रकाश एक अत्यंत महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं, जो अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने समय और समाज का यथार्थ चित्रण करने के साथ-साथ उस पर गहरी टिप्पणी करते हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र उनके कथा-साहित्य में 'हाशिये का समाज' और वर्चस्ववादी 'सत्ता-विमर्श' के अंतर्संबंधों का आलोचनात्मक, सामाजिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

इस शोध का मूल उद्देश्य यह विश्लेषित करना है कि किस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्तर पर वर्चस्ववादी वर्ग हाशिये के समाज (जिसमें मजदूर, दलित, गरीब एवं स्त्री वर्ग शामिल हैं) का शोषण करता है। शोध-पत्र यह उद्घाटित करता है कि निरंकुश सत्ता, भ्रष्टाचार और संवेदनहीन होती व्यवस्था के दबाव में हाशिये का मनुष्य अपना अस्तित्व और पहचान खोने को विवश है।

प्रस्तावना

साहित्यकार हमेशा अपने युग व समाज से प्रभावित होकर ही रचना करता है। समकालीन कथा-साहित्य की यह एक प्रमुख विशेषता रही है कि वह अपने समय और समाज का यथार्थ चित्रण करने के साथ-साथ उस पर गंभीर टिप्पणी भी दर्ज करता है। समकालीन दौर के रचनाकारों में उदय प्रकाश एक अत्यंत महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में स्थापित हैं। वे अपनी रचनाओं का मूल उत्स सीधे जीवन से उठाते हैं और उस पर गहन चिंतन कर अपनी जीवन-दृष्टि से उसे कथा-साहित्य का रूप देते हैं। उन्होंने कविता, कहानी, निबंध, आलोचना और फिल्म एवं मीडिया के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। इसके बावजूद, साहित्यिक जगत में उनकी मुख्य पहचान एक विशिष्ट कथाकार के रूप में उभरकर सामने आती है।

उदय प्रकाश अपने कथा-साहित्य के माध्यम से मुख्य रूप से ऐसे वर्ग को रेखांकित करते हैं जो अपने ही देश व समाज में हाशिये पर डाल दिए गए हैं। वैचारिक और सामाजिक दृष्टि से श्हाशिये का समाजश वास्तव में समाज का वह वर्ग है, जो वर्चस्ववादी वर्ग की तुलना में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और आर्थिक स्तर पर किन्हीं कारणों से पीछे रह गया है। व्यावहारिक धरातल पर हमारे समाज में हाशिये पर मुख्य रूप से मजदूर, दलित, गरीब एवं स्त्री वर्ग को देखा जा सकता है। इस उपेक्षित और शोषित वर्ग के जीवन का वास्तविक व यथार्थ चित्रण उदय प्रकाश के कथा-साहित्य की धुरी है।

उदय प्रकाश की कहानियां निरंकुश सत्ता, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, भुखमरी, गरीबी और भ्रष्ट राजनीति आदि से जुड़े समाज के विद्रूप चेहरे को अत्यंत बेबाकी से हमारे सामने रखती हैं। इनकी प्रमुख कृतियों में 'दरियाई घोड़ा', 'तिरिछ', 'दत्तात्रेय का दुख', 'पॉलगोमरा का स्कूटर', 'अरेबा परेबा', 'और अंत में प्रार्थना', 'मोहनदास', 'पीली छतरी वाली लड़की', 'ईश्वर की आँख' आदि बेहद महत्वपूर्ण हैं। उदय प्रकाश के कथा-साहित्य का अनुशीलन करने पर हमें व्यवस्था में व्याप्त एक प्रकार का तांडव देखने को मिलता है। लेखक ने इन तांडवकारी तत्वों का मुख्य आधार समाज के तथाकथित 'सभ्य' कहलाने वाले अभिजात्य वर्ग को बनाया है और इस अमानवीय तांडव के प्रकोप का सीधा भाजन समाज का यह असहाय

हाशिये का वर्ग ही बनता है। उदाहरण के तौर पर इस यथार्थ को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उनकी कहानियों—'तिरिछ', 'टेपचू', 'हीरालाल का भूत', 'मोहनदास', 'थर्ड डिग्री' आदि को प्रमुखता से देखा जा सकता है।

मूल आलेख : विश्लेषणात्मक अध्ययन

उदय प्रकाश का कथा-साहित्य मुख्य रूप से मध्यवर्ग के जीवन, निम्नवर्ग के संघर्ष, संवेदनहीन होती सभ्यता, तनाव, निराशा और मनुष्य का मनुष्य पर से खत्म होते विश्वास का जीवंत दस्तावेज है। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में सर्वहारा वर्ग को केंद्र में रखकर जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य में हाशिये का समाज और सत्ता-विमर्श एक-दूसरे के समानांतर चलते हैं, जहाँ सत्ता के तांडव का मुख्य भाजन हाशिये का उपेक्षित वर्ग ही बनता है।

उदय प्रकाश अपनी कहानियों में स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्ति समाज-व्यवस्था के हाशिये पर है, उसके जीवन का कोई मोल नहीं है। सत्ता के इस क्रूर तंत्र के समक्ष हाशिये के मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ मुख्य रूप से संघर्ष और आत्मसमर्पण के रूप में सामने आती हैं। उनके पहले कहानी संग्रह 'दरियाई घोड़ा' की अंतिम कहानी 'टेपचू' का नायक अपने अस्तित्व के लिए मरते दम तक लड़ता है। इस कहानी में एक ऐसा संघर्षशील वर्ग सामने आता है जो क्रूर कानून-व्यवस्था का निरंतर विरोध करता है और व्यवस्था के खिलाफ यह संघर्ष हमेशा बना रहेगा, इसका यथार्थ चित्रण यहाँ देखने को मिलता है। इसके विपरीत, 'मोहनदास' कहानी यह दर्शाती है कि जो भी व्यक्ति सत्ता व व्यवस्था के खिलाफ जाएगा, उसकी स्थिति 'टेपचू' या 'मोहनदास' की तरह कर दी जाएगी। इस क्रूर कानून-व्यवस्था के दबाव में आकर मोहनदास अपनी पहचान और अपना अस्तित्व तक भूलने को तैयार हो जाता है। मोहनदास की विवशता और सत्ता के खौफ को कहानी के इस विशेष कथन से समझा जा सकता है :

''मैं आपलोगों के हाथ जोड़ता हूँ मुझे किसी तरह बचा लीजिये। मैं किसी भी तरह अदालत में चल कर हलफनामा देने के लिए तैयार हूँ कि मैं मोहनदास नहीं हूँ।''

उदय प्रकाश के कथा-साहित्य में सत्ता केवल राजनीतिक नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा तंत्र है जो आम आदमी को पूरी तरह निगल जाता है। '...और अंत में प्रार्थना' कहानी में यह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि जो व्यक्ति सत्ता के उसूलों और उनके बने-बनाए रास्तों पर नहीं चलेगा, उसका हाल 'टेपचू' और डॉक्टर वाकणकर जैसा ही होगा। राजनीति अपने निजी फायदे के लिए सत्य और अहिंसा का पालन करने वाले निर्दोष डॉक्टर वाकणकर को अंततः खत्म कर ही देती है। इसके साथ ही, सामाजिक स्तर पर संवेदनहीन होती सभ्यता का चित्रण भी उनके साहित्य का प्रमुख स्वर है। बदलते सामाजिक परिवेश, संकुचित दृष्टिकोण और आर्थिक संघर्षों से उपजी व्यस्तता ने मनुष्य की संवेदनशीलता को खत्म कर दिया है। 'तिरिछ' कहानी में इसी व्यस्तता और समाज में फैले अंधविश्वास के कारण एक मनुष्य की जान चली जाती है, जो यह प्रमाणित करता है कि आज की जीवन शैली में निम्न वर्ग और मध्यवर्ग के लिए कोई जगह नहीं बची है। इसी प्रकार, 'थर्ड डिग्री' कहानी का पात्र 'सुरेश' उस वर्ग का प्रतीक है जो चाहकर भी भ्रष्ट कानून-व्यवस्था का विरोध नहीं कर सकता। यह व्यवस्था सिर्फ ऊपरी तौर पर भरोसा देती है कि सबकुछ ठीक हो जाएगा, जबकि कहानी में सभी जानते हैं कि चोरी किसने की है और सामान कहाँ है। फिर भी सभी चुप हैं क्योंकि इस घालमेल में सत्ता और समाज के सभी लोग शामिल हैं।

उदय प्रकाश केवल आर्थिक हाशिये की बात नहीं करते, बल्कि सामाजिक संरचनाओं पर भी प्रहार करते हैं। उनकी महत्वपूर्ण कृति 'पीली छतरी वाली लड़की' एक युवक और युवती की प्रेम कहानी है, जिसके रास्ते में जाति-व्यवस्था और रूढ़िवादी सामाजिक मूल्य जैसी रुकावटें आती हैं। इस उपन्यास में प्रेम-कथा के आवरण के भीतर एक गहरा सामाजिक और राजनीतिक विमर्श निहित है।

कथा लेखन के इस यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए उदय प्रकाश ने एक नई शैली का प्रयोग किया है, जिसे आलोचकों ने 'जादुई यथार्थवाद' (Magical Realism) का नाम दिया है। इस शिल्प की विशेषता यह है कि इसमें यथार्थ को भ्रम और भ्रम को यथार्थ बनाने की कोशिश की जाती है। इस शैली में जो सच होता है वह दिखाई नहीं देता और जो दिखाई देता है वह सच नहीं होता। आलोचकों का मानना है कि इस शैली के कारण उदय प्रकाश पर 'गेब्रियल गार्सिया मार्केज' का प्रभाव है। परंतु उदय प्रकाश इस धारणा का खंडन करते हुए इसे विशुद्ध भारतीय परंपरा से जोड़ते हैं। उनका यह कथन उनके साहित्यिक शिल्प और दृष्टि को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है :

'इतिहास में आख्यान या यथार्थ में कल्पना के संश्लेषण

की यह पद्धति किसी मार्केज की नहीं बल्कि हजारीप्रसाद द्विवेदी और मेरी है।'

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि उदय प्रकाश का साहित्य यह स्पष्ट करता है कि समाज में जो पिछड़ा है, उसे और पीछे छोड़ा जा रहा है तथा उसे व्यवस्थित रूप से दरकिनार किया जा रहा है। उनके साहित्य के माध्यम से समाज में फैलती असहजता, उदासीनता और व्यक्ति की आंतरिक तथा बाह्य छटपटाहट को गहराई से महसूस किया जा सकता है। 'जादुई यथार्थवाद' के प्रयोग के साथ वे हाशिये के समाज का सत्ता द्वारा किए जाने वाले शोषण का अत्यंत सजीव और प्रामाणिक चित्रण करते हैं।

निष्कर्ष

इस पूरी लंबी चर्चा को समेटते हुए हम कई अहम् नतीजों पर पहुँचते हैं। मैथिलीशरण गुप्त और रांगेय राघव दोनों ने ही हिंदी साहित्य को बहुत बड़ी सौगात दी है। उन्होंने इतिहास के अंधेरे में खोई एक महान स्त्री को रौशनी में खड़ा किया। विधाओं की ताकत ने इस एक ही चरित्र को दो बिल्कुल अलग दिशाओं में विकसित किया। कविता के साँचे में ढलकर यशोधरा भारतीय नारी के महान आदर्श की चरम सीमा बन जाती है। वह पति के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने वाली देवी है। लेकिन गद्य के विशाल फलक पर वह एक तार्किक और मुखर स्त्री के रूप में सामने आती है। वह पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे पैमानों पर सीधी चोट करने वाली विद्रोही है।

ये दोनों रचनाएं एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। असल में ये एक दूसरे को पूरा करती हैं। गुप्त जी की कविता यदि यशोधरा के हृदय का आख्यान है। यह उसकी भावनाओं का सबसे सुंदर रूप है। तो रांगेय राघव का उपन्यास उसके मस्तिष्क का दस्तावेज है। यह उसकी तार्किकता और जीवन के मोर्चे पर शानदार विजय का प्रमाण है। इंसान केवल भावनाओं या केवल तर्कों से नहीं बनता। वह इन दोनों का मिला-जुला रूप होता है। यशोधरा को उसकी पूरी गहराई में समझने के लिए हमें इन दोनों ही रास्तों से होकर गुजरना पड़ता है। काव्य हमें रुलाता है और उपन्यास हमें सोचने पर मजबूर करता है। यही इन दोनों महान साहित्यकारों की सबसे बड़ी सफलता है। वैराग्य का पलायन भले ही दुनिया को लुभाता हो। लेकिन यशोधरा के सृजन का यथार्थ हमेशा उससे भारी रहेगा। यशोधरा सचमुच जीत गई है।

हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

- प्रकाश, उदय. (2001). तिरिछ. वाणी प्रकाशन।
- प्रकाश, उदय. (2005). पीली छतरी वाली लड़की (द्वितीय संस्करण). वाणी प्रकाशन।
- प्रकाश, उदय. (2006). दत्तात्रेय का दुख. वाणी प्रकाशन।
- प्रकाश, उदय. (2006). पॉल गोमरा का स्कूटर. वाणी प्रकाशन।
- प्रकाश, उदय. (2009). मोहनदास (तृतीय संस्करण). वाणी प्रकाशन।
- प्रकाश, उदय. (2010). और अंत में प्रार्थना. वाणी प्रकाशन।
- प्रकाश, उदय. (2017). अरेबा-परेबा. वाणी प्रकाशन।
- प्रकाश, उदय. (2020). दरियाई घोड़ा (पाँचवाँ संस्करण). वाणी प्रकाशन।

सहायक ग्रंथ

- मधुरेश. (2016). हिन्दी कहानी का विकास (अष्टम संस्करण). सुमित प्रकाशन।
- मिश्र, शिव कुमार. (2009). यथार्थवाद (प्रथम संस्करण). वाणी प्रकाशन।
- यादव, राजेंद्र. (तिथि रहित). कहानी : स्वरूप और संवेदना. वाणी प्रकाशन। (मूल पाठ में प्रकाशन वर्ष उपलब्ध नहीं है)
- राय, गोपाल. (2016). हिन्दी कहानी का इतिहास (पुनरावृत्ति संस्करण). राजकमल प्रकाशन।
- सिंह, विजयमोहन. (2002). आज की कहानी. राधाकृष्ण प्रकाशन।

कृष्ण काव्य परम्परा और सूरदास का काव्य

विनय यादव

शोध सार

हिंदी साहित्य में कृष्णकाव्य परंपरा का महत्वपूर्ण स्थान है। इस परंपरा में भगवान श्रीकृष्ण के जीवन, उनकी बाल लीलाओं, प्रेम, भक्ति तथा लोकमंगल से जुड़े प्रसंगों का वर्णन किया गया है। भक्तिकाल में कृष्णभक्ति की धारा विशेष रूप से विकसित हुई, जिसमें अनेक कवियों ने कृष्ण को अपने आराध्य के रूप में प्रस्तुत किया। इस परंपरा को समृद्ध बनाने में सूरदास का योगदान सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। सूरदास पुष्टिमार्ग के प्रमुख कवि थे। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ सूरसागर कृष्णभक्ति का अद्‌भुत उदाहरण है। उन्होंने कृष्ण के बाल रूप, गोपियों के साथ उनकी लीलाओं, यशोदा के वात्सल्य तथा राधा-कृष्ण के प्रेम का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है। सूरदास की भाषा सरल, मधुर और भावपूर्ण है, जिससे उनका काव्य जनसामान्य के बीच अत्यंत लोकप्रिय हुआ। सूरदास के काव्य में भक्ति के साथ-साथ मानवीय संवेदनाओं का भी सुंदर समन्वय दिखाई देता है। उन्होंने कृष्ण को केवल ईश्वर के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत और निकट पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कृष्णकाव्य परंपरा में सूरदास का स्थान सर्वोच्च है। उनका काव्य भारतीय भक्ति साहित्य की अमूल्य धरोहर है और आज भी साहित्य एवं संस्कृति को प्रेरणा प्रदान करता है।

बीज शब्द

कृष्णकाव्य, परंपरा, लोकजीवन, लोकभाषा, समाज।

मूल लेख

भारतीय काव्य परंपरा में कृष्ण विषयक काव्य की एक अखंड और बहुविस्तृत धारा विद्यमान रही है, जिसका विकास संस्कृत से प्रारंभ होकर अपभ्रंश और तत्पश्चात हिंदी की ब्रज भाषा में परिपुष्ट हुआ। यह परंपरा केवल धार्मिक आख्यानों की पुनरावृत्ति नहीं है, बल्कि भारतीय समाज के भावबोध, सौंदर्यबोध और सांस्कृतिक चेतना का जीवंत अभिव्यक्ति-क्षेत्र है। अपभ्रंश और प्रारंभिक हिंदी में कृष्ण का यह माधुर्य-नायक रूप ही प्रमुख बना रहता है। जयदेव और विद्यापति जैसे कवियों ने भी कृष्ण को मुख्यत: माधुर्य-नायक के रूप में ही प्रतिष्ठित किया, जबकि सूरदास के यहाँ वही कृष्ण एक व्यापक, बहुआयामी और अधिक मानवीय-आध्यात्मिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। यहाँ कृष्ण का स्वरूप केवल श्रृंगारिक नायक तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह वात्सल्य, सख्य और दार्शनिक भक्ति के विविध आयामों से युक्त होकर एक समग्र सांस्कृतिक प्रतीक में परिणत हो जाता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस संदर्भ में लिखा है कि ''सूर का कृष्ण लोकजीवन के भीतर जीने वाला कृष्ण है; वह आकाश का देवता नहीं, घर-आँगन का बालक है।''

यह कथन सूरदास के काव्य की उस मौलिकता को रेखांकित करता है, जिसके कारण कृष्ण पहली बार इतने व्यापक मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित होते हैं। कृष्ण काव्य की परंपरा काफी प्राचीन है। विष्णु के अनेक अवतारों में श्रीकृष्ण को भी एक अवतार माना गया है। श्री कृष्ण का उल्लेख हमें वैदिक साहित्य से ही मिलने लगता है। ऋग्वेद में श्रीकृष्ण का उल्लेख ऋषि या रचयिता के रूप में हुआ है। कौषीतकी ब्राह्मण में कृष्ण आंगिरस का उल्लेख है। छांदोग्योपनिषद में कृष्ण को आंगिरस का शिष्य बताया गया है। उपनिषद के कृष्ण देवकी पुत्र हैं। वैदिक साहित्य में कृष्ण

का जो उल्लेख प्राप्त होता है, उसके आधार पर न तो हम उन्हें अवतार कह सकते हैं और न देवता। वे देवकी पुत्र थे और आंगिरस के शिष्य थे। अपने गुरु (आंगिरस) से उन्होंने ब्रह्म विद्या की दीक्षा ली थी और वे एक मंत्रदृष्ट ऋषि के रूप में स्वीकार किए गए थे।

वैदिक परंपरा से पोषित शास्त्रीय धर्म के स्थान पर भागवत धर्म का उदय हुआ। इसी भागवत धर्म का विकसित रूप वैष्णव धर्म है। लक्ष्य करने की बात यह है कि महाभारत से पूर्व का साहित्य मानव कृष्ण की बात करता है और महाभारत तक आते-आते साहित्य में कृष्ण अवतार स्वीकार कर लिया गया हैं। महाभारत में कृष्ण कथा के अनेक तत्व और सूत्र मिलते हैं। महाभारत के कृष्ण देवत्व की महिमा से मंडित हैं पर उनका मानवीय रूप ही अधिक मुखर है। महाभारत में अनेक स्थलों पर अर्जुन और कृष्ण को नर और नारायण कहा गया है। यहाँ जिस कृष्ण की उपस्थिति है, वे ज्ञानी हैं. पांडवों के सखा, पथप्रदर्शक और सलाहकार हैं। इस काल में कृष्ण का लोकरक्षक रूप विकसित हुआ है।

कृष्ण चरित्र का विस्तृत वर्णन भागवत पुराण में हुआ है। इस पुराण में कृष्ण के सुर संहारक रूप, बाल लीला, रासलीला, राजनीतिवेत्ता, कूटनीतिज्ञ, योगेश्वर और परमब्रह्म स्वरूप की विस्तृत विवेचना हुई है। इस स्कंध में कृष्ण के नाना संस्कारों, अनेक राक्षसों का वध, यमलार्जुन उद्धार, गोचारण, कालियदमन, वंशीवादन, चीरहरण, पनघट लीला, गोवर्धन लीला, नंद-हरण, रासलीला, दान लीला, शंखचूड़ दैत्यवध, अरिष्ट वध, अक्रूर ब्रज आगमन, कुब्जा कथा, धनुर्भग, कुवलया वध, मुष्टि और चाणूर वध, यज्ञोपवीत वर्णन, उद्धव-ब्रज-आगमन, उद्धव-गोपी संवाद, भ्रमरगीत, सुदामा-कृष्ण कथा, कुरुक्षेत्र में कृष्ण का आगमन, गोपी राधा-यशोदा आदि के संवाद और कुरुक्षेत्र यज्ञ आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

पुराणों के बाद लौकिक संस्कृत साहित्य में श्री कृष्ण का उल्लेख आरंभिक व्याकरण ग्रंथों, चंपू काव्यों और नाटकों से मिलने लगता है। पाणिनि के अष्टाध्यायी में वासुदेव का उल्लेख है तो पतंजलि ने अर्जुन और वासुदेव दोनों का उल्लेख किया है। पतंजलि के यहाँ तो कंस वध का वर्णन भी मिलता है। अश्वघोष के (बुद्धचरित्र) में श्रीकृष्ण की लीला माधुरी का उल्लेख है। कालिदास के मेघदूत और कुमार संभव में भी श्रीकृष्ण का उल्लेख मिल जाता है।

क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित्र में तो श्री कृष्ण का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस रचना में श्रीकृष्ण के पराक्रमी, वत्सल, दुष्ट संहारक आदि रूपों पर पर्याप्त मात्रा में लिखा गया है। संस्कृत साहित्य की उक्त रचनाओं में श्री कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप की अद्‌भुत झाँकियाँ हैं। बाद की रचनाओं में कृष्ण के ब्रह्मत्व के साथ उनके माधुर्य रूप का विकास हुआ।

'गीत गोविंद' की रचना जयदेव ने की है। जयदेव की इस रचना को कृष्ण काव्य का नया प्रस्थान कहा गया है। इनके कृष्ण राधा तथा गोपियों से स्नेहभाव रखते हुए भी परमदेव के मूर्तिमान स्वरूप हैं। गीत गोविंद छोटे-छोटे बारह सर्गों में विभाजित रचना है और इसमें तीन मुख्य पात्र हैं- कृष्ण, राधा और उनकी सखी। 'गीत गोविंद' की विशेषता है कि इसमें राधा और कृष्ण धीरे-धीरे सहज मानवीय भावभूमि पर लाए गए हैं। यहाँ राधा-कृष्ण का चरित्र गीतिकाव्य के माध्यम से कोमलकांत पदावलियों में व्यक्त हुआ है।

पालि में रचित जातक कथाओं में भी कहीं-कहीं कृष्ण का उल्लेख मिल जाता है। इन कथाओं में कहीं-कहीं तो कृष्ण का उल्लेख विष्णु के अनेक रूपों के वर्णन के समय हुआ है तो कहीं-कहीं स्वतंत्र रूप से भी। कन्हदीपायन (कृष्ण द्वैपायन) जातक, सोननंद जातक, तेसकुण जातक और घट जातक में कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन है।

प्राकृत साहित्य की गाथा सतसई (गाथा सप्तशती) और हरिवंश चरित में कृष्ण कथा का समुचित विवेचन है। हरि भद्रसूरि के 'नेमिणाथ चरिउ' में श्रीकृष्ण के देवत्व रूप का वर्णन हुआ है।

प्राकृत के बाद अपभ्रंश साहित्य में श्रीकृष्ण का विस्तृत वर्णन हुआ है। स्वयंभू की प्रसिद्ध रचना का नाम रिट्ठनेमिचरिउ है। इस रचना में श्रीकृष्ण का विस्तृत वर्णन हुआ है। भागवत और हरिवंश पुराण के आधार पर श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन करने वाला यह अपभ्रंश का विशेष प्रसिद्ध ग्रंथ है।

12वीं शताब्दी में हेमचंद द्वारा संकलित अपभ्रंश के छंदों में कृष्ण चरित्र का उल्लेख मिलता है। अपभ्रंश के कवियों ने कृष्ण के लौकिक और श्रृंगारी रूप को ही अपनी रचनाओं के लिए अधिक उपयुक्त समझा है। यह इस बात का सूचक भी है कि अब तक श्रीकृष्ण का मानव चरित्र लोक जीवन में पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुका था।

हिंदी में कृष्ण काव्य की परम्परा आदिकाल से ही मिलने लगती है। आदिकाल के प्रसिद्ध कवि चंदबरदाई ने

पृथ्वीराजरासो की रचना की है। यद्यपि यह महाकाव्य पृथ्वीराज की प्रशंसा में लिखा गया है पर इसमें विष्णु के दशावतारों का भी वर्णन है। विष्णु के अन्य अवतारों का वर्णन संक्षिप्त रूप में किया गया है। पर कवि ने कृष्णावतार का व्यापक वर्णन किया है। पृथ्वीराज रासो के दूसरे समय में कृष्णावतार और उनकी मुख्य लीलाओं का वर्णन 262 छंदों में हुआ है। हिंदी साहित्य के इतिहास में आदिकाल तथा मध्यकाल के संधि स्थल पर उपस्थित मैथिल कोकिल विद्यापति अपनी रचनाओं के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हैं। वे अपभ्रंश काव्य भाषा के अंतिम और लोकभाषाओं के पहले महत्वपूर्ण कवि हैं। विद्यापति पहले कवि हैं जिन्होंने लोकभाषा में कृष्णकाव्य लिखा। इनके यहां राधा कृष्ण मानवीय भूमि पर दो प्रेमियों के रूप में विद्यमान हैं। विद्यापति के अनेक पद हैं जिनमें कृष्ण और राधा नायक नायिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं-

नंदक नंदन कदंबेरी तरुतरे, धिरे धिरे मुरलि बोलाव
समय संकेत निकेतन बंइसल, बेरि बेरि बोलि पठाव
सामरि तोरा लागि अनुखने बिकल मुरारि
जमुनाक तिर उपवन उदबेगल
फिरि फिरि ततहि नीहारि

विद्यापति राधाकृष्ण को नायक और नायिका के रूप में उपस्थित किया है, उनके कृष्ण ईश्वर नहीं सिर्फ एक प्रेमी हैं। वे संयोग और वियोग को जिस उत्कृष्टता के साथ वर्णित करते हैं उसे देखकर एक बात स्पष्ट है कि विद्यापति ने राधा कृष्ण के प्रेम को जो ऊंचाई दी है वह आगे के कवियों के लिए प्रेरणाश्रोत बना।

विद्यापति के बाद भक्तिकाल के वल्लभ संप्रदाय के साहित्य में कृष्ण भक्ति को विशेष महत्व प्राप्त हुआ। वल्लभाचार्य ने शकर के मायावद का खंडन करके सगुण ब्रह्म के अवतारों के प्रति लोगों के हृदय में श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न किया। इनके द्वारा प्रवर्तित भक्ति का सिद्धांत पक्ष शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है और इसका साधना पक्ष पुष्टिमार्ग। वल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति पर आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि-प्रेमसाधना में बल्लभ ने लोकमर्यादा और वेदमर्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेम लक्ष्णा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान का अनुग्रह होता है जिसे पोषण या पुष्टि कहते हैं। इसी से वल्लभाचार्य ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टिमार्ग' रखा है।

सूरदास ने अपनी रचनाओं में कृष्ण-जन्म, उनकी बाल क्रीड़ाओं, गोचारण, राधा और गोपियों के साथ प्रेम-क्रीड़ा, अनेक असुरों को वध, गोवर्धन धारण, मथुरा-गमन, कंस वध, द्वारिका गमन और कुरुक्षेत्र में राधा ओर गोप-गोपियों से पुनर्मिलन का प्रभावी चित्रण किया है। रैदास के कृष्ण पूर्णब्रह्म हैं। उनकी भक्ति सख्य भाव की है। उनके साहित्य में विनय और दास्य भाव के पद कम हैं, किंतु कृष्ण काव्य में इन पदों का विशेष महत्व है। उनके भगवान भक्तों की पुकार पर दौड़ पड़ते हैं। सूरदास के कृष्ण की घोषणा है-

हम भक्तन के भक्त हमारे।
भक्तै काज लाज हिय धरिकै पांय पयोद धाऊँ।
जहँ-जहँ पीर पड़े भक्तन पै तहँ-तहँ जाय छुड़ाऊँ।

सूर ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म माना है। उनके अनुसार संपूर्ण ब्रह्मांड में श्रीकृष्ण ही व्याप्त हैं, कोई दूसरा नहीं। ब्रह्म के इसी रूप का चित्रण करते हुए सूरदास ने लिखा है-

सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि, माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन, सब है अंश गुपाल॥

यही ब्रह्म भक्तों को आनंद प्रदान करने के लिए अवतार लेते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने भक्तों को आनंद प्रदान करने के उद्देश्य से ही अपनी समस्त शक्तियों सहित वृंदावन में अवतार लिया है। सूरदास ने श्रीकृष्ण की लीला तथा विस्तार के संबंध में लिखा है-

खेलत-खेलत चित्त में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपने आप हरि प्रगट कियो हैं हरि पुरुष अवतार॥

सूरदास पूर्णतया पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। ब्रह्म की कृपा प्राप्ति के पश्चात ही जीव सर्व समर्थ होता है। वह कुछ भी कर सकने में सक्षम हो जाता है। सूरदास कहते हैं—

चरन कमल वंदौ हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंध, अंधे को सब कुछ दरसाई।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।

सूरदास के ब्रह्म, भक्तों को सुख देने के लिए लीला करने के लिए अवतरित हुए हैं। वे अव्यक्त हैं, निराकार हैं। सूरदास ने अव्यक्त को छोड़कर सगुण ब्रह्म के गुणों का गान इसलिए किया है क्योंकि 'अविगत की गति कहत न आवै' अर्थात् अव्यक्त की गति को शब्दों द्वारा व्यक्त करना कठिन है।

सूरदास ने ब्रह्म के विषय में विचार करके अपना मत इस प्रकार स्पष्ट कर दिया-

सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन पद गावै।

सूरदास के वात्सल्य वर्णन का कोई साम्य नहीं है। बालकों

के प्रवृत्ति और मनोविज्ञान का जितना सूक्ष्म और स्वाभाविक वर्णन इन्होंने किया है उतना हिंदी साहित्य के किसी भी अन्य कवि ने नहीं किया है। तुलसी भी इस मामले में सूर की बराबरी नहीं कर पाए हैं। इस विषय पर शुक्ल जी इस पर लिखते हैं कि –

''गोस्वामी तुलसीदास ने गीतावली में बाल लीला को इनकी देखादेखी बहुत विस्तार दिया सही पर उसमें बालसुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालक चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं।''

सूरदास के यहां कृष्ण के बाल लीला की चेष्टाएं सहज ही कविता में प्राण भर देते हैं। यशोदा कृष्ण को पालने में झुला रही हैं और दुलार कर रही हैं –

जसोदा हरि पालने झुलावै
हलरावै दुलराई मल्हावै जोई सोई कछु गावै
मेरे लाल को आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै
तू काहे नहि बेगही आवै, तोको कान्ह बुलवै।

सूर का काव्य श्रृंगार की दृष्टि से भी बेजोड़ है। हिंदी साहित्य में श्रृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्णरूप से दिखाया तो सूर ने। सूरदास का श्रृंगार वर्णन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि वह जीवन की परिस्थितियों के बीच आकार लेता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, ''यह जीवानोत्सव का काव्य है। यदि हम नाटकीय और अस्वाभाविक परिस्थितियों के बीच उपजे और विकसित होने वाली प्रेमकथाओं से सूर के प्रेम दृश्यों की तुलना करते हैं तब इसका फर्क साफ समझ में आता है। जीवानोत्सव के इस प्रेम में लोकजीवन के मनोरम दृश्यों की लाजवाब मौजूदगी है। जीवन की सहज परिस्थितियाँ जैसे साथ खेलने, गाय चराने आदि के बीच स्वाभाविक रूप से कृष्ण और गोपियों की चाहत भरी नजरें एक–दूसरे का दीदार करती हैं और इश्क परवान चढ़ता है। इसे और बेहतर ढंग से समझने के लिए हम आचार्य शुक्ल के विश्लेषण को उद्धृत कर सकते हैं,

''सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। बालक्रीड़ा के सखा सखी आगे चलकर यौवन क्रीड़ा के सखा–सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा–

'लरिकाई को प्रेम कहौ अलि, कैसे छूटे?'

केवल एक साथ रहते–रहते भी दो प्राणियों में स्वाभावत: प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे सुंदरता में भी अद्वितीय थे। अत: गोपियों के प्रेम का क्रमश: विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है।''

सूरदास के कविता में ऐसे दृश्यों की भरमार है जिसमें स्वाभाविक स्थितियों के बीच प्रेम के जन्मने और विकसित होने की कहानी है –

बूझत श्याम कौन तू गोरी
कहां रहती काकी है बेटी? देखी नाहीं कहूं ब्रज खोरी।

यह स्वाभाविक ढंग से परिचय की शुरुआत है लेकिन आगे चलकर यह परिचय और गहराता है। ब्रज के कुंजों करीलों में यमुना के तट पर और ब्रज की गलियों में इस प्रेम के अनगिनत दृश्यों को सूर ने अपनी कविता के माध्यम से जुबान दी है।

सूर ने विरह वर्णन में बहुत प्रतिष्ठा हासिल की है। इन्होंने भ्रमरगीत में गोपियों की वचन विदग्धता और निरीह विवशता को बहुत ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। सूरदास ने गोपियों के विरह को बेहद मारक बिंब से मूर्तिमान किया है। विरह में रात–साँपिन डसती हुई सी लगती है। साँपिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है। लोक में मशहूर है सश्वपिन डस कर उलट जाती है। सूर की गोपियों को पिया के बिना बरसात की अँधेरी रात में कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है वह दृश्य ऐसा ही लगता है–

पिया बिनु साँपिन कारी राति।
कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया डसि उलटी हवै जाति॥

आचार्यों ने विरह की एकादश दशाओं का उल्लेख किया है– अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मृत्यु। सूरदास ने विरह वर्णन में इन प्रत्येक दशाओं का मार्मिक चित्रण किया है जहाँ भाव–व्यंजना और रूप वर्णन अपने विशिष्ट अंदाज में उपस्थित है।

साहित्य में कृष्ण काव्य की परम्परा हमें संस्कृत साहित्य से ही मिलने लगती है। कृष्ण महाभारत काल के पहले तक ब्रह्म के रूप में वर्णित नहीं मिलते हैं। सर्वप्रथम महाभारत में उन्हें ब्रह्म या नारायण का रूप माना गया है।

इस काल में कृष्ण एक लोक रक्षक के रूप में नजर आते हैं। कृष्ण चरित का विस्तृत वर्णन सर्वप्रथम भागवत पुराण में मिलता है। यहां उन्हें एक कुशल राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ, योगेश्वर और परब्रह्म के रूप में किया गया है। इसमें इनके

लीला का भी वर्णन मिलता है। पुराणों के बाद लौकिक साहित्य में भी कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप की ही चर्चा मिलती है। इसके बाद की रचनाओं में कृष्ण के ब्रह्मत्व के साथ उनके माधुर्य रूप का भी विकास हुआ। इसकी शुरुआत जयदेव के यहां से हो जाती है। इनके कृष्ण परमतत्व होते हुए भी गोपियों के साथ सहज मानवीय भूमि पर माधुर्य रूप में विद्यमान हैं।यही स्थिति विद्यापति के यहां भी है लेकिन इनके कृष्ण सिर्फ प्रेमी हैं ईश्वर नहीं।

सूरदास के यहां कृष्ण के इस मानवीकरण के साथ-साथ भक्ति का एक नया आयाम भी विकसित होता है। उनके कृष्ण एक ऐसे समन्वित रूप में दिखाई देते हैं जिनमें बालक, प्रेमी, ईश्वर और लोक जीवन के सभी तत्व समान रूप से विद्यमान हैं। जयदेव, विद्यापति के यहां जो कृष्ण मुख्यत: शृंगारी नायक थे इनके यहां वे परब्रह्म हैं जो लीला करने के लिए जगत में अवतरित हुए हैं।

सूर द्वारा कृष्ण को अपजीव्य बनाने का प्रभाव व्यापक सामाजिक और संस्कृतिक स्तर पर भी परिलक्षित होता है। उन्होंने ब्रज को अपने काव्य का माध्यम बना कर भक्ति को जनसामान्य तक पहुंचाया है। इससे भक्ति का लोकतांत्रिकरण हुआ और समाज के प्रत्येक वर्ग को ईश्वर से जुड़ने का अवसर प्राप्त हुआ है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आधार ग्रंथ - सूरसागर

संदर्भ ग्रन्थ -

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल
2. हिंदी साहित्य का भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी
3. हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास - हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. सूरदास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल
6. सूरसाहित्य - हजारी प्रसाद द्विवेदी
7. हिंदी साहित्य और संवेदना का इतिहास - रामस्वरूप चतुर्वेदी
8. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - बच्चन सिंह

भारतीय भक्ति आंदोलन और श्रीमंत शंकरदेव

गरिमा रानी

शोध सार

इस शोध आलेख में भारतीय भक्ति आंदोलन का सूत्रपात कैसे हुआ तथा धीरे-धीरे भक्ति आंदोलन ने सांस्कृतिक चेतना का रूप कैसे धारण किया। शंकरदेव का योगदान केवल भक्ति तक सीमित नहीं था; उन्होंने असम को साहित्य, नाट्य, संगीत, नृत्य और सामाजिक सुधार के माध्यम से एक नई सांस्कृतिक पहचान दी। उनका ''एकशरण नववैष्णव धर्म'' असम की धार्मिक-सामाजिक संरचना को नई दिशा देने वाला सिद्ध हुआ। इस शोधपत्र का उद्देश्य भक्तिकाल की पृष्ठभूमि में शंकरदेव की भूमिका का विश्लेषण करना है।

प्रस्तावना

भक्ति आंदोलन ने मध्यकाल में जो राजनीतिक अराजकता, धार्मिक आडंबर, जातिगत भेदभाव और सामाजिक विखंडन से चिन्हित काल था। भक्ति आंदोलन लोगों में आस्था, सद्भाव और लोकप्रिय आध्यात्मिकता को प्रोत्साहित किया। इस आंदोलन ने कर्मकांडों और दिखावे को चुनौती दी और भक्ति को दैनिक जीवन में एक केंद्रीय भूमिका प्रदान की। भक्ति आंदोलन के मूल में यह विश्वास था कि ईश्वर तक पहुँचना सरल है। इसके लिए जटिल अनुष्ठानों, कठोर तपस्या या जातिगत बंधनों की आवश्यकता नहीं है। केवल भक्ति, प्रेम और नाम-स्मरण ही ईश्वर तक ले जा सकते हैं। इस विश्वास ने इस आंदोलन को भारत के प्रत्येक गाँव और कस्बे तक फैलाने में मदद की और सभी सामाजिक समूहों ने इसे अपनाया।

भारतीय इतिहास के सांस्कृतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य में भक्ति आंदोलन (7वीं से 17वीं शताब्दी) एक अद्वितीय जागरण का प्रतीक है। यह केवल धार्मिक साधना तक सीमित नहीं था, बल्कि सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक नवजागरण और भाषाई विकास का व्यापक आंदोलन था। भक्ति ने धर्म को जनसामान्य के लिए सहज और सरल बनाया। इसका स्वरूप सामाज-सुधारक, समरसतावादी और मानवतावादी था। भक्ति आंदोलन के कारण ही भारत की विभिन्न भाषाओं में भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ, जिसने आगे चलकर भारतीय सांस्कृतिक एकता और विविधता को मजबूती प्रदान की।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति काल के उदय के कारणों पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी साहित्य का इतिहास में लिखा है कि ''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[1] भक्ति का उदय दक्षिण भारत में हुआ, लेकिन विकास क्रम में यह समूचे भारत में अत्यन्त प्रभावशाली रूप से प्रकट हुई।

'भक्ति द्राविड़ उपजी लाए रामानन्द'।[2]

आलवार सन्तों की परम्परा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव 11 वीं शताब्दी में हुआ। रामानुजाचार्य की चौथी-पाँचवीं शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द (सन् 1400-1470) हुए। रामानन्द ने भक्ति को देश, वर्ण तथा जातिगत भेद से ऊपर उठाया, सामान्य मनुष्य को सुलभ सगुण भक्ति का अधिकारी माना। वस्तुतः मध्यकाल की स्वतन्त्र चिन्तनधारा के जनक स्वामी रामानन्द ही थे। उन्होंने ही भक्ति का प्रचार सम्पूर्ण उत्तर भारत में किया।

आचार्य शुक्ल के मत का प्रतिकार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा, ''मुसलमानों के अत्याचार के कारण भक्ति की भावधारा को अगर उमड़ना था तो पहले उसे

सिन्ध और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में, इसलिए अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भक्ति का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।''[3]

'उत्तरमध्यकालीन भक्ति आंदोलन केवल धार्मिक आध्यात्मिक आंदोलन नहीं था। वह देश के एहिक उत्थान का नव्य विधान भी था। इस्लामी आक्रमण से उत्पन्न विघटनशील स्थिति में संरक्षण की चिंता आवश्यक और गंभीर हो गई। विकेंद्रित राजनैतिक शक्ति के उस युग में सम्पूर्ण समाज-तंत्र का मेरुदंड था, धर्म-अध्यात्म और भक्ति-आचार, जिसका संरक्षण एवं नवीन रूप से संगठन-समन्वयन और संवर्धन करना अनिवार्य हो गया। अत: धार्मिक उत्साह वक्तव्य बना, उसका नवें व्याकरण व्याकृत हुआ भक्ति आंदोलन के रूप में जागरण महत्वपूर्ण हो गया।'[4]

भक्ति आंदोलन को समग्र रूप से देखने पर, हम पाते हैं कि यह केवल एक धार्मिक क्रांति ही नहीं, बल्कि एक सामाजिक-सांस्कृतिक नवीनीकरण भी था। दक्षिण भारत के अलवर-नयनार, उत्तर भारत के कबीर, तुलसी, सूरदास, मीरा, पंजाब के गुरु नानक, बंगाल और ओडिशा के चौतन्य महाप्रभु और पूर्वोत्तर भारत के श्रीमंत शंकरदेव जैसे प्रभावशाली संतों ने इस परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इन संतों में, शंकरदेव का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने असमिया समाज को धार्मिक आडंबरों से मुक्त कराया और साहित्य, नाटक, संगीत, नृत्य और कला के प्रति एक नई चेतना का संचार किया। अत: भक्ति आंदोलन और शंकरदेव का संबंध धार्मिक होने के साथ-साथ गहन सांस्कृतिक और सामाजिक भी है।

भक्ति आंदोलन का मुख्य ध्येय एकेश्वरवाद था जिसका मुख्य उद्देश्य ईश्वर की एकता और सर्वव्यापकता पर बल था। उन्होंने भक्ति को मुक्ति का सर्वोत्तम साधन माना। उन्होंने जातिवाद और कर्मकांड का विरोध करते हुए समाज में समरसता और बंधुत्व की स्थापना की। लोकभाषाओं का प्रयोग किया। आचार्य की भाषा संस्कृत की जगह क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य रचना की। ब्रज, अवध, असमिया, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का विकास हुआ। विभिन्न भक्ति काव्य जैसे - रामचरितमानस, सूरसागर, कीर्तनघोषा, ज्ञानेश्वरी, रुक्मिणी-हरण आदि रचित किए गए। इसके अलावा अन्य सांस्कृतिक क्षेत्र जैसे संगीत और कला बोरगीत, कीर्तन, भक्तिगीत, नृत्य और नाट्य परंपरा आदि भी पुष्पित और पल्लिवत हुए। इन रचनाओं और कलाओं के माध्यम से भक्त संतों ने मानवतावाद और समरसता की स्थापना करते हुए सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखना प्रारंभ किया और वही दृष्टि उन्होंने समाज को भी दी।

असम का भक्ति आंदोलन और श्रीमंत शंकरदेव का योगदान

15वीं शताब्दी में असम जातिगत विभाजन, तांत्रिक अनुष्ठानों और ब्राह्मणवादी कर्मकांडों से ग्रस्त था। समाज में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का ह्रास हो रहा था। इस संदर्भ में भक्ति आंदोलन ने एक नयी सांस दी। भक्ति चेतना ने भगवान की प्राप्ति को कर्मकांड से हटाकर प्रेम और समर्पण पर केंद्रित किया।

असम में भक्ति आंदोलन का नेतृत्व श्रीमंत शंकरदेव (1449-1568) ने किया। उन्होंने ''एक शरण धर्म'' की स्थापना की। शंकरदेव ने एकेश्वरवाद और कृष्णभक्ति का प्रचार किया। उन्होंने समाज के सभी विभाजीत समूहों चाहे वह जाति भेद हो, या लिंग भेद हो सभी का विरोध किया और समाज को एकसूत्र में बांधा। उन्होंने सांस्कृतिक धरोहरें जैसे नामघर और सत्र परंपरा की स्थापना की। जिसमें विभिन्न कलाओं का सृजन जैसे भाओना (धार्मिक नाट्य), बरगीत (भक्ति गीत) और कीर्तनघोषा आदि किया गया। शंकरदेव ने असम में भक्ति आंदोलन को सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का माध्यम बनाया। श्रीमंत शंकरदेव का भक्ति आंदोलन केवल धार्मिक सुधार का प्रयास नहीं था, बल्कि यह सामाजिक विषमताओं, जातिवाद, कर्मकांड और अंधविश्वासों के विरुद्ध एक सशक्त प्रतिक्रिया थी। इसने समाज को एक नयी चेतना प्रदान की और लोकजीवन के हर क्षेत्र भाषा, साहित्य, संगीत, नाटक, कला और लोकसंस्कृति को प्रभावित किया। पूर्वोत्तर भारत में असम के महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव ने न केवल धर्म बल्कि साहित्य, कला और समाज में भी एक पुनर्जागरणकारी भूमिका निभाई।

15वीं शताब्दी का असम धार्मिक जागरण और भक्ति आंदोलन का स्वर्णकाल था। ''भक्ति आंदोलन का सबसे बड़ा योगदान यह था कि इसने साधारण जन को धार्मिक अनुभूति के अधिकार से जोड़ दिया''[5] यद्यपि इस युग के केंद्र में महापुरुष शंकरदेव रहे, लेकिन उनके समकालीन और अनुयायी संतों तथा भक्तों ने भी इस आंदोलन को व्यापक जनसमर्थन और सांस्कृतिक विस्तार प्रदान किया।

शंकरदेव-पूर्व असम का सामाजिक-धार्मिक परिदृश्य में शाक्त और तांत्रिक साधनाओं का प्रभुत्व पूरे असम में फैला हुआ था। पूर्व मध्य-कालीन समाज में बलिप्रथा और यज्ञ जैसी प्रथाएँ आम हो गई थी। जातिगत भेदभाव और सामाजिक ऊँच-नीच पूरे समाज में विद्यमान था। स्त्रियों का धार्मिक जीवन में कोई भूमिका नजर नहीं आती थी। सांस्कृतिक स्तर पर एकता और संगठन का अभाव था। ऐसा सामाजिक परिदृश्य में ऐसे सुधारक की आवश्यकता थी जो समाज को भक्ति और समानता की धारा में प्रवाहित कर सके। ऐसे समय में ही श्रीमंत शंकरदेव अवतरित होते है।

श्रीमंत शंकरदेव का जन्म 1449 ई नगांव (असम) में हुआ था। उन्होंने वेद, पुराण, न्याय और दर्शन का अध्ययन बहुत कम उम्र में ही कर लिया था। उनकी तीर्थयात्राओं ने उन्हें व्यापक दृष्टिकोण दिया। उन्होंने ''एकशरण नाम धर्म'' की स्थापना की। उन्होंने भक्ति के लिए विष्णु/कृष्ण का आश्रय लिया। उन्होंने भक्ति के लिए नाम-संकीर्तन, सामूहिक भक्ति और साहित्यिक-सांस्कृतिक साधन का प्रयोग किया। ''शंकरदेव का भक्तिधर्म जीवन से अलग नहीं, जीवन के साथ चलने वाला धर्म है। यह आडंबरहीन ही नहीं, सहज भी है।''[6] उनके सहज भक्ति धर्म का एक ही मंत्र था -

''एक देउ, एक सेउ, एके बिना नाहि केउ।''[7]

शंकरदेव का साहित्य केवल काव्य या नाटक नहीं, बल्कि भक्ति की जीवंत धारा है।

उनकी रचनाओं ने असम को भक्ति आंदोलन से जोड़ा और समाज को समानता, नैतिकता और भक्ति के मूल्यों पर संगठित किया। उत्तर भारत के संतों की तरह शंकरदेव ने भी साहित्य को भक्ति-प्रचार का उपकरण बनाया। उनके साहित्य ने असम को नववैष्णव धर्म की नींव दी। सत्र और नामघर की परंपरा उनके साहित्यिक योगदान का प्रत्यक्ष परिणाम है। उनका साहित्य असमिया समाज को एक धार्मिक-सांस्कृतिक पहचान प्रदान करने में सफल रहा। श्रीमंत शंकरदेव की भाषा सरल, प्रवाहमयी और लोकजीवन से जुड़ी हुई थी, जिसने असमिया साहित्य को नयी पहचान दी। शंकरदेव के समग्र साहित्य की बात करें तो उनमें सार्वभौमिकता, सरलता, सामूहिकता, भावात्मकता, और नैतिक शिक्षा आदि का संयोजन है।

श्रीमंत शंकरदेव का यह मानना था कि मानव जीवन का कल्याण कृष्ण की भक्ति में ही निहित है। शंकरदेव की भक्ति समग्र मानव जाति के हित को लेकर है। उनकी भक्ति के मूल में 'सर्वजन हिताय' है। उनके अनुयायी, उनके शिष्य माधवदेव का मत भी अपने गुरु के समान ही था-

''केवल भकति पुरुषक तारेय सहाय काको नचावे।
ज्ञान कर्म तावे तारिते ना पारेय भकति न पावे जबे॥''

अर्थात् मानव जाति का उद्धार सिर्फ भक्ति से ही संभव है, ज्ञान और कर्म से मानव जीवन की बेणी पार नहीं हो सकती। भक्ति से मुक्ति का द्वार संभव है।

श्रीमंत शंकरदेव केवल संत या भक्त नहीं थे - वे 'संस्कृति पुरुष' थे। उनका साहित्य न केवल धार्मिक मार्गदर्शन देता है, बल्कि सौंदर्य, संगीत, और सामाजिक समरसता का संदेश भी देता है। महेश्वर नेओग के अनुसार, "Śaṅkaradeva's legacy transcends time and continues to inspire generations with the ideals of devotion] equality, and cultural pride."[9]

शंकरदेव का सांस्कृतिक योगदान केवल व्यक्तिगत नहीं रहा। उन्होंने संगठित धार्मिक-सांस्कृतिक संस्था - 'नामघर' और 'सत्र' की स्थापना की, जो आज भी असम के सांस्कृतिक जीवन की धुरी हैं। उन्होंने 'मठों और सत्रों में मूर्तिहीन पूजा' के लिए कला और चित्रों को माध्यम बनाया। उन्होंने मुखौटे, परिधान, बांस के अनेक हस्तकलाओं आदि के माध्यम से लोक-शिल्प को धार्मिक अभिव्यक्ति दी। श्रीमंत शंकरदेव भी स्वयं एक कुशल चित्रकार थे। उनका ''चिह्ना यात्रा'' नामक नाट्य प्रदर्शन भारत में विजुअल थिएटर का एक प्रारंभिक और मौलिक उदाहरण था। जिसमें पेंटिंग, मास्क और रंगमंचीय सेट का अद्‌भुत समावेश किया। डॉ. पीताम्बर देव गोस्वामी के अनुसार "Mahapurush sankardeva was- aesthetic, artist, sportsman, yoga expert, river specialist, a person capable of turning the weather and environment favourable, weaver artist, playwright, lyricist, composer, poet, actor, teacher, architect, sculptor, dancer, instrumentalist, traveller, propagator, philosopher and Sanskrit scholar."[10]

निष्कर्ष

हम देखते हैं कि भक्तिकाल का मूल उद्देश्य समाज को जातिवाद, अंधविश्वास और धार्मिक आडंबर से मुक्त कर समानता और भक्ति की ओर ले जाना था। इस दिशा में अन्य भक्त कवि और संतों की भांति श्रीमंत शंकरदेव का योगदान

भी बहुआयामी और अद्वितीय है। उन्होंने असम को न केवल एकशरण नववैष्णव धर्म दिया, बल्कि उसे साहित्य, नाट्य, गीत-संगीत और नृत्य की नई सांस्कृतिक पहचान भी प्रदान की। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि समाज के हर एक अंग में उनकी सहभागिता अग्रणी रही है। उनका योगदान न केवल असम तक सीमित है बल्कि भारत के भक्ति आंदोलन की धारा में भी एक अत्यंत चमकता हुआ तारा है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

उनकी परंपरा आज भी असम के सत्र और नामघर में जीवित है। इस दृष्टि से वे भारतीय भक्ति आंदोलन के पूर्वोत्तर भारत के प्रमुख स्तंभ हैं, जिनका योगदान राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. वही
3. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास - हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. भारतीय भक्ति आंदोलन और श्रीमंत शंकरदेव - प्रो. सूर्यकांत त्रिपाठी, पृ.-29
5. Sankardev and his philosophy of bhakti – Hiteshwar Sharma, pg- 45
6. महाकवि शंकरदेव विचारक एवं समाज सुधारक - डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद मागध, पृ.-183
7. वही, पृ.-183
8. महाकवि शंकरदेव विचारक एवं समाज सुधारक - डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद मागध, पृ.-175
9. Early history of the Vaishnav faith and movement in assam: Sankaradeva and his times – Maheswar Neog, Pg-305
10. The blazing talent Srimanta Shankardeva - Dr. Pitamber Dev Goswami, Pg- 09

निवेदिता

भोजन, भूख और सामाजिक असमानता : 'पाँचवाँ पराठा' शॉर्ट फिल्म के विशेष संदर्भ में

शोध सार

''भोजन, भूख और सामाजिक असमानता : पाँचवाँ पराठा शॉर्ट फिल्म के विशेष संदर्भ में'' विषयक यह शोध-पत्र समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता, भूख की समस्या तथा संसाधनों के असमान वितरण का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पाँचवाँ पराठा एक ऐसी मार्मिक लघु फिल्म है जो भोजन जैसी मूलभूत आवश्यकता के माध्यम से समाज के वर्गीय विभाजन और मानवीय संवेदनाओं को उजागर करती है। फिल्म में एक साधारण से प्रतीत होने वाले पराठे को केंद्र में रखकर यह दर्शाया गया है कि समाज के विभिन्न वर्गों के लिए भोजन का अर्थ और महत्व किस प्रकार भिन्न होता है। जहाँ एक ओर सम्पन्न वर्ग के लिए भोजन सामान्य उपभोग की वस्तु है, वहीं दूसरी ओर वंचित वर्ग के लिए यह जीवन-निर्वाह और अस्तित्व का प्रश्न बन जाता है।

यह अध्ययन गुणात्मक शोध-पद्धति पर आधारित है, जिसमें फिल्म के कथानक, पात्रों, संवादों तथा प्रतीकों का विश्लेषण किया गया है। शोध से स्पष्ट होता है कि भूख केवल शारीरिक आवश्यकता नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, मानवीय गरिमा और समान अवसरों से जुड़ा हुआ प्रश्न है। फिल्म यह संकेत करती है कि आर्थिक असमानता केवल आय के स्तर तक सीमित नहीं रहती, बल्कि यह व्यक्ति के जीवन, अवसरों और सम्मान को भी प्रभावित करती है।

मूल शब्द

भूख, सामाजिक असमानता, आर्थिक विषमता, वर्ग विभाजन, मानवीय संवेदना, भोजन, सामाजिक न्याय, लघु फिल्म, वंचित वर्ग, गरिमा।

मूल आलेख

शॉर्ट फिल्म : परिचय

शॉर्ट फिल्म सिनेमा की एक महत्त्वपूर्ण विधा है, जो सीमित समयावधि में किसी विचार, समस्या, अनुभव अथवा संवेदना को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। सामान्यत: ''40 मिनट या उससे कम अवधि की फिल्म को शॉर्ट फिल्म माना जाता है।''[1] शॉर्ट फिल्म का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं होता, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय प्रश्नों पर विचार उत्पन्न करना भी होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कम समय में यह गहन संदेश और व्यापक प्रभाव छोड़ने में सक्षम होती है।

''शॉर्ट फिल्मों का इतिहास वस्तुत: सिनेमा के इतिहास जितना ही पुराना है। सिनेमा के प्रारम्भिक दौर में लगभग सभी फिल्में लघु अवधि की होती थीं। वर्ष 1895 में फ्रांस के लुमिएर बंधुओं द्वारा प्रदर्शित Workers Leaving the Lumière Factory को विश्व सिनेमा की आरम्भिक फिल्मों में गिना जाता है।''[2] आरम्भिक तकनीकी सीमाओं के कारण उस समय फिल्में कुछ सेकंड अथवा कुछ मिनटों की ही होती थीं। बाद में जब कथा-प्रधान फीचर फिल्मों का विकास हुआ, तब भी शॉर्ट फिल्मों ने अपनी स्वतंत्र पहचान बनाए रखी। आज शॉर्ट फिल्में सामाजिक जागरूकता, वैकल्पिक अभिव्यक्ति और रचनात्मक प्रयोग का सशक्त माध्यम बन चुकी हैं।

प्रख्यात फिल्म समीक्षक और इतिहासकार पामेला हचिन्सन ने ''लुमिएर बंधुओं की फिल्मों को केवल तकनीकी आविष्कार नहीं, बल्कि मानवीय जीवन के सूक्ष्म क्षणों को दर्ज करने वाली कलात्मक अभिव्यक्ति माना है।''[3] उनके अनुसार

आरम्भिक लघु फिल्में दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं को असाधारण संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती हैं। यही विशेषता आधुनिक शॉर्ट फिल्मों में भी दिखाई देती है।

इसी परम्परा में 'पाँचवाँ पराठा' एक महत्त्वपूर्ण शॉर्ट फिल्म के रूप में उभरती है। यह फिल्म भोजन, भूख और सामाजिक असमानता जैसे गंभीर प्रश्नों को अत्यंत सरल किन्तु प्रभावशाली कथा के माध्यम से प्रस्तुत करती है। फिल्म में 'पराठा' केवल भोजन का प्रतीक नहीं है, बल्कि वह समाज में उपलब्ध संसाधनों, अवसरों और वर्गीय विभाजन का भी प्रतिनिधित्व करता है। एक ओर जहाँ कुछ लोगों के लिए भोजन सामान्य आवश्यकता है, वहीं दूसरी ओर अनेक लोगों के लिए यह संघर्ष और अस्तित्व का प्रश्न बना हुआ है। इस प्रकार पाँचवाँ पराठा शॉर्ट फिल्म भी उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है जो सीमित समय में व्यापक सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखती है। यह फिल्म दर्शकों को भूख, गरीबी और सामाजिक विषमता के प्रति संवेदनशील बनाते हुए सामाजिक न्याय और मानवीय समानता के प्रश्नों पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करती है।

पाँचवाँ पराठा और सामाजिक असमानता

सामाजिक असमानता से तात्पर्य - समाज में संसाधनों, अवसरों, प्रतिष्ठा तथा शक्ति के असमान वितरण से है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री एंथनी गिडेन्स के अनुसार, ''सामाजिक असमानता वह स्थिति है जिसमें समाज के विभिन्न समूहों के बीच संसाधनों और अवसरों का वितरण समान नहीं होता।''[4] सामाजिक असमानता केवल आर्थिक अंतर तक सीमित नहीं रहती, बल्कि यह शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन, आवास, जाति, वर्ग तथा लिंग जैसे अनेक क्षेत्रों में दिखाई देती है। विशेष रूप से भोजन और भूख का प्रश्न सामाजिक असमानता का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है, क्योंकि समाज के सभी लोगों को समान रूप से खाद्य संसाधन उपलब्ध नहीं हो पाते। इसी संदर्भ में 'पाँचवाँ पराठा' शॉर्ट फिल्म समाज के उस यथार्थ को प्रस्तुत करती है, जहाँ भूख और भोजन की समस्या के माध्यम से सामाजिक विषमता के विभिन्न रूप उजागर होते हैं। यह फिल्म दर्शाती है कि भोजन केवल एक जैविक आवश्यकता नहीं है, बल्कि यह सामाजिक और आर्थिक असमानताओं का भी एक महत्त्वपूर्ण संकेतक है।

संजय गुप्ता द्वारा निर्देशित शॉर्ट फिल्म पाँचवाँ पराठा की आरंभिक संरचना ही भूख, अभाव और सामाजिक असमानता की त्रासदी को अत्यंत मार्मिक ढंग से उद्घाटित करती है। फिल्म का प्रारम्भ एक ऐसे दृश्य से होता है जहाँ बालिका बिट्टी विद्यालय में अपने मित्र के ताने का सामना करती है। उसका मित्र कहता है ''तू भी तो कभी खाना लाया कर, हर रोज हम ही खिलाएँ क्या?''[5] यह संवाद केवल बच्चों के बीच की सामान्य बातचीत नहीं है, बल्कि आर्थिक विषमता के कारण उत्पन्न सामाजिक अपमान और आत्महीनता की भावना को अभिव्यक्त करता है। एक दिन भोजन साझा करने का उपकार भी किस प्रकार किसी व्यक्ति की गरिमा को आहत कर सकता है, फिल्म इस स्थिति को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती है।

फिल्म की पृष्ठभूमि 1970 के दशक के कानपुर की मिलबंदी से जुड़ी है, जब अनेक श्रमिक परिवार बेरोजगारी और भुखमरी की स्थिति में पहुँच गए थे। इसी सामाजिक-आर्थिक संकट का प्रभाव बिट्टी के परिवार पर भी दिखाई देता है। विद्यालय से अपमानित होकर लौटने के बाद बिट्टी भूख और क्रोध से व्याकुल होकर घर में रखे बर्तनों को उलट-पुलट कर देखने लगती है, किन्तु उसे कहीं भी खाने के लिए कुछ नहीं मिलता। यह दृश्य केवल एक बालिका की क्षणिक निराशा नहीं, बल्कि उस वर्ग की सामूहिक पीड़ा का प्रतिनिधित्व करता है जिसके लिए भोजन जैसी मूलभूत आवश्यकता भी एक संघर्ष बन चुकी है।

भूख से तड़पती बिट्टी अपनी माँ से कहती है कि ''भूख के मारे पेट में दर्द होता है, मरोड़ उठता है, भूख के मारे कुछ पढ़ा भी नहीं जाता।''[6] यह कथन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ भूख केवल शारीरिक कष्ट नहीं रह जाती, बल्कि शिक्षा और भविष्य की संभावनाओं में भी बाधा बनकर उभरती है। फिल्म इस तथ्य को रेखांकित करती है कि जब व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं, तब ज्ञानार्जन और आत्मविकास जैसे लक्ष्य भी प्रभावित होते हैं।

इसी आवेश में बिट्टी अपने पिता पर भी आक्रोश व्यक्त करती है और कहती है - ''सब करते हैं, उन्हें ही नहीं मिलती नौकरी। दिन भर घर में पड़े रहते हैं, सोते रहते हैं, कामचोर, आलसी।''[7] यह संवाद बालमन की उस असहाय प्रतिक्रिया को दर्शाता है जो परिस्थितियों की वास्तविकता को समझने में असमर्थ है। वस्तुतः पिता की बेरोजगारी उनकी अक्षमता का परिणाम नहीं, बल्कि मिलबंदी से उत्पन्न संरचनात्मक आर्थिक संकट का परिणाम है। किंतु भूख से व्याकुल बच्ची के लिए

यह समझ पाना संभव नहीं है।

जब बिट्टी की माँ उसे थप्पड़ मारती है, तब भी उसके शब्द दर्शक के मन को झकझोर देते हैं। वह कहती है – ''चाहे जूते मार लो या चाहे जान से मार दो, पर स्कूल जाने से पहले मुझे एक रोटी दे दिया करो।''[8] यह संवाद फिल्म का सबसे मार्मिक क्षण बनकर उभरता है। यहाँ एक बच्ची की मांग कोई विलासिता नहीं, बल्कि जीवित रहने के लिए आवश्यक न्यूनतम भोजन है। यह कथन उस सामाजिक यथार्थ को सामने लाता है जहाँ भूख मनुष्य की गरिमा, शिक्षा, संबंधों और भावनाओं सभी पर गहरा प्रभाव डालती है।

बिट्टी के रोने और उसकी माँ द्वारा उसे थप्पड़ मारने के बाद जब उसके पिता घर लौटते हैं, तो वे अपनी पत्नी से पूछते हैं कि आखिर बच्ची को क्यों मारा गया। इस पर उसकी माँ व्यथित स्वर में कहती है कि भूख के मारे वो तिलमिला रही थी। यह कथन भूख की उस भयावह स्थिति को सामने लाता है जहाँ व्यक्ति का धैर्य, व्यवहार और भावनात्मक संतुलन तक प्रभावित होने लगता है।

बिट्टी के पिता अपनी बेटी का पक्ष लेते हुए कहते हैं – ''बच्ची है, भूख तो लगेगी ही, दिन भर स्कूल में इधर-उधर करती है।''[9] इस संवाद में एक पिता की करुणा और विवशता दोनों निहित हैं। वह अपनी पुत्री की पीड़ा को समझता है, किंतु उसकी भूख मिटाने में स्वयं को असमर्थ पाता है। इसके उत्तर में उसकी पत्नी का कहना – ''चार लोगों का पेट भरने के लिए अब मैं अकेली कहाँ से लाऊँ?''[10] उस आर्थिक यथार्थ को उजागर करता है जहाँ परिवार की आवश्यकताएँ आय के सीमित साधनों से कहीं अधिक बड़ी हो जाती हैं। यहाँ फिल्म यह रेखांकित करती है कि गरीबी केवल संसाधनों की कमी नहीं, बल्कि निरंतर मानसिक तनाव और असुरक्षा की स्थिति भी उत्पन्न करती है।

जब पत्नी पूछती है कि क्या वे कुछ लेकर आए हैं, तब पिता का उत्तर अत्यंत मार्मिक है – ''काम करवाने के लिए सब उतावले रहते हैं, देने-दिलाने की बात करो तो टाल जाते हैं।''[11] यह संवाद श्रमिक वर्ग के शोषण और अस्थिर रोजगार की समस्या को सामने लाता है। श्रम की आवश्यकता तो सभी को है, किंतु श्रमिक के अधिकार और उसके उचित पारिश्रमिक की चिंता बहुत कम लोगों को होती है। इसी विवशता के बीच वह जेब से थोड़ा-सा गुड़ निकालकर कहते हैं—लो, लाला की दुकान से उधार लेकर आया था, गुड़ का शरबत बना लो। यह दृश्य उस परिवार की आर्थिक दरिद्रता का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है, जहाँ भोजन के स्थान पर गुड़ का शरबत ही भूख को शांत करने का एकमात्र साधन बन जाता है।

इसके बाद फिल्म का कथानक केवल वर्तमान भूख तक सीमित नहीं रहता, बल्कि भविष्य की चिंताओं को भी सामने लाता है। बिट्टी की माँ कहती है – ''बिट्टी तो विदा होकर चली जाएगी, हमारे बुढ़ापे का सहारा तो बिट्टू ही बनेगा, इसलिए अब इसके स्कूल में दाखिला करवाना पड़ेगा।''[12] यह कथन भारतीय निम्नवर्गीय परिवारों की उस सोच को अभिव्यक्त करता है, जिसमें शिक्षा को भविष्य की सुरक्षा और सामाजिक उन्नति के साधन के रूप में देखा जाता है। आर्थिक तंगी के बावजूद माता-पिता अपने बच्चों के बेहतर भविष्य का स्वप्न देखना नहीं छोड़ते।

रात्रि का दृश्य फिल्म को और अधिक भावनात्मक गहराई प्रदान करता है। पति-पत्नी दोनों भूख, अभाव और बच्चों के भविष्य को लेकर गंभीर चर्चा करते हैं। इस दौरान पिता कहते हैं –''हमने बच्चे पैदा किए हैं तो रोटी भी तो हम ही खिलाएँगे ना, इनमें उन बेचारों की क्या गलती?''[13] यह संवाद माता-पिता के नैतिक उत्तरदायित्व और संतानों के प्रति उनकी संवेदनशीलता को अभिव्यक्त करता है। वे अपनी कठिन परिस्थितियों के बावजूद बच्चों को दोषी नहीं ठहराते, बल्कि स्वयं को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्तरदायी मानते हैं।

इसके प्रत्युत्तर में पत्नी की पीड़ा और भी तीव्र रूप में सामने आती है। वह कहती है – ''बाँझ रहती तो सब्र कर लेती, और भगवान ने यदि संतान दी है तो उनका पेट भरने के लिए साधन भी तो दे ही देता। ऐसे माँ-बाप ही क्या जो अपने बच्चों को एक वक्त की रोटी भी न दे सके?''[14] यह संवाद एक माँ के आत्मग्लानि, असहायता और ममत्व का अत्यंत मार्मिक उदाहरण है। यहाँ उसका दु:ख केवल गरीबी का नहीं, बल्कि अपनी संतानों की भूख के सामने स्वयं को असफल महसूस करने का है।

इन शब्दों को सुनकर पिता का मौन और अधिक अर्थपूर्ण हो उठता है। परिवार की पीड़ा को कम करने के लिए वे कड़ाके की सर्दी में चौकीदारी का काम करने निकल पड़ते हैं। यह दृश्य श्रमिक वर्ग के उस अदृश्य संघर्ष को सामने लाता है, जहाँ माता-पिता अपनी संतानों की भूख मिटाने के

लिए प्रतिकूलतम परिस्थितियों में भी श्रम करने को विवश होते हैं।

अगले दिन जब बिट्टी की माँ को दस रुपये प्राप्त होते हैं, तो सामान्यत: यह अपेक्षा की जाती है कि उस धन से इतना आटा खरीदा जाए जो कई दिनों तक परिवार का गुजारा कर सके। किंतु वह दृढ़तापूर्वक पराँठे बनाने की इच्छा व्यक्त करती है। यह सुनकर उसका पति आश्चर्यचकित हो जाता है, क्योंकि वह जानता है कि यदि उस दिन पराँठे बनाए गए, तो पूरे दस रुपये एक ही बार में खर्च हो जाएँगे।

यह दृश्य स्पष्ट करता है कि समाज के विभिन्न वर्गों में एक ही वस्तु का अर्थ और महत्त्व कितना भिन्न हो सकता है। जिस पराँठे को सम्पन्न वर्ग दैनिक भोजन का सामान्य हिस्सा मानता है, वही आर्थिक रूप से वंचित परिवार के लिए एक विशेष अवसर और दुर्लभ सुख का प्रतीक बन जाता है। बिट्टी की माँ का पराँठे बनाने पर अड़े रहना केवल स्वाद की इच्छा नहीं, बल्कि लंबे समय से अभावग्रस्त जीवन में एक छोटे-से उत्सव को जीने की आकांक्षा है।

इस प्रसंग की मार्मिकता तब और बढ़ जाती है जब बच्चे भी पराँठों की खबर सुनकर अत्यंत उत्साहित हो उठते हैं। बिट्टू का यह कहना कि ''मैं जाकर सबको बता कर आता हूँ कि आज हमारे घर पर पराँठे बने हैं।''[15] इस बात का संकेत है कि जिन वस्तुओं को समाज का एक वर्ग साधारण मानता है, वही दूसरे वर्ग के लिए उपलब्धि और खुशी का विषय बन जाती हैं। इस प्रकार फिल्म यह रेखांकित करती है कि आर्थिक विषमता केवल संसाधनों के असमान वितरण तक सीमित नहीं है, बल्कि वह लोगों की इच्छाओं, आकांक्षाओं और खुशियों के स्वरूप को भी निर्धारित करती है।

पराँठे बनने के बाद जब बिट्टू एक और पराँठे की माँग करता है, तब उसकी माँ उसे समझाते हुए कहती है - ''ज्यादा पराँठे खाने से तो टट्टी आने लगती है। पराँठे, वो भी गेहूँ के, पचाने के लिए फौलाद का पेट चाहिए। सिर्फ दो ही मिलेंगे।''[16] यह संवाद सतही रूप से भले ही एक माँ की सीख प्रतीत हो, किंतु वास्तव में यह अभावग्रस्त जीवन की विवशता को छिपाने का प्रयास है। यहाँ पराँठों की संख्या पहले से निर्धारित है; उससे अधिक देना परिवार की सीमित खाद्य-संपदा को संकट में डाल सकता है।

इसी प्रकार जब बिट्टी अपनी माँ से बचा हुआ आटा देखकर एक और पराँठा बनाने का आग्रह करती है, तो उसकी माँ कहती है - ''अभी नहीं, सुबह खाएँगे।''[17] और आगे जोड़ती है - ''अभी इतने बड़े नहीं हुए हो कि नाश्ता कराकर हम स्कूल भेजें। दो जून की रोटी मिल जाए, वही बहुत है।''[18] यह कथन उस सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करता है जहाँ नाश्ता जैसी सामान्य आवश्यकता भी विलासिता का रूप ले लेती है। फिल्म यहाँ स्पष्ट करती है कि समाज का एक वर्ग जहाँ भोजन की उपलब्धता को स्वाभाविक मानता है, वहीं दूसरा वर्ग दो समय के भोजन की व्यवस्था के लिए निरंतर संघर्षरत रहता है।

कथानक का सबसे मार्मिक और त्रासद मोड़ तब आता है जब बिट्टी अपने हिस्से का बचाकर रखा गया पाँचवाँ पराठा अगले दिन के लिए सुरक्षित रखती है। वह पराठा उसके लिए केवल भोजन नहीं, बल्कि आत्मसम्मान, आशा और अगले दिन विद्यालय में अपमान से बचने का माध्यम भी है। किंतु सुबह उसे पता चलता है कि वह पराठा उसका छोटा भाई बिट्टू खा चुका है। क्रोधित होकर वह उसे झकझोरती है और बार-बार पूछती है - ''तुमने खाया मेरा पराठा? तुमने खाया मेरा पराठा?''[19] इस पर बिट्टू का मासूम उत्तर - ''दीदी, भूख लगी थी।''[20] फिल्म के सबसे हृदयविदारक क्षणों में से एक बन जाता है।

यहाँ भूख दो बच्चों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देती है। बिट्टी के मन में विद्यालय में हुए अपमान की स्मृति इतनी गहराई से बैठ चुकी होती है कि वह अपने भाई की भूख और उसकी विवशता को समझ नहीं पाती। उसका समूचा आक्रोश उसी पर केन्द्रित हो जाता है। परिणामस्वरूप वह क्रोध में अपने भाई को मारते-मारते उसका गला दबा देती है, जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है।

फिल्म का यह अंत अत्यंत प्रतीकात्मक और विचारोत्तेजक है। यहाँ किसी व्यक्ति की नहीं, बल्कि भूख की विजय दिखाई गई है। पाँचवाँ पराठा यह स्थापित करती है कि जब समाज अपने नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल हो जाता है, तब भूख केवल शारीरिक कष्ट नहीं रहती, बल्कि वह मानवीय संबंधों, संवेदनाओं और पारिवारिक स्नेह तक को नष्ट कर सकती है। इस प्रकार फिल्म का समापन सामाजिक असमानता, निर्धनता और खाद्य-असुरक्षा के गंभीर प्रश्नों को अत्यंत मार्मिक ढंग से दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

अंतत: पाँचवाँ पराठा भूख, निर्धनता और सामाजिक

असमानता की त्रासदी को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ चित्रित करती है। फिल्म यह दर्शाती है कि भोजन जैसी मूलभूत आवश्यकता का अभाव केवल शारीरिक पीड़ा ही नहीं, बल्कि मानवीय संबंधों, शिक्षा, संवेदनाओं और जीवन-मूल्यों को भी गहराई से प्रभावित करता है।

शोधार्थी / रिसर्च स्कॉलर
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. Academy of Motion Picture Arts and Sciences. (n.d.). Rules for Short Film Categories.
2. Encyclopaedia Britannica. (n.d.). History of Film : Edison and the Lumière Brothers.
3. A Window on Infinity: Rediscovering the Short Films of the Lumière Brothers (The Guardian, 2016)
4. Giddens, Anthony. Sociology. 7th Edition. Cambridge : Polity Press, 2013.
5. स्कूल में संवाद, पांचवां पराठा, 2024, (समय: 00:36-00:40)
6. बेटी अपनी माँ से कहती है, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 3:02-3:10)
7. बेटी अपनी माँ से कहती है, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 3:18-3:29)
8. बेटी अपनी माँ से कहती है, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 3:32-3:38)
9. पति अपनी पत्नी से बेटी का पक्ष लेते हुए, पांचवां पराठा, 2024 (समय-4:40-4:40)
10. पत्नी अपने पति से बोलती है, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 4:40-4:42)
11. पति अपनी पत्नी से, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 5:00- 5:07)
12. पत्नी अपने पति से बोलती है, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 5:53-6:02)
13. पति अपनी पत्नी से, पांचवां पराठा, 2024, (समय-7:08-7:13)
14. पत्नी अपने पति से बोलती है, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 7:15-7:50)
15. बेटा खुशी में अपनी माँ से बोलता है, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 11:46-11:50)
16. माँ अपने बेटे से, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 14:42-14:57)
17. बेटी अपनी माँ से, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 18:08-18:10)
18. माँ अपनी बेटी से, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 18:20-18:22)
19. बहन अपने भाई से, पांचवां पराठा, 2024, (समय- 22:20 22:30)
20. भाई अपनी बहन से , पांचवां पराठा, 2024, (समय- 22:30-22:53)

नयी कहानी की पढ़त और नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि

दीपक कुमार

शोध सार

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य में नयी कहानी आंदोलन एक महत्वपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुआ। नयी कहानी ने कथावस्तु, शिल्प और यथार्थबोध तीनों स्तरों पर होने वाले बदलावों को रेखांकित किया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक और मानसिक परिवर्तनों ने व्यक्ति के आंतरिक जीवन को जटिल बनाया, जिसकी अभिव्यक्ति नयी कहानी के माध्यम से हुई। नयी कहानी की वैचारिक स्पष्टता, उसकी सीमाओं और उपलब्धियों के आलोचनात्मक विवेचन में आचार्य नामवर सिंह की भूमिका निर्णायक रही है। प्रस्तुत शोध आलेख में नई कहानी की पाठकीय संरचना तथा नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि का विश्लेषण किया गया है। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि नामवर सिंह ने नई कहानी को न तो केवल शिल्पगत प्रयोग माना और न ही उसे विचारधारात्मक आग्रहों में बाँधा, बल्कि उसे सामाजिक यथार्थ और मानवीय संवेदना के संयुक्त पाठ के रूप में प्रतिष्ठित किया

बीज शब्द

नयी कहानी, नवीन दृष्टि, सांकेतिकता, सम्प्रेषणीयता, संवेदना, आधुनिकता, यथार्थवाद, मध्यवर्ग इत्यादि।

मूल आलेख

हिंदी कथा-साहित्य में प्रेमचंद के बाद यदि किसी कथा-धारा ने गहन वैचारिक बहस और रचनात्मक परिवर्तन को जन्म दिया, तो वह 'नई कहानी' है। 1950 के दशक में उभरने वाली यह कथा-धारा भारतीय समाज के उस संक्रमणकाल की उपज है, जब स्वतंत्रता के बाद के सपने यथार्थ की कठोरता से टकरा रहे थे। इस टकराव ने व्यक्ति को भीतर से असुरक्षित, संशयग्रस्त और अकेला बनाया।

नयी कहानी के कथाकारों ने इसी आंतरिक संकट को कथा का विषय बनाया। किंतु नयी कहानी को केवल रचनात्मक प्रयोग मानने की प्रवृत्ति भी साथ-साथ विकसित हुई। ऐसे समय में नामवर सिंह की आलोचना नयी कहानी की सही पढ़त के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होती है।

नामवर जी संवेदना को एक नैतिक दायित्व मानते हुए साहित्य में उसके विस्तृत दायरे को महत्व देते हैं। उनके अनुसार नयी कहानी के कहानीकारों ने बहुत से उपेक्षितों को अपनी संवेदना दी है। यदि वे शिवप्रसाद, शेखर जोशी, मार्कण्डेय इत्यादि की कहानियों की समीक्षा करते हैं तो इसलिए कि इन लेखकों ने आजादी के बाद के बदले हुए गावों के लोगों के अतिरिक्त उन कंजड़ों, नटों, मुसहरों, और घुमंतू नर्तकों को अपनी रचनाओं के केंद्र में रखा है, जिनकी और पहले के लेखकों का ध्यान उस तरह नहीं गया था।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में प्रेमचंद की परंपरा का विकास नामवर सिंह ने अपने तरीके से देखा। उनका मानना है कि प्रेमचंद के कथा साहित्य में गाँव के किसान और मजदूर ही नहीं है, उनके यहाँ पर्याप्त मात्रा में मध्य वर्ग भी है, इसलिए नयी कहानी में यदि मध्य वर्ग की समस्याएँ जोर-शोर से उठाई गई हैं तो इसे भी प्रेमचंद के कथा साहित्य की विकास परंपरा में ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

नामवर जी कला और साहित्त्य को जीवन से जोड़कर देखते हैं, जीवन में हो रहे बदलावों को रेखांकित करने के संदर्भ में देखते हैं। समाज में चल रहे गतिमान संघर्षों और

सामाजिक अंतर्विरोधों की पक्षधरता साहित्य में स्वीकार करते हैं, नयी कहानी को उन्होंने इस दृष्टि से देखा, समझा और व्याख्यायित करते हुए इसे उपरोक्त कसौटी पर सफल माना।

नयी कहानी की प्रमुख विशेषता है—घटनाओं के बजाय अनुभूतियों पर बल। पारंपरिक कहानी जहाँ सामाजिक घटनाओं के क्रमबद्ध विकास पर आधारित थी, वहीं नई कहानी व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया, उसकी असफलताओं, कुंठाओं और संबंधगत तनावों को केंद्र में रखती है।

नयी कहानी की एक विशेषता डॉ. नामवर ने सांकेतिकता बतलायी है। वह यह स्वीकार करते हैं कि सांकेतिकता प्रेमचंद, यशपाल, जैनेद्र, अज्ञेय की कहानियों में भी विद्यमान है लेकिन नई कहानी का समूचा रूप गठन (स्ट्रक्चर) और शब्द गठन (टेक्सचर) ही सांकेतिक है। उनके शब्दों में-''प्रभावन्विति कहानी में उतनी पुरानी है जितनी स्वयं आधुनिक कहानी। किंतु प्रभाव की संपूर्ण अन्विति को सांकेतिक बनाने का श्रेय नयी कहानी को है। नयी कहानी संकेत करती नहीं, बल्कि स्वयं संकेत है।''

नामवर जी अपनी आलोचना में पाठ प्रक्रिया को महत्वपूर्ण मानकर पाठक के महत्व को रेखांकित करते हैं। कहानी के टेक्स्ट के आधार पर उसकी व्याख्या व मूल्य निर्धारण पर बल देते हैं। नयी कहानी की पढ़त करते समय पाठक को यह स्वीकार करना पड़ता है कि यहाँ न तो स्पष्ट समाधान हैं और न ही आदर्श निष्कर्ष।

नामवर सिंह इस संदर्भ में लिखते हैं—

''नयी कहानी में कथ्य बाहर नहीं, भीतर घटित होता है।''[2]

(कहानी नयी कहानी)

यह कथन नई कहानी की पाठकीय संरचना को स्पष्ट करता है। यहाँ पाठक को कहानी के 'अर्थ' को स्वयं निर्मित करना पड़ता है। इस प्रकार नई कहानी एक सक्रिय पाठ की माँग करती है।

आधुनिक जीवन के अंतर्विरोधों और उनसे उत्पन्न होने वाली बहुविध विडंबनाओं पर संभवत: पहली बार नामवर सिंह ने ही विचार किया है। परवर्ती समीक्षकों में इसको महत्त्व मिलता रहा, लेकिन नई कहानी को 'नई' सिद्ध करने में अत्यधिक शक्तिशाली साबित होने वाली इस प्रवृत्ति पर विचार करते हुए नामवर सिंह ने आधुनिकता को एक नया आयाम भी प्रदान किया है। परोक्षत: वे यह भी सिद्ध कर रहे हैं कि नई कहानी की आधुनिकता मात्र यूरोपीय आधुनिकता से प्रेरित नहीं है अपितु वह देसी आधुनिकता से प्रेरित है। उनकी इस स्थापना में यह बात हू-ब-हू व्यजित होती है, 'कहानी जीवन के टुकड़ों में निहित 'अंतर्विरोध', 'बंद', 'संक्राति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अंतर्विरोध के वृहद् अंतर्विरोध के किसी न किसी पहलू का आभास दे जाती है।' नामवर सिंह अपनी इस स्थापना के साथ भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' को उदाहृत करते हैं और कहानी की 'आपसी' कितनी दूरव्यापी होती है कि कहानी की रचनात्मकता का ग्राफ किस गति वेग के साथ ऊपर उठता दिखाई देता है। यहां पर नामवर सिंह की उक्त कहानी की समीक्षा को उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि एक कहानी जब जीवनधर्मी संकट पर जोर देती है तो उसके अनेकविध अंतर्विरोध स्वयंमेव कहानी में व्यापित होते दिखाई देते हैं और उस स्थिति में से उत्पन्न होने वाली विडंबना असामान्य हो जाती है। 'चीफ की दावत' की विडंबना के संदर्भ में नामवर सिंह का मानना है कि 'एक समर्थ कहानीकार किस प्रकार जीवन की छोटी-से-छोटी घटना में अर्थ के स्तर-स्तर उद्घाटित करता हुआ उसकी व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुंचा देता है। ऐसे अर्थगर्भत्व को मैं सार्थकता कहता हूं।' कहानी की इस संभावना को अनावृत करने के लिए, नामवर सिंह मानते हैं, 'एक व्यापक और निश्चिंत 'भाषा' का निर्माण भी होना चाहिए।'

नामवर सिंह की आलोचना की मूल विशेषता उसका संवादी और विवेकपूर्ण स्वर है। वे किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति को न तो अंध-समर्थन देते हैं और न ही पूर्वाग्रह के साथ खारिज करते हैं।

नयी कहानी के संदर्भ में उन्होंने दो अतियों का स्पष्ट विरोध किया—

यथार्थवाद का यांत्रिक आग्रह

प्रयोगवाद की आत्ममुग्ध प्रवृत्ति

उनके अनुसार—

''नई कहानी की नवीनता विषय में नहीं, दृष्टि में है।''

यह दृष्टि व्यक्ति और समाज के द्वंद्व से निर्मित होती है। नई कहानी का कथाकार अपने अनुभव को सामाजिक संदर्भ से काटकर नहीं देखता।

नामवर सिंह नई कहानी को भारतीय मध्यवर्ग के

जीवन-संघर्ष की कथा मानते हैं। स्वतंत्रता के बाद उभरा मध्यवर्ग न तो पूरी तरह परंपरा से जुड़ा रहा और न ही आधुनिकता को आत्मसात कर सका। यही द्वंद्व नई कहानी का मूल भाव है।

मोहन राकेश की कहानियों या कमलेश्वर की रचनाओं पर विचार करते हुए नामवर सिंह यह स्पष्ट करते हैं कि नई कहानी का नायक कोई आदर्श पुरुष नहीं है।

उनके शब्दों में—

''नई कहानी का नायक हारता हुआ मनुष्य है, लेकिन उसकी हार निरर्थक नहीं है।''

यह नायक जीवन से पलायन नहीं करता, बल्कि अपनी सीमाओं के भीतर संघर्ष करता है। यही नई कहानी की मानवीय गरिमा है।

नई कहानी की भाषा को लेकर नामवर सिंह ने विशेष रूप से ध्यान दिलाया कि यह भाषा न तो अलंकृत है और न ही सपाट। यह जीवन की बोलचाल से विकसित हुई भाषा है, जिसमें गहरी अर्थ-छायाएँ विद्यमान हैं।

राजेंद्र यादव की कहानियों के संदर्भ में वे संकेत करते हैं कि नई कहानी का शिल्प पाठक से सक्रिय बौद्धिक सहभागिता की अपेक्षा करता है।

वे कहते हैं—

''नई कहानी पाठक को सहभोक्ता बनाती है, केवल श्रोता नहीं।''

इस कथन से स्पष्ट है कि नई कहानी की पढ़त एक रचनात्मक प्रक्रिया है।

नामवर सिंह का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने नई कहानी को साहित्यिक फैशन बनने से बचाया। उन्होंने इसे हिंदी कथा-परंपरा की स्वाभाविक विकास-धारा सिद्ध किया।

उनकी आलोचना ने नई कहानी को ऐतिहासिक, सामाजिक और वैचारिक संदर्भ प्रदान किए, जिससे यह आंदोलन अकादमिक विमर्श का हिस्सा बन सका।

उनकी आलोचना में परंपरा और आधुनिकता का संतुलन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

निष्कर्ष:

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि नई कहानी की सम्यक पढ़त नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि के बिना संभव नहीं है। उन्होंने नई कहानी को न तो शिल्पगत प्रयोग तक सीमित किया और न ही उसे वैचारिक प्रचार का साधन बनने दिया। उनकी आलोचना हमें यह समझने में सहायता करती है कि नई कहानी आधुनिक मनुष्य की संवेदनात्मक सच्चाई की अभिव्यक्ति है।

आज भी नई कहानी के अध्ययन के लिए नामवर सिंह की आलोचना एक प्रामाणिक और विचारोत्तेजक आधार प्रदान करती है।

शोधार्थी, हिंदू कॉलेज, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल- deepakkumar465984@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. सिंह, नामवर, कहानी नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, 2021 संस्करण
2. कमलेश्वर, राजा निरबंसिया, कहानी संकलन
3. वर्मा, निर्मल, परिंदे, कहानी संकलन
4. सिंह, नामवर, दूसरी परंपरा की खोज
5. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका राजकमल प्रकाशन, 2024 दूसरा संस्करण।

विजय शंकर गुप्ता

धर्मयुग में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा: एक आलोचनात्मक अध्ययन

प्रस्तावना

हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में धर्मयुग का स्थान केवल एक सामान्य पत्रिका के रूप में सीमित नहीं है, यह एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में प्रतिष्ठित होती है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का भारत केवल राजनीतिक पुनर्गठन का ही नहीं, गहन सांस्कृतिक पुनर्संरचना और आत्म-पहचान के पुनर्निर्माण का दौर था। इस संक्रमणकालीन समय में भारतीय समाज एक ओर औपनिवेशिक प्रभावों से मुक्त होकर अपनी जड़ों की ओर लौटना चाहता था, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता, वैज्ञानिक चेतना और वैश्विक दृष्टिकोण को भी अपनाने की चुनौती उसके सामने थी। ऐसे जटिल और बहुस्तरीय वैचारिक परिदृश्य में धर्मयुग ने एक सेतु के रूप में कार्य किया, जिसने परंपरा और आधुनिकता, लोक और शहरी संस्कृति, तथा अतीत और वर्तमान के बीच एक संतुलित संवाद स्थापित किया।

'यह पत्रिका हिंदी भाषी समाज में अत्यंत लोकप्रिय रही। यह एक हिंदी साप्ताहिक पत्रिका थी, जिसका प्रकाशन मुंबई से होता था और जिसके दीर्घकालीन संपादक धर्मवीर भारती थे।'[1] भारती के संपादन में धर्मयुग ने केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति का मंच प्रदान नहीं किया, उन्होंने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की एक ऐसी अवधारणा विकसित की, जो न तो संकीर्ण थी और न ही एकांगी, बहुलतावादी, समावेशी और मानवीय मूल्यों पर आधारित थी।

इस शोध-पत्र का उद्देश्य धर्मयुग की सामग्री, उसकी संपादकीय दृष्टि, और उसकी वैचारिकी का गहन विश्लेषण करते हुए यह समझना है कि इस पत्रिका ने किस प्रकार भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता को निर्मित, संरक्षित और पुनर्परिभाषित किया। धर्मयुग में प्रकाशित लेख, कहानियाँ, कविताएँ, लोक-सांस्कृतिक सामग्री, ऐतिहासिक प्रसंग और समसामयिक विमर्श मिलकर एक ऐसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की रचना करते हैं, जिसमें 'राष्ट्र' केवल एक राजनीतिक इकाई नहीं, एक जीवंत सांस्कृतिक अनुभव के रूप में उभरता है।

बीज शब्द

धर्मयुग, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, धर्मवीर भारती, पत्रकारिता।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य: सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आधुनिक राष्ट्रवाद की उन प्रमुख अवधारणाओं में से एक है, जो राष्ट्र की पहचान को केवल राजनीतिक सत्ता, सीमाओं या प्रशासनिक संरचनाओं तक सीमित नहीं मानती, उसे एक जीवंत सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार राष्ट्र की वास्तविक आत्मा उसकी सांस्कृतिक विरासत, भाषा, परंपराएँ, ऐतिहासिक स्मृतियाँ, लोकजीवन, धार्मिक-दार्शनिक विश्वास और सामाजिक मूल्य-व्यवस्था में निहित होती है। इस प्रकार, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद 'राष्ट्र' को एक ऐसी निरंतर विकसित होने वाली सांस्कृतिक चेतना के रूप में स्थापित करता है, जो समय, समाज और इतिहास के साथ संवाद करती रहती है। 'यूरोपीय परिप्रेक्ष्य में जहाँ राष्ट्रवाद का विकास प्रायः राजनीतिक केंद्रीकरण और राज्य-निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ा रहा, वहीं भारतीय संदर्भ में यह अवधारणा मूलतः सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल पर विकसित हुई।'[2] भारत में 'राष्ट्र' की

अनुभूति प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक एकात्मता के रूप में विद्यमान रही है चाहे वह साझा मिथकों, तीर्थ-परंपराओं, भाषिक संपर्कों या दार्शनिक विचारधाराओं के माध्यम से हो। इसी कारण भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप बहुलतावादी, सह-अस्तित्ववादी और समन्वयात्मक रहा है।

इस वैचारिक पृष्ठभूमि को समझने में महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ टैगोर और स्वामी विवेकानंद जैसे विचारकों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिनके चिंतन में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विविध आयाम स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं।

सबसे पहले, महात्मा गांधी ने राष्ट्रवाद को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा तक सीमित नहीं रखा, उसे नैतिकता, आत्मशुद्धि और ग्राम-आधारित जीवन-पद्धति से जोड़ा। उनके लिए भारत की आत्मा उसके गाँवों में बसती थी, जहाँ सरलता, सह-अस्तित्व और पारंपरिक जीवन-मूल्य जीवित थे। गांधी का 'रामराज्य' किसी धार्मिक राज्य की संकल्पना नहीं, एक नैतिक-सांस्कृतिक आदर्श था, जिसमें न्याय, समानता और मानवीय गरिमा का संरक्षण होता है। इस प्रकार गांधी का राष्ट्रवाद सांस्कृतिक होने के साथ-साथ नैतिक और मानवीय भी था।

दूसरी ओर, रवींद्रनाथ टैगोर ने राष्ट्रवाद की संकीर्ण और आक्रामक व्याख्याओं की आलोचना करते हुए 'सांस्कृतिक मानवतावाद' की अवधारणा को सामने रखा। टैगोर के अनुसार राष्ट्रवाद तब खतरनाक हो जाता है जब वह व्यक्ति की स्वतंत्रता और मानवीय संवेदना को सीमित कर देता है। उन्होंने भारतीय संस्कृति की उस उदार परंपरा पर बल दिया, जो विविधताओं को स्वीकार करती है और विश्वबंधुत्व की भावना को प्रोत्साहित करती है। इस दृष्टि से उनका राष्ट्रवाद सांस्कृतिक होते हुए भी सार्वभौमिकता की ओर उन्मुख है।

इसी क्रम में, स्वामी विवेकानंद ने भारतीय संस्कृति को एक गहन आध्यात्मिक शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार भारत की विशिष्टता उसकी आध्यात्मिक परंपरा, सहिष्णुता और आत्म-ज्ञान की खोज में निहित है। विवेकानंद ने भारतीय युवाओं को अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व करने और उसे आधुनिक संदर्भों में पुनर्जीवित करने का आह्वान किया। उनके विचारों में राष्ट्रवाद आत्मगौरव, सांस्कृतिक पुनर्जागरण और आध्यात्मिक उन्नति का संगम बनकर उभरता है।

इन तीनों विचारकों के चिंतन में एक समान तत्व यह है कि वे राष्ट्र को किसी एकरूपी, संकीर्ण या बहिष्कारी इकाई के रूप में नहीं देखते, उसे एक बहुलतावादी और संवादात्मक सांस्कृतिक संरचना के रूप में स्वीकार करते हैं। यही वह बिंदु है जहाँ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भारतीय संदर्भ में एक समावेशी और संतुलित अवधारणा के रूप में विकसित होता है। 'पत्रिका के मई 1951 के अंक में प्रकाशित श्री कमल खन्ना के नेपाल की जन-क्रांति लेख से यह बात प्रमाणित होती है।'[3]

इसी सैद्धांतिक आधार को आगे बढ़ाते हुए धर्मयुग ने इन विचारों को केवल बौद्धिक विमर्श तक सीमित नहीं रहने दिया, उन्हें लोकप्रिय पत्रकारिता के माध्यम से व्यापक जन-स्तर तक पहुँचाया। धर्मयुग ने अपने लेखों, संपादकीय टिप्पणियों, साहित्यिक रचनाओं और सांस्कृतिक सामग्री के माध्यम से एक ऐसे 'संवादात्मक राष्ट्रवाद' को विकसित किया, जिसमें परंपरा और आधुनिकता, लोक और शहरी संस्कृति, तथा अतीत और वर्तमान के बीच निरंतर संवाद बना रहता है।

इस प्रकार, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा धर्मयुग के संदर्भ में केवल एक सैद्धांतिक विमर्श नहीं, एक जीवंत सामाजिक प्रक्रिया बन जाती है, जो पाठकों के अनुभव, संवेदना और सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित करती है। यह राष्ट्रवाद न तो अतीत में अटकता है और न ही अंध-आधुनिकता में खोता है, दोनों के बीच संतुलन स्थापित करते हुए एक ऐसे सांस्कृतिक भविष्य की कल्पना करता है, जिसमें विविधता, सह-अस्तित्व और मानवीय मूल्यों का सम्मान सर्वोपरि हो।

धर्मयुग की संरचना और सांस्कृतिक दृष्टि

धर्मयुग की संरचना और उसकी सांस्कृतिक दृष्टि को समझे बिना उसके द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को पूर्णत: समझ पाना संभव नहीं है। धर्मयुग केवल सामग्री का संकलन भर नहीं था, वह एक सुविचारित वैचारिक परियोजना के रूप में कार्य करता था, जिसमें संपादकीय नीति, विषय-वस्तु का चयन, भाषा-शैली, चित्रण और प्रस्तुति मिलकर एक व्यापक सांस्कृतिक दृष्टिकोण का निर्माण करते थे। इसकी संरचना में विविधता के साथ-साथ एक अंतर्निहित वैचारिक एकता भी दिखाई देती है, जो भारतीय समाज के बहुआयामी स्वरूप को प्रतिबिंबित करती है। धर्मयुग पत्रिका के 19वें अंक में संपादक का निवेदन देखने योग्य हैं- 'लेखकों से निवेदन है कि अस्वीकृत लेख तथा चित्र वापसी के लिये भेजे गये डाक के टिकटों के बिना वापस नहीं किये जायेंगे। कवियों और चित्रकारों से प्रार्थना है कि वे केवल शृंगारिक

भावना से सम्पन्न कृतियां नहीं भेजें बल्कि स्फूर्तिदायक भावनाओं की प्रेरक तूलिका और लेखनी से हमें सहयोग दें। बाल-चित्रावली के लिये 4 वर्ष से अधिक आयुवाले बच्चों के चित्र ही भेजने चाहिये। कहानी-प्रतियोगिता का निर्णय 3 जून 1951 को प्रकाशित होगा। तब तक इस सम्बन्ध में पूछताछ नहीं कीजिये। - सम्पादक'[4]

1. बहुआयामी सामग्री और सांस्कृतिक विमर्श

धर्मयुग की सबसे प्रमुख विशेषता इसकी बहुआयामी और संतुलित सामग्री थी, जिसने इसे अन्य समकालीन पत्रिकाओं से अलग पहचान दी। इसमें साहित्यिक रचनाएँ जैसे कहानियाँ, कविताएँ, धारावाहिक उपन्यास के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक लेखों का भी समावेश होता था। इसके अतिरिक्त विज्ञान, मनोविज्ञान, यात्रा वृत्त, तकनीक, इतिहास, सिनेमा, कला और समसामयिक घटनाओं पर आधारित लेख भी नियमित रूप से प्रकाशित होते थे।

कुछ उदाहरण दिखने योग्य हैं- 'आधुनिक मनोविज्ञान और आलफ्रेड आडलर नामक लेख में इलाचंद्र जोशी ने लिखा हैं-आज संसार में शायद ही कोई ऐसा सुशिक्षित व्यक्ति हो जो 'इन्फीरियारिटी कॉम्प्लैक्स' से एकदम अपरिचित हो। इस 'इनफीरियारिटी कॉम्प्लैक्स' का उल्लेख लोग किसी न किसी रूप में प्रतिदिन की साधारण बातचीत के सिलसिले में अक्सर करते रहते हैं। पर साधारणत: यह पाया जाता है कि लोग न तो उक्त 'कॉम्प्लैक्स' (मनोग्रंथि या मानसिक उलझन) के वास्तविक स्वरूप से परिचित रहते हैं, न यह जानते हैं कि इस विशेष मानसिक उलझन के सिद्धांत का आविष्कारक कौन था। और तो और, मनोविज्ञान में दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्ति भी अक्सर इस भ्रम में पाये जाते हैं कि जगत-प्रसिद्ध मनोविश्लेषक फ्रायड ने ही उक्त सिद्धांत का आविष्कार और प्रचार किया था, जबकि वास्तविकता यह है कि उक्त सिद्धांत का आविष्कार किया था आलफेड आडलर ने, जिसका फ्रायड के सिद्धांतों से बहुत बड़ा विरोध था।

आज आलफेड आडलर का नाम बीसवीं सदी के तीन सर्वश्रेष्ठ मनोविज्ञानवेत्ताओं में लिया जाता है, जिनमें अन्य दो के नाम हैं: फ्रायड और युङ्ग।'[5]

यह विविधता केवल विषयों की नहीं थी, दृष्टिकोणों की भी थी। धर्मयुग में जहाँ एक ओर उच्चकोटि के साहित्यकारों की रचनाएँ प्रकाशित होती थीं, वहीं दूसरी ओर सामान्य जनजीवन से जुड़े अनुभवों और कथाओं को भी स्थान दिया जाता था। इस प्रकार यह पत्रिका अभिजात और जन के बीच की दूरी को कम करने का कार्य करती थी।

इस बहुआयामी स्वरूप ने धर्मयुग को एक 'सांस्कृतिक मंच' में परिवर्तित कर दिया, जहाँ विभिन्न वर्गों, पीढ़ियों और विचारधाराओं के लोग एक साझा संवाद में भाग ले सकते थे। परिणामस्वरूप, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद यहाँ किसी एक वर्ग की अवधारणा न रहकर जन-संस्कृति का हिस्सा बन गया।

2. परंपरा का पुनर्पाठ और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण

धर्मयुग की सांस्कृतिक दृष्टि का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष था परंपरा का पुनर्पाठ, इस पत्रिका ने भारतीय परंपराओं को केवल अतीत की गौरवगाथा के रूप में प्रस्तुत नहीं किया, उन्हें वर्तमान सामाजिक संदर्भों में पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया।

धर्मयुग के 43वें अंक में दिवाली की सांस्कृतिक परंपरा- रतनलाल जोशी के लेख का एक उदाहरण है-

'महाराष्ट्र में दीपावली विशेषत: यम-पूजा के लिये प्रसिद्ध है। भारतीय साहित्य में यम-पूजा के उल्लेख काफी प्राचीन काल से मिलते हैं। कठोपनिषद् में यम-नचिकेता की कथा है। नचिकेता को यम के द्वारा ही ब्रह्मानुभूति प्राप्त हुई थी। यम-पूजा आज की वैज्ञानिक शब्दावली में काल-पूजा की ही प्रतीक समझी जानी चाहिये। यम वैदिक साहित्य में जहां 'जीवन के परम सत्य' के रूप में वर्णित हैं, वहां पौराणिक साहित्य में उन्हें अत्यन्त कुशल शासक के रूप में चित्रित किया गया है। गीता में विराट् सत्ता की विभूतियों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने अपने को यम का प्रतीक माना है :

पितृणामर्यमा चास्मि यम: संयमता महम्। अ. 10 श्लो. 29 अर्थात्, ''पितरों में अर्यमा हूं और शासकों में यम हूं।'' 10.29'[6]

यह दृष्टिकोण सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को गतिशील बनाता है। यहाँ परंपरा को जड़ या अपरिवर्तनीय नहीं माना गया, उसे एक जीवंत प्रक्रिया के रूप में देखा गया, जो समय के साथ बदलती और विकसित होती है। इस प्रकार धर्मयुग ने अतीत और वर्तमान के बीच एक रचनात्मक संवाद स्थापित किया।

3. लोकसंस्कृति और जनपदीय चेतना

धर्मयुग की सांस्कृतिक दृष्टि का एक और महत्वपूर्ण आयाम था लोकसंस्कृति और जनपदीय चेतना का सशक्त प्रस्तुतीकरण। पत्रिका में ग्रामीण जीवन, लोकगीत, लोककला, पारंपरिक रीति-रिवाज, और विभिन्न क्षेत्रों के पर्व-त्योहारों को

विशेष महत्व दिया गया।

यह दृष्टिकोण अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को 'जमीनी आधार' मिला। राष्ट्र की अवधारणा केवल महानगरों या शिक्षित वर्ग तक सीमित नहीं रही, वह गाँवों, कस्बों और जनपदों की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों से जुड़ गई।

धर्मयुग ने यह स्थापित किया कि भारतीय संस्कृति की वास्तविक शक्ति उसकी विविधता और लोक-आधारित परंपराओं में निहित है। इस प्रकार यह पत्रिका एक 'सांस्कृतिक लोकतंत्रीकरण' का माध्यम बनी, जिसमें हर क्षेत्र और समुदाय की सांस्कृतिक पहचान को सम्मान मिला। इसी पत्रिका में प्रकाशित श्री धर्मदेव शास्त्री का उत्तर काशी नामक यात्रा वृत्त से इस बात की पुष्टि होती है-'उत्तर काशी सुन्दर कस्बा है। प्रारंभ में ही सड़क पर सेठ जुगलकिशोर बिड़ला द्वारा बनायी धर्मशाला है, जो आधुनिक ढंग का सुन्दर मकान है। टिहरी से उत्तर काशी तक अनेक स्थानों पर बाबा काली कमलीवाले की धर्मशालाएं बनी हैं। हमें भी धरासू और डुंडा में धर्मशाला में रहना पड़ा। वास्तव में बाबा काली कमली वाले महात्मा ने यह महान् उपकार किया है। उत्तर काशी में इनकी धर्मशाला बहुत विशाल है।

गंगोत्री की तरफ उत्तर काशी से एक मील आगे साधु महात्माओं की बस्ती है। हमें श्री स्वामी तपोवन जी महाराज के दर्शनों से बहुत संतोष हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह उच्चकोटि के संत हैं। एक नग्न साधु मिले जो 90 वर्ष की आयु में भी नंगे घूम रहे थे, गोया गरम ओवरकोट डाले हों। उनके मुख पर प्रसन्नता फूट रही थी।'[7]

4. भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता

धर्मयुग ने हिंदी भाषा को केवल संप्रेषण का माध्यम न मानकर उसे राष्ट्रीय अस्मिता के एक महत्वपूर्ण आधार के रूप में प्रस्तुत किया। इसकी भाषा शैली सरल, सहज और प्रभावशाली थी, जो व्यापक पाठक वर्ग तक आसानी से पहुँच सकती थी।

यहाँ हिंदी का प्रयोग किसी भाषायी वर्चस्व के रूप में नहीं, एक सांस्कृतिक सेतु के रूप में किया गया। धर्मयुग ने विभिन्न भाषाई और सांस्कृतिक क्षेत्रों को हिंदी के माध्यम से जोड़ने का कार्य किया।

'मातृभाषा के प्रश्न के साथ आपसे यह भी पूछा जायगा कि आप साधारण-तथा अन्य कोई भाषा बोलते हैं, अथवा नहीं, पढ़े लिखे हैं अथवा नहीं, केवल पढ़ ही सकते हैं अथवा लिख भी सकते हैं, और यदि पढ़ना-लिखना दोनों जानते हैं तो कोई परीक्षा पास की है अथवा नहीं।'[8]

इस प्रकार भाषा यहाँ केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं, सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय चेतना का माध्यम बन जाती है। यह पहल हिंदी पत्रकारिता के विकास में भी अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

5. आधुनिकता के साथ संवाद

पत्रिका में आधुनिक जीवन शैली से जुड़े विषयों को प्रमुखता से स्थान दिया गया, जिससे पाठकों को नवीन ज्ञान और दृष्टिकोण प्राप्त हो सके। साथ ही, यह भी सुनिश्चित किया गया कि यह आधुनिकता भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों से कटकर न हो, उनके साथ समन्वय स्थापित करे। भारतीय संस्कृति और फ्रांस जयरानी सहगल के लेख से पता चलता है कि विदेशी विद्वान भारतीयता में कितनी रूचि रखते हैं- 'जर्मन कवि श्री फ्रीडरिश श्लीगल ने, जो यहां पहले से थे, इस कैदी प्रचारक से भारत की भाषा सीखी। इसी विद्वान् ने सर्वप्रथम भारत की दो सौ अप्रकाशित पुस्तकों को पेरिस के पुस्तकालय में देखा और विषय की विभिन्नता और गम्भीरता पर वह इतना विस्मित हुआ कि वह सुरभारती का भक्त हो गया, फलतः उसने 'भारतीय साहित्य का एक परिचय' नामक लघुकाय ग्रन्थ लिखा, जिसे जर्मन के साहित्यकारों ने तथा कलाकारों ने हृदय से सराहा। पेरिस के इस पुस्तकालय को देखने के लिये यूरोप के अनेक विदेशियों ने यात्रा की। भारत की यह सर्वप्रथम कला-ज्ञान प्रदर्शनी थी जिसे वहां के अधिकारियों ने 'बिब्लियोथेक्का रायल दि पैरिस' नाम दिया था। ज्ञान पिपासु जर्मन विद्वानों ने भारतीय वैदिक वांगमय का जिस प्रकार अभिनन्दन किया वह एक रोमांचकारी तथा ऐतिहासिक तथ्य है। एक-एक विद्वान ने एक-एक ग्रन्थ पर अपना जीवन न्योछावर किया। डाक्टर हेयरमन ग्रासमन जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान ने गणित शास्त्र को छोड़कर संस्कृत भाषा सीखी और अपना जीवन ऋग्वेद की खोज पर यापन किया। पेरिस ने संस्कृत भाषा की ओर बढ़ रही रुचि को देखकर अधिक प्रोत्साहन दिया। पेरिस विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम भारती वांगमय की गद्दी स्थापित की गयी। जर्मन के यशस्वी भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ क्लेपरोथ लैसन, ब्लीगन तथा बोप ने यहां आकर भाषा का अध्ययन किया और बाद में इस गुरुमन्त्र को लेकर आहिताग्नि की तरह अपना जीवन ज्ञान की खोज में बिताया।

श्री बोप ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया।'[8] धर्मयुग की सांस्कृतिक दृष्टि का एक अत्यंत संतुलित पक्ष यह था कि उसने आधुनिकता को न तो अंध-स्वीकार किया और न ही उसे पूर्णत: अस्वीकार किया। इसके बजाय उसने आधुनिकता और परंपरा के बीच एक रचनात्मक संवाद स्थापित किया।

निष्कर्ष

समग्र विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि धर्मयुग केवल एक साप्ताहिक पत्रिका नहीं, बल्कि स्वतंत्रता-उत्तर भारत के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की एक सशक्त वैचारिक परियोजना थी। इसने उस दौर में, जब राष्ट्र की पहचान को लेकर अनेक प्रकार की वैचारिक द्वंद्वात्मकताएँ विद्यमान थीं, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को एक संतुलित, संवादात्मक और मानवीय रूप प्रदान किया।

धर्मयुग की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि उसने 'राष्ट्र' को राजनीतिक सत्ता या भौगोलिक सीमा के संकीर्ण दायरे से बाहर निकालकर उसे एक जीवंत सांस्कृतिक अनुभव के रूप में स्थापित किया। इसके माध्यम से भारतीयता को न तो अतीत के गौरव तक सीमित किया गया और न ही आधुनिकता के अंधानुकरण में विस्मृत होने दिया गया, बल्कि दोनों के बीच एक रचनात्मक संतुलन स्थापित किया गया। इस प्रक्रिया में धर्मवीर भारती की संपादकीय दृष्टि निर्णायक सिद्ध हुई, जिन्होंने सांस्कृतिक चेतना को जन-स्तर तक पहुँचाने में पत्रकारिता को एक प्रभावी माध्यम बनाया।

'धर्मयुग ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को 'जन-संस्कृति' का हिस्सा बनाकर उसे जीवंत और क्रियाशील रूप दिया।'[9] इसके पृष्ठों पर प्रस्तुत साहित्य, लोकजीवन, सांस्कृतिक प्रतीक और समसामयिक विमर्श मिलकर एक ऐसी सांस्कृतिक स्मृति और सामूहिक चेतना का निर्माण करते हैं, जो राष्ट्रवाद को अधिक व्यापक, संवेदनशील और समावेशी बनाती है। यह राष्ट्रवाद न केवल अतीत से संवाद करता है, बल्कि वर्तमान की जटिलताओं और भविष्य की संभावनाओं से भी सक्रिय रूप से जुड़ा रहता है।

हालाँकि, इसके भीतर निहित सीमाएँ जैसे मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण, परंपरा का आदर्शीकरण, हाशिए के समुदायों की सीमित उपस्थिति तथा हिंदी-केन्द्रित सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य यह संकेत देती हैं कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की यह परियोजना पूर्णत: निष्पक्ष या सर्वसमावेशी नहीं थी। ये अंतर्विरोध हमें यह समझने के लिए प्रेरित करते हैं कि किसी भी सांस्कृतिक विमर्श को अधिक लोकतांत्रिक, बहुलतावादी और प्रतिनिधिक बनाने की दिशा में निरंतर प्रयास आवश्यक हैं।

अंतत: कहा जा सकता है कि धर्मयुग का महत्व केवल उसके ऐतिहासिक योगदान में नहीं, बल्कि उस वैचारिक दृष्टि में निहित है, जो आज भी प्रासंगिक बनी हुई है। यह हमें सिखाता है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सार्थकता तभी है, जब वह विविधता का सम्मान करे, संवाद को प्रोत्साहित करे और मानवता के व्यापक मूल्यों को अपने केंद्र में रखे। इस दृष्टि से धर्मयुग न केवल अतीत की एक गौरवपूर्ण स्मृति है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के सांस्कृतिक विमर्श के लिए एक महत्वपूर्ण प्रेरणा-स्रोत भी है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, हिंदी पत्रकारिता का इतिहास, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-53
2. वही, पृष्ठ-77
3. धर्मवीर भारती, धर्मयुग, पृष्ठ-5, वर्ष- 2, अंक - 9
4. वही, पृष्ठ-2
5. धर्मवीर भारती, धर्मयुग, पृष्ठ-6, वर्ष- 2, अंक - 14
6. धर्मवीर भारती, धर्मयुग, पृष्ठ-26, वर्ष- 3, अंक - 43
7. धर्मवीर भारती, धर्मयुग, पृष्ठ-34, वर्ष- 2, अंक - 29
8. धर्मवीर भारती, धर्मयुग, पृष्ठ-42, वर्ष- 2, अंक - 19
9. धर्मवीर भारती, धर्मयुग, पृष्ठ-29, वर्ष- 5, अंक - 39
10. रामचंद शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, बनारस, पृष्ठ-2

मानसी

भक्ति आंदोलन और सामाजिक पुनर्निर्माण

शोध सार

लोक संवेदना के रस से सरावोर सांस्कृतिक तत्वों से परिपूर्ण भक्ति आंदोलन की जड़ें अपने समय और समाज में इतनी गहरी पैठी हुई थीं कि भारत जैसे बहुजातिए राष्ट्र की शिराओं में यह आज से कई सौ वर्ष पूर्व सहज ही फैलती चली गई। अपने उत्थान के साथ परवर्ती कई सौ वर्ष तक यह आंदोलन गुजरात से लेकर मणिपुर तक और कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक बहुसंख्य भाषाओं, बोलियों, अनेक प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों के साथ यह भारत की भूमि पर अपना प्रसार करती रही है। भक्ति आंदोलन का विकास उस समय हुआ, जब समाज में आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्तर पर बड़े परिवर्तन हो रहे थे। सामान्य जनमानस की आस्था डगमगा रही थी और जीवन को समझने के लिए नई दृष्टि की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। एसे समय में भक्ति आंदोलन ने पूरे भारत में आध्यात्मिक चेतना जगाई और ईश्वर भक्ति के माध्यम से लोगों में समानता, मानवता और मुक्ति का मार्ग दिखाया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य भारतवर्ष का सांस्कृतिक एकीकरण करना और प्रभु प्रेम के माध्यम से भक्ति भाव को साकार करना था इसके साथ ही सामाजिक बुराइयों का विरोध करना, पीड़ित वर्ग को आवाज देना और सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखने की प्रेरणा थी। इस विषय के अंतर्गत भक्तिकालीन समाज की परिस्थितियों, सगुण-निर्गुण कवियों के विचारों, उनके द्वारा किए गए सामाजिक सुधारों और भारतीए समाज पर उनके प्रभाव का अध्ययन किया जाएगा। वर्तमान सामाजिक संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता को समझने का प्रयास किया जाएगा।

बीज शब्द

भक्ति आंदोलन, सामाजिक समरसता, बहुजातिए राष्ट्र, आध्यात्मिक चेतना।

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति आंदोलन एक महत्वपूर्ण सामाजिक सांस्कृतिक चेतना के रूप में उभरकर सामने आया। मध्यकालीन भारतीय समाज में जब सामाजिक असमानता, धार्मिक आडंबर, जातिगत भेदभाव और रूढ़िवादिता का प्रभाव बढ़ रहा था, तब भक्ति आंदोलन ने ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम, मानव समानता, सामाजिक समरसता, और सहिष्णुता का संदेश दिया। भक्ति आंदोलन का प्रभाव केवल धार्मिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने भारतीय समाज, संस्कृति, भाषा और सामाजिक संरचना को व्यापक रूप से प्रभावित किया। यह आंदोलन भारत के विभिन्न क्षेत्रो में अलग अलग स्वरूपों में विकसित होते हुए अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण करता है तथा समाज के सभी वर्गों को जोड़ने का कार्य करता है। कवियों ने लोकभाषाओं के माध्यम से अपने विचारों को जनसामान्य तक पहुँचाकर, सामाजिक चेतना को जागृत किया और सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। प्रस्तुत शोध आलेख में भक्ति आंदोलन की विशेषता, उसके अखिल भारतीय प्रसार, निर्गुण-सगुण कवियों का योगदान तथा भारतीय समाज में समरसता की भावना पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया जायगा। जिससे वर्तमान सामाजिक संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता को समझा जा सकता है।

मध्यकालीन धार्मिक प्रवृत्तियाँ और समरसता की आवश्यकता

भक्ति आंदोलन भारतीय समाज में व्यापक सांस्कृतिक चेतना के रूप में उभरता हैं। मध्यकालीन समाज में राजनीतिक अस्थिरता, सामाजिक असमानता और धार्मिक जटिलता का वातावरण व्याप्त था। धर्म का स्वरूप कर्मकांड और बाह्यचार से घिरता जा रहा था, जिससे सामान्य जन स्वयं को उससे दूर अनुभव करने लगा था। इसी संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन उल्लेखनीय है—''भक्ति आंदोलन जनमानस की अंतरात्मा से निकली हुई वह पुकार थी, जिसने धर्म को आडंबर से मुक्त कर लोकमंगल की दिशा में अग्रसर किया।''[1] मध्यकालीन धार्मिक वातावरण में अनेक सम्प्रदायों और मतों का प्रभाव था। इन सबके बीच जातिगत भेदभाव समाज की एक बड़ी विडंबना बनी हुई थी। ऐसे समय में कबीर ने सामाजिक कुरुतियों पर तीखा प्रहार करते हैं -

''जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥''[2]

कबीर का यह कथन स्पष्ट करता है कि व्यक्ति की पहचान उसके ज्ञान और आचरण से होनी चाहिए उसकी जाति से नहीं। यह विचार सामाजिक समरसता के बुनियाद को सुदृढ़ करता है। इसी प्रकार गुरु नानक ने भी मानव एकता पर बल देते हुए कहते हैं-

''एक नूर ते सब जग उपज्या, कौन भले कौन मंदे।''[3]

यहाँ एक नूर की अवधारणा समस्त सृष्टि की समान उत्पत्ति को दर्शाती है। जब सब एक ही स्त्रोत से उत्पन्न है, तब ऊँच नीच का भेद निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार निर्गुण संत दार्शनिक स्तर पर समरसता की स्थापना करते हैं वही दूसरी ओर सगुण भक्तिधारा के कवि सामाजिक संतुलन और लोकमंगल को प्रमुखता देते हैं। तुलसीदास जी ने स्पष्ट कहा हैं-

''परहित सरिस धर्म नहीं भाई,
पर पीड़ा सम नहि अधमाई॥''[4]

यहाँ धर्म का सर्वोच्च रूप परहित को माना गया है। इससे स्पष्ट होता है कि भक्ति सामाजिक नैतिकता और मानव-कल्याण को ही धर्म का मूल तत्व मानती है। इस प्रकार मध्यकालीन धार्मिक जटिलताओं के बीच भक्ति साहित्य ने समाज को एक सरल, सर्वसुलभ और समन्वयकारी मार्ग प्रदान किया है। यह केवल आध्यात्मिक साधना का आंदोलन नहीं था, बल्कि सामाजिक समरसता का भी सशक्त प्रयास था।

निर्गुण काव्य परंपरा में सामाजिक समरसता का स्वरूप

मध्यकालीन भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक असमानता, जातिगत भेदभाव और धार्मिक कट्टरता के बीच निर्गुण परंपरा के कवियों ने सामाजिक समरसता की स्थापना का महत्वपूर्ण प्रयास किया। इस परंपरा में दो वर्ग में कवियों को बाँटा गया; ज्ञानमार्गी धारा तथा प्रेममार्गी धारा। निर्गुण संतों ने ईश्वर को निराकर, सर्वव्यापी मानाय उनके विचारों का मूल उद्देश्य समाज में व्याप्त ऊँच-नीच के भेद को समाप्त करना तथा मानव मात्र की समानता को स्थापित करना था। इस दृष्टि से निर्गुण संत काव्य केवल आध्यात्मिक अनुभव का माध्यम नहीं था, बल्कि सामाजिक चेतना का भी एक महत्वपूर्ण प्रयास था। निर्गुण संत कवियों का मानना था ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान है और किसी भी प्रकार का भेदभाव मनुष्य की संकीर्ण मानसिकता का परिणाम है। इसलिए वे जाति, धर्म और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर होने वाले भेदभाव का विरोध करते हैं। संत कबीर ने अपने काव्य में अनेक स्थान पर इस विचार को स्पष्ट करते हैं-

''एक बूंद में सृष्टि रची है, कौन ब्राह्मण कौन सुदा।''[5]

यह कथन कबीर की वाणी में मिलता है। यह स्पष्ट करता है कि समस्त मानव जाति एक ही स्त्रोत से उत्पन्न हुई है, उनमें किसी प्रकार का भेद करना आवश्यक नहीं है। कबीर का यह विचार सामाजिक समरसता की भावना को सुदृढ़ करता है। निर्गुण संतों की दृष्टि में सच्चा धर्म वही है जो मानवता को स्वीकार करता है और सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखता हैं। वह धर्म के नाम पर फैले हुए आडंबरों और कर्मकांडों का विरोध करते हैं तथा सरल और सहज भक्ति को महत्व देते हैं। कबीर ने इस संदर्भ में कहा है-

''पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥''[6]

उनकी लेखनी में समानता और न्याय की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसी तरह रैदास भी एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें किसी प्रकार के भेदभाव का कोई स्थान नहीं हैं। इस प्रसिद्ध पद में यह भवना व्यक्त होती है-

''ऐसा चाहूँ राज मैं, जहाँ मिलै सबन को अन्न।
छोट-बड़ों सब सम बसै रैदास रहै प्रसन्न॥''[7]

यह पद रैदास की वाणी में मिलता है। संत रैदास ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जहाँ सभी लोगों को समान

अधिकार, सम्मान तथा जीवनोपयोगी साधन प्राप्त हों। उनका यह विचार सामाजिक, समरसता और लोककल्याण के आदर्श को अभिव्यक्त करता हैं। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने कहा हैं कि ''भक्ति आंदोलन ने धर्म को लोकजीवन से जोड़कर समाज में नई चेतना तथा समानता की भावना का विकास किया।''[8] इसी प्रकार सूफी मत की सम्पूर्ण साधना प्रेम पर आधारित रही है। साधना की उच्च अवस्था तक पहुँचने पर भी सूफियों की दृष्टि में लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रति गहरा सरोकार बना रहा। उन्होंने परंपरा को स्वीकार करते हुए भी रूढ़ एवं जर्जर तत्वों की जकड़न को स्वीकार नहीं किया। अपने उदार, मानवीय तथा स्वच्छंद विचारों के कारण सूफियों का सिद्धांत एवं दर्शन किसी संप्रदाय विशेष अथवा पूर्वाग्रह से निर्मित न होकर व्यापक मानवतावादी दृष्टि का प्रतिफल बन गया। इसी प्रेमप्रधान एवं मानवतावादी दृष्टि को सूफी कवियों ने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। मालिक मोहम्मद जायसी ने पद्मावत में इसी प्रेममार्ग की कठिनता, त्याग और पूर्ण समर्पण का वर्णन करते हुए कहते हैं-

प्रेम पहार कठिन बिधि गढ़ा। सो पै चढ़े जो सिर सौं चढ़ा।
पंथ सूरी कर उठा अँकुरु। चोर चढ़े की चढ़ मंसूरु॥[9]

सूफी कवियों की दृष्टि मानवतावादी एवं उदार दृष्टि थी। वे मानवीय सत्य का उद्घाटन करते थे। इसी सत्य की अभिव्यक्ति में जो दर्शन उनका सहायक हो सकता था, उसे सूफी प्रेमाख्यानकारों ने बड़े आदर भाव से ग्रहण किया। डॉ. रामस्वरुप चतुर्वेदी ने जायसी की कविता पर विचार करते हुए कहा है, ''जायसी के संदर्भ में यह बात उभर कर आती है कि कविता मात्र सम्प्रदायिक नहीं होती। मुसलमान होकर हिन्दू शौर्य की गाथा दिल्ली के सुल्तान के विरुद्ध एक नाजुक प्रसंग है। जायसी पद्मावत के चित्रण में एकदम खरे उतरते हैं। यहाँ दोनों पक्षों का पूरे आदर और आत्मीयता से उल्लेख हुआ है- हिन्दू तुरक दुवौ रन गाजे और अगर आत्मीयता कहीं कुछ अधिक है तो चित्तौड़ के साथ न की दिल्ली के साथ।''[10] स्पष्ट है कि सूफी साधकों की मूल दृष्टि संप्रदाय-सापेक्ष न होकर मूल्य-सापेक्ष रही हैं। यह मूल्य समय सापेक्ष होने के साथ-साथ सार्वभौम भी था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस संदर्भ में कहा है, ''मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मगन होने और मगन करने का समय आ गया था।... ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम के पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के घर की थीं। इसकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने दिखला दिया कि एक गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता था।''[11] इन विचारों से स्पष्ट होता है कि निर्गुण काव्य केवल आध्यात्मिक साधना का माध्यम नहीं, बल्कि यह सामाजिक समरसता और मानवीय एकता की स्थापना का भी एक सशक्त प्रयास था। निर्गुण काव्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें लोकभाषा का प्रयोग किया गया है। संत कवियों ने संस्कृत जैसी कठिन भाषा के स्थान पर लोकभाषाओं का प्रयोग किया, जिससे वह अपने विचार सामान्य जन तक पहुँचाने में सफल रहे हैं। इससे समाज के विभिन्न वर्गों में समानता और जागरूकता की भावना का विकास हुआ। लोकभाषा के माध्यम से निर्गुण कवियों ने समाजिक समरसता का संदेश जन-जन तक पहुंचाया।

सगुण भक्ति काव्य में सामाजिक समरसता और लोकमंगल की भावना

भक्ति आंदोलन ने पहली बार देश के प्रत्येक भू-भाग के निवासियों को अपनी ओर आकर्षित किया। इस आंदोलन ने उत्तर और दक्षिण की दूरी मिटाकर एकत्व की ऐसी लहर फैलाई, जिसमें सभी ने एक दूसरे से प्रेरणा ली और प्रेरणा दी। भक्तिकालीन साहित्य की दो प्रमुख धाराएँ मानी जाती हैं- निर्गुण और सगुण। जहाँ निर्गुण संतों ने जाति-पाति, धार्मिक आडंबर और सामाजिक विषमता का तीखा प्रतिरोध करते हुए मानव, समानता की स्थापना का प्रयास किया, वहीं सगुण भक्ति धारा ने ईश्वर के साकार रूप के माध्यम से समाज में नैतिकता, मर्यादा और लोकमंगल की भावना को स्थापित करने का कार्य किया। मध्यकालीन भारत राजनीतिक अस्थिरता, धार्मिक तनाव और सामाजिक विघटन का समय था। ऐसे वातावरण में सगुण भक्ति कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से समाज को सांस्कृतिक आधार प्रदान किया और एक ऐसे आदर्श समाज की अवधारणा प्रस्तुत की जिसमें प्रेम, धर्म, कर्तव्य और सामूहिक कल्याण का महत्व हो।

सगुण भक्ति धारा मुख्यत: दो रूपों में विकसित हुई - रामभक्ति और कृष्णभक्ति। रामभक्ति धारा में मर्यादा, धर्म और आदर्श समाज की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है, जबकि कृष्णभक्ति धारा में प्रेम, सौंदर्य और मानवीय संवेदनाओं की

अभिव्यक्ति प्रमुख रूप से दिखाई देती है। इन दोनों धाराओं के कवियों ने समाज को यह संदेश दिया कि ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति मनुष्य के भीतर करुणा, सहिष्णुता और समरसता की भावना उत्पन्न करती है।

रामभक्ति धारा के प्रमुख कवि तुलसीदास जी ने अपने ग्रंथ रामचरितमानस में 'रामराज्य' की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। यह केवल धार्मिक नहीं बल्कि सामाजिक आदर्श का भी प्रतीक है। रामराज्य का वर्णन करते हुए तुलसीदास लिखते हैं–

''दैहिक दैविक भौतिक तापा।
रामराज्य काहू नहिं व्यापा॥''[12]

इस पंक्ति में तुलसीदास ऐसे समाज की बात करते हैं जहाँ किसी प्रकार का दु:ख, अन्याय या असमानता नहीं है। यहाँ सभी लोग अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए संतुलित और सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार सगुण भक्ति काव्य में समाज की समरस और संतुलित संरचना की परिकल्पना दिखाई देती है।

कृष्णभक्ति धारा के कवियों ने भी प्रेम और भक्ति के माध्यम से सामाजिक समरसता की भावना को विकसित किया। सूरदास की रचनाओं में कृष्ण का बालरूप और मानवीय व्यवहार समाज के विभिन्न वर्गों को एक सूत्र में बाँधता है। कृष्णभक्ति धारा के प्रमुख कवि सूरदास ने भी अपने काव्य में प्रेम और मानवीय संवेदनाओं को प्रमुखता से स्थान दिया है। उनके काव्य में कृष्ण का बालरूप केवल धार्मिक भावना का प्रतीक नहीं बल्कि मानवीय स्नेह और सौहार्द का भी प्रतीक है। सूरदास लिखते हैं–

''मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।''[13]

– सूरसागर, सूरदास

सूरदास की रचनाओं में कृष्ण का मानवीय रूप समाज के विभिन्न वर्गों को जोड़ने का कार्य करता है। इसी प्रकार मीराबाई ने भी भक्ति के माध्यम से सामाजिक बंधनों को तोड़ने का प्रयास किया। वे लिखती हैं–

''में रे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।''[14]

– मीरा पदावली, मीराबाई

मीरा का यह कथन सामाजिक बंधनों से ऊपर उठकर ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना को व्यक्त करता है। कृष्ण का चरित्र सामाजिक विभाजनों से परे जाकर प्रेम और करुणा का संदेश देता है। इस प्रकार सगुण भक्ति काव्य में ईश्वर का साकार रूप समाज को सांस्कृतिक और भावनात्मक आधार प्रदान करता है।

साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने भी सगुण भक्ति धारा के सामाजिक महत्व को स्वीकार किया है। हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि भक्ति आंदोलन ने भारतीय समाज में एक नई सांस्कृतिक चेतना का विकास किया। उनके शब्दों में–

''भक्ति आंदोलन ने धर्म को लोकजीवन से जोड़कर समाज के विभिन्न वर्गों को एक सामान्य भावभूमि पर लाने का कार्य किया।''[15]

इसी प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भक्ति साहित्य के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

''भक्ति आंदोलन भारतीय समाज में व्यापक सांस्कृतिक समन्वय का आंदोलन था जिसने समाज की विभाजक प्रवृत्तियों को कम करने का प्रयास किया।''[16]

प्रख्यात आलोचक रामविलास शर्मा भी भक्ति साहित्य को सामाजिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार–

''भक्ति आंदोलन केवल धार्मिक आंदोलन नहीं था, बल्कि यह भारतीय समाज के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का एक महत्वपूर्ण चरण था।''[17]

अन्य आलोचकों ने भी सगुण भक्ति धारा की सामाजिक भूमिका पर प्रकाश डाला है। नामवर सिंह के अनुसार भक्ति साहित्य ने भारतीय समाज में सांस्कृतिक एकता की भावना को मजबूत किया। उनके शब्दों में–

''भक्ति साहित्य ने भारतीय समाज की सांस्कृतिक चेतना को एक व्यापक आधार प्रदान किया।''[18]

इन विचारों से स्पष्ट होता है कि सगुण भक्ति धारा केवल धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं थी, बल्कि यह सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को संगठित करने का एक माध्यम भी था। सगुण भक्त कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से समाज को नैतिक मूल्य, धर्म और प्रेम की शिक्षा दी। उन्होंने ईश्वर के आदर्श चरित्रों के माध्यम से समाज को यह बताया कि मनुष्य का जीवन केवल व्यक्तिगत सुख तक सीमित नहीं है, बल्कि उसमें समाज और लोकमंगल के प्रति भी उत्तरदायित्व निहित है।

इस प्रकार सगुण भक्ति काव्य ने भारतीय समाज में समरसता, नैतिकता और सांस्कृतिक एकता की भावना को मजबूत किया। यदि निर्गुण संतों ने सामाजिक असमानताओं का विरोध करके समरसता का मार्ग प्रशस्त किया, तो वहीं सगुण भक्ति कवियों

ने आदर्श चरित्रों और धार्मिक मूल्यों के माध्यम से उस समरसता को स्थिर और व्यापक बनाने का प्रयास किया। इसलिए भक्तिकाल की दोनों धाराएँ 'निर्गुण और सगुण' मिलकर भारतीय समाज में समन्वय और सांस्कृतिक एकता की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भक्तिकालीन साहित्य केवल धार्मिक आस्था का साहित्य नहीं था, बल्कि वह अपने समय और समाज में गहराई से जुड़ा हुआ एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन भी था। मध्यकालीन भारतीय समाज राजनीतिक अस्थिरता, धार्मिक जटिलताओं और सामाजिक विषमताओं से गुजर रहा था। ऐसे समय में भक्ति आंदोलन ने समाज के विभिन्न वर्गों को जोड़ने और लोकजीवन में नई चेतना उत्पन्न करने का कार्य किया।

निर्गुण संतों ने जहाँ जाति-पांति, धार्मिक आडंबर और सामाजिक असमानताओं का विरोध करते हुए मानव समानता और समरसता का संदेश दिया, वहीं सगुण भक्ति कवियों ने प्रेम, भक्ति और लोकमंगल के आदर्शों के माध्यम से समाज में नैतिक संतुलन और सांस्कृतिक एकता की भावना को मजबूत किया। इस प्रकार भक्तिकाल की दोनों धाराएँ अपने-अपने ढंग से समाज में समन्वय और समरसता की स्थापना का प्रयास करती दिखाई देती हैं।

भक्ति आंदोलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी रही कि इसने लोकभाषाओं को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, जिसके कारण सामान्य जन की भावनाएँ और अनुभव साहित्य में व्यापक रूप से व्यक्त हो सके। इससे समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सांस्कृतिक संवाद और एकता की भावना को बल मिला।

भक्ति आंदोलन के व्यापक प्रभाव को रेखांकित करते हुए गजानन माधव मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''भक्ति आंदोलन का जन-साधारण पर जितना व्यापक प्रभाव पड़ा, उतना किसी अन्य आंदोलन का नहीं पड़ा।'' इस कथन से स्पष्ट होता है कि भक्ति आंदोलन केवल आध्यात्मिक अनुभव तक सीमित नहीं था, बल्कि उसने सामाजिक चेतना और जनजागरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अत: कहा जा सकता है कि भक्ति साहित्य ने भारतीय समाज में समरसता, सांस्कृतिक एकता और मानवीय मूल्यों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आज भी जब समाज अनेक प्रकार के विभाजनों और तनावों का सामना कर रहा है, तब भक्त कवियों की वाणी हमें यह स्मरण कराती है कि प्रेम, सहिष्णुता और मानवता ही किसी भी स्वस्थ समाज की वास्तविक आधारशिला हैं।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण, पृ-25
2. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, 22वां संस्करण, पृ-15
3. वही, पृ-25
4. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय मानविकी विध्यापीठ, पृ-35
5. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, 22वां संस्करण, पृ-35
6. वही, पृ-39
7. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय मानविकी विध्यापीठ, पृ-39
8. भारतीय साहित्य की भूमिका, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ-19
9. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय मानविकी विध्यापीठ, पृ-38
10. वही, पृ-39
11. वही, पृ-41
12. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण, पृ-65
13. भारतीय साहित्य की भूमिका, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ-105
14. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण, पृ-85
15. वही, पृ-265
16. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, 22वां संस्करण, पृ-276
17. भारतीय साहित्य की भूमिका, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ-168
18. कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नवीन संस्करण, पृ-98

आधार ग्रंथ

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, त्रिवेणी

भिखारी ठाकुर के नाटकों में रस योजना

शुभम मणि त्रिपाठी

शोध सार

भिखारी ठाकुर लोकनाट्य के ऐसे सूत्रधारों में हैं जिन्होंने नाटक को वर्तमान स्थिति के यथार्थ से जोड़ दिया और समाज को ज्ञान देने के लिए अपने नाटकों को आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद का रूप दिया, जो हमें उनके नाटकों के क्लाइमैक्स में दिखता हैं। लोक नाटकों में लोक गीतों की प्रधानता होती हैं। जो हमें भिखारी ठाकुर के नाटकों में भी देखने को मिलता है, लोक गीत कई प्रकार के रसों से परिपूर्ण होते हैं। जहाँ एक रस का भाव छूटा की हमें दूसरा सुनने को मिल जाता है, ये कड़ी कभी टूटती हुई दिखती नहीं है। राहुल सांकृत्यायन लोकगीतों की बात करते हुए कहते हैं-''एक एक लोकगीत क्या है; रस से लबालब भरा हुआ प्याला है, जिसे पीने से प्यास बुझने के स्थान पर और बढ़ती जाती है।'' रस की ये परिभाषा लोकगीतों में और भी रसों को खोजने, देखने और ग्रहण करने के लिए लालायित करती है। क्योंकि भिखारी ठाकुर अपने नाटकों को बहुत से रसों से सींचा है, जो किसी भी साहित्य का जरूरी अंग होता है।

शोध विस्तार

बहुत कम ऐसे रचनाकार होते हैं जो जीवित रहते मिथ बन जाते हैं, भिखारी ठाकुर एक ऐसे ही रचनाकार हैं। वे अपने जीवन काल में ही भोजपुरी समाज का मिथ बन चुके थे। यद्यपि उनके मृत्यु के बाद उनके नाटकों का प्रदर्शन तो जारी रहा और भोजपुरी समाज और रंगकर्मियों ने तो उन्हें सामाजिक जीवन की मुख्य धारा में जीवित रखा, पर हिंदी साहित्य के रंगमंच ने उन्हें लोक का ही बना के रखा, भले ही उनके नाटकों की समस्या विश्वव्यापी है। भिखारी ठाकुर आदर्श भारतीय कथानकों के सहारे आधुनिक समय की विसंगतियों पर प्रहार करते हैं। आज जहाँ लोग रिश्तों की मर्यादा थोड़े से स्वार्थ के चक्कर में धूमिल कर रहे हैं, वही अपने नाटक 'भाई-बिरोध' में इस ओर इशारा करते हैं कि आज के भाई भाई के रिश्ते किस कगार पर पहुँच गए है, जहाँ एक भाई दूसरे भाई की हत्या कर देता है। वही भिखारी ठाकुर इस नाटक में उपदेश देते हैं-

''एह विरोध नाटक तन-मन से बिधिपूर्वक जे गाई
भरत-राम लछुमन-रिपुसूदन करिहन तेकर भलाई।''

इसी प्रकार उनके नाटक 'बिदेसिया' में पति के प्रवास के बाद वियोगिनी कैसे अपने सतीत्व को बचाने की कोशिश करती है और अपने पति का इंतजार करती है, भिखारी ठाकुर ने बारहमासा और गीतों के माध्यम से अपने नाटक में वियोगिनी सुंदरी के दुख का वर्णन विप्रलम्भ श्रृंगार के माध्यम से किया हैं। वहीं 'बेटी वियोग' नाटक में बेटी को बेचने की समस्या को समाज के सामने रखा है तो 'विधवा विलाप' में विधवाओं के दारुण स्थिति का चित्रण किया है, जो करुण रस के माध्यम से दर्शाया हैं। 'कलयुग प्रेम' नाटक में शराब और अन्य बुरे व्यसन में पड़े पति और खराब होते दाम्पत्य जीवन की स्थिति का चित्रण किया गया है।

'राधेश्याम बहार' नाटक में भिखारी ठाकुर की कृष्ण भक्ति देखने को मिलती है और इस नाटक के माध्यम से भिखारी का भक्तरूप सामने आता है, जो भक्ति रस से परिपूर्ण है। वही 'गबरघिचोर' नाटक में स्त्री गर्भाधिकार की माँग को समाज के सामने रखते हुए ब्रेख्त के नाटक 'काकेशियन चॉक सर्कल' के समीप खड़ा होते हैं। 'ननद भौजाई' नाटक में

अपने यौवन के समय में लड़की को कैसे खुद को बचाना है? भौजाई के संवाद के माध्यम से दिखाते हैं।

यद्यपि भिखारी ठाकुर को विधिवत शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला परंतु उन्होंने लोक श्रुति परंपरा, रामचरित मानस का श्रवण और सूरसागर आदि के माध्यम से अवश्य शिक्षा ग्रहण की है, इन अर्थों में देखें तो वह कबीर की परंपरा में ठहरते हैं। लेकिन जब हम उनके नाटकों का अध्ययन करते है, तो पाते हैं कि उन्होंने विभिन्न रसात्मक तत्वों को अपने रचनाओं में प्रयोग किया है। ये कहना कि भिखारी ठाकुर को काव्यशास्त्र की विधिवत शिक्षा प्राप्त नहीं थी सही है, लेकिन उन्होंने जो अपनी रचना में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, चौबोला आदि की रचना की उसमें उन्होंने अपने साथ शास्त्रीय व्याकरण की अपेक्षा अनुकरण लय, गति, यति और राग विन्यास पर अधिक बल दिया है। खुद भिखारी ठाकुर इस बात को अपने पदों से स्वीकार करते हैं कि वह पढ़ना लिखना नहीं जानते थे।

''गो द्विज संत सभा पद परीके। लिखित बानी हालत कहु जोरी के लिखे पढ़े के हाल ना जानी। राखऽ पत शारदा भवानी''

इस प्रकार वह खुद ही अपनी सीमाओं को स्पष्ट करते हैं, इसलिए भिखारी ठाकुर के नाटक / काव्य को काव्यशास्त्रीय मानको के आधार पर घटिया कहना मानना उपहास करना महज विवेकहीनता और निर्दयता होगी। फिर भी उनके काव्यों में बिंब, प्रतीकों के अलावा उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीक, अप्रस्तुत प्रशंसा, आवहती आदि काव्यालंकारों की छटा देखना एक रोचक विषय है। अतः तुक और तुकांत के प्रति भिखारी ठाकुर मोह की सीमा तक चले गए हैं। इनकी कविता काव्य गुणों से समन्वित है, सुरीली आवाज में इन्हें श्रवण करना एक मनोरम अनुभव है। तोड़ टुकड़ा आदि संगीत के सभी तत्व लय, ताल, चलन, आरोह अवरोह आदि का भरपूर समन्वय इसकी काव्यों की विशेषता है। इस दृष्टि से भिखारी ठाकुर के काव्य सौष्ठव की पड़ताल अपेक्षित है। भिखारी ठाकुर के नाटकों में हमें रसात्मक तत्व निम्न प्रकार से दिखाई पड़ते हैं।

भिखारी ठाकुर के नाटकों के गीत लोकगीत ही है, उनके नाट्य कीर्तियों में काव्य के कई रस विद्यमान हैं किन्तु उनका मन विप्रलंभ श्रृंगार, करुण रस और भक्ति रस में ज्यादा रमा है, जो हमें बिदेसिया और राधेश्याम बाहर नाटक में मुख्य रूप से देखने को मिलता है। करुण रस भी इनके नाटकों में खूब देखने को मिलता है, जो इनके नाटकों के स्त्रीपात्रों के संवाद के माध्यम से व्यक्त होता है, चाहे 'बिदेसिया' की सुंदरी हो चाहे 'बेटी वियोग' की उपातों हो या 'कलयुग प्रेम' की दुखहारिन हो, इन स्त्रियों की दारुण स्थित इनके नाटकों में देखने को मिलती है।

डॉक्टर कृष्णदेव उपाध्याय का कहना है कि 'यदि यह कहा जाए कि रस ही इन गीतों के प्राण हैं, तो यह सत्य से दूर ना होगा। इन गीतों की रसात्मकता के आगे बड़े-बड़े कवियों की सरस सूक्तियाँ भी सूनी जान पड़ती है' लोक साहित्य में रस उपलब्धता ही जन समाज को मनोरंजन प्रदान करती है। भिखारी ठाकुर को 'भोजपुरी का शेक्सपियर' कहा जाता है, अपने साहित्य में किसी भी रस से परहेज नहीं किया है, उनकी रचनाओं में रस निष्पत्ति स्वतः हुई है। जगलाल प्रसाद सिंह 'विद्यार्थी' के इस कथन पर थोड़ा गौर करें तो भिखारी ठाकुर के साहित्य में रस की स्थिति की दिशा बन सकती है। उन्होंने लिखा है- ''अभिनवगुप्त द्वारा किए गए रस विवेचन से स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति से ही रस की प्रतीति होती है। उनका कहना था कि मनुष्य के हृदय में वासना रूप में स्थायी भाव निहित रहता है। किसी लौकिक कारण से (जिसे रस में विभाव कहते हैं) वह संस्कार रूप भाव उद्दीप्त हो जाता है। दार्शनिक मत से यह बात सत्य ही है कि मनुष्य की आत्मा पर संस्कार का प्रभुत्व रहता है। हम जो सामान्यतः जो कार्य या जो रचनाएँ करते हैं, उसमें साहित्य के नौ रसों में से कुछ का होना असंभावी हो जाता है।'' इस कथन के आलोक में यदि भिखारी ठाकुर के नाट्य साहित्य पर दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि उनके नाट्य साहित्य में श्रृंगार, हास्य और करुण रस भरपूर मात्रा में है। भिखारी ठाकुर की नाट्य रचनाओं में श्रृंगार रस का दूसरा पक्ष यानी वियोग श्रृंगार भरा पड़ा है, वियोग की स्थिति प्रवास के कारण है। प्रवास ने नई दुल्हनों को अकेलेपन की पीड़ा दिया। उस अकेलेपन में पति को याद करने के अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता नहीं दिखता। उनका बिदेसिया नाटक तो नारी वियोग की पूरी दास्तान ही है। प्यारी सुंदरी वियोगावस्था में बिलखती हुई कहती है-

''करि के गवनवा भवनवा में छोड़ी के,
अपने परइल पुरुबुवा बलमुआँ।
आँखियाँ से दिन भर गिरे लोर ढरढर,
बटिया जोहत दिन बीते ना बलमुआँ।
काई काइली चूकवा कि छोड़लऽ मुलुकवा,
कहलऽ ना दिलवा के हलिया बलमुआँ।
साँवली सूरतिया सालत बाटें छतिया में,

एको नाहीं पतिया भेजवलऽ बलमुआँ।''

भिखारी ठाकुर ने श्रृंगार का वियोग पक्ष जितना पवित्र, संयत, शुद्ध एवं आदर्श परक है, उतना ही संयोग पक्ष भी है रीतिकालीन कवियों की तरह अश्लील भद्दा व कुरुचिपूर्ण नहीं है। दरअसल भिखारी ठाकुर ने रस शास्त्र की पूर्ति दरबार को खुश करने के लिए नाट्य रचना नहीं की थी, बल्कि उन्होंने आम जनता के लिए आम जनता के सबसे पवित्र भावों को अपने नाटक के माध्यम से रखा।

महेशराचार्य लिखते हैं, ''भिखारी के जीवन में सिर्फ वियोग-ही-वियोग है, वास्तविक वियोग समाज के द्वारा तिरस्कृत वियोग और सामाजिक कुरीतियों से उत्पन्न हस्यास्पद वियोग। भिखारी देखते हैं कहीं माता अपने पुत्र के लिए बिलख रही है, कहीं पत्नी अपने पति के लिए बेचैन है, कहीं भाभी अपने देवर के लिए तड़प रही है और कहीं बेटी बूढ़े पतिदेव को देखकर कांप रही है।''

भिखारी ठाकुर की दृष्टि संयोग पक्ष पर भी गई है राधेश्याम बहार में कृष्णा और सखियों की छेड़छाड़ श्रृंगार का संयोग रूप ही है, कृष्ण नदी किनारे गोपियों के साथ लीला करते हैं, उनकी गगरी फोड़ देते हैं एक दूसरे से झांका झूमर करते हैं। एक सखी का बयान देखिए-

''सुन ए मोहन प्यारे, हम ना खेलबी तोहरा संग।
सारी मोरी फारी दिहलऽ, बहियाँ झकझोरलऽ,
सुन ए चोलियां के बनवा कइलऽ भंग।
रीति अनरीती भइली हम बेपानी,
सुन ए लउके लागल सगरो अंग।''

पुत्रबध नाटक में चपाट और छोटकी के बीच हुए संवाद, संयोग श्रृंगार का एक अलग स्वाद देते है। छोटकी कहती हैं-

''हम हई नइहर के सवखीन, कपड़ा पहिरिले रंगीन;
चोली कीन दिहऽ सटल बदनवा में।''

चपाट जवाब देता है-

''खोजें लगलू झकाझक, बने खातिर चकाचक
अगिया लगाई देहलू, धरती असमानवा में।''

भिखारी ठाकुर की नाट्य रचनाओं में हास्य की स्थिति तब बड़ी बेजोड़ रूप में उभर के आती है जब सामाजिक अज्ञानता, विकृति, विडंबना इत्यादि की स्थिति हो। भोजपुरी समाज में बाल वृद्ध विवाह की विकृति पर चोट करते समय हास्य व्यंग्य उत्पन्न करता है, नाटक 'बेटी बियोग' में बूढ़े दूल्हे पर विवाह के अवसर पर द्वारपूजा और ससुराल में जो हास-परिहास हुआ है, वह बड़ा हास्य पैदा करता है-

चलनी के चालल दुलहा, सुप के झटकारल हैं;
आई कोहरे देखऽ वर के पान के चभूलावाल हैं;
आम लेखा पाकल दुलहा, गाँव के निकालल हे।
मउरी लगावल दुलहा, जामा पहिरावल हे।
कहत 'भिखारी' हवन राम के बनावल हे।

वहीं जब भिखारी ठाकुर के नाटकों में करुण रस की बात आती है, तब यह करुण रस भिखारी ठाकुर के नाटकों के प्राण बन जाते हैं। इस रस की अभिव्यक्ति बेटी की विदाई, वियोग और वैधव्य तीन अवसरों पर विशेष रूप से होती है। कन्या की विदाई के समय वैसे ही बहुत मार्मिक होती है, बेटी को बूढ़ा पति मिला हो, जो किसी भी समय चल बस सकता हो तब बेटी के लिए कितनी कारुणिक स्थिति होगी। भोजपुरी लोक समाज में विदाई के समय बेटियां बोल-बोल कर विलाप करती है, भिखारी ठाकुर की नाट्य रचना बेटी वियोगी ने तो समस्त भोजपुरी समाज को रुलाया था। वृद्ध पति खोजे जाने पर वह माता लोभा से कहती है-

''जमते मइया काहे ना माहुर देके दिहालू मारी?
हमरा के नाहक पाल में सांसत सहलू भारी।''

भिखारी ठाकुर के नाटकों में करुण और वात्सल्य रस का भाव सम्मिलित रूप से दिखता है, ये खासकर के भाई विरोधी नाटक में छोटे भाई की जान मझले भाई उपदर द्वारा मार दिए जाने पर, बड़ी भाभी वात्सल्य के साथ करुण विलाप करती है-

''हमारा के छोड़ी गईलऽ काल के कलेवा भइलऽ भऊजी के प्राण के आधार हो देवराउ। चाप राही भइलऽ कछू न कहीं गइलऽ मुदई के मनसा पूरावलऽ हो देवरउ।'' चुप

भिखारी की नाट्य रचनाओं में संख्या की गणना के लिए अद्‌भुत और शांत रस का भी नाम लिया जा सकता है, पुत्रबध नाटक में पुत्र अपने पिता द्वारा पत्नी के बहकावे पर मार दिया जाता है, मृत पुत्र एक साधु की कृपा से जीवित हो उठता है जो सामाजिक के माध्यम से सुनाया जाता है-

'जहाँ-तह बन में गाछी खोजे, चिंता में चौपट रहे रोजे।
मिला विपिन में साधु आई, जो लडिका के दिया जीआई।'

भिखारी ठाकुर की रचनाओं में जब देवताओं की स्तुति और गीत होते हैं तब शांत रस की उत्पत्ति हुई है पर उनके समस्त साहित्य में करुणा का भाव ही उद्‌घाटित हुआ है।

वहीं जब हम भिखारी की भक्ति देखनी हो तो भक्ति रस के

लिए हम भिखारी ठाकुर के नाटक राधेश्याम बाहर को देखना बड़ा सही प्रतीत होता है-

- सखी श्याम के दर्शन पाई,
जय-जय कहीं-कहीं सीस नवाई।

बात जब वीभत्स रस की होती है तब हम बेटी बियोग नाटक के एक प्रसंग को देख सकते हैं जहाँ बालिका अपने पिता से अपने पति के वीभत्स रूप को लेकर कहती है-

''मुँहवा में दांत नहीं लार चुवेला गाल माहि बावला पर भीतरी सलंदर हो बाबूजी जीभ दांत ओठ लाल पान से भइल बा लाल काल लेखा लागत बा सुरतिया हो बाबूजी''

इस प्रसंग में हम देख सकते हैं कि बेटी उपातो जब अपने घर से भागती है तब अपने पति का वर्णन करते हुए, उसकी काल से तुलना करती है जो लगता है उसे खा जाएगा या हर दिन उसे ग्रस रहा है। भिखारी के यहाँ वीभत्स इस रूप में है की वो केवल इंसान को घृणा ही नहीं कराता, बल्कि उसको ग्रसने का काम भी करता है।

अत: भिखारी ठाकुर के यहाँ हर रस कहीं न कहीं व्यक्ति, समाज के जनमानस और उन परिस्थितियों की हर स्थिति को दर्शाता है जिसे लोग हर रोज झेलते, जूझते और सँभालते हैं। भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों को इन सारें रसों से बांध और सान कर बनाया है। इसीलिए लोक में भिखारी हमेशा जीवित है क्योंकि जो लोक के मन को समझेगा वही लोक के रस को व्यक्त कर सकता है, इन भावों को व्यक्त करना उसी के वश की बात है, जो लोगों के अंतरमन को समझता और झेलता है। इसलिए भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों में रस की स्थिति को इस चरम तक पहुंचा दिया है, जिसका रसास्वादन आम जनता आज भी गीतों और नाटकों के माध्यम से करती है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रंथ

1. 'भिखारी ठाकुर रचनावली' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय पथ, सैदपुर पटना-800 004
2. हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास भाग 16 (काशी : नागरी प्रसारिणी सभा, 1960)
3. भारतीय काव्यशास्त्र, सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
4. भारतीय काव्यशास्त्र, निशा अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
5. लोक साहित्य की भूमिका, कृष्णदेव उपाध्याय, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
6. भिखारी ठाकुर: व्यक्तित्व एवं कृतित्व, तैयब हुसैन 'पीड़ित'
7. भिखारी समीक्षा, महेशराचार्य, (पटना: जनहित परिवार, 2004)
8. भिखारी ठाकुर: अनगढ़ हीरा, तैयब हुसैन 'पीड़ित', राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002
9. भिखारी ठाकुर और लोकधर्मिता, धनंजय सिंह, अनन्य प्रकाशन, ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

शोध-पत्र

नीतिशतक की शिक्षाओं की आधुनिक काल में प्रासंगिकता

डॉ. मंजू लता

भूमिका

भर्तृहरि संस्कृत वांग्मय के सर्वोत्कृष्ट कवियों में आते हैं। इनके काल के विषय में एक जनश्रुति है कि महाकवि युवावस्था में अत्यंत आसक्त प्रवृत्ति के थे। एक बार उनकी राजसभा में एक योगी आया जिसने उन्हें सदैव स्वस्थ और जवान रखने वाला अमृत्व फल दिया। कवि अपनी पत्नी पिंगला से अत्यंत प्रेम करता था इसलिए उसने सोचा कि यदि उसकी पत्नी यह फल खाकर स्वस्थ और जवान रहेगी तो अच्छा होगा इसलिए उसने वह फल उसको दे दिया। उनकी पत्नी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती थी इसलिए उसने वह फल उसको दे दिया। वह पुरुष किसी वेश्या से प्रेम करता था उसने सोचा कि यह फल यदि वह खाएगी तो वह हमेशा स्वस्थ और जवान रहेगी। उसने वह फल उसको दे दिया। उस वेश्या ने सोचा कि इस जीवन में अमृत्व लेकर मैं क्या करूँगी? यदि यह फल राजा को दे दूँ तो वह हमेशा स्वस्थ और जवान रहकर प्रजा की भलाई करेगा इसलिए उसने वह फल राजा को दे दिया। फल वापस प्राप्त कर जब राजा को सारी सच्चाई का पता चला तो उसे बहुत दु:ख का अनुभव हुआ और उसे इस संसार से वैराग्य हो गया। तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए उसने तीन शतकों की रचना की जो आगे जाकर संस्कृत गीतिकाव्य के क्षेत्र में अत्यंत प्रसिद्ध हुए—

1 नीतिशतक

2 श्रृंगारशतक

3 वैराग्यशतक

भर्तृहरि ने संसार का बखूबी अध्ययन किया था जो परिपक्व रूप मे उनकी कृतियों में दिखाई देता है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने संसार की छोटी से छोटी वस्तु को निखार कर समस्त प्राणी जगत को उदात्त शिक्षा प्रदान की है। सर्वप्रथम कवि ने नीतिशतक की रचना की जिसमें नीति से पूर्ण श्लोकों द्वारा मानव को जीवन के व्यावहारिक ज्ञान से परिचित करवाया, उसके बाद श्रृंगारशतक की रचना के द्वारा नवयुवतियों के मनमोहक सौन्दर्य एवं श्रृंगार का चित्रण किया और अंत में वैराग्यशतक मे कवि ने मानव जीवन की नश्वरता और वैराग्यता के महत्त्व को दर्शाते हुए तपस्वी जीवन को श्रेष्ठ बताया है।

शोध शब्द

विद्या, सज्जन संगति, मूर्ख पद्वति, कर्मयोग, नीच प्रवृति इत्यादि।

नीति-शतक की शिक्षाएं

इस शतक में नीतियों से सम्बंधित श्लोक हैं। कवि ने इसमें निहित श्लोकों के आधार पर जीवन के विपुल अनुभवों को संक्षेप रूप में प्रस्तुत किया है। इसके अंतर्गत मूर्ख व्यक्ति का अहंकार, नीच प्रवृत्ति वाले एवं दुष्ट लोगों का स्वभाव, विद्या विहीन का समाज में स्थान, विद्या का महत्त्व, मूर्ख की संगति का निषेध, सद्पुरुषों के साथ की प्रशंसा इत्यादि का बहुत ही स्वाभाविक रूप से वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम मूर्ख व्यक्ति का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि - कम बुद्धि वाले व्यक्ति को समझाना बहुत आसान है, अति विशिष्ट ज्ञान से युक्त व्यक्ति को समझाना और भी अधिक आसान है परन्तु जो व्यक्ति थोड़े से ज्ञान के कारण स्वयं को विद्वान् समझे उसे समझाना बहुत कठिन है, उसे तो ब्रह्मा भी समझाने में

असमर्थ हैं। अधिक प्रयास करने पर व्यक्ति मगरमच्छ जैसे भयंकर जीव के मुख के बीच में से मणि को निकाल सकता है, तूफानी लहरों वाले समुद्र को पार कर सकता है, क्रोध के कारण भयंकर सर्प को भी कोमल पुष्प के समान सर पर धारण कर सकता है अर्थात् व्यक्ति असम्भव से असंभव कार्य को प्रयास करने पर सिद्ध कर सकता है परन्तु हट्ठी और उस पर मूर्ख व्यक्ति को प्रसन्न नहीं कर सकता। यदि व्यक्ति असंभव कार्य करने का प्रयत्न करे तो मुट्ठी में रेत को दबाकर उसमें से भी तेल निकाल सकता है जो कि संभव नहीं है, प्यास के कारण व्यक्ति को रेगिस्तान में भी जल की प्रतीति होती है जिसे मृगतृष्णा कहते हैं उस मृगतृष्णा से भी जल पीकर अपनी प्यास शांत कर सकता है परन्तु हट्ठी मूर्ख व्यक्ति को प्रसन्न नहीं कर सकता।

''लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीड्य-
न्पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटन्छ्शविषाणमासादयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥''

(नीतिशतकम्, श्लोक 4)

मूर्ख व्यक्ति को सज्जनता की ओर उन्मुख करना उसी प्रकार है जिस प्रकार कमलनाल के कोमल दण्ड नाल से किसी पागल हाथी को बांधना या शिरीष पुष्प जैसे कोमल पुष्प से कठोर हीरे को काटना या शहद की मात्र एक बूंद से समस्त समुद्र के खारे जल को मीठा करने का प्रयास करना अर्थात् व्यक्ति असाध्य से असाध्य कार्य को संभव कर सकता है परन्तु मूर्ख जन अपने अल्प ज्ञान के कारण अभिमान में इतना चूर हो चुका होता है कि किसी के समझाने का उस पर कोई असर नही होता। ''विद्वानों की सभा में मौन रहना'' मानो विधाता ने इनके लिए एक अमूल्य आभूषण बनाया है जिसका उपयोग करके यह अपनी मूर्खता का छिपाने में सफल हो सकते हैं क्योंकि चुप रहने से उनकी मूर्खता दिखाई नहीं देगी और समाज में उनकी शोभा बढ़ती है। कवि के अनुसार मूर्खता एक असाध्य रोग है यदि कहीं आग लग जाये तो उसे जल के द्वारा बुझाया जा सकता है यदि सूर्य के ताप के कारण गर्मी लग रही हो तो छाते के प्रयोग द्वारा उस ताप का निवारण किया जा सकता है, बैल और गधे जैसे पशुओं को डंडे की मार के डर से वश में किया जा सकता है, असाध्य विष का भी समाधान किया जा सकता है अर्थात् हर समस्या का समाधान शास्त्र में उपलब्ध है पर मूर्खता की कोई दवा नहीं है। कवि कहता है कि मूर्ख व्यक्ति का साथ कितना भी सुखदायी क्यूँ न हो परन्तु वह अंत में कष्टदायी होता है इसलिए उसके साथ की अपेक्षा जंगल के कठिन रास्तों में वहाँ के रहने वालों का साथ अधिक श्रेयस्कर है। ऐसा आचरण करके हम इनके दुर्गुणों से बचे रहेंगे।

नीच व्यक्ति की तुलना कुत्ते से करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार एक कुत्ता हड्डी मिलने पर चाहे वह हड्डी कीड़ों से भरी हुई हो या उस पर मांस नहीं हो या उससे बदबू आ रही हो या जिसमें कोई स्वाद नहीं हो, पर उसका रसास्वाद करते हुए असीम आनंद का अनुभव करता है और ऐसे समय में यदि स्वयं उसके समीप देवता भी आकर खड़े हो जाये तो उनसे अन्य श्रेष्ठ वस्तु की मांग करने की अपेक्षा उसी से संतुष्ट रहता है। जिस प्रकार गंगा पहले स्वर्ग में स्थित थी, फिर स्वर्ग से शिवजी की जटाओं में गिरी, शिवजी की जटाओं से पर्वत पर गिरी, पर्वत से पृथ्वी पर गिरी और अंत में सागर में गिर कर अपने अस्तित्व को गवां कर उसी में लीन हो जाती है उसी प्रकार नीच व्यक्ति भी अपने अस्तित्व को खोकर अपने पतन की ओर अग्रसर होता है-

''शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तःक्षितिधरं
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोधो गंगेयम् पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥''

(नीतिशतकम्, श्लोक 9)

स्वाभिमानी बुढ़ापे में क्षीणता के कारण कमजोर होने पर भी जब शेर सूखी घास नहीं खाता है तो आपत्तिग्रस्त होने पर स्वाभिमानी व्यक्ति अपना स्वाभिमान क्यों त्याग देता है अर्थात् उसे अपना स्वाभिमान नहीं छोड़ना चाहिए। स्वाभिमान हीन व्यक्ति कुत्ते की भांति भोजन देने वाले को देखते ही पूंछ हिलाने लगता है चाहे उसका मालिक उसे कितना भी दुत्कारे वह उसकी चापलूसी करता रहता है। इसके विपरीत हाथी भोजन देने वाले को धैर्यपूर्वक देखता है और अपने मालिक की हजारों खुशामतों के बाद भोजन खाता है। जिस प्रकार सूर्य की तेज किरणें जब सूर्यकान्त मणि पर पड़ती हैं और उसका तेज दिखने लगता है अर्थात् सूर्य के तेज के कारण वह अपने तेज को प्रतिभासित करने लगता है उसी प्रकार स्वाभिमानी को अपना अपमान सहन नहीं करना चाहिए।

विद्या विहीन व्यक्ति साहित्य संगीत तथा 64 कलाओं से रहित ऐसे पशु के समान है जिसके ना तो पूंछ है और ना ही सींग है और जो ना ही घास खाता है। जिस के पास ना तो विद्या है, ना तपस्या रूपी धन है, ना दान देने की प्रवृत्ति है, ना ज्ञान है, ना सदाचार है, ना ही दया दक्षिणा आदि गुण हैं और ना ही वह धर्म का पालन करता है ऐसा व्यक्ति मानव कहलाने का अधिकारी नहीं है तथा इस भूमि पर भार के समान है।

विद्या के महत्त्व के विषय में बताते हुए कवि कहता है कि विद्या एक ऐसा अद्‌भुत् तथा छुपा हुआ धन है जिसे चोर भी नहीं चुरा सकता, इसके द्वारा व्यक्ति का सदैव मंगल होता है। यदि मन से इसका ज्ञान पाने वाले को यह दी जाये तो उत्तरोत्तर उसमे वृद्धि होती है तथा युगों का नाश होने पर भी कभी भी विद्या का नाश नहीं होता। विद्या प्राप्त करके ही व्यक्ति उच्च जीवन जी सकता है, श्रेष्ठ पद पर पहुंच सकता है, इहलौकिक सुखों का भोग कर सकता है। विद्या के माध्यम से गुरु बनाने के कारण विद्या गुरुओं की गुरु है, विदेश गमन व्यक्ति की सबसे बड़ी मित्र है, एक सच्चे मित्र के समान वह व्यक्ति के समस्त कार्यों को पूर्ण करने में सहायक सिद्ध होती है। इस संसार में राजाओं की नही अपितु विद्या की पूजा होती है।

विद्वानों का महत्त्व तथा उनके प्रति राजा के लिए उचित कर्तव्यों के विषय में बताते हुए कवि कहता है कि जिस राजा के राज्य में महान ज्ञानी और शास्त्र निहित वाणी बोलने वाले तथा ज्ञान से अपने शिष्यों को लाभान्वित करने वाले विद्वान् निर्धन अवस्था में वास करते हैं अर्थात् राजा उनका धनादि देकर उचित सम्मान नहीं करता है तो यह उसका अवगुण है उन विद्वानों का नहीं क्योंकि हीरे की पहचान जोहरी को होती है किसी मूर्ख को नहीं। कभी भी विद्वानों का अनादर नहीं करना चाहिए। जिन्होंने ईश्वर को प्राप्त कर लिया हो ऐसे लोगों को किसी भी प्रकार का लोभ या ऐश्वर्य अपने वश में नहीं कर सकता क्योंकि ज्ञानी लोग सम्मान के भूखे होते हैं ना की धन के। राजा यदि विद्वान् जन से क्रोधित भी हो जाये तो उनकी संपत्ति का हरण कर उन्हें सिर्फ देश निकला दे सकता है परन्तु उनके ज्ञान और उनकी योग्यता को उनसे नहीं छीन सकता। इस बात को हंसों की नीर क्षीर का भेद करने वाली बुद्धि के साथ करके कवि ने सुंदर दृष्टांत दिया है।

संस्कार युक्त वाणी की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि व्यक्ति के सौन्दर्य में वृद्धि हाथों में बाजूबंद पहनने से नहीं होती है, गले में चन्द्र के समान स्वच्छ हार पहनने से भी नही होती, रगड़-रगड़ कर स्नान करने से भी नहीं होती, शरीर पर चन्दन आदि का सुगन्धित लेप लगाने से भी नहीं होती, पुष्पों को धारण करने से नहीं होती और ना ही केशों को सुसज्जित करने से ही होती है क्योंकि यह सभी वस्तुएं नश्वर हैं परंतु परिष्कृत एवं सुसंस्कृत वाणी ही एकमात्र ऐसा अनश्वर आभूषण है जो मानव की सुन्दरता को बढ़ाने में सर्वोत्कृष्ट आभूषण है।

''केयूराणियन्ति न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणं॥''

(नीतिशतकम्, श्लोक 18)

लोक व्यवहार कुशलता के लिए लोकमर्यादा का पालन करने वालों को अपने बंधुओं के प्रति उदारता का व्यवहार करना चाहिए, अपने कर्मचारियों के प्रति दया भाव दिखाना चाहिए, दुर्जन लोगों के प्रति दुष्ट आचरण करना चाहिए। कहा भी गया है—''शठे शाठयं समाचरेत्'' सज्जन के साथ प्रेम युक्त आचरण करना चाहिए, विद्वानों के साथ विनम्र एवं सरल व्यवहार करना चाहिए, शत्रुओं के समक्ष बल से युक्त आचरण करना चाहिए जो लोग इन गुणों से युक्त हैं वही इस संसार को चलाने में समर्थ हैं अर्थात् उन्हीं से यह संसार टीका हुआ है।

सत्संगति का महत्त्व बताते हुए कवि कहता है कि अच्छा मित्र अपने मित्र की मंद बुद्धिता को दूर करने का प्रयास करता है तथा उसे सत्य भाषण के लिए प्रेरित करता है, सत्संगति से मन पवित्र होता है, आनंदित होता है, व्यक्ति यश को प्राप्त करता है। मानव को अपने कल्याण के लिए जीव हिंसा से परे रहना चाहिए, पराये धन के प्रति आसक्त नहीं रहना चाहिए, समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए सदैव सत्य बोलना चाहिए, सामर्थ्य के अनुसार दान देना चाहिए, परस्त्री में मन नही लगाना चाहिए अर्थात् अपनी स्त्री में मन लगाना चाहिए, लोभ और मोह से दूर रहना चाहिए, बड़ों का सम्मान करना चाहिए तभी व्यक्ति का चहुंमुखी विकास हो सकता है। सज्जन लोगों को सदैव न्याय के पथ पर चलना चाहिए, अंतिम समय में भी निंदनीय कार्य नहीं करना चाहिए, दुर्जनों से कभी भी अनुनय-विनय नहीं करना चाहिए, जिन की कमाई कम हो ऐसे मित्रों से कभी भी धन नहीं मांगना चाहिए तथा महान चरित्र वाले लोगों के मार्ग का सदैव अनुसरण करना चाहिए।

''प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेप्यसुकरं
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्या: सुह्रदपि न याच्य: कृशधन:।
विपद्युच्चौ: स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टम् विषममसिधाराव्रतमिदं॥''

(नीतिशतकम्, श्लोक 27)

धन का महत्त्व बताते हुए कवि कहता है कि सभी गुण धन पर आश्रित हैं, धन से ही समस्त कार्य पूर्ण होते हैं, व्यक्ति को धन के कारण ही समाज में उच्च पद प्राप्त होता है, धनी व्यक्ति का ही समाज में सम्मान होता है निर्धन का नहीं। धन के बिना सभी गुण तिनके के समान हैं, जिसके पास धन की गर्मी होती है वह अत्यंत आदरणीय होता है परन्तु धन के बिना वह तुच्छ होता है। धनवान व्यक्ति का झूठ भी सच माना जाता है और निर्धन का सच भी झूठ, धनवान ही सभी गुणों से युक्त माना जाता है अर्थात् उच्चकुलीन व्यक्ति रमणीय तथा समस्त शास्त्रों को जानने वाला माना जाता है परन्तु निर्धन व्यक्ति सभी गुणों से युक्त होने पर भी सम्माननीय नहीं होता है। धन को व्यर्थ ही खर्च नहीं करना चाहिए इसे याचकों को देकर तथा परोपकार जैसे कार्यों में लगाना चाहिए जैसे तालाब व कुएं इत्यादि खुदवाना। मानव अपना धन संपत्ति उचित पात्रों में बांटकर धन कम होने पर भी यश और शोभा को पाता है। विधाता ने जिस मानव के भाग्य में जितना धन लिखा है वह उसे कहीं भी प्राप्त हो जायेगा अत: उसे किसी के भी सामने हाथ नहीं फैलाने चाहिए अपितु जितना धन मिले उसे उसी में संतोष करना चाहिए।

दुर्जन व्यक्ति के स्वभाव के विषय में कवि कहता है कि निष्ठुर स्वभाव, अकारण झगड़ा करना, परधन के प्रति लालसा रखना, परस्त्री के प्रति आसक्ति भाव रखना तथा सत्पुरुषों से ईर्ष्या रखना, इन दुर्गुणों से युक्त व्यक्तियों से सदैव दूर रहना चाहिए। मणिधारी होने पर भी जिस प्रकार सर्प भयंकर है उसी प्रकार सुशिक्षित होने पर भी दुर्जन त्याजनीय है। दुष्ट लोग सत्पुरुषों की प्रशंसा सहन नहीं कर पाते हैं, उन्हें सभी में छल कपट दिखाई देता है तथा दूसरे के गुणों को वह दुर्गुणों के रूप में देखते हैं। दुर्जन व्यक्ति बिना कारण ही सभी को कष्ट पहुँचाते हैं।

''जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भ: शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्ति: स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाकित:॥''

(नीतिशतकम्, श्लोक 52)

सज्जनों की संगत के विषय में कहा गया है कि सभी को सज्जनों से मित्रता रखनी चाहिए। यह दूसरे के गुणों का सम्मान करने वाले होते हैं तथा अवगुणों की अवहेलना करते हैं। पूजनीयों का आदर करने वाले होते हैं, विद्या प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं, अपनी भार्या से प्रेम करने वाले होते हैं, मन और समस्त इन्द्रियों को वश में करने वाले होते हैं, विपत्ति आने पर कभी भी धैर्य नहीं खोते, वाकपटु होते हैं, युद्ध भूमि में शौर्यता दिखाने वाले तथा यश के प्रति आसक्ति दिखाने वाले होते हैं। गुप्त रूप से दान देने वाले, घर आये अतिथियों का आदर सत्कार करने वाले, दूसरों के द्वारा किये गये उपकारों का बखान करने वाले होते हैं। इनके शरीर आभूषणों से युक्त न होने पर भी शोभा से युक्त होते हैं, दान देने से हाथ, गुरुजनों को झुक कर प्रणाम करने से सर, सत्य बोलने से मुख, पवित्र आचरण से हृदय तथा वेद शास्त्रों के श्रवण से कर्ण सुशोभित होते हैं। जिस प्रकार वृक्ष फलों से लद जाने पर स्वत: नीचे की ओर झुक जाते हैं, जल से भरे होने के कारण मेघ पृथ्वी की ओर लटक जाते हैं उसी प्रकार सज्जन लोग गुणों से परिपूर्ण होने पर विनम्र स्वभाव वाले हो जाते हैं।

''भवन्ति नम्रास्तरव: फलोद्गमै:
नवाम्बुभिर्दुरविलम्बिनो घना:।
अनुध्दता: सत्पुरुषा: समृद्धिभि:
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥

(नीतिशतकम्, श्लोक 69)

सज्जन व्यक्ति के कानों की शोभा शास्त्रार्थ सुनने से होती है कर्णाभूषण से नहीं, हाथ दान देने से सुशोभित होते हैं कंगन से नहीं, चन्दन के लेप से नहीं अपितु दूसरे पर उपकार करने से शरीर भूषित होता है। सज्जन लोगों का स्वाभाविक कर्म ही परोपकार होता है, यह स्वयं कष्ट सहकर शरण में आये हुए की रक्षा करते हैं। यह मन, वाणी और शरीर से सभी का कल्याण करते हैं, यह सुख: और दु:ख को समभाव से देखते हैं, सच्चरित्र मानव का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है। आचरण पवित्र होने पर ही मानव की शोभा होती है इसीलिए उसे सबसे पहले अपने आचरण पर ध्यान देना चाहिए। सज्जन लोग अपने आश्रय में आने वाले सभी लोगों को गुणी बना देते हैं।

कर्म की महिमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि

विधाता ने मनुष्य के मस्तक पर जो लिख दिया है उसे कोई नहीं मिटा सकता है। व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार फलों को भोगता है इसीलिए सभी को शुभ कर्म करने चाहिए। कर्मों के फल को भोगने से तो देवता भी नही बच सके हैं तो मानव की तो बिसात ही क्या? इन्हीं कर्मों के कारण भगवान विष्णु को विभिन्न अवतारों में अवतरित होना पड़ा था। मानव के पूर्व जन्म में किये गए कर्म ही उसका अगला जन्म निर्धारित करते हैं। शुभ कर्म करने से ही मानव समाज में तथा संसार में सम्मान प्राप्त कर सकता है, मन वांछित फल पा सकता है। विद्वान् लोगों को कोई भी कार्य करने से पूर्व उसका अच्छा तथा बुरा दोनों ही परिणामों को सोच लेना चाहिए क्योंकि बिना विचारे किये गए कार्य का दुष्परिणाम हमेशा भयंकर ही होता है। कहा भी गया है कि बिना विचारे जो करे वो पाछे पछताए। मानव जन्म बड़ी कठिनाईयों के बाद मिलता है इसलिए तपस्या द्वारा वह इस जीवन को सार्थक बना सकता है क्योंकि ईश्वर स्मरण से उत्तम कुछ भी नहीं है।

नीतिशतक के उपदेश की आधुनिक काल में प्रासंगिकता

महाकवि भर्तृहरि द्वारा नीतिशतक की रचना सम्पूर्ण जगत के उत्थान के लिए की गई है। शतक में वर्णित समस्त उपदेश किसी न किसी रुप में मानव को नयी दिशा का बोध कराते हैं-यथा मूर्ख व्यक्ति की संगति के विषय में बताते हुए कवि सम्पूर्ण जगत को उससे दूर रहने के लिए प्रेरित करता है क्योंकि वह किसी भी प्रकार से साथ रहने योग्य नहीं है संसार के समस्त अकरणीय कार्य संभव हो सकते हैं परन्तु हम उसे कभी भी किसी भी प्रकार से सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं क्योंकि वह किसी की बात सुनने को तत्पर नहीं होता है। यह नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है तथा व्यक्ति में आत्म नियंत्रण, विनम्रता तथा कर्तव्य के प्रति रुझान बनते हैं। ज्ञान के सदुपयोग पर बल देते हैं तथा दया, परोपकार एवं सद्भावना जैसे गुणों को स्थापित करके आधुनिक समाज में ''सर्वे भवन्तु सुखिनः तथा वसुधैव कुटुम्बकं'' जैसी भावनाओं को जन्म देते हैं। आज के राजनैतिक और प्रशासनिक विषयों के प्रति विवेकपूर्ण निर्णय लेने में यह सहायक सिद्ध होते हैं। यह वर्तमान काल में व्यक्ति को आत्मचिंतन, स्वयं पर नियंत्रण रखना तथा निरंतर विकास की ओर अग्रसर करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसी प्रकार विद्या का महत्त्व उस समय भी था वर्तमान समय में भी है। विद्या के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं है। बिना ज्ञान के व्यक्ति इस समाज में उन्नति को प्राप्त नहीं कर सकता है। विद्या से ही हमें धन, सुख और वैभव मिलता है। हमें अच्छे बुरे की पहचान होती है। यदि व्यक्ति पढ़ा-लिखा है तो विदेश में जाकर भी आजीविका कमा सकता है इसीलिए विद्या को परदेश में मित्र कहा गया है। आज भी सरकार विद्या ग्रहण करने पर जोर डाल रही है क्योंकि किसी भी देश की विकास तभी संभव है जब वहाँ सभी शिक्षित हों। इसी प्रकार सज्जन व्यक्ति का साथ सदा हमारा कल्याण करता है, हमारा सर्वांगीण विकास करता है। सज्जन व्यक्ति सर्वदा सब का भला करता है जैसे महात्मा गाँधी, डॉ. अम्बेडकर इत्यादि ऐसे सज्जन पुरुष हैं जिनके किये गए सराहनीय कार्यों का बखान हम आज भी करते हैं। दुष्ट व्यक्ति सदा नुकसान पहुंचाता है। हम उसके साथ कितना भी अच्छा बर्ताव कर लें परन्तु वह बिच्छू की भांति डंक मारना नहीं छोड़ता। उसके साथ रहने वाले व्यक्ति का कभी भी हित नहीं हो सकता। विद्वानों का सदैव सम्मान होना चाहिए नहीं तो वह कभी भी उस राज्य को छोड़कर अन्य राज्य में वास कर सकते हैं उदाहरण स्वरूप हमारी आज की युवा पीढ़ी अपने देश में उच्च शिक्षा ग्रहण करके उचित पारिश्रमिक ना मिलने पर अन्य देशों में जाकर बस जाती है जिसके कारण उनके जिस ज्ञान का लाभ हमें होना चाहिए वह अन्य को हो रहा है। धन का प्रयोग भी कुछ लोग भली भांति समाज के उत्थान के लिए करते हैं। जिस व्यक्ति के पास यदि अपनी जरूरत से ज्यादा धन है तो उसे वह धन जरूरतमंदों की आवश्यकताओं के अनुसार उनमें बाँट देना चाहिए। धन किसी का होकर नहीं रहता आज इसके पास है तो कल किसी और के पास परन्तु यदि व्यक्ति उससे समाज का कल्याण करे तो उसके द्वारा किये गए कार्य का गुणगान हमेशा होता रहेगा। इसी प्रकार कर्म के विषय में गीता में भी कहा गया है कि व्यक्ति अपने किये गए कर्मों को ही भोगता है इसलिए उसे सदैव अच्छे कर्म करते रहना चाहिए। उसके द्वारा इस जन्म में किये गए कर्म उसका अगला जन्म निर्धारित करते हैं।

सारांश : अंत में हम कह सकते हैं कि नीतिशतक का प्रत्येक श्लोक केवल उपदेश ही नहीं देता अपितु मानव को जीवन उत्थान के लिए प्रेरित करता है। नीतिपूर्ण जीवन बिताते हुए ही मनुष्य का चहुंमुखी विकास संभव है। मूर्खजन, विद्वतजन, विद्या का महत्त्व, सज्जन प्रशंसा, दुष्ट्जन प्रवृत्ति,

कर्मयोग, धन का महत्त्व इत्यादि कोई ऐसा वर्णन नहीं है जो कवि की कलम से अछूता रहा हो, इन सभी का सार गर्भित वर्णन करके कवि ने मानव समाज के कल्याण में जो सहयोग दिया है उससे सारा संसार सदैव उनका ऋणी रहेगा। कवि के द्वारा बताये गए सभी उपदेशों के अनुशीलन से सारा संसार आज भी लाभान्वित हो रहा है और आगे भी होता रहेगा।

एसोसिएट प्रोफेसर
कालिंदी महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email id – manjulata1965@gmail.com

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत साहित्य का वृहद् इतिहास, डॉ. पुष्पा गुप्ता, इस्टर्न लिंकर्स दिल्ली
2. नीतिशतकम, डॉ. सावित्री गुप्ता, साहित्य भंडार
3. भर्तृहरि-नीतिशतक, श्री कृष्णमणि त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
4. भर्तृहरि ग्रन्थत्रयी, भर्तृहरि, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन
5. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, कपिलदेव द्विवेदी, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन
6. भारतीय नीतिशास्त्र, लक्ष्मी नारायण शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

दलित बचपन और अंधविश्वास : 'मुर्दहिया'

ओम प्रकाश

'मुर्दहिया' डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा है। विशेष संदर्भ के रूप में मैंने मुर्दहिया को इसलिए लिया है क्योंकि ज्यादातर हिंदी दलित आत्मकथाओं में कमोबेश अंधविश्वास के प्रसंगों को उकेरा गया है। परंतु 'मुर्दहिया' में अंधविश्वासी परिस्थितियों को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है जिसके बीच बचपन में दलित बालक पर पड़ने वाले प्रभाव को दिखाना मेरा लक्ष्य व प्रयास रहेगा।

दलित आत्मकथाएं अभाव, संघर्ष और सफलता की ऐसी दास्तान है जिसमें दलित रचनाकारों के जीवन का सार निहित है। इन आत्मकथाओं में छुआछूत, तिरस्कार, शोषण, उत्पीड़न, उपेक्षा, घुटन एवं जातिभेद के अनेक दंशों के बीच अपने अस्तित्व को बनाए रखने का संकट विद्यमान है। ये आत्मकथाएं दलितों की पीड़ा, सहनशक्ति और जिजीविषा का प्रमाण है जिसने उसे क्रूर व्यवस्था में बनाए रखा। इस दृष्टि से डॉ. तुलसीराम की आत्मकथाएं हिंदी दलित आत्मकथाओं की श्रृंखला में अपना अलग स्थान रखती है। उनकी आत्मकथाएं 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' दलित समाज का यथार्थ प्रस्तुत करती हैं। खासकर जैसा सूक्ष्म चित्रण 'मुर्दहिया' में दलित समाज का मिलता है वैसा और कहीं देखने को नहीं मिलता है। आत्मकथा में प्रत्येक प्रसंग को बखूबी उकेरा गया है ऐसा लगता है सारी घटनाएं हमारे समक्ष घटित हो रही हों। मुर्दहिया का दृष्टि फलक बहुत बड़ा है। इसमें दलित समाज की दशा, अंधविश्वास, ग्रामीण जीवन, राजनीति, लोक परंपरा, लोक नृत्य व लोक संगीत के संयोजन के कारण कलात्मक स्तर पर यह परिपूर्ण कृति है। ''सामान्यतया दलित आत्मकथाएं सामाजिक विश्लेषण की मांग करती रही हैं, किंतु 'मुर्दहिया' अपनी साहित्य गुणवत्ता के साथ दलित आत्मकथा साहित्य को महत्वपूर्ण आयाम तक ले जाती है।''[1]

अंधविश्वास सदियों से चला आ रहा है। अंधविश्वास किसी जाति, समुदाय या वर्ग से संबंधित नहीं है। बल्कि यह समाज में फैला ऐसा रोग है जो समान रूप से हर किसी के अंदर विद्यमान होता है। अंधविश्वास मनुष्य को आंतरिक स्तर पर कमजोर बनाता है। वह ऐसी बातों पर विश्वास करने लगता है, जिसका औचित्य नहीं होता। भारतीय समाज में तो इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। हर अच्छे बुरे काम में अंधविश्वास की छाया दिखाई दे जाएगी। घर से निकलते हुए छींक का आना, बिल्ली का रास्ता काट जाना, पूजा के दिए का बुझ जाना, दूध का गिलास हाथ से गिर जाना आदि जैसे अंधविश्वासों का समाज में बोलबाला दिखाई देता है। इसके अलावा भूत प्रेत, हवा, टोने-टोटके, बलि प्रथा आदि से संबंधित अंधविश्वासों ने समाज को खोखला बनाया है। जिसके कारण मनुष्य और समाज का विकास बाधित होता रहा है। आज ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में भी कितने ही शिक्षित लोग है. जो अंधविश्वास में पड़े हुए हैं।

विश्वास और अंधविश्वास के बीच एक बारिक सीमा होती है जोकि ज्ञान के संरक्षण में सुरक्षित रहती है। अंधविश्वास का मुख्य कारण अज्ञान है। ज्ञान की कमी और तर्क के अभाव में ज्ञान जब अज्ञान में बदल जाता है तो विश्वास खत्म हो जाता है और व्यक्ति अंधविश्वास की ओर अग्रसर हो जाता है। परंतु दलित समाज में अंधविश्वास का मुख्य कारण भारतीय वर्ण व्यवस्था ही है जिसने एक तरफ उसे सबसे निचले पायदान पर खड़ा होने को मजबूर किया और दूसरी ओर उसे लंबे

समय तक अज्ञान के अंधकार में जीने पर विवश किया। जिससे यह समाज घोर अंधविश्वास के साए में जीता रहा। वर्ण व्यवस्था के कारण इस समाज को समानता, स्वतंत्रता और शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं था। सवर्णों ने इन्हें लंबे अंतराल तक अपना दास बनाए रखा। जिससे दासत्व के कारण इनमें हीन भावना पनपने लगी, कहीं डर और भय के कारण, तो कहीं दलितों ने इसे अपनी नियति मानकर स्वीकार कर लिया। जिसका फायदा सवर्णों ने खूब उठाया और उन्हें शिक्षा से दूर रखा। उन्हें यह डर था कि कहीं यह पढ़ लिख गए तो हमसे आगे निकल जाएंगे। तब पीढ़ी दर पीढ़ी उनके यहां बेगारी और मजदूरी कौन करेगा? यदि कोई थोड़ा बहुत पढ़ जाता तो सवर्णों द्वारा यह भ्रम या अंधविश्वास फैलाया जाता कि ज्यादा पढ़ने से पागल हो जाते हैं। जिसका उल्लेख मुर्दहिया में लेखक ने करके ब्राह्मणवादी मानसिकता का पर्दाफाश किया है। जो मानसिकता तरह- तरह के हथकंडों द्वारा दलितों में शिक्षा के प्रसार को रोकना चाहती थी। दलित इस भय से इस व्यवस्था से जुड़े रहे कि कहीं न मानने पर बुरे परिणाम न भुगतने पड़े। दलितों ने सवर्णों का दासत्व अपनी नियति मानकर और ब्राह्मण हत्या के पाप के डर से स्वीकार किया। जिसका अभिव्यक्ति मुर्दहिया में निहित पात्र, लेखक के पिता के माध्यम से हुई है। जो ब्राह्मण हत्या के पाप के डर से सुदेस्सर पांडे की हरवाही नहीं छोड़ते और यह काम लेखक अर्थात् अपने बेटे को विरासत के रूप में सौंपना चाहते थे।

ब्राह्मणवादी हथकंडों, कर्म फल, नियति और भय का पाठ पढ़ाने वाली इस वर्ण व्यवस्था में शिक्षा के अभाव में अज्ञान और तर्क हीनता के कारण तरह-तरह के अंधविश्वासों ने दलित समाज को सराबोर कर दिया। जिसके कारण यह समाज ज्ञान विज्ञान को महत्व न देकर अंधविश्वासी मान्यताओं, प्रथाओं, परंपराओं जिनमें भूत प्रेत, टोने-टोटके, देवी-देवता, बलि प्रथा आदि शामिल है, के चुंगल में फंसता रहा और विकास के पथ से विचलित होता रहा। दलित समाज में व्याप्त इस प्रकार के तमाम अंधविश्वासों की पोल पट्टी डॉ. तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में खोली है।

'मुर्दहिया' दलित समाज की यथार्थ अभिव्यक्ति और जीवंत दस्तावेज है। अजमेर सिंह काजल कहते हैं कि ''आत्मकथाकार ने ग्रामीण जीवन में दलित समाज के प्रति व्याप्त विकृत, घृणित और क्रूर व्यवहारों के छिलके उतारते हुए अपने द्वारा भोगे गए जीवन की झलकियों को प्रस्तुत किया है।''[2] आत्मकथा में स्थित मुर्दहिया गांव की शमशान भूमि है। जहां से दैनिक कार्य हेतु सारे रास्ते गुजरते थे। दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुख-दर्द अपने अंदर लिए मुर्दहिया में दफन हो गए थे। मुर्दहिया में दलित बस्ती के दुख दर्द लेखक के जीवन के दुख दर्दों के साथ अंतर्गुम्फित हो अभिव्यंजित हुए हैं। ''हिंदू समाज में जो महत्व मणिकर्णिका का है, धरमपुर की दलित बस्ती के लिए वही महत्व मुर्दहिया का है। अस्सी चौराहे की जो केंद्रीयता 'काशी का अस्सी' में है वहीं केंद्रीयता इस आत्मकथा मुर्दहिया की है। एक दूसरे अर्थ में यह आत्मकथा समूचे पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्राम्यांचल का सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक रिपोतार्ज है।''[3]

लगभग सभी दलित आत्मकथाओं 'अपने अपने पिंजरे', 'जूठन', 'दोहरा अभिशाप', 'शिकंजे का दर्द', 'नागफनी', 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आदि में अंधविश्वास का चित्रण मिलता है। यह अंधविश्वास ही बचपन में श्यौराज सिंह बेचैन के पिता की मृत्यु का कारण बनता है। जिससे बचपन में ही जीवन का सारा भार उनके नाजुक कंधों पर आ जाता है। परंतु मुर्दहिया इस अर्थ में विशिष्ट है कि इसमें लेखक ने अंधविश्वास के बीच बाल मनोदशा का मार्मिक चित्रण विस्तार से किया है। आत्मकथा में लेखक के बचपन की यादें हैं जिसमें अंधविश्वास अपनी चरम सीमा पर दिखाई देता है। जातिभेद के कारण छुआछूत, अपमान, तिरस्कार और जीवन के हर मोड़ पर अंधविश्वास, शुभ-अशुभ, मान-अपमान की मान्यता, कुरीतियां, भूत-प्रेत, देवी-देवता, टोने-टोटके, आडंबर व बलि प्रथा का बोलबाला आत्मकथा में दिखाई देता है। इन परिस्थितियों में लेखक में घोर अंधविश्वास एवं डर का पनपना और विपरीत पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों के बीच एक बालक का संघर्ष नजर आता है। दलित चिंतक राम चंद्र के अनुसार, ''मुर्दहिया दलित जीवन संघर्ष की वेदनामयी गाथा ही नहीं है। अपितु हिंदू जाति व्यवस्था की जड़ता। अंधविश्वास. कर्मकांड, धर्मांधता तथा तमाम विभेदकारी शोषणयुक्त विषम परिस्थितियों के घेरे को तोड़कर उगते सूरज के मानिंद बालक तुलसीराम की संघर्ष-यात्रा है।''[4] जातिवादी व्यवस्था एवं घोर अंधविश्वास के बीच बचपन में एक दलित बालक के संघर्ष और उसके बाल मन पर पड़ने वाले प्रभावों को हम उदाहरण स्वरूप विस्तार से इस प्रकार समझ सकते हैं-

''भारतीय समाज व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर

खड़ी बहुत बड़ी. किंतु तिरस्कार-उपेक्षित आबादी के घर आंगन में जन्में एक नौनिहाल की कहानी कुछ अलग तरह के जीवन संघर्षों की जीती जागती मिसाल है जिसने आंख खुलते ही भयंकर गरीबी, भुखमरी, बीमारी, लाचारी के बीच जाति अपमान, विकलांगता का उपहास, अंधविश्वास और आडंबर ही देखा। इसी घटाटोप अंधियारे में अशिक्षा के कुहासे को चीर कर अपने लिए खुद नया रास्ता तलाश किया।''[5] डॉ. तुलसीराम के संबंध में बी. आर. विपल्वी का यह कथन कठिन परिस्थितियों में जीवन संघर्ष का द्योतक है।

आत्मकथा में एक अंधविश्वास के अनुसार लेखक के दादा को भूत ने लाठी से पीट-पीटकर मार दिया था। इस भूतहे प्रकरण के कारण इनके घर का हर सदस्य घोर अंधविश्वासी हो गया। घर में भूत बाबा की पूजा शुरू हो गई और किसी को कोई बीमारी होती तो ओझाओं तथा बाबाओं को दिखाया जाता पर कोई डॉक्टरी इलाज नहीं कराया जाता। दलित समाज में सदियों से अज्ञान के कारण, तर्क क्षमता के अभाव में लोग किसी भी असंदिग्ध घटना को भूत-प्रेत से जोड़कर देखते आए हैं। आज भी ग्रामीण इलाकों में इस तरह की तमाम किस्से कहानियां सुनने को आसानी से मिल जाती हैं। जिसका वास्तविकता से दूर-दूर तक कोई नाता नहीं होता। जो सिर्फ मनुष्य में भय और अंधविश्वास को जन्म देती है।

ऐसे ही मूर्खताजन्य अंधविश्वासी परिस्थितियों के बीच लेखक का जन्म जुलाई 1949 में हुआ। जिसके संबंध में लेखक कहते हैं-''मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी।''[6] लेखक जब तीन वर्ष के थे तो गांव में चेचक की महामारी फैल गई थी। चेचक का प्रकोप इतना जबरदस्त था कि लेखक के जीवित रहने की घरवाले उम्मीद छोड़ चुके थे। घोर अंधविश्वास के कारण बिना किसी इलाज के स्थानीय देवी-देवता, डीह बाबा, चमरिया माई, शीतला माई आदि को इस प्रकोप से बचने के लिए बकरे, मुर्गे और सूअर की बलि चढ़ाई गई। ओझा और बाबाओं को बुलाकर झाड़-फूंक कराई गई पर कोई असर नहीं पड़ा। आखिरकार चेचक की आवश्यक बीमारी वाली अवधि समाप्त होने पर लेखक ठीक होने लगे। परंतु बीमारी के प्रकोप के कारण उनके देह और चेहरे पर गहरे घाव के दाग हो गए और चेचक से उनकी दाई आंख की रोशनी हमेशा के लिए चली गई। जिससे इन्हें अपशकुन माना जाने लगा। जिस पर व्यंग्य करते हुए लेखक कहते हैं कि ''भारत के अंधविश्वासी समाज में ऐसे व्यक्ति अशुभ की श्रेणी में हमेशा के लिए सूचीबद्ध हो जाते हैं। ऐसी श्रेणी में मेरा भी प्रवेश मात्र तीन साल की अवस्था में हो गया। अत: घर से लेकर बाहर तक सबके लिए मैं अपशकुन बन गया।''[7]

जाति तो जाति पर अपनी आंख के कारण घर तथा बाहर उन्हें अपमान सहना पड़ता था। घर में 'कनवा' और बाहर तथा स्कूल में 'चमरा' की गाली बाल मनोविज्ञान और बाल शोषण का ऐसा पहलू है, जिसे किसी भी भाषा साहित्य में ढूंढना कठिन है। इस प्रकार के संबोधन लेखक को मानसिक पीड़ा पहुंचाते थे। लेखक कहते हैं-''इन्हीं पीड़ाओं में मेरा सारा बचपन विलुप्त हो गया और मैं अल्पायु में ही अत्यंत संवेदनशील बन गया।''[8] इस प्रकार के शब्दों द्वारा किसी भी बालक की शारीरिक कमी की ओर संकेत करके अपमान करने से बच्चे अक्सर मानसिक रोग के शिकार हो जाते हैं। ऐसे बच्चों को घर में अधिक प्रेम, अपनेपन और लगाव की ज्यादा जरूरत होती है। जो जीवन के कठिन संघर्ष में उन्हें आगे बढ़ने की हिम्मत देता है। जाति के नाम पर स्कूल जिसे विद्या का मंदिर कहा जाता है वहां दलित बच्चों को जाति संबंधित शब्दों द्वारा अन्य छात्रों तथा शिक्षकों द्वारा अपमानित किया जाता था। जिसका वर्णन मुर्दहिया में ही नहीं अपितु दूसरी दलित आत्मकथाओं में भी देखने को मिलता है। ऐसे तमाम प्रकरणों के कारण अक्सर दलित बालकों का मानसिक शोषण होता रहा है। जिसके पीछे ब्राह्मणवादी साजिश नजर आती है जो मानसिक आघात के जरिए हीन भावना पनपाकर दलित बच्चों को पढ़ाई से दूर रखना चाहती थी। परंतु इन बच्चों ने इस व्यवस्था के आगे घुटने नहीं टेके। आगे बढ़कर इन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में ऊंचाइयों को छुआ और अपने समाज को इस व्यवस्था की कालिमा से रूबरू करा कर, अंधकार में रोशनी की किरण दिखला कर शिक्षा पथ पर आगे बढने का मार्ग दिखलाया। क्योंकि शिक्षा द्वारा ही यह अपना समुचित विकास कर सकते थे। मुर्दहिया में उद्घटित लेखक का संघर्ष इसका सटीक उदाहरण है।

लेखक के अलावा गांव में जीवनपर्यंत कुंवारे रह गए ब्राह्मण जंगू पांडे और निर्वंश विधवा पंडिताइन को लोग अपशकुन मानते थे। इनको देखते ही लोग अपना रास्ता बदल देते थे कि कहीं अनिष्ट न हो जाए। अक्सर इन अंधविश्वासी मान्यताओं के कारण इन लोगों को बिना वजह अपमान सहना पड़ता था। इसी प्रकार उल्लू और महोखा जैसी दिखने वाली चिड़िया को गांव के लोग अपशगुन मानते थे। इसी के साथ

कौवे को पार्ट टाइम अपशकुन माना जाता था। जब कौवा किसी के छत पर बैठकर 'कॉउ कॉउ' करता तो उसे शुभ माना जाता। यदि उड़ते हुए कौवा किसी को पैर या चोंच मार देता तो उसे बहुत बड़ा अपशकुन माना जाता था। यह अपशकुन इतना खतरनाक माना जाता था कि इसे टालने के लिए तुरंत घर के किसी व्यक्ति को सबसे नजदीकी रिश्तेदार के घर भेजकर यह संदेश दिया जाता कि अमुक व्यक्ति की मृत्यु हो गई। ऐसे ही प्रकरण से लेखक को एक बार गुजरना पड़ा। हुआ यह कि लेखक की भाभी को एक बार कौवे का पैर लग गया जिसके बाद अपशकुन को टालने के लिए लेखक को उनकी भाभी के घर संदेश लेकर भेजा गया। लेखक का बालमन बार-बार उनसे कहता कि एक जिंदा व्यक्ति को मरा हुआ कैसे घोषित करूं, वह भी उसके मां-बाप के सामने। अंततोगत्वा उन्होंने भाभी के मायके जाकर उन्हें जब यह संदेशा दिया तो उनकी मां फूट-फूट कर रोने लगी और छाती पीटने लगी। उसके बाद लेखक ने बता दिया कि कौवे ने सिर पर पैर मारा था तो घरवालों का रोना बंद हो जाता है और अपशकुन टल जाने से गम का माहौल खुशी में बदल जाता है। जब यह घटना घटित होती है उस समय लेखक कक्षा छह के छात्र होते हैं उनकी बाल चेतना बार-बार उनसे कहती है कि जिंदा व्यक्ति को मरा हुआ कैसे बताऊं परंतु उनकी बाल चेतना घर वालों के दबाव में, अपशकुन और अंधविश्वास के बीच फंसकर रह जाती है।

एक बार लेखक द्वारा मनौती के बकरे को चराते समय सियार ने बकरे को दबोच दिया जिससे वह तत्काल मर गया। जब लेखक डरते-डरते घर पहुंचे तो उन्हें अपने चाचा से मार पड़ी और उन्हें कनवा-कनवा कह कर अपमानित किया गया। लेखक कहते हैं कि ''मेरी तत्काल जो धुनाई हुई, वह तो हुई ही, किंतु कई दिनों तक समय-समय पर चेचक की शिकार मेरी ज्योतिविहीन दाई आंख उनके रूद्र संचालित जबान का असली निशाना बनी रही। बार-बार दोहराई जाने वाली वही पुरानी 'कनवा-कनवा' की बौछार उन सियारों के जबड़ों से कई गुना ज्यादा तेजी से मेरे मस्तिष्क को बेधती रही।''[9] इस तरह लेखक को शारीरिक प्रताड़ना के साथ मानसिक प्रताड़ना सहनी पड़ी। शरीर पर लगे जख्म समय के साथ भले ही भर जाए परंतु मानसिक आघात के जख्म कभी नहीं भरते। चूंकि बकरा मनौती वाला था इसलिए भावी भविष्य में लेखक के अनिष्ट की संभावनाओं के कारण दादी ने पारिवारिक देवी-देवताओं से माफी मांगते हुए लेखक से सूअर के बच्चे की बलि दिलवाई। इस घटना से लेखक के बाल मन में अनिष्ट को लेकर डर बैठ गया जिसके कारण लेखक ने दादी के कहे अनुसार देवी के स्थान पर चचेरे भाई के साथ जाकर बलि चढ़ाई और भविष्य में कोई अनहोनी न हो इसकी मनौती मांगी। लेखक कहते हैं कि ''मैं घबराया हुआ था। इसलिए बलि देने में मुझे कोई हिचक नहीं हुई।''[10] इसे देख कहा जा सकता है कि अंधविश्वास, डर और उसकी पराकाष्ठा कई बार मनुष्य को ऐसे निर्णय लेने को मजबूर कर देती है चाहे उसमें दूसरे का अहित ही क्यों न हो। डर और घबराहट मनुष्य को कभी-कभी कुछ ऐसे फैसले लेने का हौसला देते हैं या मजबूर कर देते हैं। यह फैसले लिए जाने के बाद कई बार नकारात्मक और कई बार सकारात्मक रूप में सामने आते हैं। परंतु यहां लेखक अपने बचाव के लिए डर के कारण बलि चढ़ाने हेतु विवश नजर आते हैं। लेखक के परिवार में अंधविश्वास के नाम पर इसी तरह वार्षिक पूजा के अवसर पर विभिन्न देवी-देवताओं को बेजुबान पशुओं की बलि दी जाती थी। आज भी यह हिंसक प्रथाएं हमारे समाज और देश-दुनिया में देखने को मिलती है जिसमें हर वर्ष लाखों जानवरों की पूजा और प्रथा के नाम पर बलि चढ़ाई जाती है।

अंधविश्वास के माहौल में गांव के जंगल में रहने वाले फक्कड़ बाबा की संदिग्ध परिस्थितियों के बीच हत्या होने से गांव में अफवाह फैल गई कि इलाके के सारे भूत आएंगे और इकट्ठा होकर लोगों से चुन-चुन कर बदला लेंगे। इसके साथ एक घटना ऐसी हुई कि एक औरत पैर फिसलने के कारण कुएं में गिर गई। जब तक उसे निकाला गया तब तक वह मर चुकी थी। भूत-भूतनियों और घोर अंधविश्वास के कारण लोगों में इस नई चुड़ैल का डर छाने लगा तथा लोगों ने संध्या के समय कुए की तरफ जाना ही बंद कर दिया। ऐसे ही डर के माहौल के बीच लेखक का बचपन गुजरता रहा।

गांव में अफवाहों का बसेरा चारों तरफ था। गांव में जब अकाल पड़ा तो गांव में नाना प्रकार की अफवाहें फैलने लगी। गांव में मुड़कटवा, धोकरकसवा एवं लकड़सुंघवा बाबाओं के आतंक की अफवाह फैली हुई थी कि यह लोगों व बच्चों को मारकर, बेहोश कर उठा ले जाते हैं जिससे बच्चे सबसे ज्यादा भयभीत रहते थे। इसी तरह प्राइमरी स्कूल में जब लेखक पढ़ रहे थे तो सिरगोदवा बाबा की अफवाह फैल गई थी। जिससे स्कूल के बच्चे डर के मारे भाग कर खेतों में

दिन भर के लिए छिप जाया करते थे और शाम होने पर डरते हुए घर जाते थे। वास्तव में यह बाबा सरकार द्वारा भेजे गए चेचक का टीका लगाने वाले कंपाउंडर होते थे। जो छात्रों को जबरदस्ती पकड़कर टीका लगाते थे। इस तरह अंधविश्वास के माहौल में गांव के लोग और बच्चे किसी भी अफवाह को सच मान लेते थे और डर-डर कर जीते थे।

इसी प्रकार भैंस पर से लेखक के गिरने को भूत से जोड़ना तथा आम के पेड़ पर चढ़े लेखक के लटके पैर को देख शुध्दू भूत का पैर समझा जाना, इस समाज में व्याप्त अंधविश्वास की पराकाष्ठा की ओर संकेत करता है। इस तरह समझा जा सकता है कि लेखक जिस परिवेश में रहे वहां किस तरह अशिक्षा के कारण अंधविश्वास वश हर छोटी-बड़ी घटना, अफवाह को लोग भूत-प्रेत से जोड़कर देखते रहे। भूत-प्रेत के बोल बाले के कारण चारों तरफ डर और भय का माहौल बना रहता था। जिसने इस समाज को खोखला कर दिया। लोग इनसे बचने के लिए अपने आप को ओझाओं और तांत्रिकों चुंगल में खुद को फंसा लेते थे। इस अंधविश्वासी वातावरण का प्रभाव सबसे ज्यादा बच्चों पर पड़ता था जो उनके कोमल हृदय में भय से भर देता था।

लेखक द्वारा जहरीले सांप को जान बचाने हेतु मार देने पर उनके चाचा कहते हैं-''भूत नाग के रूप में घूमते हैं और उन्हें कोई मार दे तो भूतनी नागिन बनकर मारने वाले का फोटो खींचकर अपनी आंख में बसा लेती है और वह बारह वर्ष तक बदला लेने के लिए घूमती रहती है। वे गालियां बरसाते हुए कहने लगे कि भूतनी नागिन कभी न कभी जरूर बदला लेगी। पूरी बस्ती में नागिन की ऐसी चर्चा होने लगी।''[11] इस प्रकरण के बाद लेखक को जो बात चाचा ने कही उससे वह काफी आतंकित हो गए थे। साथ ही उनके चाचा ने उन्हें घरवालों के साथ सोने से मना कर दिया था उन्हें जहां भैंस बांधी जाती थी उसी भैंसउर में सोने के लिए कहा जाता था। जब वह भैंसउर में सोते थे तो यह सोचकर भयाक्रांत हो जाते हैं कि कहीं भूतनी नागिन तो बदला लेने नहीं आ गई। लेखक कहते हैं-''डर के मारे रोंगटे खड़े हो जाते थे, किंतु मैं चिल्ला भी नहीं सकता था।''[12] इस तरह आते-जाते और रात में घर पर सोते हुए उन्हें हमेशा भूतनी नागिन का डर घेरे रहता था। उनके स्कूल के संस्कृत के पंडित जी ने उन्हें गीता पढ़ने की सलाह दी। जब सुबह उठते तो गीता के पांच श्लोक पढ़ते थे। इस घटना के कारण उन्हें तीन साल भैंसउर में बिताने पड़े। इस तरह इस अंधविश्वासी वातावरण में डर-डर कर मानसिक पीड़ा सहते हुए उन्हें रहना पड़ा।

इस प्रकरण के दौरान इनके प्रसिद्ध चौधरी सोम्मर चाचा शरीर से हष्ट पुष्ट होने के बावजूद कोढ़ रोग से ग्रस्त होने के कारण बुरी तरह बीमार पड़ गए। वह बारह गांवों के चौधरी थे और गांव की पंचायतों में अपनी न्यायप्रियता के लिए मशहूर थे। दवा के नाम पर उन्हें पोहारी बाबा के अगियारी से बनी राख खाने को दी जाती और शरीर पर लगाई जाती। घर वालों ने इनकी जान बचाने के लिए ओझाओं और तांत्रिकों को बुलाया। जिनके द्वारा रहस्यमयी ढंग से आधी रात में अनुष्ठान किया गया और बकरे की बलि दी गई। परंतु इनके चौधरी चाचा की बीमारी पर कोई असर नहीं पड़ा तो जान बचाने के लिए पंडितों को बोलकर नौ दिन यज्ञ करवाया गया और यज्ञ खत्म होने के बाद 501 पंडितों को भोज के साथ पैसे दिए गए। अंततोगत्वा यज्ञ और ब्राह्मण भोज से चौधरी चाचा की बीमारी पर कोई असर नहीं पड़ा। शीघ्र ही हफ्ते भर में चौधरी चाचा की मृत्यु हो गई। यह प्रकरण दलित समाज के उस पक्ष को उभारता जो लंबे समय से घोर अंधविश्वास से सराबोर माहौल के बीच में जीता आया और इसी कारण घर में किसी व्यक्ति के बीमार होने पर ओझाओं, तांत्रिका के चक्कर में फंसकर धन की हानि करता रहा और जान से हाथ धोता रहा।

जुगनूओं को रात के अंधेरे में पेड़ पर देख भूत समझा जाना, अकाल और आपदा के समय पशुओं की बलि दी जाना, अफवाह, शुभ-अशुभ, दिशाशूल मिटाना, दक्षिण दिशा से आपदा का आना माना जाना, भूत पूजा, दरिद्रता भगाने के लिए सूप का पीटना, किसी के बीमार होने को भूत से जोड़कर देखना और ओझाओं तथा तांत्रिक को बुलाना आदि इस तरह के नाना प्रकार के अंधविश्वासों से युक्त प्रसंगों का उल्लेख मुर्दहिया में देखने को मिलता है। अशिक्षा के माहौल में अंधविश्वास ने सर्वथा दलितों का अहित ही किया। जिसके डर ने इनमें मनोरोग को जन्म दिया। जिसका सर्वाधिक नकारात्मक प्रभाव दलित बच्चों पर पड़ा, जो इनमें अकारण डर को पनपता था। इस डर के साए में इनका बचपन विलुप्त हो जाता था।

इस घोर अंधविश्वास पूर्ण माहौल में लेखक को चिट्ठी पढ़ने लायक बनाने हेतु स्कूल भेजा गया। प्रखर बुद्धि होने के कारण कमजोर पारिवारिक स्थिति, भुखमरी, गरीबी और स्कूल में छुआछूत, भेदभाव के माहौल में जाति दंश सहते हुए पढ़ाई में

सबसे आगे निकलकर अध्यापकों के प्रिय बने। अपने हाई स्कूल में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होने वाले प्रथम विद्यार्थी बनने के बावजूद घरवालों से आगे की पढ़ाई के लिए समर्थन न मिलने के कारण 15 वर्ष की उम्र में आगे पढ़ाई जारी रखने के लिए और जीवन में कुछ बनने की ललक के कारण घर से भागकर आजमगढ़ जाकर विपरीत परिस्थितियों में समय पर वजीफा न मिलने के कारण शुरू के महीनों में भूखे प्यासे रहे और अपनी बारहवीं तक की पढ़ाई पूरी करी।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि 'मुर्दहिया' में घोर अंधविश्वासी परिस्थितियों को तल्लीनता के साथ उभारा गया है। जिसमें एक दलित बालक का बचपन में डरते-लड़ते इन परिस्थितियों से संघर्ष करता नजर आता है। आत्मकथा दलित बचपन का प्रतिनिधित्व करती है। जिस परिवेश में लेखक का बचपन बीता उसी परिवेश में न जाने कितने दलित बच्चों का बचपन अंधविश्वास की भेंट लंबे समय तक चढ़ता रहा। आत्मकथा दलित बच्चों में अंधविश्वास के माहौल में पनपने वाले डर को चित्रित करती है। जिसके कारण इन्हें समय-असमय मानसिक पीड़ा को झेलना पड़ा। इस तरह आत्मकथा में लेखक घोर अंधविश्वासी वातावरण, कमजोर आर्थिक स्थिति और जातिभेद पूर्ण माहौल के बीच जन्म के बाद चेचक के प्रकोप से एक आंख की रोशनी हमेशा के लिए खो देने के फलस्वरूप समाज और घरवालों के लिए अपशकुन बन जाने के कारण पग-पग पर अपमानित होने के बावजूद शिक्षा हेतु संघर्ष करते हुए दिखाई देते हैं और आत्मकथा के अंत में शिक्षा और कुछ बनने की लगन के कारण घर से भाग जाते हैं। घोर अंधविश्वास के बीच आर्थिक परिस्थितियां भले ही डामाडोल रही जिसके चलते मनोबल भी लड़खड़ाता रहा परंतु इस नर्क और दर्द भरी जिंदगी से निकलने के लिए इन्होंने शिक्षा हेतु अपना संघर्ष जारी रखा।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. हिंदी दलित आत्मकथाएं- पुनीता जैन, सामयिक बुक्स प्रकाशन संस्करण 2017, पृष्ठ संख्या 258
2. हिंदी दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण- अजमेर सिंह काजल. अनामिका पब्लिशर्स एंड डिसटीब्यूटर्स. संस्करण 2018, पृष्ठ संख्या- 211
3. हिंदी दलित आत्म कथाएं स्वानुभूति और सर्जना का परिप्रेक्ष्य- संपादक राम चंद्र और प्रवीण कुमार, रोती संवेदनाओं की आत्मकथा चौथीराय यादव, एकेडमिक प्रकाशन. संस्करण 2018, पृष्ठ संख्या 52
4. हिंदी दलित आत्म कथाएं स्वानुभूति और सर्जना का परिप्रेक्ष्य संपादक राम चंद्र और प्रवीण कुमार, बहुआयामी प्रतिभा के धनी डॉ तुलसीराम राम चंद्र. एकेडमिक प्रकाशन, संस्करण 2018, पृष्ठ संख्या 65
5. समकालीन भारतीय साहित्य-214 मार्च-अप्रैल 2021. तुलसीराम दलदल में खिला कमल- बी.आर. विप्लवी. पृष्ठ संख्या 34
6. मुर्दहिया-डॉ. तुलसीराम, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2015, पृष्ठ संख्या 9
7. वही, पृष्ठ संख्या 12
8. वही, पृष्ठ संख्या 7
9. वही, पृष्ठ संख्या 44
10. वही
11. वहीं, पृष्ठ संख्या 118-119
12. वही, पृष्ठ संख्या 119

रंजन कुमार पंडित*

मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान के उपन्यासों में व्यक्त स्त्री अस्मिता : अन्तर के आयाम

1. प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध भारतीय नारी के इतिहास में एक संक्रांति काल रहा है, जहाँ वह स्वातंत्र्योत्तर युगीन नवीन सामाजिक यथार्थ, महानगरीय बोध और पुरुष सत्तात्मक वर्चस्व की संकीर्णताओं के बीच अपने अस्तित्व को तलाश रही थी। हिन्दी कथा-साहित्य, विशेषकर औपन्यासिक विधा में, इस अस्मितामूलक चेतना को मुखरित करने का श्रेय जिन जो शीर्षस्थ महिला रचनाकारों को जाता है, वे हैं—''**मन्नू भंडारी**'' और ''**प्रभा खेतान**''। यद्यपि दोनों लेखिकाओं के सरोकारों के केन्द्र में ''**स्त्री अस्मिता**'' और बहुआयामी मुक्ति का प्रश्न अंतर्निहित है, तथापि उनके वैचारिक धरातल, जीवनानुभव, पात्र-दृष्टि और औपन्यासिक शिल्प में गहरे, मौलिक और दृष्टिगत अंतर विद्यमान हैं।

मन्नू भंडारी का जन्म 3 अप्रैल 1931 को भानपुरा (मध्य प्रदेश) में हुआ। वे हिन्दी की मुख्यधारा की साहित्यिक बिरादरी का अभिन्न हिस्सा रहीं और प्रख्यात लेखक राजेन्द्र यादव के साथ वैवाहिक जीवन के घात-प्रतिघातों को जिया। इसके विपरीत, प्रभा खेतान (जन्म: 1 नवम्बर 1942, कलकत्ता) आजीवन अविवाहित रहीं। वे फ्रांसीसी अस्तित्ववाद और पाश्चात्य नारीवाद (विशेषकर ज्यां पॉल सार्त्र और सीमोन द बोउवार) से वैचारिक रूप से गहरे तक अनुप्राणित एक दार्शनिक, उद्यमी और संवेदनशील लेखिका थीं। दोनों लेखिकाओं के जीवन-संदर्भों की यही भिन्नता उनके उपन्यासों में प्रतिध्वनित होने वाली स्त्री अस्मिता के विविध आयामों को निर्धारित करती है।

इस शोध-पत्र में मन्नू भंडारी के प्रमुख उपन्यासों - 'एक इंच मुस्कान' (1962), 'आपका बंटी' (1971), 'महाभोज' (1979), 'स्वामी' (1982) और 'कलवा' (1993) तथा प्रभा खेतान के उपन्यासों - 'आओ पेपे, घर चलें' (1990), 'तालाबंदी' (1991), 'अग्निसंभवा' (1992), 'एड्स' (1993), 'छिन्नमस्ता' (1993), 'अपने-अपने चेहरे' (1994), 'पीली आँधी' (1996) और 'स्त्री पक्ष' (1999) के आलोक में उनके अंतर के आयामों का गहन तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

2. वैचारिक आधार का अंतर : अनुभव बनाम दर्शन

मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान के कथा-संसार का वैचारिक ढांचा दो सर्वथा भिन्न प्रस्थान-बिंदुओं से निर्मित होता है। मन्नू भंडारी जहाँ सिद्धांताग्रह के बजाय 'जीवित अनुभव' और मानवीय संवेदना को प्राथमिकता देती हैं, वहीं प्रभा खेतान सुस्पष्ट दार्शनिक प्रणालियों के माध्यम से स्त्री के दमन की संरचनात्मक व्याख्या करती हैं।

(क) मन्नू भंडारी : अनुभव और संवेदना की प्राथमिकता

मन्नू भंडारी के उपन्यासों का वैचारिक अधिष्ठान किसी पूर्व-निर्धारित दार्शनिक चौखटे में बद्ध नहीं है। उनकी रचनाएँ जीवन की सहज, जीवंत और संवेदनशील पहचान से अंकुरित होती हैं। 'आपका बंटी' में दाम्पत्य के बिखरने की जो दारुण कथा है, वह कोई सैद्धांतिक विमर्श नहीं, बल्कि एक आन्तरिक और 'भोगा हुआ' यथार्थ है। स्वयं मन्नू भंडारी ने एक साक्षात्कार में स्वीकारा था : ''मैं जो लिखती हूँ, वह मेरे आस-पास के जीवन से आता है। मेरे पात्र मेरे आस-पास के लोग हैं।'' उनके उपन्यासों में विचारों का आयात नहीं होता, बल्कि वे संवेदना के धरातल पर प्रस्फुटित होते हैं। 'महाभोज' जैसे

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

राजनीतिक उपन्यास में भी उनका दृष्टिकोण एक 'वैचारिक राजनेता' का न होकर एक 'संवेदनशील मनुष्य' का है, जहाँ वे सत्तालोलुपता के बीच पिसती मानवीयता को उभारती हैं।

(ख) प्रभा खेतान : दर्शन और वैचारिकता की प्राथमिकता

प्रभा खेतान का वैचारिक आधार अत्यंत सुस्पष्ट, प्रखर और सैद्धांतिक है। वे सार्त्र के अस्तित्ववाद और सीमोन द बोउवार के नारीवाद से अत्यधिक प्रभावित थीं। उन्होंने 'सार्त्र का अस्तित्ववाद' (1984) जैसी विचार-प्रधान पुस्तकें लिखीं और बोउवार की कालजयी कृति 'द सेकंड सेक्स' का 'स्त्री: उपेक्षिता' नाम से हिंदी अनुवाद भी किया। यह ठोस वैचारिक तैयारी उनके कथा-साहित्य को एक बौद्धिक गरिमा प्रदान करती है। 'छिन्नमस्ता' की नायिका प्रिया का संघर्ष केवल भावुकता की परिधि में नहीं सिमटता, बल्कि वह अपनी औपनिवेशिक और सामाजिक स्थिति का तार्किक विश्लेषण करती चलती है।

इस अंतर को संक्षेप में स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि मन्नू भंडारी की नायिकाएँ मुख्यत: परिस्थितियों को 'महसूस' (Feel) करती हैं, जबकि प्रभा खेतान की नायिकाएँ उन परिस्थितियों के पीछे छिपे पुरुष-सत्तात्मक षड्यंत्रों के विषय में 'सोचती' (Analyze) भी हैं।

3. स्त्री पात्रों की प्रकृति और चरित्र-निर्माण में अंतर

चरित्र-निर्माण की दृष्टि से दोनों लेखिकाओं के नारी-आदर्श और उनकी मानसिक बनावट में गहरा अंतर दिखाई देता है।

नारी आदर्श की खोज

(मन्नू भंडारी) (भावना-प्रधान/ मानवीय नायिका)	(प्रभा खेतान) (वैचारिक/ व्यावसायिक नायिका)
⋆ संबंधों के प्रति सच्ची	⋆ अधिकारों के प्रति पूर्ण सचेत
⋆ दर्द और पीड़ा को सहने वाली	⋆ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर
⋆ व्यवस्था को 'महसूस' करने वाली	⋆ स्वयं की नियति निर्धारित करने वाली

(क) मन्नू भंडारी : भावना-प्रधान और संबंध-बद्ध नायिकाएँ

मन्नू भंडारी के उपन्यासों की स्त्रियाँ आधुनिक और संवेदनशील होने के बावजूद अपनी भावनाओं के भंवर में आकंठ डूबी हुई हैं। वे प्रेम करती हैं, सामाजिक बंधनों को झेलती हैं, टूटती हैं, परंतु किसी ठोस वैचारिक निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व ही बिखर जाती हैं। 'एक इंच मुस्कान' की रंजना एक सुशिक्षित आधुनिक स्त्री है, किंतु उसका संपूर्ण संघर्ष भावनात्मक है; वह पुरुष-प्रधान व्यवस्था की संरचना पर प्रश्न उठाने के बजाय केवल पीड़ा को आत्मसात करती है। 'आपका बंटी' की शकुन का पूरा अस्तित्व ''माँ'' की भूमिका में विलीन हो जाता है, जहाँ वह बेटे बंटी की पीड़ा के इर्द-गिर्द ही अपने वजूद को सँभालती या बिखेरती नजर आती है। 'कलवा' की आदिवासी नायिका भी वर्ग-विश्लेषण का औजार बनने के बजाय मानवतावादी संवेदना की प्रतीक बनकर उभरती है।

(ख) प्रभा खेतान : वैचारिक और व्यावसायिक रूप से आत्मनिर्भर नायिकाएँ

प्रभा खेतान की नायिकाएँ भावुकता के कुहासे को चीरकर आर्थिक स्वावलंबन को अपनी अस्मिता का ठोस मूलाधार बनाती हैं। उनके यहाँ स्त्रियाँ केवल घर की चहारदीवारी या भावनाओं के द्वंद्व में कैद नहीं हैं, बल्कि वे बाजार और समाज की मुख्यधारा में सक्रिय हैं।

⋆ प्रिया (छिन्नमस्ता) : वह स्वतंत्र रूप से व्यापार (Business) संभालती है।

⋆ वृंदा (स्त्री पक्ष) : वह तलाक के बाद आत्मनिर्भर होकर बुटीक (Boutique) चलाती है।

⋆ आइवी (अग्निसंभवा) : वह टैक्सी चलाती है और अंतत: ब्रांच मैनेजर के पद तक पहुँचती है।

प्रभा खेतान की आदर्श स्त्री वह है जो अपने अधिकारों के प्रति पूर्णत: सचेत है, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है और अपनी नियति को स्वयं निर्धारित करने का साहस रखती है।

4. प्रेम और विवाह की अवधारणा में अंतर

प्रेम और विवाह की संस्था (Institution of Marriage) को देखने का दोनों लेखिकाओं का नजरिया उनके बुनियादी वैचारिक मतभेदों को सर्वाधिक स्पष्ट करता है।

(क) मन्नू भंडारी : प्रेम की त्रासदी और दाम्पत्य का अवसाद

मन्नू भंडारी के कथा-संसार में प्रेम एक केंद्रीय और पवित्र ऊर्जा है, परंतु यह प्रेम प्राय: अधूरा, विफल और त्रासद रह जाता है। 'एक इंच मुस्कान' में अमल और रंजना का प्रेम

सामाजिक और व्यक्तिगत अहम् के कारण पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता, जो आधुनिक जीवन के खालीपन का सूचक है। वहीं 'आपका बंटी' में विवाह संस्था के टूटने को वे किसी उत्सव या मुक्ति के रूप में नहीं देखतीं, बल्कि वे उस टूटन की भयावह कीमत चुकाने वाले एक निर्दोष बालक (बंटी) के मनोविज्ञान के माध्यम से दाम्पत्य की त्रासदी को रेखांकित करती हैं। 'स्वामी' में भी वे विवाहेतर संबंधों के दौर में स्त्री की नैतिक जिम्मेदारी और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच की जटिलता को बिना किसी एक पक्ष का समर्थन किए तटस्थता से उभारती हैं।

(ख) प्रभा खेतान : विवाह संस्था की मूलगामी और ढांचागत आलोचना

प्रभा खेतान के उपन्यासों में विवाह संस्था को एक दमनकारी संरचना के रूप में देखा गया है और उसकी मूलगामी आलोचना की गई है। उनके यहाँ विवाह से अलगाव या तलाक स्त्री के लिए शोक का विषय नहीं, बल्कि मुक्ति का द्वार है। 'छिन्नमस्ता' में विवाह यातना का मुख्य स्त्रोत है, जबकि 'स्त्री पक्ष' और 'पीली आँधी' में नायिकाओं द्वारा पति का परित्याग करना उनके जीवन का सर्वाधिक साहसिक और आत्मनिर्णायक कदम माना गया है। अपनी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में वे स्पष्ट घोषणा करती हैं: ''विवाह को ओवरडेटेड (Overdated) नहीं बनाया जाना चाहिए।'' 'अपने-अपने चेहरे' की रमा विवाह के पारंपरिक ढांचे से बाहर जाकर एक विवाहित पुरुष के साथ जीवनभर संबंध रखती है और इसे वह अपने जीवन का सबसे वास्तविक और सार्थक संबंध मानती है। मन्नू भंडारी जहाँ प्रेम की विफलता को एक मानवीय त्रासदी मानती हैं, वहीं प्रभा खेतान विवाह की सीमाओं को एक संरचनात्मक और संस्थागत समस्या के रूप में देखती हैं।

5. मातृत्व की अवधारणा : शक्ति बनाम विकल्प

मातृत्व (Motherhood) का प्रश्न स्त्री अस्मिता के निर्धारण में एक अत्यंत महत्वपूर्ण जैविक और सामाजिक कारक है, जिस पर दोनों लेखिकाओं के विचार मूलत: भिन्न हैं।

मूल्यांकन के बिंदु	मन्नू भंडारी की दृष्टि	प्रभा खेतान की दृष्टि
मातृत्व का स्वरूप	सकारात्मक, केंद्रीय और शक्तिशाली आयाम	एक ऐच्छिक विकल्प, अनिवार्य नियति नहीं
चरित्रों में अभिव्यक्ति	'आपका बंटी' की शकुन का पूरा अस्तित्व मातृत्व में केंद्रित है	'आओ पेपे, घर चलें' की कैथरीन मूर को मातृत्व की कोई चाह नहीं है
त्याग और बलिदान	त्याग 'कमजोरी' नहीं, बल्कि स्त्री की आंतरिक 'शक्ति' है	मातृत्व के अभाव में समाज द्वारा दिया जाने वाला अपमान दमनकारी है
अस्मिता से संबंध	मातृत्व स्त्री को जीवन का एक सार्थक उद्देश्य प्रदान करता है	स्त्री का अस्तित्व केवल उसके गर्भ से परिभाषित नहीं हो सकता

मन्नू भंडारी के यहाँ 'कलवा' (1993) में भी मातृत्व की एक मार्मिक छवि है, जहाँ एक माँ अपने बच्चे को बेहतर जीवन देने के लिए सामंती जुल्मों को सहती है। हालांकि, मन्नू जी यह दिखाने से भी नहीं चूकतीं कि इस अत्यधिक भावात्मक मातृत्व की भूमिका में स्त्री का 'स्व' कभी-कभी पूरी तरह खो जाता है।

इसके विपरीत, प्रभा खेतान स्वयं आजीवन अविवाहित और नि:संतान रहीं, जिसके कारण उनका मातृत्व-दर्शन अत्यंत व्यावहारिक और रूढ़ि-मुक्त है। 'पीली आँधी' में पद्मावती की त्रासदी को दिखाकर वे समाज पर तीखा प्रहार करती हैं, जहाँ पद्मावती को केवल संतान न होने के कारण आजीवन अपमान झेलना पड़ता है। प्रभा जी का यह मूल प्रश्न है कि क्या एक स्त्री की संपूर्ण पहचान केवल उसकी जैविक उत्पादन क्षमता तक ही सीमित है?

6. आर्थिक स्वावलंबन और स्त्री अस्मिता

आर्थिक स्वतंत्रता और स्त्री की मुक्ति के अंतर्संबंधों को लेकर भी दोनों कथाकारों के दृष्टिकोण में स्पष्ट भिन्नता परिलक्षित होती है।

(क) मन्नू भंडारी : आर्थिक स्थिति का गौण होना

मन्नू भंडारी के उपन्यासों में नायिकाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न कभी भी अस्मिता-प्राप्ति का केंद्रीय कारक

बनकर नहीं उभरता। उनकी नायिकाएँ सुशिक्षित और कामकाजी होने के बावजूद अपनी पहचान की तलाश आर्थिक धरातल पर नहीं, बल्कि अपने मानवीय संबंधों, पारिवारिक दायित्वों, प्रेम और मातृत्व के माध्यम से करती हैं। 'आपका बंटी' की शकुन कॉलेज की प्राचार्या है, यानी वह आर्थिक रूप से पूर्णत: स्वतंत्र है, किंतु उसकी अस्मिता का मुख्य संकट आर्थिक न होकर वैवाहिक अलगाव और मातृत्व के अंतर्द्वंद्व से जुड़ा हुआ है।

(ख) प्रभा खेतान : आर्थिक स्वावलंबन अस्मिता का अनिवार्य आधार

चूँकि प्रभा खेतान स्वयं एक अत्यंत सफल उद्यमी (Managing Director, New Horizon Ltd. तथा कलकत्ता चैंबर ऑफ कॉमर्स की प्रथम महिला अध्यक्ष) थीं, इसलिए वे मानती थीं कि बिना आर्थिक स्वतंत्रता के स्त्री की मुक्ति के सारे दावे खोखले हैं। उनके उपन्यासों में जब नायिकाएँ व्यवसाय की दुनिया में कदम रखती हैं, वही उनके जीवन का टर्निंग पॉइंट होता है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया जब स्वतंत्र व्यापार शुरू करती है, तो वह पुरुष की अधीनता से पूरी तरह मुक्त हो जाती है। हालाँकि, प्रभा जी यह भी आगाह करती हैं कि आर्थिक स्वावलंबन अस्मिता की अनिवार्य 'नींव' तो है, परंतु वह अपने आप में 'संपूर्ण इमारत' नहीं है, क्योंकि 'आओ पेपे, घर चलें' की कैथरीन मूर आर्थिक रूप से समृद्ध होने के बाद भी आत्मिक रूप से रिक्त है।

7. सामाजिक-राजनीतिक चेतना और वर्ग-विभाजन का अंतर

समाज और राजनीति के व्यापक कैनवास पर स्त्री की स्थिति को देखने की दोनों लेखिकाओं की दृष्टि में मानवतावाद और मार्क्सवाद-नारीवाद का अंतर साफ दिखाई देता है।

(क) मन्नू भंडारी : सामाजिक संवेदना और मानवतावाद

मन्नू भंडारी की सामाजिक दृष्टि मूलत: गांधीवादी और मानवतावादी है। 'महाभोज' में वे स्वतंत्र भारत के राजनीतिक भ्रष्टाचार, नौकरशाही के खोखलेपन और दलित उत्पीड़न का अत्यंत यथार्थपरक चित्रण करती हैं। परंतु वहाँ उनका उद्देश्य किसी मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष का नारा बुलंद करना नहीं है, बल्कि वे व्यवस्था की क्रूरता के सामने एक संवेदनशील नागरिक (जैसे सुमन) की सत्य की खोज और नैतिक आक्रोश को प्रदर्शित करती हैं। इसी तरह 'कलवा' में भी आदिवासी समाज के शोषण को वे एक मानवीय त्रासदी के रूप में उभारती हैं, न कि किसी रूखे वर्ग-विश्लेषण के तौर पर।

(ख) प्रभा खेतान : राजनीतिक, ढांचागत और मार्क्सवादी चेतना

प्रभा खेतान की सामाजिक दृष्टि अत्यधिक राजनीतिक, संरचनात्मक और मार्क्सवादी सिद्धांतों से पुष्ट है। वे मानती हैं कि स्त्री का शोषण कोई व्यक्तिगत संयोग या दुर्घटना नहीं है, बल्कि यह एक सुव्यवस्थित व्यवस्था है जो पितृसत्ता और पूँजीवाद के गठजोड़ से संचालित होती है :

★ तालाबंदी : इसमें वे औद्योगिक पूँजीवाद और मजदूर-संघर्ष की पृष्ठभूमि में स्त्री-श्रम के अवश्य होने की समस्या को उठाती हैं।

★ अग्निसंभवा : इसमें चीन की राजनीतिक क्रांति और मार्क्सवादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में स्त्री की स्थिति का मूल्यांकन किया गया है।

★ पीली आँधी : इसमें मारवाड़ी संयुक्त परिवार की सामंती और पूँजीवादी वर्ग-संरचना के भीतर स्त्री के दोहरे दमन का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत है।

प्रभा जी अपनी पुस्तक 'बाजार के बीच बाजार के खिलाफ' में साफ लिखती हैं कि जब तक समाजवाद की मजबूत नींव नहीं बनती, तब तक स्त्री मुक्ति की बातें केवल कागजी आदर्श ही रहेंगी।

8. कथा-शैली, भाषिक संरचना और अभिव्यंजना पद्धति

शिल्प और भाषा के स्तर पर भी दोनों लेखिकाओं ने अपने वैचारिक सरोकारों के अनुरूप सर्वथा भिन्न शैलियों का अन्वेषण किया है।

(क) मन्नू भंडारी : मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और भाषिक सरलता

मन्नू भंडारी की कथा-शैली मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद पर टिकी हुई है। वे पात्रों के अंतर्मन की परतों, उनकी दुविधाओं और अंतर्द्वंद्वों को अत्यंत सूक्ष्मता से उघाड़ती हैं। उनकी भाषा अत्यंत सरल, प्रवाहमान, पारदर्शी और सीधे पाठक के हृदय से संवाद स्थापित करने वाली है। 'आपका बंटी' में वे आंतरिक एकालाप और चेतना-प्रवाह की तकनीक का ऐसा उत्कृष्ट प्रयोग करती हैं कि पाठक बंटी और शकुन की अंत:पीड़ा का भावनात्मक साझीदार बन जाता है। प्रख्यात आलोचक डॉ. नगेंद्र के शब्दों में:

''मन्नू भंडारी की कहानियों और उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी भाषा की पारदर्शिता।''

(ख) प्रभा खेतान : विमर्शात्मक भाषा और आत्मकथात्मकता

प्रभा खेतान की शैली विमर्शात्मक, बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्वों से युक्त है। उनकी भाषा पर सार्त्र, मार्क्स और बोउवार की पारिभाषिक शब्दावली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। कई बार उनके उपन्यासों (जैसे 'छिन्नमस्ता') के संवाद वैचारिक निबंधों की तरह प्रतीत होते हैं, जो सामान्य पाठक के लिए थोड़े दुरूह हो सकते हैं, किंतु वे उपन्यास को एक अभूतपूर्व बौद्धिक गहराई प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त, प्रभा जी के उपन्यासों में आत्मकथात्मक तत्त्व अत्यंत प्रबल हैं। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया और 'अपने-अपने चेहरे' की रमा के चरित्रों पर लेखिका के स्वयं के जीवनानुभवों और डॉ. सराफ के साथ उनके दीर्घकालिक संबंधों की सीधी छाया देखी जा सकती है।

9. भारतीय बनाम वैश्विक परिप्रेक्ष्य

औपन्यासिक परिवेश और भौगोलिक कैनवास की दृष्टि से भी दोनों के बीच एक बड़ा आयामगत अंतर मौजूद है।

(क) मन्नू भंडारी : भारतीय मध्यवर्ग का यथार्थ

मन्नू भंडारी का कथा-संसार मुख्यत: भारत के शिक्षित, महानगरीय या कस्बाई मध्यवर्गीय परिवेश तक ही सीमित है। 'एक इंच मुस्कान' में महानगरीय बौद्धिक वर्ग है, 'आपका बंटी' में दिल्ली का मध्यवर्गीय परिवार है, और 'महाभोज' में भारतीय गाँवों-कस्बों की गंदी राजनीति है। वे उसी परिवेश के बारे में लिखती हैं जिसे उन्होंने जिया और गहराई से देखा है। उनका यह भारत-केंद्रित दृष्टिकोण उनकी रचनाओं को मिट्टी की प्रामाणिक गंध तो देता है, परंतु वे वैश्विक संदर्भों से अछूती रह जाती हैं।

(ख) प्रभा खेतान : वैश्विक दृष्टि और सांस्कृतिक बहुलता

प्रभा खेतान का भौगोलिक और सांस्कृतिक फलक अत्यंत विस्तृत और अंतर्राष्ट्रीय है। वे अपने उपन्यासों के माध्यम से यह सिद्ध करती हैं कि स्त्री का दमन और उसका शोषण किसी एक देश या संस्कृति की बपौती नहीं, बल्कि एक वैश्विक पितृसत्तात्मक महाव्याधि है:

⋆ आओ पेपे, घर चलें : इसका परिवेश अमेरिका है, जहाँ वे पाश्चात्य समाज की भोगवादी स्वतंत्रता के बीच पनपने वाले स्त्री के भयानक एकाकीपन और अंतहीन अकेलेपन को उद्घाटित करती हैं। आलोचक गोपाल राय ने इसे ''अमरीकी औरत के जीवन के भयानक सच को प्रस्तुत करने वाला हिंदी का पहला उपन्यास'' स्वीकार किया है।

⋆ अग्निसंभवा : इसका कैनवास हांगकांग और चीन की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

⋆ एड्स : यह यूरोपीय परिवेश में रचा गया उपन्यास है।

10. बाल-मनोविज्ञान और पीढ़ी-संघर्ष

पारिवारिक इकाई के भीतर बच्चों पर पड़ने वाले प्रभावों के अंकन में भी दोनों के बीच गहरा अंतर है।

(क) मन्नू भंडारी : बाल-पीड़ा का अनूठा और केंद्रीय अंकन

मन्नू भंडारी हिंदी साहित्य की उन विरल रचनाकारों में से हैं जिन्होंने बाल-मनोविज्ञान को अत्यंत प्रामाणिकता और केंद्रीयता के साथ उकेरा है। 'आपका बंटी' इसका सबसे प्रदीप्त उदाहरण है, जहाँ माता-पिता के अहम्, टकराव और तलाक की विभीषिका को एक मासूम बच्चे की दृष्टि से देखा गया है। बंटी, जो अंतत: दोनों के पास होने के बावजूद किसी का नहीं रह जाता, उसकी मानसिक उथल-पुथल, असुरक्षा की भावना और पहचान के संकट को मन्नू जी ने जिस बारीकी से चित्रित किया है, वह प्रेमचंद की 'ईदगाह' (हामिद) की महान परंपरा को आगे बढ़ाता है।

(ख) प्रभा खेतान : वयस्क स्त्री अस्मिता पर मुख्य ध्यान

प्रभा खेतान के उपन्यासों में बाल-पात्रों और बाल-मनोविज्ञान का चित्रण लगभग नगण्य या गौण है। उनका मुख्य ध्यान केवल वयस्क स्त्री की स्वायत्त अस्मिता, उसके देह की राजनीति और उसके आर्थिक संघर्षों पर ही केंद्रित रहता है। 'आओ पेपे, घर चलें' में नायिका की बेटी का नशे की लत में होना केवल एक सांकेतिक उल्लेख मात्र है, उसका कोई गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया गया है। मन्नू भंडारी जहाँ परिवार को एक संपूर्ण इकाई (बच्चों सहित) के रूप में देखती हैं, वहीं प्रभा जी वयस्क स्त्री को एक स्वतंत्र, संप्रभु इकाई के रूप में स्थापित करना चाहती हैं।

11. देह की राजनीति और यौनिकता (Politics of Body & Sexuality)

स्त्री के शरीर और उसकी यौनिकता को साहित्य में अभिव्यक्त करने के साहस और सीमा को लेकर भी दोनों के बीच एक ऐतिहासिक अंतर है।

(क) मन्नू भंडारी : यौनिकता का सांकेतिक और परोक्ष चित्रण

मन्नू भंडारी उस पीढ़ी की लेखिका हैं जहाँ स्त्री की यौनिकता को सरेआम व्यक्त करना एक सामाजिक वर्जना

(Taboo) थी। अत: उनके उपन्यासों में देह और यौन-संबंधों का चित्रण अत्यंत परोक्ष, कोमल और प्रतीकात्मक है। वे शारीरिक आकर्षण को प्रेम और दाम्पत्य के उदात्त ढांचे के भीतर ही समेटकर देखती हैं। 'स्वामी' जैसी ति में विवाहेतर संबंध होने के बावजूद वे अश्लीलता के भय से बचते हुए सांस्कृतिक संयम और मर्यादित रस-सौंदर्य की प्रेमचंदयी परंपरा का निर्वाह करती हैं।

(ख) प्रभा खेतान : यौनिकता का प्रत्यक्ष और राजनीतिक चित्रण

प्रभा खेतान सीमोन द बोउवार के इस कथन से पूरी तरह सहमत थीं कि ''स्त्री का शरीर एक युद्धक्षेत्र (Battleground) है जहाँ समाज, संस्कृति और राजनीति की लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं''। इसलिए वे देह की राजनीति और यौनिकता का अत्यंत साहसिक, निर्भीक और प्रत्यक्ष चित्रण करती हैं। 'छिन्नमस्ता' में वे मारवाड़ी परिवार के भीतर भाई द्वारा बहन के यौन-उत्पीड़न और पति की पाशविक वासना को बिना किसी लाग-लपेट के उजागर करती हैं, जो हिंदी उपन्यास के लिए स्तब्धकारी था। वे अपनी कृति 'उपनिवेश में स्त्री' में बुनियादी प्रश्न उठाती हैं:

''मूल प्रश्न मानवीय गरिमा और सम्मान का है क्या स्त्री की पहचान उसकी योनि पर चिपकी कीमत से ही होती है?''

12. उपन्यास-दर-उपन्यास मुख्य कड़ियों का तुलनात्मक विश्लेषण

शोध को और अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए दोनों लेखिकाओं के समानांतर उपन्यासों का आमने-सामने विश्लेषण आवश्यक है:

(क) 'एक इंच मुस्कान' बनाम 'आओ पेपे, घर चले' (प्रेम और अकेलापन)

दोनों उपन्यासों का केंद्रीय विषय प्रेम की विफलता और उससे उपजा अकेलापन है। परंतु 'एक इंच मुस्कान' में रंजना का अकेलापन सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उसे दिया गया है; वह पूर्ण प्रेम के लिए तरसती एक भावुक पीड़ित है। इसके विपरीत, 'आओ पेपे, घर चले' की आइलीन का अकेलापन उसकी अत्याधिक पाश्चात्य 'भागवादी स्वतंत्रता' और जीवन-शैली का स्वत: चुना हुआ दुष्परिणाम है। मन्नू जी की नायिका अकेलापन की शिकार है, जबकि प्रभा जी की नायिका अकेलेपन की उत्पादक भी है।

(ख) 'आपका बंटी' बनाम 'छिन्नमस्ता' (दाम्पत्य विखंडन और स्त्री)

'आपका बंटी' में शकुन का वैवाहि विखंडन उसके मातृत्व के दु:ख में विलीन हो जाता है; उपन्सास का पूरा फोकस तलाक के बाल-मनोवैज्ञानिक प्रभाव पर है। इसके उलट, 'छिन्नमस्ता' की प्रिया नि:संतान है और उसका संघर्ष केवल अपनी स्वायत्त अस्मिता के लिए है। जब उसका विवाह टूटता है, तो वह किसी उपराध-बोध से घिरने के बजाय मुक्त और आजाद महसूस करती है तथा उठकर सीधे अपना व्यवसाय सँभालने चली जाती है। मन्नू भंडारी की स्त्री संबंधों से परिभाषित है, जबकि प्रभा खेतान की स्त्री अपने स्व से परिभाषित है।

13. निष्कर्ष

विस्तृत और बहुआयामी तुलनात्मक विश्लेषण के उपरांत यह अकादमिक निष्कर्ष निकलता है कि मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान हिंदी स्त्री-विमर्श के दो सर्वथा भिन्न परंतु अनिवार्य स्तंभ हैं। उनके बीच के अंतर के आयामों को निम्नानुसार सूत्रबद्ध किया जा सकता है:

1. मन्नू भंडारी का वैचारिक आधार **अनुभव और संवेदना** है, जबकि प्रभा खेतान का **दर्शन और वैचारिकता** है।

2.ह्मन्नू भंडारी का दृष्टिकोण **मानवतावादी** है, जबकि प्रभा खेतान का **कट्टर नारीवादी** है।

3.ह्मन्नू भंडारी का स्त्री-विद्रोह **नैतिक और भावनात्मक** स्तर पर घटित होता है, जबकि प्रभा जी का **वैचारिक और व्यावसायिक** धरातल पर।

4.ह्मन्नू भंडारी के यहाँ मातृत्व एक **अदम्य शक्ति और उद्देश्य** है, जबकि प्रभा जी के यहाँ वह स्त्री का महज एक **सचेत विकल्प** है।

5. मन्नू भंडारी परिवार को एक **जटिल किंतु अनिवार्य भावात्मक संस्था** मानती हैं, जबकि प्रभा खेतान उसे मुख्यत: **शोषण की एक पितृसत्तात्मक संरचना** के रूप में देखती हैं।

वस्तुत: ये दोनों लेखिकाएँ एक-दूसरे की विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक हैं। मन्नू भंडारी वह सुदृढ़ भावनात्मक आधार और संवेदनशील धरातल निर्मित करती हैं, जिस पर प्रभा खेतान अपनी प्रखर वैचारिकता और दार्शनिक भवन का निर्माण करती हैं। मन्नू भंडारी जहाँ पाठक को स्त्री की बुनियादी पीड़ा 'महसूस' कराकर उसके हृदय को छूती हैं, वहीं प्रभा खेतान उस पीड़ा के ढांचागत कारणों को 'समझने' पर विवश कर पाठक के मस्तिष्क को झकझोरती हैं। दोनों का यह

सम्मिलित अवदान ही हिंदी स्त्री-विमर्श को उसकी समग्रता और प्रौढ़ता प्रदान करता है।

★पी-एच.डी., शोधार्थी
हिन्दी विभाग
मंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर

डॉ. ब्रजेन्द्र कुमार ब्रजेश
शोध निर्देशक
सहायक प्राध्यापक
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर

सन्दर्भ सूची

(क) मन्नू भंडारी के उपन्यास

1. मन्नू भंडारी तथा राजेंद्र यादव, 'एक इंच मुस्कान', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1962
2. मन्नू भंडारी, 'आपका बंटी', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1971
3. मन्नू भंडारी, 'महाभोज', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1979
4. मन्नू भंडारी, 'स्वामी', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982
5. मन्नू भंडारी, 'कलवा', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
6. मन्नू भंडारी, 'एक कहानी यह भी' (आत्मकथा), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
7. मन्नू भंडारी, 'मेरी प्रिय कहानियाँ', राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1973

(ख) प्रभा खेतान के उपन्यास और अन्य कृतियाँ

8. प्रभा खेतान, 'आओ पेपे, घर चलें', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990
9. प्रभा खेतान, 'तालाबंदी', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991
10. प्रभा खेतान, 'अग्निसंभवा', 'हंस' पत्रिका, मार्च-मई 1992; पुस्तक : राजकमल प्रकाशन, 1993
11. प्रभा खेतान, 'एड्स', 'आज' पूजा वार्षिकांक, 1993
12. प्रभा खेतान, 'छिन्नमस्ता', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993
13. प्रभा खेतान, 'अपने-अपने चेहरे', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
14. प्रभा खेतान, 'पीली आँधी', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996
15. प्रभा खेतान, 'स्त्री पक्ष', 'जनसत्ता सबरंग', 1999; पुस्तक : राजकमल प्रकाशन, 2000
16. प्रभा खेतान, 'अन्या से अनन्या' (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
17. प्रभा खेतान, 'सार्त्र का अस्तित्ववाद', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984
18. प्रभा खेतान, 'सार्त्र : शब्दों का मसीहा', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985
19. प्रभा खेतान, 'उपनिवेश में स्त्री', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
20. प्रभा खेतान, 'बाजार के बीच बाजार के खिलाफ', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
21. प्रभा खेतान (अनुवाद), 'स्त्री : उपेक्षिता' (सीमोन द बोउवार - 'द सेकंड सेक्स'), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

(ग) आलोचनात्मक ग्रंथ और पत्रिकाएँ

22. गोपाल राय, 'हिंदी उपन्यास का इतिहास', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
23. डॉ. पुष्पाल सिंह, 'हिंदी गद्य : इधर की उपलब्धियाँ', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
24. डॉ. नगेंद्र, 'आस्था के चरण', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
25. परवीन मलिक, 'प्रभा खेतान और उनका साहित्य', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
26. डॉ. उषा कीर्ति राणावत, 'प्रभा खेतान का औपन्यासिक संसार', 2005
27. जितेंद्र धीर, 'अक्षर पर्व' पत्रिका, नवंबर 2008
28. 'हंस' पत्रिका, नवंबर 2008 (प्रभा खेतान विशेष अंक)
29. 'हंस' पत्रिका, जनवरी 1992 (मन्नू भंडारी साक्षात्कार)
30. लोकमत समाचार, 28 सितंबर 2008 (प्रभा खेतान विशेष)
31. सीमोन द बोउवार, 'द सेकंड सेक्स' (1949), हिंदी अनुवाद : 'स्त्री : उपेक्षिता', प्रभा खेतान, वाणी प्रकाशन
32. डॉ. मैनेजर पांडेय, 'साहित्य और इतिहास-दृष्टि', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
33. डॉ. रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण 2000
34. डॉ. वासुदेव नंदन प्रसाद एवं प्रो. विश्वनाथ, 'साहित्य का विश्लेषण
35. प्रेमचंद, 'गोदान', सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद (पहली बार 1936 में प्रकाशित), राजकमल पुनर्मुद्रण 2009

रोहित कुमार

नयी कविता में लघुमानव का संघर्ष : व्यवस्था और व्यक्ति का द्वंद्व

शोध सार

नयी कविता अपने परिवेश और समय की परिस्थितियों से उपजी कविता है। जिसका स्वर मानवतावादी है। इस मानवतावादी दृष्टि के कारण ही नयी कविता ने अपना काव्यनायक लघुमानव को बनाकर उसके संघर्ष को व्यवस्था और व्यक्ति के द्वंद्व और तनाव के संदर्भ में उद्घाटित किया है। इस द्वंद्व और तनाव का कारण कहीं आत्मग्रस्तता है, कहीं समाजग्रस्तता, कहीं अंतर्मुखता तो कहीं बहिर्मुखता। लघुमानव ऐसा मानव है जो संघर्ष में भी अपनी अदम्य जिजीविषा के साथ आगे बढ़ता है। वह आदर्श व्यवस्था का हिमायती है लेकिन व्यक्ति की निजता और स्वतंत्रता को सर्वोपरि मानता है। इस तरह नयी कविता का लघुमानव अपने समय के मध्यवर्ग का प्रतिनिधि बनकर सामने आता है और अपने परिवेश में आधुनिक भावबोध, तार्किकता और नये जीवन मूल्यों को स्थापित करके युग परिवर्तन की आकांक्षा रखता है। प्रस्तुत शोध आलेख में लघुमानव के संघर्ष को उद्घाटित करते हुए व्यवस्था और व्यक्ति के द्वंद्व और तनाव का सारगर्भित मूल्यांकन किया गया है।

बीज शब्द

लघुमानव, अस्तित्ववाद, विसंगति, अनुभूति, मोहभंग, निरर्थकता, मूल्यहीनता, यथार्थ, क्षणवाद, विडंबना, तनाव, मध्यवर्ग, अस्मिता, अकेलापन, अजनबीपन, लोकतंत्र, पूँजीवाद आदि।

मूल आलेख

आधुनिक हिंदी कविता के विकास क्रम में नयी कविता आंदोलन की शुरुआत 1951 ई. में 'अज्ञेय' द्वारा संपादित होने वाले 'दूसरा सप्तक' से मानी जाती है। लेकिन 1954 ई. में इलाहाबाद से 'जगदीश गुप्त' के संपादकत्व में 'नयी कविता' नामक पत्रिका के प्रकाशन से इस काव्य आंदोलन को विशेष ख्याति मिली। नयी कविता ने अपने परिवेश से संस्कार ग्रहण करते हुए नयी प्रवृत्तियों और अवधारणाओं को जन्म दिया। जिसमें आधुनिक भावबोध, निरर्थकता बोध, विसंगति बोध, मूल्यहीनता बोध, अनुभूति की प्रमाणिकता, भोगा हुआ यथार्थ, क्षणवाद और लघुमानव की अवधारणा आदि मुख्य हैं। नयी कविता ने इन प्रवृत्तियों के आधार पर नये काव्य प्रतिमानों की स्थापना की है।

नामवर सिंह नयी कविता को परिभाषित करते हैं कि ''नयी कविता का मूल स्वर व्यक्ति की आंतरिक अनुभूति और उसके संकट का स्वर है।''[1] वस्तुतः नयी कविता अपनी अंतर्वस्तु में व्यक्ति की अनुभूति को महत्त्व देती है। द्वितीय विश्वयुद्ध, स्वतंत्रता के बाद का भारत, शहरीकरण, औद्योगीकरण तथा बदलते जीवन-मूल्यों ने मनुष्य के जीवन को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। नयी कविता ने इन्हीं जटिल परिस्थितियों को अपने केंद्र में रखा और एक ऐसे सामान्य व्यक्ति को काव्यनायक बनाया जिसे 'लघुमानव' कहा गया।

'लघुमानव' वह सामान्य व्यक्ति है जो समाज के विशाल ढाँचे में छोटा, असहाय और उपेक्षित है। यह व्यक्ति न तो नायक है और न ही कोई आदर्श चरित्र; वह अपनी सीमाओं, कमजोरियों और संघर्षों के साथ उपस्थित होता है और अपनी अस्मिता की पहचान के लिए व्यवस्था और व्यक्ति के द्वंद्व से जूझता है।

लघुमानव नयी कविता की केंद्रीय अवधारणा है जिस पर

तत्कालीन परिस्थितियों और अस्तित्ववादी विचारधारा का गहरा प्रभाव है। नई कविता में लघुमानव की अवधारणा से प्रथम परिचय 'लक्ष्मीकांत वर्मा' कराते हैं। उन्होंने लघुमानव को संकुचित अर्थों में द्वितीय विश्व युद्ध की उपज मात्र माना था। लेकिन नयी कविता में लघुमानव की अवधारणा की स्थापना आलोचक 'विजयदेव नारायण साही' ने अपने लम्बे लेख ''लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस (छायावाद से अज्ञेय तक)'' के द्वारा की है।

साही ने लघुमानव को मनुष्यता के धरातल पर मूल्यांकित किया है। इसीलिए वह लघु - महत मानव की बजाय 'सहज मानव' की स्थापना ज्यादा उचित मानते हैं। साही जी मानते हैं कि ''यह सहज मनुष्य संपूर्ण मनुष्य नहीं है। मनुष्य 'उपलब्धि' और 'संभावना' का मिश्रण होता है। मनुष्यता की पूर्णता केवल एक संभावना हो सकती है यथार्थ नहीं। यथार्थ है सहज मनुष्य। वह कोई भी हो सकता है।''[2] यहीं से नयी कविता में लघुमानव पर बहस शुरू हुई और लघुमानव की अवधारणा को केन्द्रीय महत्त्व मिला।

लघुमानव नयी कविता का काव्यनायक है और इसका संघर्ष ही प्रत्यक्ष तौर पर नयी कविता की केंद्रीय संवेदना है। दरअसल ''नयी कविता में समग्र मनुष्य की बात नहीं कही गयी है वरन मनुष्य के समग्र अनुभव खंडों को संयोजित किया गया है।''[3] ये मनुष्य के समग्र अनुभव खंड ही नयी कविता में लघुमानव के संघर्ष के विविध आयामों के रूप में दिखाई देते हैं जिसमें अस्तित्वगत संघर्ष, आर्थिक संघर्ष, नैतिक व चारित्रिक संघर्ष, मानसिक व भावनात्मक संघर्ष, नगरीय विसंगति व अजनबीपन का संघर्ष तथा व्यवस्थाओं से मोहभंग की स्थिति से संघर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

रामस्वरूप चतुर्वेदी मानते हैं कि ''नयी कविता में व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसकी अस्मिता का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है।''[4] वस्तुत: नयी कविता में लघुमानव का सबसे बड़ा संघर्ष है अपने अस्तित्व या अस्मिता को बचाये रखना। 1950 ई. के बाद मशीनीकरण और शहरीकरण के दौर में सामान्य मनुष्य एक यंत्र बन गया और लोकतंत्र धीरे-धीरे वोटतंत्र और भीड़तंत्र में बदल गया। जिससे मनुष्य के अस्तित्व पर संकट आ गया, उसकी पहचान खोने लगी। इस भीड़तंत्र में लघुमानव अपनी पहचान बचाये रखने के लिए व्यवस्था और व्यक्ति दोनों स्तरों पर संघर्ष करता दिखाई देता है। नयी कविता में मुक्तिबोध के काव्यनायक में यह संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है।

''जिंदगी के... / कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर / कोई एक लगातार;
★★★★
अस्तित्व जनाता / अनिवार कोई एक''

-(मुक्तिबोध : अँधेरे में)

लघुमानव का आर्थिक संघर्ष नयी कविता का अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष है। स्वतंत्रता के बाद भारत में पूँजीवादी व्यवस्था विकसित हुई, जिसमें समान अवसर का आदर्श तो था, लेकिन व्यवहार में असमानता बढ़ती गई। गरीबी, बेरोजगारी, महंगाई और श्रम का शोषण ये सब लघुमानव के जीवन को कठिन बना देते हैं। वह दिन-रात मेहनत करता है, फिर भी उसका जीवन अभावों से घिरा रहता है। यहाँ व्यवस्था विकास का दावा करती है, जबकि व्यक्ति अभाव में जीता है यही द्वंद्व लघुमानव के आर्थिक संघर्ष को जन्म देता है। मुक्तिबोध जैसे कवियों ने इस व्यवस्था की तीखी आलोचना की है और पूँजीवाद के विरुद्ध स्वर उठाया है।

''कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता,
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता''

- (मुक्तिबोध : अँधेरे में)

लघुमानव का मानसिक और भावनात्मक संघर्ष अत्यंत गहरा और जटिल है। यह संघर्ष केवल बाहरी परिस्थितियों का परिणाम नहीं, बल्कि व्यक्ति के भीतर उत्पन्न होने वाले तनाव, अकेलेपन और असुरक्षा का भी परिणाम है। आधुनिक जीवन में संबंधों के स्थायित्वत में कमी हुई है। प्रेम, विश्वास और आत्मीयता की जगह संदेह और असुरक्षा ने ले ली है। परिणामस्वरूप, व्यक्ति अपने ही समाज में अजनबी महसूस करने लगता है। रघुवीर सहाय की कविताओं में यह आंतरिक संघर्ष बहुत मार्मिक रूप में सामने आता है, जहाँ व्यक्ति बोलने से डरता है और भीतर ही भीतर टूटता रहता है।

''कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
न टूटे न टूटे तिलस्म सत्ता का,
मेरे अंदर एक कायर टूटेगा टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह।''

(रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध)

धर्मवीर भारती जी मानते हैं कि ''नयी कविता प्रथम बार समस्त जीवन को व्यक्ति या समाज इस प्रकार के तंग विभाजनों के आधार पर न माप कर मूल्यों के सापेक्ष स्थिति में व्यक्ति

और समाज दोनों को मापने का प्रयास कर रही है।''[5] मूल्यों के संदर्भ में लघुमानव का नैतिक संघर्ष अत्यंत सूक्ष्म और मार्मिक दिखाई देता है। यहाँ संघर्ष केवल बाहरी नहीं, बल्कि व्यक्ति की अंतरात्मा में घटित होता है। व्यवस्था में आदर्श और व्यवहार के बीच गहरी खाई है। व्यक्ति जानता है कि सही क्या है, लेकिन परिस्थितियाँ उसे असत् मार्ग पर चलने के लिए मजबूर करती हैं। ईमानदारी, सत्य और न्याय जैसे मूल्यों का स्थान स्वार्थ, भ्रष्टाचार और समझौते ने ले लिया है। परिणामस्वरूप, व्यक्ति अपने नैतिक मूल्यों से समझौता करने लगता है। यह संघर्ष व्यक्ति को भीतर से तोड़ देता है और उसके चरित्र को कमजोर बना देता है। मुक्तिबोध की कविताओं में यह नैतिक मूल्यों का पतन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जहाँ व्यक्ति अपने ही विवेक को ''स्वार्थ के तेल में'' भून देता है।

''स्वार्थों के टेरियर कुत्तों को पाल लिया,
भावना के कर्तव्य... ... ... त्याग दिये,
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में,
आदर्श खा गए।''

– (मुक्तिबोध : अँधेरे में)

नयी कविता में लघुमानव का संघर्ष नगरीय विसंगति और अजनबीपन के रूप में भी दिखाई देता है। यह संघर्ष सीधे-सीधे व्यवस्था और व्यक्ति के द्वंद्व को उजागर करता है, जहाँ आधुनिक शहरी व्यवस्था सुविधाएँ और अवसर देती है वहीं वह व्यक्ति को भीतर से अकेला और असुरक्षित भी करती है। शहरीकरण से जीवन की संरचना बदली तथा गाँवों से शहरों की ओर पलायन, उद्योग और कार्यालयों की स्थापना आदि से लघुमानव के सामने कई विसंगतियाँ भी पैदा हुईं। जिनके कारण लघुमानव का संघर्ष जटिल हो गया। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में यह नगरीय जीवन में निरर्थकता बोध स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

''बाजार भी जैसे / सन्नाटा है / बहरे के लिये
मेहँदी जैसे निरर्थक है / चेहरे के लिये
ऐसी हो गयी है जिंदगी / खाली और खस्ता''

– (भवानी प्रसाद मिश्र)

रामविलास शर्मा नयी कविता के केंद्र में मध्यवर्ग को रखते हुए कहते हैं कि ''नयी कविता मध्यवर्गीय जीवन की विडंबनाओं और संकटों की अभिव्यक्ति है।''[6] इस मध्यवर्ग का प्रतिनिधि नयी कविता में लघुमानव है जिसका व्यवस्था से मोहभंग हो गया है। स्वतंत्रता के बाद जिस आदर्श लोकतंत्र की कल्पना मध्यवर्गीय लघुमानव ने की थी, वह वास्तविकता में पूरी नहीं हो सकी। व्यक्ति को लगता है कि व्यवस्था केवल दिखावे की है और वास्तव में वह उसके हित में नहीं है। परिणामस्वरूप, उसके भीतर आक्रोश, असंतोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। यह विद्रोह कभी प्रत्यक्ष रूप में, तो कभी आंतरिक असंतोष के रूप में सामने आता है। लघुमानव व्यवस्था से टकराने की कोशिश करता है, लेकिन अक्सर उसकी आवाज दबा दी जाती है।

''आदमी को तोड़ती नहीं हैं / लोकतांत्रिक पद्धतियाँ
केवल पेट के बल / उसे झुका देती हैं धीरे-धीरे अपाहिज
बना लेती है।''

– (राजकमल चौधरी : मुक्ति प्रसंग)

नयी कविता का स्वर मानवतावादी है, पर इसका मानवतावाद मिथ्या आदर्श की परिकल्पनाओं पर आधारित नहीं है। यह मानवतावाद लघुमानव के व्यक्तित्व सृजन में सहायक है। इस मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण लघुमानव अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं में तो आस्था रखता है लेकिन वह समाज द्वारा निर्धारित मान्यताओं और मर्यादा में आस्था नहीं रखता है। धर्मवीर भारती के अंधा युग में यह लघुमानव की अनास्था स्पष्ट दिखाई देती है।

''हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया
क्योंकि नहीं थी, अपनी कोई भी मर्यादा
हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था''

– (धर्मवीर भारती : अंधा युग)

नयी कविता का लघुमानव अपनी बात व्यवस्था के सामने रखना चाहता है, पर उसकी आवाज दबा दी जाती है। इसलिए वह आत्म-संवाद के माध्यम से धीरे-धीरे अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने को तैयार हो जाता है। इसके साथ ही नयी कविता का लघुमानव भोगे हुए यथार्थ और अनुत्तरित प्रश्नों से जूझते हुए व्यवस्था से टकराता है, पर समाज में स्वतंत्र रहना चाहता है। मध्यवर्गीय सुविधा-प्रियता के कारण वह युग परिवर्तन को सहज स्वीकार नहीं कर पाता और इसी द्वंद्व में विभाजित व्यक्तित्व का शिकार होकर भी अच्छे से बेहतर बनने की आकांक्षा रखता है।

''जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया साफ करने के लिए एक मेहतर चाहिए

वह मेहतर मैं हो नहीं पाता''

– (मुक्तिबोध : मैं तुम लोगों से दूर हूँ)

नयी कविता का लघुमानव संघर्ष के बीच भी आशा और आकांक्षा के साथ आगे बढ़ता है तथा व्यवस्था में रहते हुए अपनी अस्मिता बचाए रखने का प्रयास करता है। वह अनुभूति की प्रमाणिकता के आधार पर जीवन के सभी द्वंद्वों को भोगते हुए अदम्य जिजीविषा के साथ जीवन के अर्थ की तलाश करता है, जिसे कुँवर नारायण ने व्यक्त किया है।

''मिल सके अगर तो / एक दृष्टि चाहिए मुझे
जीवन बच सके / अँधेरा हो जाने से बस।''

– (कुँवर नारायण : आत्मजयी)

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि नयी कविता का समवेत स्वर मानवतावादी रहा है। जिसमें मानव मूल्यों का निर्माण और पतन दोनों हुआ है। लघुमानव का सृजन जितनी बड़ी उपलब्धि है उतनी बड़ी त्रासदी भी। व्यक्ति की अस्मिता के लिए लघुमानव व्यवस्था से टकराता है। लेकिन अपने व्यक्तित्व के विकास में लघुताबोध को बाधा नहीं बनने देता है। वह अपनी अदम्य जिजीविषा के साथ आगे बढ़ता है। यह गुण ही लघुमानव को एक सामान्य काव्यनायक से महानायक का रूप प्रदान करता है। इसीलिए लघुमानव का संघर्ष नयी कविता का केंद्रीय स्वर माना जाता है। जिसकी अभिव्यक्ति दूसरा सप्तक और तीसरा सप्तक के कवियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

सहायक आचार्य (हिंदी विभाग)
राजकीय महाविद्यालय, कनीना,
(महेंद्रगढ़), हरियाणा
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
ईमेल – rohit641999kumar@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. सिंह, नामवर, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सत्रहवाँ सं. 2016, पृष्ठ सं. 40
2. साही, विजयदेव नारायण, छठवां दशक, लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस (लेख), हिंदुस्तानी अकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1987, पृष्ठ सं. 259
3. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2018, पृष्ठ सं. 354
4. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2018, पृष्ठ सं. 352
5. भारती, धर्मवीर, मानव मूल्य और साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पाँचवाँ सं. 2019
6. शर्मा, रामविलास, नयी कविता और अस्तित्ववाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2018

दीपांशु कुमार* दीक्षा**

हरिकृष्ण देवसरे की बाल कहानियों में समकालीन परिवेश और नैतिक बोध

डॉ. हरिकृष्ण देवसरे हिंदी के प्रतिष्ठित बाल साहित्यकार और संपादक थे। वे बाल साहित्य के उन पुरोधाओं में से हैं जिन्होंने बाल कहानियों को 'परियों और राजा-रानी' के काल्पनिक संसार से बाहर निकालकर यथार्थ की जमीन पर खड़ा किया। उनका मानना था कि बच्चों का भविष्य तार्किक सोच पर टिका है। उनकी कहानियों में नैतिक चेतना केवल उपदेश नहीं है, बल्कि एक गहरी संवेदना है जो बच्चों को अपने परिवेश के प्रति जागरूक बनाती है।

बच्चे केवल देश का भविष्य नहीं, बल्कि वह नींव हैं जिस पर राष्ट्र की गरिमा खड़ी होती है। एक सुसंस्कृत नागरिक गढ़ने के लिए आज उन्हें सही मार्गदर्शन एवं सकारात्मक प्रेरणा प्रदान करना अनिवार्य है। मनुष्य के वैचारिक एवं मानसिक विकास में साहित्य एक अहम् भूमिका निभाता है। साहित्य का मूल उद्देश्य ही 'सहितस्य भाव:' अर्थात् समष्टि (समाज) और व्यष्टि (व्यक्ति) का कल्याण है। यह मानव जाति के हर वर्ग के सामाजिक, बौद्धिक, एवं चारित्रिक उत्थान की अहम् इकाई है। ऐसे में बच्चों का बड़ा पाठक वर्ग भी है, जिसके बहुमुखी विकास के लिए स्कूली पाठ्यक्रम ही संपूर्ण नहीं है, उनके हाथों में भी स्वयं के मनोरंजन के लिए बाल-जगत की बातें करता कोई साहित्य अवश्य होना चाहिए, जिनसे उनको प्रेरणा का पाठ मिल सके और उनके स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान में वृद्धि हो सके।

''बाल साहित्य प्रारंभ से ही बच्चों में उन गुणों का बीजारोपण करता है जो भविष्य में चरित्रवान तथा नैतिक मूल्यों की रक्षा करने वाले होते हैं। बाल साहित्य बच्चों में भावात्मक एकता, सांवेगिक परिपक्वता तथा नैतिक उत्थान को बढ़ावा देता है। उन्हें आशावादी तथा आत्मनिर्भर बनने में भी मदद करता है।''[1]

बच्चों का बाल साहित्य से सीधा संबंध होता है। किसी भी बच्चे के लिए बाल साहित्य एक ऐसा आधारभूत आयाम है जिसके माध्यम से वह अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश की जड़ों से जुड़ता है। स्वस्थ बाल साहित्य जहाँ एक ओर बच्चों को ईमानदारी, साहस और परोपकार जैसे मानवीय मूल्यों से परिचित कराता है वहीं दूसरी ओर उनमें अच्छे संस्कार डालकर उनके भावी जीवन की नींव मजबूत करता है। बाल साहित्य बच्चों की कल्पनाशीलता, जिज्ञासा एवं रचनात्मकता में वृद्धि करने के साथ-साथ उनके सर्वांगीण विकास में भी सहायक होता है।

डॉ. हरिकृष्ण देवसरे ने बच्चों के लिए केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि वैज्ञानिक सोच और नैतिकता का एक नया धरातल तैयार किया। वे रूढ़िवादिता के विरोधी थे। उन्होंने 'परियों' और 'राजा-रानियों' की जगह विज्ञान और तार्किकता को महत्व दिया। उन्होंने कहानियों को कल्पनालोक से निकालकर यथार्थ और तर्क की ठोस जमीन पर खड़ा किया। उनकी कहानियों में नैतिक मूल्य उपदेशात्मक नहीं, बल्कि 'अनुभव' प्रधान होते हैं जिसमें नैतिकता का अर्थ 'अंधविश्वासी' नहीं, बल्कि विवेकशील और तर्कशील होना है।

''बाल रुचि और मनोवृत्ति के अनुकूल कल्पना और रहस्यमयी बातों का महत्व अत्यधिक है, यह एक निर्विवाद सत्य है, किंतु अब उस कल्पना और रहस्य का भी कोई न कोई आधार बनाना आवश्यक हो गया है। आज की कहानियों के कथानक और पात्र कोरी कल्पना की उड़ान मात्र नहीं होते

बल्कि जीवन के सत्य से अनुप्राणित होते हैं।''[2]

उन्होंने हिंदी में विज्ञान कथाओं की नींव को मजबूत किया, ताकि बच्चे भविष्य की चुनौतियों और तकनीकी प्रगति के प्रति सजग हो सकें। उन्होंने तर्क दिया कि काल्पनिक चमत्कार बच्चों में अंधविश्वास और निष्क्रियता पैदा करते हैं। इसके विपरीत, उन्होंने जीवन के वास्तविक संघर्षों और मानवीय क्षमताओं पर आधारित कहानियाँ लिखीं।

उनकी रचनाओं में नायक अक्सर सामान्य बच्चे होते हैं जो अपनी बुद्धि और साहस के बल पर कठिन परिस्थितियों में गलत का सहारा लेने के बजाय सत्य को चुनते हैं। वे सिखाते हैं कि साहस का अर्थ केवल शारीरिक बल नहीं, बल्कि डर पर विजय पाना, चुनौतियों से न भागना और गलत के खिलाफ आवाज उठाना भी है।

'बाल भारती', जून 1962 में प्रकाशित उनकी कहानी 'साहसी रतन' का एक अंश –

''रतन ने ही आपके गाँव की रक्षा की है। अगर रतन ने हमारी मदद न की होती तो शायद हमें इस डाकू दल का अंत करने में इतनी आसानी न होती। इसने अपनी जान पर खेलकर गाँव को डाकुओं से बचाया है।''[3]

जब एक साधारण बच्चा जीतता है, तो पढ़ने वाले हर बच्चे में यह विश्वास जागता है कि वह भी अपने जीवन की बाधाओं को पार कर सकता है। इसी प्रकार देवसरे जी ने सामान्य बालक को अपनी कहानी का नायक बनाते हुए अपने बाल पाठकों को आत्मविश्वास रखने, कर्तव्यपालन करने और अपनी बुद्धि और कौशल पर भरोसा करने की सीख दी है।

देवसरे जी ने अपनी बाल कहानियों में सामाजिक समरसता और समानता जैसे मूल्यों को भी भली-भांति चित्रित किया है। उनकी कहानियों में जाति, धर्म या अमीर-गरीब का भेदभाव नहीं मिलता। वे बच्चों को मानवीय एकता का पाठ पढ़ाते हैं। 'सहायता' और 'सहानुभूति' के साथ-साथ 'सजगता' और 'संवेदनशीलता' उनके पात्रों के मूल गुण होते हैं, जो समाज के प्रति उनकी जिम्मेदारी को दर्शाते हैं।

उनकी कहानी 'दीनू काका' में दर्शाया गया है कि किस प्रकार बच्चे अपने घर में काम करनेवाले दीनू काका के प्रति सहानुभूति रखते हैं। और उनकी आर्थिक स्वतंत्रता के लिए प्रयासरत रहते हैं। दीनू काका केवल एक 'सेवक' नहीं, बल्कि परिवार के एक मूक सदस्य की तरह हैं। बच्चों का उनके प्रति लगाव यह दर्शाता है कि बचपन सामाजिक भेदभाव की दीवारों को नहीं पहचानता। 'दीनू काका' की कहानी हमें सिखाती है कि यदि बच्चों की नैतिक चेतना को जागृत किया जाए, तो वे समाज के उपेक्षित वर्गों के लिए सबसे बड़े सहायक बन सकते हैं।

'साहित्य अमृत', नवंबर 2002 में प्रकाशित उनकी कहानी 'सवाल का जवाब' का एक अंश –

''ये झूठा दुकानदार है! इसने गरीब बच्चों को चोर कहकर उन्हें थप्पड़ मारे हैं। गरीब बच्चों पर हाथ उठाने का इसे क्या हक है? मैं इसे थाने ले जाऊँगा और इसके खिलाफ रिपोर्ट लिखवाऊँगा।''[4]

जब कोई बच्चा किसी अन्याय को देखकर चुप नहीं रहता और अपनी बात रखता है, तो वह समाज के लिए एक प्रेरणा बन जाता है और समाज को उसकी नैतिक जिम्मेदारियों की याद दिलाता है। एक बच्चा जो आज अन्याय के खिलाफ खड़ा है, वह कल के एक न्यायपूर्ण समाज का नेतृत्व करेगा। उनकी यह प्रवृत्ति दूसरों में भी विश्वास जगाती है। जब एक बच्चा बोलता है, तो उसके साथी बच्चे भी प्रेरित होते हैं, जिससे एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण होता है जो चुप रहकर सहने में नहीं, बल्कि बदलाव लाने में विश्वास रखती है।

देवसरे जी ने अपनी बाल कहानियों के माध्यम से बच्चों को प्रकृति के साथ जुड़ाव महसूस कराया। उनकी कहानियों में प्रकृति के साथ तालमेल बनाकर रहने की सीख मिलती है। उनकी कहानियों में अक्सर पर्यावरण संरक्षण को एक नैतिक कर्तव्य के रूप में दिखाया गया है। वे पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों के प्रति संवेदनशीलता जगाकर बच्चों को प्रकृति का मित्र बनाना चाहते थे। वे वन्यजीवों और पर्यावरण के संरक्षण को एक अनिवार्य नैतिक जिम्मेदारी मानते हैं। उनके लिए पर्यावरण की रक्षा केवल एक विषय नहीं, बल्कि जीवन जीने की एक पद्धति है।

'पराग', 1974 में प्रकाशित उनकी कहानी 'बेगुनाह पेड़ों की हत्या' की पंक्तियाँ-

''...और अगर सिर्फ जंगल काटने का ही काम होता रहा तो जानते हो क्या होगा... पानी बरसना बंद हो जाएगा। जमीन रेतीली और बंजर हो जाएगी, खेती नहीं होगी, लोग भूखों मारने लगेंगे। सोचो, तब कितनी भयानक हालत होगी।''[5]

उपरोक्त कथन के माध्यम से देवसरे जी अपने बाल पाठकों को पर्यावरण संरक्षण की महत्ता बताते हुए, उन्हें इसके प्रति

सजग और सचेत भी कर रहे हैं।

उनकी कहानियों के पात्र अपनी मेहनत पर भरोसा करते हैं और ईमानदारी के रास्ते को चुनते हैं। जब बच्चे ऐसे पात्रों को देखते हैं जो अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं अपनी मेहनत से करते हैं, तो उनमें आत्म-विश्वास का संचार होता है, जो बच्चों में चरित्र निर्माण का आधार बनता है। वे कठिन परिश्रम और सत्यनिष्ठा को महत्व देते हैं।

'पराग', जनवरी 1982 में प्रकाशित उनकी बाल कहानी 'घुन' में जब बच्चा अपने पिता को रिश्वत लेते हुए देखता है तो कहता है -

''मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि पिताजी अनैतिक रूप से क्यों धन कमाना चाहते हैं?''[6]

यह दर्शाता है कि बच्चे यह समझते हैं कि अनैतिक धन समाज और राष्ट्र के लिए हानिकारक है और इस मूल्य को महत्व दे रहे हैं कि परिवार का भरण-पोषण करने के लिए अपनाया गया मार्ग भी ईमानदारी का होना चाहिए। वह अनैतिक धन को स्वीकार करने के बजाय अभाव में रहना पसंद करेगा, जो उसके चरित्र की सुदृढ़ता को दर्शाता है।

''उनके नायकों से वे अपनी तुलना करने के बाद यह देखते हैं कि वैसा काम करने में उन्हें क्या कठिनाई है। यही भावना उनके जीवन में क्रियात्मकता का संचार करती है। बाल्यावस्था में कौतूहल के कारण आत्मसात की गई सभी बातों का विश्लेषण बालक किशोरावस्था में करता है।''[7]

एक संपूर्ण व्यक्तित्व चारित्रिक विशेषताओं से निखरता है और चरित्र का निर्माण होता है नैतिक मूल्यों से। नैतिक मूल्य हमारे जीवन की वह नींव हैं, जो न केवल हमारे चरित्र का निर्माण करते हैं, बल्कि समाज को एक सूत्र में बांधे रखने का काम भी करते हैं। वे हमें स्वार्थ से ऊपर उठकर समाज और मानवता के हित में सोचने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं।

देवसरे जी ने अपनी कहानी 'पापा, मम्मी को मत मारो' में पारिवारिक विसंगतियों और बच्चों पर उनके प्रभाव को उजागर किया है। कहानी का शीर्षक ही अपने आप में एक करुण पुकार है, जो एक बच्चे की विवशता और उसके डर को दर्शाता है। कहानी में दर्शाई गई पारिवारिक विसंगतियाँ केवल शारीरिक हिंसा तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे मानसिक और वैचारिक मतभेदों की परिणति हैं।

जब बच्चा अपनी माँ पर हो रहे अत्याचार को देखता है तो वह परेशान हो जाता है। जिस पारिवारिक परिवेश में उसे सुखी एवं स्वस्थ वातावरण मिलना चाहिए, उसमें वह ऐसे कृत्यों को देख कर हर समय डर और तनाव में जीता है। वह इसका कारण खोजने का प्रयास भी करता है और अपने पिता को रोकने का भी, जिसमें उसको गंभीर चोट भी आ जाती है।

बच्चा अपनी नैतिक चेतना के परिणामस्वरूप अपने आस-पास हो रही सभी घटनाओं को देखता है, समझता है और अपने नैतिक धरातल पर उनका मूल्यांकन करके उसका समाधान भी करना चाहता है।

उन्होंने अपनी कहानियों में नैतिक मूल्यों (सत्य, ईमानदारी, साहस) को आधुनिक संदर्भों के साथ जोड़ा और नैतिक चेतना को अत्यंत सूक्ष्म और कलात्मक रूप से प्रवाहित किया। देवसरे जी ने अपनी बाल कहानियों के माध्यम से बच्चों में वैज्ञानिक चेतना जागृत करने का प्रयास किया। उनके लिए तर्कसंगत होना भी एक नैतिक गुण है। उन्होंने चमत्कारिक और अतार्किक तत्वों के स्थान पर मानवीय पुरुषार्थ और बुद्धि को प्रधानता दी। उनकी कहानियों के पात्र अक्सर अपने परिवेश के प्रति जागरूक होते हैं। चाहे वह पर्यावरण संरक्षण का मुद्दा हो या समाज के वंचित वर्ग के प्रति सहानुभूति, देवसरे जी ने बालक के भीतर एक उत्तरदायी नागरिक के बीज बोने का कार्य किया है।

''आधुनिक बाल-कहानियों में आज के बच्चों की समस्याएँ, उनकी बातें, उनका मनोविज्ञान एवं उनके लिए वांछनीय नैतिक मूल्यों या प्रेरणाओं की प्रधानता है।''[8]

वर्तमान समय में भौतिकवाद और अत्यधिक प्रतिस्पर्धा के कारण हम अक्सर मूल्यों को पीछे छोड़ देते हैं। स्वार्थ और तात्कालिक लाभ की इच्छा हमारे समाज में नैतिक पतन का मुख्य कारण बनती जा रही है। बच्चों को भी कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जिसमें बाल श्रम, बाल तस्करी और बाल अपराध जैसे कुकृत्य शामिल हैं। इस स्थिति को सुधारने में बाल साहित्य एक सशक्त और रचनात्मक माध्यम की भूमिका निभा सकता है। यदि हम एक ऐसा समाज चाहते हैं जो नैतिक रूप से समृद्ध हो, तो हमें बाल साहित्य को एक प्राथमिकता के रूप में देखना होगा। अच्छी किताबें ही वे बीज हैं, जिनसे कल का अनुशासित और संवेदनशील नागरिक तैयार होगा।

निष्कर्ष

डॉ. हरिकृष्ण देवसरे ने बाल कहानियों को केवल एक मनोरंजन के साधन के रूप में ही नहीं बल्कि एक 'संस्कारशाला'

के रूप में विकसित किया, जहाँ बच्चा अंधविश्वासी नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला नागरिक बनता है। उनकी कहानियों में नैतिकता पात्रों के व्यवहार और उनके द्वारा लिए गए निर्णयों के परिणामों से छनकर आती है। बच्चे कहानी पढ़ते हुए खुद महसूस कर सकते हैं कि 'सही क्या है'। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह सिद्ध किया कि नैतिकता को उपदेशात्मक तरीके से नहीं, बल्कि सहज, रोचक और कल्पनाशील कथाओं के माध्यम से बाल मन में अधिक प्रभावी ढंग से उतारा जा सकता है। जब बच्चा एक ईमानदार पात्र से जुड़ाव महसूस करता है, तो वह अनजाने में ही उन मूल्यों को अपने जीवन में उतारने लगता है। आदर्श बाल साहित्य वही है जो भावी पीढ़ी को केवल सपने देखना ही नहीं, बल्कि उन सपनों को ईमानदारी और अटूट परिश्रम से सच करना सिखाए। यही वे गुण हैं जो एक श्रेष्ठ समाज और राष्ट्र का निर्माण करते हैं। उनकी विरासत आज भी उन लेखकों को प्रेरित करती है जो बच्चों के लिए सार्थक और प्रगतिशील साहित्य रचना चाहते हैं।

***शोधार्थी**
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : kumardeepanshu2305@gmail.com

****शोधार्थी**
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : dikshagoswami966@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. बालसाहित्य : परंपरा, प्रगति और प्रयोग, सुरेन्द्र विक्रम, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 2022, पृष्ठ 85
2. हिंदी बाल साहित्य : एक अध्ययन, डॉ. हरिकृष्ण देवसरे, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1969, पृष्ठ 223
3. हरिकृष्ण देवसरे की चुनिंदा बाल कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, 2013, (ग्यारहवीं आवृति : 2025), पृष्ठ 08
4. वही, पृष्ठ 55
5. वही, पृष्ठ 32
6. वही, पृष्ठ 42
7. हिंदी बाल साहित्य : एक अध्ययन, डॉ. हरिकृष्ण देवसरे, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1969, पृष्ठ 259
8. बाल साहित्य : स्वरूप एवं विकास, डॉ. कुमार निकेश, बी एफ सी पब्लिकेशन, लखनऊ, 2021, पृष्ठ 204

आसारुस सनादीद : दिल्ली के पुरातात्विक इतिहास का अहम स्रोत

डॉ. सय्यद मुबीन जेहरा

सारांश :

1847 में प्रकाशित सर सय्यद अहमद ख़ान की पुस्तक दिल्ली के पुरातात्विक इतिहास से जुड़ी एक अहम पुस्तक है जिस में उस समय की दिल्ली के महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्मारकों के बारे में न केवल लिखा गया है बल्कि उन के इतिहासिक महत्त्व को भी इस के द्वारा बताया गया है। यही नहीं ड्राइंग के माध्यम से भी कई भवनों तथा स्मारकों का नक्शा भी इस में उकेरा गया है। सर सय्यद अहमद ख़ान मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ के संस्थापक के रूप में जाने जाते हैं किन्तु एक लेखक और इतिहासकार के रूप में भी उनकी अलग पहचान है। उन्हों ने आसारुस सनादीद को लिखने में बहुत परिश्रम से काम लिया था जिस के कारण यह पुस्तक दिल्ली के पुरातात्विक स्मारकों को लेकर एक अहम दस्तावेज बन जाती है। उनकी इस पुस्तक को डॉ. ख़लीक़ अंजुम ने 1990 में नए सिरे से सामने लाने का काम किया और इसके बाद इसकी पहुँच भी दूर-दूर तक हुई. सर सय्यद ने अपने ही समय में आसारुस सनादीद का दूसरा संस्करण निकाला था जिस को उन्हों ने पहले संस्करण से काफी छोटा कर दिया था. इस पर भी इस शोध पत्र के माध्यम से चर्चा की गई है. आसारुस सनादीद में विभिन स्मारकों आदि पर लिखे अरबी भाषा के कुतबों को लेकर भी बहुत जानकारियां हैं। जिन में कुरान शरीफ़ की आयतें भी हैं।

Key Words:

Sir Syed, AMU, Delhi, British India, Shahjahanabad, Archeological, Dargah, Qutub Minar, Sufi, Darwaza, Kutba, Old Delhi, Lal Qila, Mughal, Delhi Culture, Urdu, Aasarus Sanadeed, Khaleeq Anjum, Sairul Manazil, Maulana Hali, Bharat, British.

सर सय्यद (17 अक्टूबर 1817 - 27 मार्च 1898) ने 1838 में अपने पिता के निधन के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी शुरू की थी। उनकी लेखन का दौर लगभग 60 वर्ष का कहा जा सकता है जिस में उन्हों ने इतिहास, आत्मकथा, क़ुरान की व्याख्या और क़ानून आदि पर 27 पुस्तकें लिखीं। उनके निधन के कारण क़ुरान की व्याख्या वह पूरी नहीं कर पाए थे। उनकी पुस्तकों में आसारुस सनादीद को दिल्ली के हवाले से एक बड़ा और प्रामाणिक तथा विश्वसनीय स्रोत माना जा सकता है। 1847 में आई उनकी यह पुस्तक इस लिए भी महत्वपूर्ण है कि वह बरतानवी सरकार के एक ज़िम्मेदार अधिकारी रहे थे। इस लिए समझा जा सकता है कि आसारुस सनादीद में जो जानकारियां दी गई हैं वह प्रमाणिक तथा विश्वसनीय ही होंगी।

उस समय की दिल्ली, उसी दिल्ली के महत्वपूर्ण लोगों तथा दिल्ली के समाज को लेकर भी जो कुछ इस पुस्तक में है वह भी विश्वसनीय इस लिए है क्योंकि उनका परिवार आखरी मुग़ल बादशाह बहादुर शाह जफर तक मुग़लों के आस पास ही रहा और उन से इनके परिवार के विशेष संबंध भी रहे थे। जिस कारण दिल्ली का उस समय का चप्पा-चप्पा इनकी नज़र में था। आसारुस सनादीद में विभिन इमारतों पर लिखे अरबी भाषा के कुतबों को लेकर भी बहुत जानकारियां हैं। जिन में अधिकतर क़ुरान शरीफ़ की आयतें हैं। उर्दू वाले इस किताब को उर्दू भाषा का मूल्यवान ख़ज़ाना मानते हैं जिस में उर्दू भाषा के स्तर पर जो ऊँचाई मिलती है उस से बहुत से

लोगों ने सीखा है। लेकिन बाद के समय में जिन लोगों ने आसारुस सनादीद को फिर से प्रकाशित करने का काम किया है। उन्हों ने इस को आसान भाषा में लिखने का काम किया जिस से इसकी असली रूपरेखा बदल सी जाती है। आसारुस सनादीद में पुरातत्व संबंधित बहुत से ऐसे भवनों का भी उल्लेख मिल सकता है जिन्हें तेज़ी से बढ़ती और फेलती दिल्ली ने अपनी सड़कों और इमारतों में या तो दबा लिया है या ध्वस्त कर दिया है।

रामपुर रज़ा लाइब्रेरी में मौजूद आसारुस सनादीद के मुंशी नवल किशोर से प्रकाशित संस्करण में लाल किले के निर्माण के समय की कुंडली भी मोजूद है। (देखिए चित्र) यह पुस्तक archive.org पर भी उपलब्ध है। यह बात इतिहास में मोजूद है कि शाहजहाँ इल्मे नजूम (ज्योतिष) का जानकार था। इस

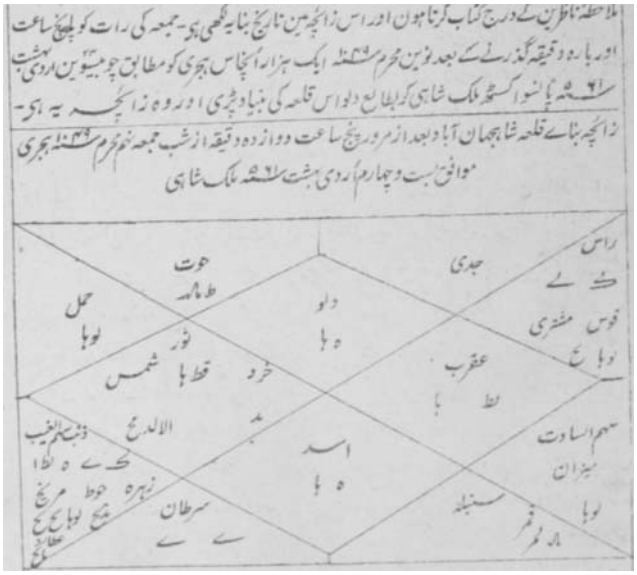

लिए जब हम लाल किले के समय की कुंडली देखते हैं तो यह सिद्ध होता है कि उस समय में लोग ज्योतिष को लेकर गंभीर रहे होंगे। बाबरनामा में भी बाबर एक जगह लिखता है कि जब मैं ने हिंदुस्तान की ओर बढ़ने का निश्चय किया उस समय सूर्य धनु राशि में था। इस से यह सिद्ध होता है कि मुग़ल इल्मे नजूम (ग्रहों का ज्ञान) के जानकार होते थे और उनके जीवन के बहुत से कार्य उसके अनुसार होते रहे होंगे। ज्योतिष के जानकारों के लिए यह लाल किले के समय की कुंडली शोध का एक विषय हो सकती है।

आसारुस सनादीद में पुरातत्व संबंधित बहुत से ऐसे भवनों और स्मारकों का भी उल्लेख है जिन्हें तेज़ी से बढ़ती और फेलती नई दिल्ली ने अपनी सड़कों और इमारतों में या तो दबा लिया है या ध्वस्त कर दिया है या भवनों के बीच छिपा लिया है। अभी पिछले दिनों बीबीसी हिंदी पर किन्नरों को लेकर एक स्टोरी देखते हुए आसारुस सनादीद का उल्लेख था कि सर सय्यद की इस पुस्तक में उस समय के बड़े ख्वाजासराओं के बारे में भी लिखा हुआ है। देखा जाए तो इस पुस्तक में उस समय की दिल्ली का जीवन ज़रूर दिखाई पड़ता है।

डॉ. ख़लीक़ अंजुम ने आसारुस सनादीद को आसान भाषा में लोगों तक पहुँचाने के लिए तीन खण्डों में राष्ट्रीय उर्दू भाषा विकास परिषद् NCPUL से प्रकाशित किया है और

इसको लेकर प्रस्तावना में विस्तार से चर्चा की है। ख़लीक़ अंजुम ने लिखा है कि उन्हों ने सर सय्यद के आसारुस सनादीद के दूसरे संस्करण को आधार बना कर अपने तीनों खंड संग्रहित किए हैं। वह लिखते हैं कि आसारूस सनादीद के दूसरे संस्करण में सर सय्यद ने अपने पहले संस्करण के चौथे भाग 'शाहजहाँनाबाद के लोगों के बयान' को हटा दिया था।

ख़लीक़ अंजुम ने उर्दू अकादमी दिल्ली के लिए भी आसारुस सनादीद के जो संस्करण निकाले थे वह भी कई बार प्रकाशित हुए। जिस संस्करण से मैं ने इस लेख में सहायता ली है वह राष्ट्रीय उर्दू भाषा विकास परिषद् NCPUL से प्रकाशित संस्करण है जिस में ख़लीक़ अंजुम ने उन भवनों की स्थिति पर भी चर्चा की है जिन के बारे में सर सय्यद ने लिखा है कि वह अब हैं या नहीं और अगर हैं तो किस स्थिति में हैं। ख़लीक़ अंजुम लिखते हैं कि ''सर सय्यद ने 1847 में यह किताब लिखी थी और मैं ने 1990 में। मैं ने इमारतों का जो हाल बयान किया है उस से पता चलता है कि लगभग डेढ़ सौ वर्षों में इन भवनों में क्या बदलाव आए हैं।''

अगर देखा जाए तो सर सय्यद से पहले दिल्ली के पुरातत्व पर मिर्ज़ा संगीन बैग की फ़ारसी पुस्तक सैरुल मनाज़िल लिखी जा चुकी थी। इसके बारे में विचार है कि यह 1827 में पूरी हुई होगी। इसके अलावा सर थॉमस मेटकाफ़ जिनको पुरातत्व अध्ययन से लगाव था उन्हों ने 1844 में Reminiscences of Imperial Delhi पुस्तक तय्यार की थी। समझा जाता है कि आसारुस सनादीद से पहले कम से कम पांच किताबें ऐसी ज़रूर थीं जो लिखी जा चुकी थीं और प्रकाशित नहीं हुई थीं। प्रोफ़ेसर शरीफ़ुल हसन क़ासमी सेरुल मनाज़िल में इस बारे में चर्चा करते हैं जिसे ख़लीक़ अंजुम ने आसारुस सनादीद के अपने संकलन में लिखा है।

आसारूस सनादीद दिल्ली के पुरातात्विक अध्ययन से जुड़े शोधकर्ताओं के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत कही जा सकती है। इस पुस्तक के चार खंड हैं जिन में पहला खंड दिल्ली की पुरातत्व संबंधी इमारतों के बारे में है। दूसरे खंड में शाहजहाँ की बसाई दिल्ली और आज की पुरानी दिल्ली के बारे में विस्तार से चर्चा है। तीसरा खंड दिल्ली के अंदर की इमारतों, खिड़कियों, दरवाज़ों, नहरों आदि के बारे में है और चौथे खंड में दिल्ली की सामाजिक ज़िन्दगी दी गई है जिन में दिल्ली के जीवन से जुड़े प्रसिद्ध लोग हैं। इन में शायर भी हैं, सूफ़ी भी हैं, संगीत के बारे में भी है और सच कहा जाये तो दिल्ली की उस समय की धड़कन इसी खंड में है।

शाहजहाँनाबाद के कलेक्टर और मजिस्ट्रेट रोबर्ट्स अपने साथ आसारुस सनादीद का एक संस्करण लेकर बरतानिया गए थे। उन्हों ने जब इसे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में प्रस्तुत किया तो सभी ने इसकी भरपूर सराहना की और यह मशवरा दिया कि आसारूस सनादीद का अंग्रेज़ी अनुवाद भी होना चाहिए। जब मजिस्ट्रेट रोबर्ट्स लंदन से वापस आए तो उन्हों ने सर सय्यद से अंग्रेज़ी अनुवाद की बात की तो सर सय्यद को लगा कि एक बार फिर से आसारूस सनादीद को अपडेट कर लेना उचित रहेगा। फिर दोनों ने मिल कर इसका अंग्रेज़ी संस्करण तय्यार किया। इस के बाद यह पुस्तक दुनिया भर में चर्चा का विषय बनी। सर सय्यद दूसरे संस्करण के बारे में लिखते हुए कहते हैं कि जब यह पुस्तक रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में प्रस्तुत की गई तो इसे अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद किए जाने की बात हुई। जब इस पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद सर सय्यद और मजिस्ट्रेट रोबर्ट्स ने मिलकर करना शुरू किया तो सर सय्यद को विचार आया कि अब यह पुस्तक अच्छी प्रकार से और जो पहली पुस्तक में खराबियां हैं उन्हें दूर करते हुए किया जाए। सर सय्यद आसारुस सनादीद के दूसरे संस्करण को पहले से बेहतर बताते हुए इसके बारे में कहते हैं कि ''पहली किताब से यह किताब कई बातों में अच्छी है।'' वह कहते हैं कि पहली पुस्तक के दूसरे खंड में केवल शाहजहाँनाबाद के क़िले की चर्चा थी लेकिन इस संस्करण के दूसरे खंड में इस क़िले का पहले से बहतर बयान है तथा इसके साथ ही आरंभ की आबादियों से लेकर अब तक जितने और शहर बसे उनका भी ज़िक्र किया गया है। पहली किताब में कई स्मारकों के संदर्भ नहीं थे लेकिन दूसरे संस्करण में इसे दूर किया गया है। वह इस किताब में कुतबों को लेकर भी कहते हैं कि दुसरे संस्करण में कुतबों को उनकी असल लिपि के अनुसार नक़ल किया गया है।

सर सय्यद दूसरे संस्करण में उन पुस्तकों का भी विवरण देते हैं जिन से आसारुस सनादीद तय्यार की गई है। इन में तोरेत मुक़द्दस, राजाओली, खुलासत्तुत्त्वारीख, सिल्सलातुल्मलूक, महाभारत, भागवत, आईने अकबरी, ताजुल्मासिर, तारीख़े फ़रिश्ता, तुज़के जहाँगीरी, अकबरनामा, पोथी इन्द्रप्रस्थ महातम, तारीख़े फ़ीरोज़ शाही, फतूहाते फ़ीरोज़ शाही, शाहजहाँनामा, किताब अर्किलोजिकल सोसाइटी बंगाल लम्बर 3,4,6,7 तथा किताब रॉयल एशियाटिक सोसाइटी लम्बर 7, हफ़्त अक़लीम, तारीख़े कश्मीर तथा पोथी हाई भाट समेत कई और इतिहासिक पुस्तकें शामिल हैं। सर सय्यद अंग्रेज़ों के अधिक समीप रहे थे। इस लिए बहादुर शाह ज़फ़र के होते हुए भी पहले संस्करण को अंग्रेज़ों के ही नाम किया था। इसी प्रकार दूसरे संस्करण को भी कर्नल सेक्सन और आर्थर ऑस्टिन रोबर्ट्स के नाम समर्पित किया है।

आसारुस सनादीद का दूसरा संस्करण 1852 में आया था जिस के मुख्य पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा हुआ था—

आसारुस सनादीद

तारीख़ पुरानी और नई अमल दारियों और पुरानी और नई उम्दा इमारतों के बाबत ज़िला देहली

तसनीफ़ सय्यद अहमद ख़ान मुंसिफ़ दर्जा अव्वल .मुकाम शाहजहाँनाबाद

फ़ी 1269 हिजरी मुताबिक़ 1852

जिस किताब पर मुसन्निफ़ की मोहर न हो वह किताब चोरी की है

ईं दीबाचा बाहतमाम कार परदाज़ाने मतबा ए सुल्तानी दर मतबा सुल्तानी वाक़े क़िला ए मुअल्ला

बा क़ालिबे तबा दरामद

फ़ी 1270 हिजरी मुताबिक़ 1854

आसारुस सनादीद के अंग्रेज़ी संस्करण के कवर पर यह बातें लिखी थीं—

ASAR-OOS-SUNNADEED

A HISTORY OF OLD AND NEW RULES OF GOVERNMENTS

AND OF OLD AND NEW BUILDINGS

IN THE DISTRICT OF DELHI

COMPOSED BY

SYUD AHMED KHAN

MOONSIFF OF THE FIRST GRADE

IN THE CITY OF DELHI

IN THE YEAR A.D. 1852

***

DELHI

PRINTED AT THE INDIAN STANDARD PRESS, BY WILLIAM DEMONTE 1854.

आसारुस सनादीद का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद सर सय्यद के जीवन में ही हो गया था जिसे गारसां दतासी (Garcin de Tassy) ने "Description des monuments de Delhi en 1852" के नाम से किया था और इसे Journal Asiatique में 1860 और 1861 के बीच कई कड़ियों में प्रकाशित किया था।

आसारुस सनादीद पर सर सय्यद को काम करने की आवयश्कता क्यों पड़ी इसको लेकर मौलाना अलताफ़ हुसैन हाली का लिखा ही सामने आता है जिस में वह कहते हैं कि अपने माली हालात को संभालने के लिए सर सय्यद ने इस किताब को निकाला। इसको लेकर काफ़ी चर्चा चलती हैं कि सर सय्यद जो अव्वल दर्जे के मजिस्ट्रेट थे उन्हें पैसों की क्या तंगी हो सकती है। जिस परिश्रम के साथ सर सय्यद ने इस पर काम किया है उसको देख कर लगता है कि उन्हें इस बात का कहीं न कहीं एहसास हो गया था कि जिस प्रकार नई दिल्ली बसाने में बहुत से पुरातात्विक भवन आदि मिटने लगे हैं तो उनका एक रिकॉर्ड ज़रूर बना लिया जाये जो आगे आने वाली पीढ़ी को अपने गुज़रे कल का एहसास करा सके।

सर सय्यद ने इस पुस्तक को लिखने में क्या क्या परिश्रम किए हैं उस पर मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली का ही लिखा सामने आता है जो ख़लीक़ अंजुम ने आसारुस सनादीद के अपने संस्करण में लिख दिया है। हाली के अनुसार सर सय्यद सदा छुट्टियों में शहर से बाहर जाते और भवनों के बारे में खोज आदि करते थे। जब कई दिन की छुट्टी होती तो रात को भी अक्सर घर से बाहर रहते। हाली के अनुसार सर सय्यद के दोस्त और क़रीबी साथी मौलाना इमाम बख्श सहबाई भी अक्सर उनके साथ होते। सर सय्यद ने मौलाना इमाम बख्श के बारे में काफी विस्तार से आसारुस सनादीद के चौथे खंड में लिखा है। इस में उन्हों ने ग़ालिब को लेकर भी काफ़ी कुछ लिखा है। हाली बताते हैं कि कई भवनों की हालत बहुत खराब थी तथा कई पर लिखे कुतबे भी पढ़ने में नहीं आते थे। सर सय्यद अपने कार्य को इतनी गंभीरता से ले रहे थे कि वह इमारतों की माप करते, उनका चित्र बनवाते, कुतबों के लिखे को उसी प्रकार लिखते, भवन के बारे में पूरी खोज ख़बर लेते, यह कोई आसान काम नहीं था।

ख़लीक़ अंजुम ने अपनी किताब के पहले खंड में लिखा है कि सर सय्यद कहते थे कि ''क़ुतुब साहब की लाठ के बाज कुतबे जो ज़्यादा बुलंद होने के सबब पढ़े न जा सकते थे, उनके पढ़ने को एक छींका दो बल्लियों के बीच में हर एक कुतबे के महाज़ी (आमने सामने) बंधवा लिया जाता था और मैं ख़ुद ऊपर चढ़ कर और छींके में बैठ कर हर कुतबे का चर्बा उतारता था। जिस वक़्त में छींके में बैठता था तो मौलाना सहबाई फ़रते मुहब्ब्त (प्रेमवश) के सबब बहुत घबराते थे और ख़ौफ़ के मारे उनका रंग मुतग़य्यर (परिवर्तित) हो जाता था।''

सर सय्यद का इस प्रकार छींके में बैठ कर कुतुब की

लाठ पर ऊपर उठना और फिर कुतबों को पढ़ने के इस विवरण भर से इस बात का पता चल जाता है कि वह इस किताब को लिखने को लेकर कितना गंभीर थे तथा इसके लिए उन्हों ने कितना परीश्रम और जोखिम उठाया होगा। जिन लोगों ने सर सय्यद के चित्र देखे हैं और उनकी जीवनी पढ़ी है वह जानते हैं कि सर सय्यद को लिखने पढ़ने के साथ-साथ पहलवानी का भी शौक़ था और उनका शरीर पहलवानों जैसे डील डोल वाला और भारी भरकम था। ऐसे में उनके साथी मौलाना सहबाई का उन्हें छींके में बैठ कर ऊपर जाते देख कर डरना समझ में आ जाता है।

ख़लीक़ अंजुम के अनुसार सर सय्यद ने 1846 में यह आसारुस सनादीद लिखनी शुरू की थी और 1847 में लगभग डेढ़ वर्ष के अनथक परिश्रम के उपरान्त यह पुस्तक पूरी होकर प्रकाशित हुई। आसारुस सनादीद का अर्थ प्राचीन काल या पूर्वजों के अवशेष (इमारतें/स्मारक) और महान लोगों की निशानियाँ कहा जा सकता है। उनके पहले संस्करण में चार खंड हैं और इस में 128 स्मारकों की ड्राइंग हैं जिन्हें मिर्ज़ा शाहरुख़ और फैज़ अली ख़ान ने बनाया था। ख़लीक़ अंजुम के अनुसार पहले खंड में 238 पृष्ठ, दूसरे में 44, तीसरे में 72 और चौथे खंड में 246 पृष्ठ थे। पहले खंड में 130 ऐसे पुरातात्विक स्मारकों के बारे में लिखा गया है जो शाहजहाँनाबाद के बाहर के हैं। शाहजहाँनाबाद पुरानी दिल्ली का वह क्षेत्र था जिसको 13 दरवाज़ों और दीवारों से घेरा हुआ था जिन में कुछ दरवाज़े जैसे तुर्कमान गेट, दिल्ली गेट और अजमेरी गेट आदि अभी भी अपनी सही हालत में हैं। आसारुस सनादीद का दूसरा खंड लाल क़िले की बत्तीस इमारतों तथा तीसरा खंड शाहजहाँनाबाद के अंदर के 70 स्मारकों, दरवाज़ों, खिड़कियों आदि के बारे में विस्तार से बताता है। आसारुस सनादीद का चौथा खंड बहुत महत्वपूर्ण है जिस में दिल्ली के एक प्रकार से समाज पर, भाषा पर, रहन सहन पर, कवियों, संगीतकारों, सूफियों आदि का बयान है।

ख़लीक़ अंजुम बताते हैं कि जहाँ आसारुस सनादीद का पहला संस्करण 600 पृष्ठ का था वहीं सर सय्यद ने दूसरे संस्करण में बहुत काट छांट कर के उसे 284 पृष्ठ तक ही सीमित कर दिया था। इस संस्करण से पहले संस्करण का अंतिम और चौथा खंड ''शाहजहाँनाबाद के लोगों का बयान'' हटा दिया गया था।

वैसे आसारुस सनादीद से पहले और बाद में कई स्रोत लिखे गए हैं जिन में एक महेश्वर दयाल की उर्दू पुस्तक ''आलम में इंतख़ाब दिल्ली'' भी है जिस में दिल्ली की बोली समेत दिल्ली के घरों के अंदर की भी बातें मोजूद हैं। लेकिन आसारुस सनादीद एक प्रकार से दिल्ली की इमारतों का 1857 से पहले का सरकारी दस्तावेज़ सा बन जाता है।

भवन निर्माण यानि आर्किटेक्चर से जुड़े अध्ययन के लिए भी यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है जो दिल्ली की ऐतिहासिक और पुरातात्विक निर्माण कलाओं को हमारे सामने लाती है। इस में मुस्लिम भवन निर्माण कला के साथ-साथ हिन्दू और मुस्लिम दोनों के भवन निर्माण कला के संगम से निकली भवन निर्माण कला का निशान भी मिल जाता है।

आसारुस सनादीद में इंद्र प्रस्त, पुराना क़िला (दीन पनाह, शेर गढ़) क़िला राय पिथौड़ा, कोशक लाल, किलोखड़ी, क़िला अलाई या कोशक सीरी, तुग़लकाबाद, जहाँपनाह, कोटला फ़िरोज़शाह, सलीम गढ़ से लेकर शाहजहाँनाबाद तक का बयान मिलता है। शाहजहाँनाबाद के तो खिड़की दरवाज़े तक इस में विस्तार से आए हैं। लाल क़िले के अंदर का हाल भी है। पुरानी दिल्ली के अंदर और बाहर का भी बयान है। सोने के पानी से लिखे कुतबे हैं तो पत्थरों पर खुदी क़ुरआनी आयतों के बारे में भी है। क़बरों के कुतबे भी हैं। सूफ़ी संतों की दरगाहें हैं। छत्तरपुर का मंदिर हो या कालकाजी का मंदिर या जन्तर मंतर उनका इतिहास भी है। मस्जिद हैं, हमाम हैं, बाग़ हैं, मीनार हैं, बाज़ार हैं, गलियाँ हैं, नहरें हैं, बस्तियां हैं और आबादियां भी हैं। आसारुस सनादीद में सर सय्यद ने गुज़री हुई उनके समय की और आने वाली दिल्ली की छवि खींच कर रख दी है। ख़लीक़ अंजुम ने आसारुस सनादीद को फिर से हमारे समक्ष लाते हुए अपने द्वारा कैमरे से खींचे चित्र भी संग्रहित कर दिए हैं। जो उस समय की दिल्ली में इन स्मारकों की स्थिति के दर्शन कराते हैं। आसारुस सनादीद को पढ़ते हुए बार-बार यह एहसास होता है कि इस तरह की ऐतिहासिक और पुरातात्विक जानकारी से भरपूर शोधपूरक पुस्तक लिखने में सर सय्यद ने कितनी मेहनत की होगी। यह आज के शोधकर्ताओं के लिए भी मिसाल हो सकती है।

निष्कर्ष

आज की दिल्ली में आसारुस सनादीद में दर्ज किए गए बहुत से पुरातात्विक भवन अब भी मिल जाते हैं। बहुत से नई दिल्ली बसाने में उजड़ गए हैं। बहुत से नई बस्तियों के बसने से घेरे में छिप गए हैं। बहुत से इस हालत में हैं कि कोई इन्हें

पूछता नहीं है। यह सब हमारे बीते कल की निशानियाँ हैं जिन में कई कहानियां हैं। इन्हें अगर हम धरोहर मानें तो इनका संरक्षण ज़रूरी हो जाता है। पूरी दुनिया में पुरातात्विक महत्व की धरोहरों को संजोने का रिवाज़ है। आसारुस सनादीद दिल्ली के 900 वर्ष के इतिहास से रूबरू कराती पुस्तक है। इसे पढ़ कर आप दिल्ली के इन खोए भवनों की खोज में निकल सकते हैं। हो सकता है अगले सर सय्यद आप ही हों।

इतिहास विभाग
आत्मा राम सनातन धर्म कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. Āṣāruṣ ṣanādīd (The Remnants of Ancient Heroes), published in 1847 by Sir Sayyid Ahmad Khan, is a landmark Urdu, scholarly, and archaeological account of Delhiḷs historical monuments, social practices, and culture
2. Sair-ul-Manazil Hardcover - 13 April 2018 by Sangin Beg (Author), Nausheen Jaffery (Author), Swapna Liddle (Author)
3. Sayyid Ahmad Khan: Asar-us-Sanadid Edited by Rana Safvi Translated by Rana Safvi
4. Alam Mein Intakhab Delhi, Maheshwar Dayal) (1987), Urdu Academy, Delhi
5. आसारुस सनादीदय एक मुताला, डॉ. मौलाना सदरुल हसन नदवी मदनी, 2013, सवेरा ऑफसेट प्रेस औरंगाबाद
6. आसारुस सनादीद तीन खंड, सर सय्यद अहमद ख़ान, संपादन ख़लीक़ अंजुम, 2003, राष्ट्रीय उर्दू भाषा विकास परिषद् (NCPUL)
7. Hayat-e-Javed, Sir Syed ki Life, Altaf Hussain Hali, 1903, Matba Mufeed-e-Aam, Agra, (Rekhta)
8. The Golden Calm: An English Lady's Life in Moghul Delhi: Reminiscences by Bayley, Emily, Lady, b. 1830; Metcalfe, Thomas, Sir; Kaye, M. M. (Mary Margaret), 1908-2004, New York: Viking Press, Internet Archive
9. 'Reminiscences of Imperial Delhi.' The 'Delhi Book' of Sir Thomas Theophilus Metcalfe, 1844, British Library archive
10. Āṣāruṣ ṣanādīd, Sir Syed Ahmed Khan, 1900, Munshi Nawal Kishore Lucknow, Rampur Raza Library (https://archive.org/details/dli.ministry.25218)

रेशमी कुमारी

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी विमर्श

शोध सार

इक्कीसवीं सदी का द्वितीय दशक में भारी बदलाव का दौर है। हर तरफ व्यापक उथल-पुथल मची है। एक तरफ ग्लोबलईजेशन के बीच सिकुड़ती दुनिया है। दूसरी ओर तेजी से बदलती परिस्थितियों और फैलता बदरंग यथार्थ है। वस्तुत: के सामने यथार्थ को तलछट तक पकड़ने की अनेक चुनौतियां हैं। आज का कथा साहित्य यथार्थ की जटिल यथार्थ को कथा साहित्य में प्रकट करता है। साहित्य समाज का दर्पण होता यह बात आज के साहित्य में बिल्कुल सही साबित किया है। आज का साहित्य यह समाज के हर पहलू को लेकर लिखा जा रहा है। जैसे कि आज के साहित्य में दलित विमर्श, नारी विमर्श आदिवासी विमर्श, दिव्यांग विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श के साथ-साथ साहित्य में ऐसे विषयों को प्रस्तुत किया जा रहा है जोकि समाज में उनका कोई वजूद ही नहीं है लेकिन साहित्य में उनका वजूद 'किन्नर विमर्श' से निर्माण किया है। आदिवासी सामाजिक जीवन-संघर्ष की अनेक छवियां जीवंतता के साथ इन उपन्यासों में अंकित हुई हैं।

बीज शब्द

इक्कीसवीं सदी, साहित्य, ग्लोबलईजेशन, परम्पराएँ, साहित्यिक विधा, हिंदी उपन्यास, हाशिये का समाज, विभिन्न विमर्श, परम्पराएँ, संस्कृति।

मूल आलेख

इक्कीसवीं सदी तक आते-आते हमारा देश प्रगति के पथ पर निरन्तर अग्रसर हो रहा है। विकास की सीढ़ियों की ओर प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। दुनिया की तेज रफ्तार में हमारे देश का एक बड़ा समाज मुख्यधारा से अलग होकर जीवन बिता रहा है। विस्थापन का शिकार होकर कराह रहा है। ऐसे विडंबनात्मक माहौल में आदिवासी की चिंता जल, जंगल, जमीन, भाषा एवं संस्कृति की है, जो उनकी अस्मिता की आधारशिलाएँ हैं। देश के मूल निवासी माने जानेवाले तमाम आदि समुदायों का सामूहिक नाम है 'आदिवासी'। आदिवासी विमर्श में आदिवासी समाज के रहन-सहन, उनकी संस्कृति, परम्पराएँ, साहित्य, अस्मिता से जुड़ी समस्याएँ एवं उनके अधिकारों के बारे में विस्तृत चर्चा की जाती है। समकालीन हिंदी कहानियों में आदिवासी जीवन, बदलते परिवेश एवं नवीन संघर्षों और चुनौतियों की अभिव्यक्ति हो रही हैं।

शोध विधि

इस शोध पत्र की विषयवस्तु 21वीं सदी के उपन्यासों में वर्णित संघर्ष तथा अस्मिता से संबंधित है। इसमें समाज में व्याप्त दशाओं को दर्शाया गया है।

21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी विमर्श

''हिंदी उपन्यास साहित्य में हाशिए का समाज को लेकर बहुत लिखा गया है, अब भी लिखा जा रहा है। जैसे दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि को लेकर दर्जनों उपन्यास लिखे गए हैं। जिन पर कई गोष्ठियों में चिंतन किया गया है। भारतीय समाज जीवन में स्त्री-पुरुष दो लिंग माने गये। परंतु एक तीसरा लिंग भी है जो वास्तव में है परंतु वह बुरी तरह उपेक्षित रहा है।''[1] हिंदी उपन्यासों में दलित, स्त्री-आदिवासी विमर्श की परंपरा में एक और विमर्श, हिजड़ा विमर्श आदि नामों से भी जाना जा रहा है। इक्कीसवीं सदी के हिन्दी कथा साहित्य में अनेक विधाओं में साहित्य सूजन को नई दिशा मिली है। यह समाज, साहित्य, राजनीति की दृष्टि

से महत्वपूर्ण रहेगी। आज का दौर साहित्य में आधुनिक विमर्श और मीडिया का चमत्कारिक प्रगति का युग का युग है और इस डिजिटल युग में साहित्य और उसकी जड़ चेतन में निहित संवेदनायें के विलुप्त होने की चुनौतियाँ हैं और समाज और साहित्य के बीच की कड़ी प्रभावित हो रही है। इस अवस्था में साहित्य विमर्श आवश्यक हो जाता है। जनजातियों को महात्मा गाँधी ने आदिवासी नाम दिया था। भारतीय समाज को बड़े वर्गों में जाति एवं आदिवासी में विभक्त करके रखा है।

''भारत का आदिवासी समाज अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान, परंपराओं और संघर्षों के लिए जाना जाता है। साहित्य में आदिवासी समुदायों की अभिव्यक्ति का एक समृद्ध इतिहास रहा है, किंतु इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श अधिक सशक्त रूप से उभरकर सामने आया है। यह विमर्श केवल आदिवासी जीवन की झलक प्रस्तुत करने तक सीमित नहीं है, बल्कि उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक वास्तविकताओं को उजागर करता है।''[2] इस शोध पत्र का उद्देश्य इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समाज की समस्याओं, संघर्षों और उनकी पहचान से जुड़े विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करना है। आदिवासी विमर्श मुख्य रूप से उन विचारों, मुद्दों और आंदोलनों को समाहित करता है, जो आदिवासी समाज के हक, अस्तित्व, सांस्कृतिक अस्मिता और अधिकारों से जुड़े हैं। यह विमर्श आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति, जल-जंगल-जमीन पर उनके अधिकार, उनकी भाषाओं, परंपराओं, धार्मिक मान्यताओं और जीवन शैली की पड़ताल करता है।

हिंदी साहित्य में आदिवासी जीवन को लेकर कई महत्वपूर्ण रचनाएँ लिखी गई हैं। इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में यह विमर्श अधिक गंभीरता से उभरकर सामने आया है। ये उपन्यास आदिवासी जीवन के यथार्थ, उनकी समस्याओं और संघर्षों को सीधे शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास जैसे बड़े फलक की साहित्यिक विधा में इस समाज की व्यथायें, पीडायें, उपेक्षायें, प्रताड़नायें तथा अभिशप्त जीवन की तमाम सुक्ष्मताओं तथा, व्यापकताओं को अभिव्यक्त करने की सुविधा प्राप्त हुई है।

''महुआ माजी का 'मैला आँचल' उपन्यास आदिवासी समाज की आंतरिक संरचना, उनकी परंपराओं और बाहरी दुनिया के प्रभाव को दर्शाता है। उपन्यास आदिवासी महिलाओं के शोषण और उनके संघर्षों को विशेष रूप से रेखांकित करता है व साहित्यकार शरण कुमार लिंबाले का 'हिंदू' उपन्यास में आदिवासियों की सामाजिक स्थिति, उनकी संस्कृति और उनके साथ होने वाले अन्याय को उजागर किया गया है। उपन्यास दलित और आदिवासी समाज की समान संघर्षशील परिस्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित करता है।''[3] इन उपन्यासों में आदिवासियों के पारंपरिक जीवन, उनकी भाषा, उनकी सांस्कृतिक अस्मिता और आधुनिकता के प्रभाव के बीच उनके द्वंद्व को गहराई से चित्रित किया गया है। हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श के प्रमुख विषयों में जल-जंगल-जमीन के अधिकार की लड़ाई, आदिवासी संस्कृति और भाषा के संरक्षण की चिंता, आदिवासी समाज में व्याप्त गरीबी और शोषण, सरकारी नीतियों और औद्योगीकरण से उत्पन्न विस्थापन, तथा आदिवासी महिलाओं के साथ होने वाले अन्याय और उनके संघर्ष शामिल हैं।

ये उपन्यास केवल आदिवासियों की पीड़ा का दस्तावेजी-करण नहीं करते, बल्कि वे उनके प्रतिरोध, उनके संघर्ष और उनकी अस्मिता की रक्षा के लिए किए जा रहे प्रयासों को भी रेखांकित करते हैं। बीसवीं सदी के अंतिम दौर से विमर्श विश्लेषण उभरने लगा था। इसी समय से साहित्य में प्रचलित विधि विमर्श, दलित विमर्श, दिव्यांग विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि धाराएँ विकसित होने लगी थी। ''विमर्शों के वर्तमान दौर में आदिवासी विमर्श अपेक्षाकृत नया पड़ाव है। आदिवासी अर्थात प्राचीन मूल निवासी चार अक्षरों का एक छोटा सा नाम, लेकिन इसकी विशालता में अनेक समुदाय जातियों और किस्मों में बंटा एक विविध संसार अपना राजवंश, स्व-संस्कृति प्रेम रीति-रिवाज, लोक नृत्य, लोक परम्परा, लोक संस्कृति, जल, जंगल, जमीन है। साहित्य समाज का दर्पण होता यह बात आज के साहित्य में बिल्कुल सही साबित किया है।''[4]

हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श का यह बढ़ता हुआ स्वरूप सामाजिक और साहित्यिक बदलाव का प्रतीक है, जो केवल आदिवासी समाज की समस्याओं को उजागर करने तक सीमित नहीं रहता, बल्कि पाठकों को उनके जीवन, उनकी अस्मिता और उनके संघर्षों के प्रति संवेदनशील बनाने का कार्य भी करता है। इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में यह विमर्श भविष्य में और अधिक व्यापकता और गहराई के साथ उभरने की संभावना रखता है, जिससे आदिवासी समाज के प्रति मुख्यधारा की चेतना अधिक प्रबुद्ध और समावेशी बन सके। आज सामाजिक, मन विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक,

राजनीतिक, धार्मिक, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि विषयों पर उपन्यास लिखे जा रहे हैं। ''आज ऐसा कोई विषय नहीं बचा होगा जिस और उपन्यासकारों की पैनी दृष्टि नहीं पहुँची होगी। 'प्रदीप सौरभ' कृत 2011 में प्रकाशित 'तीसरी ताली' किन्नरों पर लिखा उपन्यास उसी का ही असर है। जैसे कि आज के साहित्य में दलित विमर्श, नारी विमर्श आदिवासी विमर्श, दिव्यांग विमर्श, अल्प संख्यांक विमर्श के साथ-साथ साहित्य में ऐसे विषयों को प्रस्तुत किया जा रहा है जोकि समाज में उनका कोई वजूद ही नहीं है लेकिन साहित्य में उनका वजूद 'किन्नर विमर्श' से निर्माण किया है।''[5] ''आज हिंदी साहित्य के क्षेत्र में चित्रा मुगल एक ऐसा नाम है जो अपने उपन्यासों के विषयों को लेकर चर्चित रहती है। उनका पहला उपन्यास 'एक जमीन अपनी' जो विज्ञापन जगत में नारी देह को एक प्रोडक्ट बेचने का साधन मात्र माना जाता है। तो दूसरा उपन्यास 'आवा' यह उपन्यास कामगारों के, श्रमिकों के प्रश्नों के साथ-साथ उच्च वर्ग की मानसिकता तथा मॉडलिंग की दुनिया आदि को लेकर चलता है। तीसरा उपन्यास 'गिलिगड्डु' इस उपन्यास में बुजुर्गों की समस्याओं को प्रस्तुत किया है।''[6]

''इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श केवल एक साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ को उजागर करने का एक सशक्त माध्यम बन गया है। आदिवासी समाज भारतीय इतिहास और संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है, किंतु औपनिवेशिक काल से लेकर आधुनिक औद्योगीकरण और वैश्वीकरण के दौर में इन्हें हमेशा हाशिए पर धकेला गया है। भूमि, जल और जंगल से उनका अटूट संबंध रहा है, लेकिन विकास के नाम पर उनके पारंपरिक जीवन पर लगातार संकट गहराता गया। हिंदी उपन्यासकारों ने इन समस्याओं को साहित्य में स्थान देकर न केवल आदिवासी समाज के संघर्षों को स्वर दिया है, बल्कि उनके अधिकारों, अस्मिता और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा का एक महत्वपूर्ण विमर्श भी प्रस्तुत किया है। इक्कीसवीं सदी में प्रकाशित उपन्यासों में आदिवासियों के शोषण, विस्थापन, प्रतिरोध और आत्म संघर्ष को प्रमुखता से उभारा गया है, जिससे यह विमर्श मुख्यधारा की साहित्यिक और बौद्धिक चर्चाओं का हिस्सा बन सका है।''[7]

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श का आरंभ प्रेमचंद, रेणु और महाश्वेता देवी की रचनाओं से हुआ था, किंतु इक्कीसवीं सदी में यह विमर्श और अधिक व्यापक व परिपक्व हुआ है। महुआ माजी के 'मैं बोरिशाइल्ला' और 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' जैसे उपन्यास आदिवासी समाज की व्यथा और उनकी सांस्कृतिक अस्मिता के संकट को मार्मिक रूप से प्रस्तुत करते हैं। वहीं, रामनाथ शिवेंद्र का 'जंगल जहां शुरू होता है' आदिवासियों की जल, जंगल और जमीन पर हक की लड़ाई को केंद्र में रखता है। आदिवासी समाज पर हो रहे अत्याचारों, विस्थापन, सरकारों और कॉर्पोरेट शक्तियों के षड्यंत्रों को ये उपन्यास बखूबी चित्रित करते हैं।

''शरण कुमार लिंबाले का उपन्यास 'हिंदू' आदिवासी और दलित समाज की समान पीड़ा और सामाजिक बहिष्कार को उजागर करता है, जबकि अनुज लुगुन की रचनाएँ आदिवासी चेतना और उनके संघर्षों को कविता और गद्य दोनों रूपों में प्रस्तुत करती हैं। इन उपन्यासों में आदिवासियों को केवल पीड़ित के रूप में नहीं दिखाया गया, बल्कि वे अपने अधिकारों और अस्तित्व के लिए लड़ते हुए दिखाई देते हैं।''[8] आधुनिक हिंदी साहित्य में भी उनका स्थान अग्रणी है। रमणिका समकालीन लेखिका, बहुभाषिज्ञ, कुशल नृत्यांगना, संगीत प्रेमी, नाटक प्रेमी हैं।

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श के अंतर्गत कई प्रमुख मुद्दों को उठाया गया है। इनमें जल, जंगल और जमीन के अधिकार सबसे प्रमुख हैं, क्योंकि विकास परियोजनाओं, खनन, औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण आदिवासियों को उनके पारंपरिक आवासों से बेदखल किया जा रहा है। इससे उनकी जीविका, संस्कृति और सामाजिक ताने-बाने पर गंभीर प्रभाव पड़ रहा है। दूसरा महत्वपूर्ण मुद्दा सांस्कृतिक अस्मिता का है, क्योंकि बाहरी प्रभावों के कारण उनकी भाषाएँ, परंपराएँ और धार्मिक मान्यताएँ विलुप्त होने के कगार पर हैं। साहित्यकारों ने इस संकट को रेखांकित किया है और आदिवासी समाज की सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण की आवश्यकता पर बल दिया है। जनजातीय समाज मूल रूप से अपने पर्यावास समाज, भू प्रदेश, संस्कृति एवं लोक जीवन जैसे तत्वों से अभिन्न रूप से जुड़ा है, दिकू समाज इनके इलाके में जाकर इन्हें विकृत कर रहा है। इससे जनजातियाँ प्रभावित हो रही हैं। शोध के दौरान यह महत्वपूर्ण तथ्य उजागर हुए हैं कि जनजातियों में कुछ परंपराएँ ऐसी हैं कि उन्हें समय के साथ खत्म कर देना चाहिए जैसे कि डायन प्रथा, शराबखोरी, अंधविश्वास आदि अशिक्षा।

''आधुनिक समाज के संपर्क के चलते जनजातियों में

शिक्षा का कुछ मात्रा में फैलाव हुआ है. इसके चलते शिक्षित युवा अब इन जैसी कुप्रथाओं और परंपराओं से मुक्ति के लिए प्रयास कर रहे हैं। सरकारें जनजातीय इलाकों में विकास के नाम पर खनन कटाई, औद्योगीकरण, नगरों का निर्माण भूमि अधिग्रहण, विद्युत परियोजनाएँ, कल कारखानें जैसे उपक्रमों पर बड़े पैमाने पर काम कर रही है किंतु ये करते समय जनजातीय समाज पर पड़ रहे कुप्रभाव पर ध्यान नहीं दे रही हैं। आदिवासियों को उजाड़कर विकास नहीं हो सकता। भारत की तमाम आदिवासी भाषाओं में लिखा जा रहा साहित्य हिंदी बांग्ला, तमिल जैसी बड़ी भाषाओं में अनुदित और रूपांतरित होकर एक राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर रहा है।''[9] प्रकारांतर से पूरा आदिवासी साहित्य बिस्सा, सीवो-कानू और तमाम क्रांतिकारी आदिवासियों और उनके आंदोलनों से विद्रोही चेतना का तेवर लेकर आगे बढ़ रहा है। समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समाज की परंपराएँ, सांस्कृतिक विरासत, संघर्ष और चुनौतियों का गहन चित्रण किया गया है। उपन्यासकारों ने उनके जीवन के विविध पहलुओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है।

''हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श का विस्तार केवल भारत तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसे वैश्विक संदर्भों से भी जोड़ा गया है। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीका के आदिवासी समुदायों की स्थिति और भारतीय आदिवासियों के अनुभवों में कई समानताएँ देखने को मिलती हैं, जैसे भूमि अधिग्रहण, सांस्कृतिक दमन, नस्लीय भेदभाव और आत्मसंघर्ष। हिंदी उपन्यासों में इन वैश्विक संदर्भों का उल्लेख भी मिलता है, जिससे आदिवासी विमर्श को व्यापक दृष्टिकोण मिलता है। इस प्रकार, इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श केवल आदिवासी समाज की समस्याओं को उजागर करने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उनके प्रतिरोध, संघर्ष और सांस्कृतिक पुनरुत्थान को भी महत्वपूर्ण स्थान देता है।''[10]

''इक्कीसवीं सदी का हिंदी उपन्यासकार अपनी रचना से की जाने वाली इन महा काव्यात्मक अपेक्षाओं से भली प्रकार परिचित है और इनके प्रति जागरूक भी. हमारा उपन्यास अब काल्पनिक आदर्श के युग से बहुत आगे निकल चुका है। वह इस वास्तविक दुनिया की सच्चाइयों को उन लोगों के साथ खड़ा होकर भोगता और बखान करता है। आज का युग विभिन्न चुनौतियों से गुजर रहा है। हमारे जीवन को बाजार वाद, वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण ने काफी मात्रा में प्रभावित किया है। वर्तमान युग के साहित्यकारों ने हमारे जीवन से जुड़ी हर समस्या का समाधान करने का प्रयास अपने साहित्य के माध्यम से करने की कोशिश की है।''[11] साहित्य जगत में आज-कल विभिन्न विमर्शों पर चर्चाएं होती रहती हैं। इन विमर्शों में दलित विमर्श, किन्नर विमर्श, आदिवासी विमर्श, मजदूर विमर्श के साथ बाल विमर्श भी महत्वपूर्ण बन गया है। पहले-पहल बाल साहित्य कम मात्रा में लिखा गया।

साहित्यकारों की दृष्टि इसकी ओर कम रही, किंतु आज कल काफी मात्रा में यह साहित्य लिखा जा रहा है। ''बाल साहित्यकारों में हरिकृष्ण देवसरे, रामनिवास मानव, हरीश निगम, भगवत दुबे, कृष्णबल्लभ पौराणिक, जयजयराम आनंद के साथ परशुराम शुक्ल का नाम भी महत्वपूर्ण माना जाता है। परशुराम शुक्ल हिंदी साहित्य जगत के सशक्त हस्ताक्षर के साथ-साथ बाल साहित्य जगत के दैदिप्यमान नक्षत्र भी है। उन्होंने बाल साहित्य पर अपनी लेखनी को सुशोभित किया है। इस संबंध में डॉ. श्याम बिहारी श्रीवास्तव लिखते हैं, ''श्री शुक्ल की 150 से अधिक पुस्तकें और लगभग 6000 स्फुट रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य वृद्ध विमर्श से भरा पड़ा है और इनके प्रति समाज श्रद्धा का भाव रहा है।''[12] समाज वृद्ध लोगों को समझता है और उनके अनुभव का सदुपयोग करता है।

परशुराम शुक्ल जी एक समाजशास्त्री होने के साथ-साथ आधुनिक विचारों को भी महत्व देते हैं। इसके साथ वे सामाजिक परंपराओं को कमी भी अस्वीकार नहीं करते। उनका ईश्वर के उपर विश्वास है। उनके अधिकतर काव्य संग्रहों की शुरुआत ईश्वर की प्रार्थना से हुई है। बच्चे बड़े नादान होते हैं, वे ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इस धरती पर मानव ने आपस में भेदभाव की जो सोच अपनाई है इसको तुम मिटा दो। आज इसी भेदभाव के कारण खून की नदियाँ बहाई जाती हैं। बच्चे मानते हैं अगर भगवान ने सबको एक समान शारीरिक अवयव दिए हैं तो हम कौन होते हैं आपस में भेदभाव की खाई निर्माण करने वाले। शुक्ल जी के शब्दों में—

''यदि तुम ईश जगत के हो तो, सारा भेद मिटाओ।
वरना तुमको नहीं मानता, तुम पत्थर हो जाओ॥''[13]

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान युग तक हिंदी बाल साहित्य सृजन की धारा अखंड प्रवाहित रही है। पंचतंत्र की कहानियों को बाल साहित्य सृजन की नींव माना जाता है। लेकिन आधुनिक युग से ही बाल साहित्य के सही विकास को समझा

जा सकता है। भारतेंदु से शुरू हुई हिंदी बाल साहित्य की विकास यात्रा वर्तमान समय में उत्कर्ष की ओर पहुंची है। कोई भी विमर्श अपने आप की अस्तित्व और अस्मिता की पहचान की तलाश करता है। वह अपने वजूद और हक की प्राप्ति के लिए संघर्षरत रहता है।

''इस औद्योगीकरण जगत में समाज पर जो आधुनिकता का प्रभाव पड़ रहा है यह प्रभाव संबंधों को बिखरा दिया है पहले जिस समाज में वृद्धजनों को सम्मान भाव से देखा जाता था आज उसी समाज ने उन्हीं वृद्ध लोगों को सिर्फ बेबस और लाचार बताए जा रहा है। इसी बदलते परिस्थिति में वृद्ध लोगों की जीवन को कुछ प्रमुख लेखकों ने उपन्यास के क्षेत्र में भी अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। प्रमुख लेखकों ने कुछ ऐसे सूक्ष्म अंशों को एकत्रित करने का प्रयास किया है जो युवा पीढ़ी को अपने कर्तव्यों को सोचने पर मजबूर करता है।''[14] साहित्य में उपन्यास का क्षेत्र बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है इसलिए कई रचनाकारों ने वृद्ध जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यास को अपनाया है।

प्राचीन काल में जो वैदिक युग था वहाँ से लेकर जो आज के आधुनिक काल तक वृद्धजन को अत्यंत सम्मान भाव से देखा जाता रहा है। '''रामायण' में महाराज दशरथ, महर्षि वशिष्ठ, महर्षि विश्वामित्र, महाराज जनक, आदि सभी वृद्ध पात्र ही हैं लेकिन इन सबने जो कार्य किये हैं वे सब वस्तुत: प्रशंसनीय हैं। रामायण में वृद्धा शबरी की भक्ति भावना सर्वथा महान है। आज के वर्तमान युग में प्राचीन काल की तरह कई उपन्यासों में वृद्ध जीवन को एकत्रित करके अभिव्यक्त का प्रयास किया गया है।''[15]

निष्कर्ष

हिंदी साहित्य में अनेक विषयों पर विमर्श किया गया है। अनेक लेखकों ने अपने साहित्य में अपने विचारों को प्रकट किए हैं। कई ऐसे रचनाकार हैं जो वृद्ध जीवन के विविध पहलुओं को अपने ही अंदाज से रचनाओं में अभिव्यक्त किए हैं। प्राचीन और मध्यकलीन साहित्य वृद्ध विमर्श से भरा पड़ा है और इनके प्रति समाज श्रद्धा का भाव रहा है। समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समाज की परंपराएँ, सांस्कृतिक विरासत, संघर्ष और चुनौतियों का गहन चित्रण किया गया है। उपन्यासकारों ने उनके जीवन के विविध पहलुओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। आदिवासी समाज के शोषण की परतों को खोलते हुए ये उपन्यास सरकारी नीतियों, पूंजीवादी, औद्योगीकरण और विस्थापन के दुष्प्रभावों को उजागर करते हैं। साथ ही, आदिवासियों के प्रतिरोध और संघर्ष को भी सशक्त रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कई उपन्यासों में आदिवासी समुदायों की अस्मिता और पहचान को केंद्र में रखते हुए यह दिखाया गया है कि बाहरी हस्तक्षेपों के कारण उनकी पारंपरिक जीवनशैली और सांस्कृतिक मूल्य संकट में हैं। समाज वृद्ध लोगों को समझता है और उनके अनुभव का सदुपयोग करता है। भारतीय संस्कृति में उनका महत्वपूर्ण स्थान था। किंतु आधुनिकता के प्रभाव से वृद्ध अनाधार होने लगा और उन्हें अनेक समस्याओं को झेलना पड़ा। आज कल नई पीढ़ी इन्हें बोझ समझने लगा है। वृद्ध अपने ही परिवार में नौकर की तरह रह रहे हैं। आज का समय पूर्ण रूप से सोशल मीडिया डिजिटल तथा इंटरनेट पर आधारित है। अब अनुसूचित जनजाति समाज भी इससे अछूते नहीं रहे। उनके हाथों में भी स्मार्ट मोबाइल तथा आधुनिक सेवाओं से युक्त मोबाइल आसानी से देखा जा सकता है अब वे भी समसामयिक समाचारों एवं सरकार द्वारा पोषित योजनाओं की विस्तृत जानकारी आसानी से ले सकते हो। साहित्यिक और सामाजिक रूप से अपना ही अलग छाप छोड़ने वाली चित्रा मुद्गल एक महान लेखिका के रूप में जानी जाती हैं। चित्रा मुद्गल जनीतिक विषयों को भी अपने रचनाओं में समाहित किया है।

भारत में मजदूर वर्ग ने उत्पादन से लेकर ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कला कौशल के निर्माण और उसके संवर्धन में अपने बौद्धिकता एवं कठोर श्रम का प्रमाण दिया है। मजदूरी के द्वारा बनाये गये चीजों का मूल्य हैं, परंतु उनके श्रम का उचित मूल्य न मिलने के कारण उनकी दशा अत्यंत दयनीय है। भारतीय समाज की परिस्थिति तीव्र गति से परिवर्तित हो रही है। समाज के सभी क्षेत्रों में विकास हो रहा है, तकनीकी उपलब्धियों बढ़ रही है, परंतु इन सब के बीच मानव मन का असंतोष भी अत्यधिक बढ़ गया है। साहित्य का सृजन मनुष्य की मानसिक, भावनिक और सामाजिक जरूरतों की सहज उत्पत्ति है।

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श का दायरा विस्तृत हुआ है। ये उपन्यास आदिवासी समाज के शोषण, संघर्ष और सांस्कृतिक अस्मिता के प्रश्नों को उठाते हुए मुख्यधारा के साहित्य में उनकी आवाज को बुलंद करने का कार्य कर रहे हैं। आदिवासी विमर्श अब हाशिए का विषय

न रहकर हिंदी साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर चुका है, जिससे समाज में उनकी वास्तविक स्थिति को समझने और उनके अधिकारों के प्रति जागरूकता लाने में सहायता मिल रही है।

आधुनिक और उत्तर आधुनिक काल में आर्थिक उदारीकरण, भूमंडलीकरण, आधुनिक बाजारवाद, विज्ञान की चमत्कारपूर्ण उन्नति एवं सूचना प्रौद्योगिकी का प्रभाव सर्वाधिक रहा है। सामाजिक विसंगतियों, राजनीति का गिरता स्तर, शासनतंत्र और व्यावसायिक संगठनों ने लेखकों के सामने कई तरह के संकट पैदा कर दिए हैं। हर चित्र बिकाऊ होने लगी। इसका असर कला, साहित्य और संस्कृति पर भी हुआ। साहित्य क्षेत्र में भी मनोरंजन और लोकप्रिय साहित्य आने लगा। फिल्म व्यवसाय और जन संचार के माध्यमों ने एक ईमानदार और विवेकशील लेखक को समाज से कटने के लिए मजबूर किया। विकसित शहरों में भी जाति के आधार पर अलग-अलग नगर बसाये जाते हैं। शिक्षा के अभाव में अनमेल और बाल विवाह किए जाते हैं। आज स्त्री जितनी असुरक्षित हैं उतनी पहले कभी नहीं थी। उसे ईश्वर और धर्म के नाम पर धमका कर उसका उपयोग किया जाता है।

हिंदी दलित कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि गौतम, कबीर, सेना, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, मलकुदास से लेकर आधुनिक महात्मा फुले, राजर्षि शाहू, डॉ. बाबासहेब अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित है। आधुनिक काल में यह परंपरा हीराडोम तथा अछूतानंद तक आई है। समकालीन समय में आदिवासी समाज के सामने सबसे बड़ी चुनौती है विस्थापन की त्रासदी। विकास की योजनाओं के तहत आदिवासी वर्ग की स्वतंत्रता, उनकी बुनियादी जरूरतें सब कुछ कुचली जा रही हैं। विस्थापन के शिकार होकर उन्हें अपनी जमीन से, जंगल से बेदखल किया जाता है। अपनी जमीन से निर्वासित होकर उन्हें सुदूर महानगरों में जाकर रहना पड़ता है। साम्राज्यवादी ताकतों ने आदिवासियों की मानसिकता पर भी अधिकार जमाया है। उनकी ईमानदारी और मासूमियत का भी सदियों से खूब शोषण हो रहा है। वर्तमान समय में यह शोषण कार्य ज्यादा तेज बन गया है। उनके श्रम और मेहनत का फायदा पूँजीवादी वर्ग को ही मिलता है।

आज का कथा साहित्य यथार्थ को जटिल यथार्थ को था साहित्य में प्रकट करता है। वृहत हिंदी कोष के अनुसार विमर्श का अर्थ विचार, विवेचन, समीक्षा, तर्क, ज्ञान, चरम बिंदु आदि है। मनुष्य की वृद्धावस्था साठ पैंसठ वर्ष के बाद आरंभ होता है। यह नियम वैज्ञानिक हो सकता है सामाजिक नहीं। साहित्य मानव जीवन के गुण एवं दोषों को उद्घाटित करता है। साहित्य समाज में प्रचलित मानव की गतिविधियों को प्रदर्शित करता है। यह विमर्श साहित्य के माध्यम से आदिवासी समाज के प्रति मुख्यधारा की चेतना को जगाने का प्रयास करता है, जिससे सामाजिक न्याय और समावेशी विकास को बढ़ावा मिल सके। भविष्य में इस विमर्श के और अधिक गहराने और विस्तृत होने की संभावनाएँ हैं, जिससे आदिवासी समाज को उनके अधिकार और सम्मान दिलाने में साहित्य एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकेगा।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : reshamijhahindi@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. चित्रा मुद्गल, गिलिगड्डु, सामयिक पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2019।
2. डॉ. दिलीप मेहरा, हिन्दी कथा साहित्य में वृद्ध विमर्श, उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, संस्करण 2021।
3. श्वेता सिंह, प्रेमचंद के कथा साहित्य में समाज के विभिन्न वर्ग और जनजागरण का स्वर 2014, पृ. 79-100।
4. उमेश उपाध्याय, वर्तमान सामाजिक समस्याएँ : कारण और निराकरण, 2015, पृ. 84।
5. डॉ. विष्णुदेव मल्लिक, 21वीं सदी के साहित्यिक विमर्श, 2018, पृ. 29-54।
6. प्रो. श्रीराम शर्मा, समकालिक हिंदी साहित्य विविध विमर्श, 2017, पृ. 67।
7. डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु, साहित्यिक निबंध, राजकमल प्रकाशन, 2000, पृ. 89।
8. दनंदी पटोदिया एवं प्रो. दिवाकर शर्मा दलित चेतना और डॉ. भीमराव अम्बेडकर।
9. समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री दशा और दिशा। सूरज कुमार गोस्वामी।

10. आरती सोनकर, दलित कहानियों में स्त्री अस्मिता का वजूद और संघर्ष, 2009, पृ. 56।
11. भोलाभाई पटेल, भारतीय उपन्यास परम्परा और बाम केन्द्री उपन्यास, रंगद्वार प्रकाशन, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, 2000।
12. पुष्पा, मैत्रेयी, अल्मा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1- बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 सं. 2000, पृ. कवर पेज।
13. मोरवाल, भगवन, रेत, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2008, पृ. 51।
14. पी. आर. नायडू, भारत के आदिवासी: विकास की समस्याएँ, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2002।
15. एस.जी.दुबे, जे. के. दुबे, आदिवासी समाज का समाजशास्त्र, अनडा बुक डिपो, अहमदाबाद, संस्करण 2007।

पुष्पेन्द्र

औपनिवेशिकता और प्रतिबंध हिंदी साहित्य

भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व औपनिवेशिकता का समय-समय पर शिकार रहा है। औपनिवेशिकता से तात्पर्य है-''उपनिवेशवाद या colonialism रोमन भाषा के शब्द कोलोनियन से बना है। कोलोनियन का अर्थ है, रोमन आक्रांताओं द्वारा विजित वह क्षेत्र जहाँ आक्रांताओं ने अपनी नागरिकता को कायम रहते हुए नई बस्तियाँ बनाई।''[1] यूरोपीय महाशक्तियों द्वारा ऐसी बस्तियों की स्थापना 8वी-19वीं शताब्दी के बीच की गई। यह उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका से लेकर एशिया, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलियाई महाद्वीप तक फैली हुई थी। औपनिवेशिकता का प्रयोजन प्राय: बस्तियों या देश पर राजनैतिक एवं भौगोलिक नियंत्रण स्थापित करने तक सीमित था।

''प्रतिबन्धित साहित्य का आशय साहित्य की रोक से नहीं है बल्कि एक विशेष समयकाल / देशकाल में उस साहित्य की जनमानस तक पहुँच से रोकने से है। अर्थात् प्रतिबन्धित साहित्य वस्तु सापेक्ष नहीं समय सापेक्ष होता है। यही कारण है कि कई प्रतिबन्धित साहित्य एक समय बाद प्रतिबन्ध से मुक्त भी किये गये और आज उपलब्ध भी हैं।''[2]

औपनिवेशिकता के दौर में विशेष रूप से विपुल मात्रा में साहित्य में प्रतिबन्ध लगाया गया। विभिन्न भारतीय भाषाओं में लिखे गये साहित्य व सामाजिक सांस्कृतिक रचनाओं को प्रतिबन्धित किया गया है। परन्तु सर्वाधिक मात्रा हिन्दी भाषा में लिखे कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध, उपन्यास, पत्र-पत्रिकाएँ आदि की रही हैं।

जिस साहित्य पर प्रतिबन्ध लगाया गया था ब्रिटिश शासनकाल में (औपनिवेशिकता काल में) आज वे सामग्री या तो ब्रिटिश लाइब्रेरी में, या फिर राष्ट्रीय अभिलेखागार में संग्रहित है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह भी है कि कुछ साहित्य आज भी लोगों के घरों में सुरक्षित है।

औपनिवेशिकता के दौर में ब्रतानी हुकूमत ने न सिर्फ मार्सल-ला लगाया बल्कि आवश्यकता पड़ने पर जेल जबती और जुर्माने का भी प्रतिबन्ध किया। इस प्रकार कड़े शासन के विरुद्ध लिखा हुआ साहित्य, लेखक अपने दोस्तों को या अपने हितैषी रिश्तेदारों के यहाँ एक प्रति भेजवा दिया करते थे ताकि उनकी गिरफ्तारी भी हो जाये तो साहित्य के प्रवाह में कमी न आने पाये। साहित्य की ताकत से लोगों में क्रान्ति की भावना न पैदा हो इसका ख्याल बराबर ब्रिटिश सरकार करती रही और कानून पारित करके लोगों को जेल में भेजने का काम किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी सरीखे विद्वान साहित्य की ताकत को रेखांकित करते हुये कहते हैं कि-''साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती है।''[3] उनके अनुसार, 'शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य' इस प्रकार साहित्य के महत्व को मानते हुए लोगों को पठन-पाठन के लिए मजबूर किया।

अंग्रेजों ने जिन पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगाया उन तीन भागों में विभाजित करके देखा जा सकता है—

1. धर्म सम्बन्धी ब्रिटिश विरोध और धर्म निरपेक्ष राजनीतिक वाला साहित्य शामिल।

2. भारत भक्त लोगों की जीवनियाँ और अन्य संकलित रचनाएँ।

3. देशभक्ति से जुड़ी हुई कविताओं और गीतों की है।

1857 की क्रान्ति के फलस्वरूप अंग्रेजी सरकार पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के लिए निम्नवत प्रतिबन्ध लगाये इनके अनुसार –

1. सन् 1857 के आन्दोलन के समर्थन में लिखी हुई कोई रचना प्रकाशित नहीं हो सकती।
2. अंग्रेजी राज्य के दमन और शोषण के खिलाफ लिखा जाने वाला कोई भी लेख या रचना प्रकाशित नहीं हो सकती।
3. दुनिया के किसी भी देश के स्वाधीनता आन्दोलन के समर्थन में लिखा हुआ कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सकता है।
4. रूसी क्रान्ति और मार्क्सवाद के बारे में कुछ भी जानकारी देने वाली रचना प्रकाशित नहीं हो सकती।

औपनिवेशिकता के दौर में अंग्रेजों का ये तर्क था कि हम भारत के लोगों को सभ्य बनाना चाहते है, यहाँ की सामाजिक कुरीतियों को जड़ से मिटाना चाहते हैं। इसलिए हमें आपके समर्थन की भी आवश्यकता है। इसीलिए उन्होंने भारत में प्रशिक्षण कार्यक्रम हेतु फोर्ट विलियम कालेज की सन् 1800 ई. में स्थापना की। अंग्रेज चाहते तो थे कि ये लोग पढ़े-लिखे और हमारी मदद करें पर उनका तरीका स्पष्ट रूप से भारतीयों को गुलाम बनाना ही था या हमेशा बनाकर रखना ही था। अंग्रेजों की इस कूटनीति की ओर भारतीय बुद्धिजीवी साहित्यकारों का ध्यान हुआ और उन्होंने अपने लेख से अंग्रेजों की नींव हिलनी शुरू की जिससे सामाजिक परिवर्तन होते देख अंग्रेजी सरकार लड़खड़ाने लगी। इसके फलस्वरूप इन्होंने पत्र-पत्रिकाओं समेत अनेक गद्य व पद्य की विधाओं पर प्रतिबन्धन किया। अखबारों की शक्ति इतनी बढ़ी कि व्यापक पैमाने पर अखबारों को प्रतिबन्धित किया जाने लगा। मतवाला के दूसरे पृष्ठ पर लिखी ये पंक्ति में तो तोप और तलवार से भी शक्तिशाली अखबार को समझा जाने लगा –

''खिचों न कमानों को न तलवार निकालो,
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।''[4]

इस प्रकार अनेक गीत गाये जाने लगे जिसमें मुख्य स्वर आजादी का था—

''हम हैं हिन्दुस्तान के मालिक हिन्दुस्तान हमारा
पाक वतन है कौये का जन्नत से भी प्यारा है।''[5]
(अजीमुल्ला खाँ) (मशहूर योद्धा)

इन गीतों ने औपनिवेशिकता की गुलामी त्याग करने का जो मंत्र फूँका उसका विशुद्ध अर्थ आजादी था। यहाँ आजादी का अर्थ व्यापक अर्थों में समझने की जरूरत है। जैसे एक ओर बिट्रिश शासन से आजादी और स्वदेशी (स्वराज्य) की स्थापना। वहीं दूसरी ओर जाति-पांति, छूआछूत, ऊँच-नीच, गोरा-काला, अगला-पिछड़ा, स्त्री-पुरूष आदि से जोड़कर देखा जाना चाहिए। आज भारत स्वाधीनता के 75वें वर्ष में प्रविष्टि कर रहा है ऐसे भी आज भी भारत औपनिवेशिक संस्कृति का शिकार है। जैसे :

1. आज भी अंग्रेजी बोलने वाले को अन्य जो अपनी-अपनी मातृभाषाएँ बोलते हैं उनसे होशियार समझा जाता है।

2. सन् 1950 में जिस अंग्रेजी को सिर्फ 15 वर्ष के लिए कामकाज की भाषा बनाया गया था (जिसको 1965 में) समाप्त हो जाना चाहिए था। उसे आज भी हम ढोते चले आ रहे हैं।

आज के इस दौर में शासन तो ब्रिटिश नहीं करते परन्तु प्रतिबंधन की समस्या आज भी बनी हुई है। गौर करने की बात ये है कि प्रतिबंधन का स्वरूप बदल गया है ये परिवर्तन समय सापेक्ष समझना चाहिए। जैसे :

25 जून 1875 से 21 मार्च 1877 तक विपक्ष के लोगों को जेल में डाला गया और पूरी तरह से उनको प्रताड़ित भी किया गया। आज जब हम 2026 की बात करें तो विपक्ष के लोगों के पास E.D., C.B.I. आदि जाँच एजेंसियों का दुरुपयोग करके विपक्ष की आवाज को कमजोर करने का लगातार षडयन्त्र जारी है। इसके सिवाय कहीं धारा 144 लगा दी जाती है और लोगों को नजरबन्द कर दिया जाता है। इन्टरनेट सेवायें स्थगित कर दी जाती हैं। इसे प्रतिबन्धन नहीं तो और क्या समझें? आ. रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखते समय आधुनिक लेखकों के बारे में लिखते हुये कहा है कि ''अपने समय के लेखकों के बारे में लिखना अपने सिर पर बला लेना हैं।''[6]

मुझे गोरख पाण्डेय की कविता की याद आती है-

''वे डरते हैं
किस चीज से डरते हैं वे
तमाम धन-दौलत
गोला बारूद पुलिस-फौज के बावजूद
वे डरते हैं
कि एक दिन
निहत्थे और गरीब लोग
उनसे डरना

बंद कर देंगे।''[7]

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : 9129352055patel@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ संख्या 89
2. अपनी माटी त्रैमासिक पत्रिका (प्रतिबंधित साहित्य विशेषांक) अपनी माटी संस्थान चित्तौड़गढ़, पृष्ठ संख्या 60
3. साहित्य का महत्व निबंध आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या 7
4. मतवाला पत्रिका के मुख्य पृष्ठ से
5. एनसीईआरटी बुक, पृष्ठ संख्या 80
6. हिंदी साहित्य का इतिहास (भूमिका से)- आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या 8
7. कविता कोश - गोरख पांडेय

दीपिका राणा

जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भारत-बोध

शोध-सार

जयशंकर प्रसाद हिंदी साहित्य के छायावादी युग के ऐसे सशक्त नाटककार हैं जिनके नाटकों में भारतीय सांस्कृतिक चेतना, ऐतिहासिक गौरव और राष्ट्रीय अस्मिता का अद्वितीय समन्वय देखने को मिलता है। उनके नाटकों में 'भारत-बोध' एक बहुस्तरीय अवधारणा के रूप में उभरता है, जो केवल राष्ट्र-राज्य की भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक एकता का व्यापक बोध कराता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में प्राचीन भारतीय इतिहास और पौराणिक कथाओं का सहारा लेकर उस राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने का प्रयास किया, जो औपनिवेशिक काल में शिथिल पड़ गई थी। उनके नाटकों का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि भारतीय समाज में आत्मगौरव, सांस्कृतिक पुनर्जागरण और स्वतंत्रता-चेतना का संचार करना था। इस प्रकार उनके नाटकों में भारत-बोध अतीत की स्मृति, वर्तमान की चुनौतियों और भविष्य की संभावनाओं के बीच एक सेतु का कार्य करता है।

शोध बिन्दु

भारत-बोध, राष्ट्रीय चेतना, सांस्कृतिक चेतना, ऐतिहासिक गौरव, राष्ट्रीय अस्मिता, सांस्कृतिक पुनर्जागरण, स्वाधीनता-चेतना, राष्ट्रवाद, भारतीय संस्कृति, नैतिक मूल्य, आध्यात्मिक दृष्टि, दार्शनिक चिंतन, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्ररक्षा, स्वाभिमान, त्याग, कर्तव्यबोध, नारी-स्वतंत्रता, नारी-गरिमा, सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक समन्वय, राजनीतिक चेतना, भाषा-शैली, काव्यात्मकता।

शोध आलेख

जयशंकर प्रसाद हिंदी साहित्य में एक ऐसे युगप्रवर्तक नाटककार हैं, जिन्होंने भारतीय नाट्य परंपरा को एक नई दिशा प्रदान की। उनका साहित्य उस समय की उपज है, जब भारत अंग्रेजी शासन के अधीन था और राष्ट्रीय चेतना का उदय हो रहा था। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने उनके साहित्य को गहराई से प्रभावित किया। प्रसाद ने भारतीय इतिहास और संस्कृति का गहन अध्ययन किया और उसे अपने नाटकों में इस प्रकार प्रस्तुत किया कि वह केवल अतीत का वर्णन न रहकर वर्तमान के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया।

प्रसाद का भारत-बोध संकीर्ण राष्ट्रवाद से परे एक व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि का परिचायक है। वे भारत को केवल एक भू-भाग के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे एक जीवंत सांस्कृतिक इकाई के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके नाटकों में यह भावना बार-बार उभरकर आती है कि भारत की आत्मा उसकी संस्कृति, परंपरा और नैतिक मूल्यों में निहित है।

भारत-बोध का अर्थ केवल राष्ट्र की पहचान नहीं, बल्कि उस सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना से है, जो भारत को एक विशिष्ट पहचान प्रदान करती है। प्रसाद के नाटकों में यह भारत-बोध तीन प्रमुख स्तरों पर अभिव्यक्त होता है—ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक।

ऐतिहासिक स्तर पर यह अतीत के गौरव और संघर्षों का स्मरण कराता है; सांस्कृतिक स्तर पर यह भारतीय जीवन-मूल्यों और परंपराओं को प्रतिष्ठित करता है; और दार्शनिक स्तर पर यह मानवता, आत्मा और प्रकृति के बीच संबंध को स्पष्ट

करता है।

प्रसाद के अनुसार, भारत केवल भौतिक सत्ता नहीं, बल्कि एक 'चेतना' है एक ऐसी चेतना, जो समय के साथ विकसित होती है, किंतु अपनी मूल पहचान को बनाए रखती है।

जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाटक चंद्रगुप्त हिंदी नाट्य साहित्य में राष्ट्रीय चेतना, राजनीतिक दूरदर्शिता और सांस्कृतिक एकता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यह नाटक केवल एक ऐतिहासिक घटना का नाट्य रूपांतरण नहीं है, बल्कि इसमें भारत-बोध की गहरी और बहुआयामी अभिव्यक्ति निहित है। प्रसाद ने इस नाटक के माध्यम से भारतीय इतिहास के उस महत्वपूर्ण कालखंड को पुनर्जीवित किया है, जब विदेशी सत्ता और आंतरिक विघटन के कारण राष्ट्र की एकता संकट में थी, और ऐसे समय में चाणक्य और चंद्रगुप्त जैसे व्यक्तित्वों ने राष्ट्र को एक नई दिशा प्रदान की।

इस नाटक का केंद्रीय भाव राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता की स्थापना है। चंद्रगुप्त का चरित्र केवल एक शासक के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे राष्ट्रनायक के रूप में उभरता है, जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानता है। उसके व्यक्तित्व में वीरता, आत्मसंयम और कर्तव्यनिष्ठा का अद्‌भुत समन्वय है। वह केवल सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं करता, बल्कि एक सशक्त और संगठित राष्ट्र की स्थापना के लिए कार्य करता है।

इस नाटक में चाणक्य का चरित्र भारत-बोध का सबसे प्रखर प्रतिनिधि है। चाणक्य केवल एक राजनीतिज्ञ नहीं, बल्कि एक दूरदर्शी राष्ट्रचिंतक के रूप में सामने आते हैं। उनका यह दृष्टिकोण अत्यंत महत्वपूर्ण है कि ''राष्ट्र की शक्ति उसकी एकता और अनुशासन में निहित है।'' वे यह समझते हैं कि जब तक भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहेगा, तब तक वह विदेशी आक्रमणों का सामना नहीं कर सकेगा। इसलिए वे चंद्रगुप्त को एक ऐसे शासक के रूप में तैयार करते हैं, जो सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँध सके।

प्रसाद ने इस नाटक में विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष को भी अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। यूनानी शासन और उसके प्रभाव को एक चुनौती के रूप में चित्रित करते हुए उन्होंने भारतीय स्वाधीनता की आवश्यकता को रेखांकित किया है। यह संघर्ष केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक भी है। प्रसाद यह संकेत देते हैं कि विदेशी शासन केवल सत्ता पर अधिकार नहीं करता, बल्कि वह संस्कृति और पहचान को भी प्रभावित करता है। इसीलिए चंद्रगुप्त और चाणक्य का संघर्ष भारतीय संस्कृति और अस्मिता की रक्षा का भी प्रतीक बन जाता है।

नाटक में भारत-बोध का एक महत्वपूर्ण पक्ष सांस्कृतिक समन्वय के रूप में भी सामने आता है। प्रसाद यह दिखाते हैं कि भारत की शक्ति उसकी विविधता में निहित है। विभिन्न जनपदों, संस्कृतियों और परंपराओं के होते हुए भी भारत एक सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। यह एकता ही उसे एक राष्ट्र बनाती है। चाणक्य का प्रयास इसी एकता को स्थापित करना है, जिससे भारत एक सशक्त और स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभर सके।

'चंद्रगुप्त' में नारी पात्रों की भूमिका भी उल्लेखनीय है, जो भारत-बोध को एक और आयाम प्रदान करती है। नाटक की स्त्रियाँ केवल सहायक भूमिका में नहीं हैं, बल्कि वे भी राष्ट्र और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को समझती हैं। उनके माध्यम से प्रसाद यह दिखाते हैं कि राष्ट्रनिर्माण में स्त्री की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी पुरुष की।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह नाटक अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ, ओजपूर्ण और प्रभावशाली है, जो नाटक के ऐतिहासिक और राजनीतिक वातावरण को सजीव बनाती है। संवादों में गंभीरता और दार्शनिकता का समावेश है, जो पात्रों के विचारों को गहराई प्रदान करता है। चाणक्य के संवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें नीति, राजनीति और राष्ट्रचिंतन का अद्‌भुत समन्वय मिलता है।

नाटक में कई स्थानों पर ऐसे विचार उभरते हैं, जो भारत-बोध को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं। जैसे—

''व्यक्ति का जीवन सीमित है, पर राष्ट्र शाश्वत है।''

यह कथन इस नाटक के मूल भाव को संक्षेप में व्यक्त करता है।

इसके अतिरिक्त, प्रसाद ने इस नाटक में अतीत और वर्तमान के बीच एक सेतु स्थापित किया है। उन्होंने इतिहास का उपयोग केवल अतीत के गौरव को दिखाने के लिए नहीं, बल्कि अपने समकालीन समाज को प्रेरित करने के लिए किया है। औपनिवेशिक काल में जब भारत स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहा था, तब इस प्रकार के नाटक राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में अत्यंत सहायक सिद्ध हुए।

जयशंकर प्रसाद का नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' हिंदी नाट्य-

साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है, क्योंकि इसमें भारत-बोध को केवल राजनीतिक या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, नैतिक और विशेष रूप से नारी-स्वातंत्र्य के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक प्रसाद की प्रगतिशील दृष्टि का प्रमाण है, जिसमें उन्होंने भारतीय परंपरा के भीतर रहते हुए भी नारी के स्वतंत्र अस्तित्व और आत्मसम्मान की सशक्त वकालत की है।

इस नाटक का केंद्रीय पात्र ध्रुवस्वामिनी है, जो केवल एक रानी या ऐतिहासिक चरित्र नहीं, बल्कि एक जागरूक, स्वाभिमानी और निर्णयक्षम नारी का प्रतीक है। उसके चरित्र के माध्यम से प्रसाद यह स्थापित करते हैं कि भारतीय संस्कृति में नारी को केवल सहनशीलता और त्याग की मूर्ति के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि उसे समान अधिकार और सम्मान प्राप्त होना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी का व्यक्तित्व उस भारत-बोध का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें स्वाभिमान, स्वतंत्रता और नैतिक दृढ़ता को अत्यंत महत्व दिया गया है। वह अपने जीवन के निर्णय स्वयं लेने में सक्षम है और अन्याय या अपमान को सहन करने के लिए तैयार नहीं होती। इस संदर्भ में उसका यह कथन अत्यंत सार्थक प्रतीत होता है—

''मैं किसी की दया पर जीवित रहने वाली नहीं, अपने स्वाभिमान के सहारे जीना जानती हूँ।''

यह कथन नारी-स्वातंत्र्य और आत्मसम्मान की भावना को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है।

इस नाटक में भारत-बोध सांस्कृतिक मूल्यों और नैतिक आदर्शों के रूप में व्यक्त होता है। प्रसाद ने यह दिखाया है कि भारतीय संस्कृति केवल परंपराओं का पालन नहीं, बल्कि न्याय, समानता और मानवीय गरिमा का समर्थन करती है।

ध्रुवस्वामिनी अपने जीवन में जो निर्णय लेती है, वे केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। वह अन्याय के विरुद्ध खड़ी होती है और यह सिद्ध करती है कि सच्ची भारतीयता वही है, जो सत्य और न्याय का साथ दे।

इस संदर्भ में एक और कथन उल्लेखनीय है—

''सम्मान के बिना जीवन केवल अस्तित्व है, जीवन नहीं।''

यह पंक्ति भारत-बोध के नैतिक पक्ष को उजागर करती है।

ध्रुवस्वामिनी में प्रेम और कर्तव्य के बीच का द्वंद्व भी महत्वपूर्ण है। ध्रुवस्वामिनी अपने व्यक्तिगत भावनाओं और सामाजिक कर्तव्यों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास करती है। यह द्वंद्व उसके चरित्र को और अधिक गहराई प्रदान करता है।

प्रसाद ने यह दिखाया है कि सच्चा प्रेम वही है, जो सम्मान और समानता पर आधारित हो। यदि प्रेम में सम्मान नहीं है, तो वह केवल बंधन बन जाता है।

जयशंकर प्रसाद का नाटक स्कंदगुप्त हिंदी नाट्य-साहित्य में भारत-बोध की सबसे सशक्त और ओजस्वी अभिव्यक्तियों में से एक है। इस नाटक में प्रसाद ने गुप्तकालीन इतिहास के एक महत्वपूर्ण चरण को आधार बनाकर राष्ट्ररक्षा, त्याग, कर्तव्य और राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। यह नाटक केवल ऐतिहासिक घटनाओं का पुनर्निर्माण नहीं है, बल्कि इसके माध्यम से लेखक ने अपने समय की राष्ट्रीय चेतना को भी सुदृढ़ करने का प्रयास किया है।

इस नाटक का केंद्रीय पात्र स्कंदगुप्त है, जो एक आदर्श राष्ट्रनायक के रूप में उभरता है। उसके व्यक्तित्व में वीरता, त्याग, कर्तव्यनिष्ठा और आत्मसंयम का अद्‌भुत समन्वय है। वह अपने व्यक्तिगत सुखों और भावनाओं को त्यागकर राष्ट्र की रक्षा को अपना सर्वोच्च धर्म मानता है। इस प्रकार उसका चरित्र भारत-बोध का प्रत्यक्ष प्रतीक बन जाता है।

स्कंदगुप्त का यह कथन उसके राष्ट्रप्रेम को स्पष्ट करता है—

''यह भूमि केवल राज्य नहीं, मेरी जननी है; इसकी रक्षा ही मेरा जीवन है।''

यह पंक्ति भारत को मातृभूमि के रूप में स्थापित करती है और राष्ट्रप्रेम को एक भावनात्मक तथा नैतिक कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत करती है।

स्कंदगुप्त में भारत-बोध का सबसे प्रमुख स्वर राष्ट्ररक्षा के रूप में प्रकट होता है। हूणों के आक्रमण के संदर्भ में प्रसाद ने यह दिखाया है कि जब राष्ट्र संकट में होता है, तब उसके नागरिकों का सर्वोच्च कर्तव्य उसकी रक्षा करना होता है।

स्कंदगुप्त अपने व्यक्तिगत जीवन, प्रेम और सुखों का त्याग कर युद्धभूमि में उतरता है। उसके लिए राष्ट्र का अस्तित्व ही सबसे महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में उसका यह विचार अत्यंत सार्थक है—

''व्यक्ति का सुख राष्ट्र की सुरक्षा के सामने तुच्छ है।''

यह कथन भारत-बोध के उस पक्ष को उजागर करता है, जिसमें राष्ट्र सर्वोपरि है और व्यक्तिगत हित उसके अधीन हैं।

इस नाटक में प्रसाद ने राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। हूणों का आक्रमण केवल राजनीतिक चुनौती नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति और अस्मिता के लिए भी खतरा है।

स्कंदगुप्त और अन्य पात्र इस चुनौती का सामना केवल युद्ध के माध्यम से नहीं, बल्कि अपने आत्मगौरव और साहस के बल पर करते हैं। इस संदर्भ में एक कथन उल्लेखनीय है—

''जिस राष्ट्र में स्वाभिमान जीवित है, उसे कोई पराजित नहीं कर सकता।''

यह पंक्ति भारत-बोध के उस तत्व को रेखांकित करती है, जिसमें आत्मगौरव को राष्ट्र की शक्ति का आधार माना गया है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों की भाषा-शैली उनके भारत-बोध की अभिव्यक्ति का एक अत्यंत सशक्त माध्यम है। उनकी भाषा केवल संप्रेषण का साधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना, ऐतिहासिक गौरव और दार्शनिक गहराई की वाहक है। प्रसाद ने अपने नाटकों में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह मुख्यत: संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली हिंदी है, जिसमें तत्सम शब्दों की प्रचुरता मिलती है। यह भाषा उनके नाटकों के ऐतिहासिक और शास्त्रीय परिवेश के अनुरूप एक विशिष्ट गरिमा और औदात्य प्रदान करती है। उनकी भाषा में वह गंभीरता और उच्चता है, जो उनके विषय—राष्ट्र, संस्कृति और आदर्शों के अनुरूप स्वाभाविक रूप से उभरती है।

प्रसाद की भाषा की एक प्रमुख विशेषता उसकी काव्यात्मकता है। उनके संवाद केवल साधारण कथोपकथन नहीं होते, बल्कि उनमें काव्य का रस, लय और सौंदर्य समाहित होता है। उदाहरणस्वरूप, उनके पात्र जब अपने विचार व्यक्त करते हैं, तो उनमें भावात्मक तीव्रता और सौंदर्यबोध का अद्‌भुत संतुलन दिखाई देता है। इस काव्यात्मकता के कारण उनके नाटक पढ़ते समय एक प्रकार का सौंदर्यात्मक आनंद प्राप्त होता है, जो उन्हें अन्य नाटककारों से अलग करता है।

उनकी भाषा में अलंकारों और बिंबों का सजीव प्रयोग भी उल्लेखनीय है। उपमा, रूपक, अनुप्रास और प्रतीकात्मकता के माध्यम से वे अपने विचारों को प्रभावशाली बनाते हैं। उदाहरण के लिए, जब वे राष्ट्र को 'माता' या 'पवित्र भूमि' के रूप में चित्रित करते हैं, तो यह केवल एक भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं होती, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार उनकी भाषा में प्रतीकात्मकता भारत-बोध को गहराई प्रदान करती है।

प्रसाद की भाषा-शैली का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष उसका संवादात्मक वैभव है। उनके नाटकों के संवाद अत्यंत सशक्त, प्रभावपूर्ण और अर्थगर्भित होते हैं। प्रत्येक संवाद पात्र के व्यक्तित्व, उसकी मानसिक अवस्था और उसके वैचारिक स्तर को स्पष्ट करता है। उदाहरणस्वरूप, स्कंदगुप्त और चंद्रगुप्त में राजनैतिक संवादों में गंभीरता और रणनीतिक सोच दिखाई देती है, जबकि ध्रुवस्वामिनी में भावनात्मक और संवेदनशील संवाद नारी-मन की गहराई को व्यक्त करते हैं।

उनकी भाषा में शास्त्रीयता और लोक तत्वों का संतुलन भी देखने को मिलता है। यद्यपि उनकी भाषा मुख्यत: संस्कृतनिष्ठ है, फिर भी उसमें कहीं-कहीं सहजता और सरलता का भी समावेश है, जिससे संवाद बोझिल नहीं लगते। यह संतुलन उनके नाटकों को एक ओर विद्वत्तापूर्ण बनाता है, तो दूसरी ओर उन्हें जनसुलभ भी बनाए रखता है।

प्रसाद की शैली का एक विशिष्ट गुण उसकी दार्शनिकता है। उनके संवादों में जीवन, धर्म, कर्म, आत्मा और नैतिकता से संबंधित गहन चिंतन व्यक्त होता है। उनके पात्र केवल घटनाओं में भाग नहीं लेते, बल्कि वे विचार करते हैं, प्रश्न उठाते हैं और अपने अस्तित्व को समझने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार उनकी भाषा एक चिंतनशील वातावरण का निर्माण करती है, जो पाठक और दर्शक दोनों को विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

इसके अतिरिक्त, प्रसाद की भाषा में राष्ट्रीय भावना और सांस्कृतिक चेतना का ओजस्वी स्वर भी स्पष्ट रूप से सुनाई देता है। जब उनके पात्र राष्ट्र, कर्तव्य और स्वाभिमान की बात करते हैं, तो उनकी भाषा में एक प्रकार की ऊर्जा और प्रेरणा का संचार होता है। यह ओज उनके भारत-बोध को सशक्त रूप से अभिव्यक्त करता है।

अंतत: कहा जा सकता है कि जयशंकर प्रसाद की भाषा-शैली उनके नाटकों की आत्मा है। इसमें काव्यात्मकता, शास्त्रीयता, दार्शनिकता, प्रतीकात्मकता और ओजस्विता का अद्‌भुत समन्वय है। उनकी भाषा न केवल उनके विचारों को अभिव्यक्त करती है, बल्कि भारतीय संस्कृति और राष्ट्र की आत्मा को भी सजीव रूप में प्रस्तुत करती है। इस प्रकार

उनकी भाषा-शैली उनके भारत-बोध को प्रभावशाली और स्थायी रूप प्रदान करती है।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भारत-बोध एक बहुआयामी और गहन अवधारणा है, जिसमें ऐतिहासिक गौरव, सांस्कृतिक चेतना, आध्यात्मिक दृष्टि और राजनीतिक जागरूकता का समन्वय है। उनके नाटक भारतीय समाज को उसके अतीत की स्मृति दिलाते हुए उसे एक उज्ज्वल भविष्य की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रसाद का भारत-बोध आज भी उतना ही प्रासंगिक है, क्योंकि यह हमें हमारी सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ता है और हमें एक समावेशी तथा मानवीय दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार उनके नाटक न केवल साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना के विकास में भी उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

पीएच.डी स्कॉलर
डॉ. बी.आर. अम्बेडकर यूनिर्विसटी
दिल्ली

सन्दर्भ ग्रंथ

1. जयशंकर प्रसाद. चंद्रगुप्त. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2015, पृ. 25-160।
2. जयशंकर प्रसाद. स्कंदगुप्त. वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, 2012, पृ. 40-180।
3. जयशंकर प्रसाद. ध्रुवस्वामिनी. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2016, पृ. 20-110।
4. जयशंकर प्रसाद. अजातशत्रु. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2013, पृ. 35-140।
5. रामचंद्र शुक्ल. हिंदी साहित्य का इतिहास. वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, 2005, पृ. 250-275।
6. रामविलास शर्मा. हिंदी साहित्य का इतिहास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2008, पृ. 210-230।
7. हजारीप्रसाद द्विवेदी. हिंदी साहित्य की भूमिका. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2009, पृ. 180-200।
8. नामवर सिंह. छायावाद. नई दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन, 2010, पृ. 95-120।
9. मिश्र, रामचंद्र. प्रसाद के नाटक : एक अध्ययन. इलाहाबाद : साहित्य भवन, 2013, पृ. 60-140।
10. त्रिपाठी, विश्वनाथ. हिंदी आलोचना का विकास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 150-175।

नेहा

भारतीय समाज और साहित्य में स्त्री-चेतना : विकास, संघर्ष और समकालीन परिदृश्य

शोध सार

भारतीय समाज में स्त्री-चेतना का विकास सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा के प्रसार तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के विस्तार से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण ने स्त्री-जीवन से जुड़े प्रश्नों को सार्वजनिक विमर्श का विषय बनाया, जिसके परिणामस्वरूप स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह उन्मूलन तथा सामाजिक समानता जैसे मुद्दों पर व्यापक विचार-विमर्श आरंभ हुआ। इस प्रक्रिया ने स्त्रियों में आत्मबोध, अधिकार-बोध तथा स्वतंत्र अस्तित्व की चेतना को विकसित किया। हिंदी साहित्य ने भी इस परिवर्तन को केवल प्रतिबिंबित नहीं किया, बल्कि उसे वैचारिक आधार प्रदान किया। महादेवी वर्मा से लेकर समकालीन महिला लेखिकाओं तक स्त्री-अनुभव, अस्मिता, स्वायत्तता और प्रतिरोध साहित्य के प्रमुख विषय बने। प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय समाज और साहित्य में स्त्री-चेतना के ऐतिहासिक विकास, उसके संघर्ष, साहित्यिक अभिव्यक्ति तथा वर्तमान चुनौतियों का विश्लेषण किया गया है।

बीज शब्द

स्त्री-चेतना, स्त्री-विमर्श, भारतीय समाज, हिंदी साहित्य, नवजागरण, स्त्री-अस्मिता, सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा, समानता, स्त्री-संघर्ष।

भूमिका

भारतीय समाज की संरचना लंबे समय तक पितृसत्तात्मक मूल्यों पर आधारित रही है। इस व्यवस्था में स्त्री की भूमिका मुख्यत: परिवार तक सीमित मानी गई तथा उसके सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक अधिकार अनेक प्रकार की सामाजिक रूढ़ियों से नियंत्रित रहे। परिणामस्वरूप स्त्रियों का व्यक्तित्व, आत्मनिर्णय और सामाजिक सहभागिता लंबे समय तक सीमित रही। आधुनिक शिक्षा, सामाजिक जागरण तथा समाज-सुधार आंदोलनों ने इस स्थिति को चुनौती देते हुए स्त्री-अधिकारों, समानता और स्वतंत्र अस्तित्व के प्रश्न को सामाजिक विमर्श का महत्त्वपूर्ण विषय बनाया।

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक परिवर्तन का काल थी। इसी समय स्त्री-प्रश्न पहली बार गंभीर सामाजिक बहस का विषय बने। राधा कुमार के अनुसार, ''उन्नीसवीं सदी को स्त्रियों की शताब्दी कहना बेहतर होगा क्योंकि इस सदी में सारी दुनिया में उनकी अच्छाई-बुराई, प्रकृति, क्षमताएँ एवं उर्वरा गर्मागर्म बहस के विषय थे। यूरोप में फ्रांसीसी क्रांति के दौरान और उसके बाद भी स्त्री जागरुकता का विस्तार होना शुरू हुआ तथा शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के बुद्धिजीवियों ने नारीवादी विचारों को अभिव्यक्ति दी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक रूसी महिलाओं के लिए महिला प्रश्न एक केंद्रीय मुद्दा बन गया था जबकि भारत में, खासतौर से बंगाल और महाराष्ट्र में समाज सुधारकों ने स्त्रियों में फैली बुराइयों पर आवाज उठाना शुरू किया।''[1]

भारतीय नवजागरण ने समाज में आत्मचिंतन, सामाजिक सुधार और आधुनिक चेतना के विकास को गति प्रदान की। इस संदर्भ में बिपिन चंद्र लिखते हैं, ''ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार और उसके साथ औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारा के प्रचार-प्रसार की प्रतिक्रिया में ही यह लहर उठनी शुरू हुई थी। बाहरी संस्कृति के फैलाव से भारतीयों के लिए यह

जरूरी हो गया था कि वह आत्मनिरीक्षण करे... हालाँकि औपनिवेशिक संस्कृति के खिलाफ यह प्रतिक्रिया हर जगह और हर समाज में अलग-अलग तरह की हुई, लेकिन यह बात हर जगह सुधार के तौर पर नवजागरण कहा जाता है।''[2]

इन्हीं सामाजिक और वैचारिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप स्त्री-शिक्षा, स्त्री-अधिकार, समानता तथा आत्मनिर्णय के प्रश्नों को नई दिशा मिली। हिंदी साहित्य ने भी इस परिवर्तन को केवल प्रतिबिंबित नहीं किया, बल्कि स्त्री-अनुभवों, संघर्षों और अस्मिता को अभिव्यक्ति देकर स्त्री-विमर्श को वैचारिक आधार प्रदान किया। प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय समाज में स्त्री-चेतना के ऐतिहासिक विकास, समाज-सुधार आंदोलनों की भूमिका, हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श के स्वरूप, स्वतंत्रता के उपरांत स्त्री-अधिकारों के विस्तार तथा समकालीन स्त्री-चेतना की उपलब्धियों, चुनौतियों और संभावनाओं का समग्र विश्लेषण किया गया है।

भारतीय नवजागरण और स्त्री-चेतना का विकास

भारतीय नवजागरण उन्नीसवीं शताब्दी का वह ऐतिहासिक दौर था जिसने भारतीय समाज में सामाजिक, शैक्षिक और वैचारिक परिवर्तन की नई चेतना का संचार किया। इस काल में समाज में व्याप्त कुरीतियों, रूढ़ियों तथा असमानताओं के विरुद्ध व्यापक स्तर पर सुधार आंदोलनों का आरम्भ हुआ। स्त्रियों की अशिक्षा, बाल-विवाह, सती-प्रथा, विधवाओं की दयनीय स्थिति तथा सामाजिक अधिकारों से वंचित होने जैसे प्रश्न पहली बार संगठित रूप से सार्वजनिक विमर्श का विषय बने। परिणामस्वरूप स्त्री-शिक्षा, सामाजिक समानता और महिला अधिकारों की दिशा में सार्थक प्रयास प्रारम्भ हुए। बंगाल और महाराष्ट्र इस नवजागरण के प्रमुख केंद्र रहे। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ज्योतिराव फुले तथा सावित्रीबाई फुले जैसे समाज-सुधारकों ने स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह और सामाजिक समानता के समर्थन में महत्त्वपूर्ण कार्य किए। इन प्रयासों ने भारतीय समाज में महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन की प्रक्रिया को गति प्रदान की तथा स्त्री-चेतना के विकास की आधारभूमि तैयार की।

हिंदी क्षेत्र में भी नवजागरण का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्त्री-शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया, यद्यपि उनकी दृष्टि तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं से पूर्णत: मुक्त नहीं थी। वीरभारत तलवार ने भारतेंदु के विचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है, ''ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल-धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज शिक्षा दें।''[3] नवजागरण का प्रभाव केवल समाज-सुधार तक सीमित नहीं रहा, बल्कि साहित्य में भी स्त्री-अभिव्यक्ति के नए आयाम विकसित हुए। महिलाओं की शिक्षा ने उन्हें अपनी अनुभूतियों और विचारों को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान किया। गरिमा श्रीवास्तव के अनुसार, ''स्त्री शिक्षा ने पहली बार स्त्री को अभिव्यक्ति का लिखित हथियार दिया।''[4]

इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी के आरंभ में महिलाओं की सामाजिक और सार्वजनिक भागीदारी भी बढ़ने लगी। राधा कुमार का मत है, ''बीसवीं सदी के आरंभ में महिलाओं के स्वायत्त संगठन बनने शुरू हो गए तथा कुछ ही दशकों में नारी सक्रियता की एक विशेष श्रेणी का निर्माण हो गया।''[5] स्पष्ट है कि भारतीय नवजागरण ने स्त्री-चेतना के विकास के लिए वैचारिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित कीं। यही चेतना आगे चलकर स्त्री-अधिकार, स्त्री-अस्मिता और स्त्री-विमर्श के रूप में विकसित हुई तथा हिंदी साहित्य में एक सशक्त वैचारिक धारा के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

समाज-सुधार आंदोलन और स्त्री-जागरण की प्रक्रिया

भारतीय समाज में स्त्री-चेतना का विकास केवल वैचारिक स्तर पर नहीं हुआ, बल्कि इसके पीछे समाज-सुधार आंदोलनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक समाज-सुधारकों ने यह अनुभव किया कि महिलाओं की शिक्षा, सम्मान और स्वतंत्रता के बिना किसी भी समाज की प्रगति संभव नहीं है। इसी सोच ने स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह के विरोध तथा महिलाओं के मानवीय अधिकारों की स्थापना जैसे अनेक सुधारात्मक प्रयासों को जन्म दिया। इन आंदोलनों ने स्त्री को केवल परिवार की सदस्य के रूप में नहीं, बल्कि समाज के समान अधिकार प्राप्त नागरिक के रूप में देखने की दृष्टि विकसित की। परिणामस्वरूप महिलाओं में आत्म-विश्वास, आत्मबोध और अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता का विकास हुआ।

सावित्रीबाई फुले का संघर्ष भारतीय स्त्री-जागरण के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। महिलाओं को शिक्षित करने के उनके प्रयासों का तत्कालीन समाज में तीव्र विरोध हुआ। गोपा जोशी ने लिखा है, ''एक हिंदू स्त्री का उस जमाने में शिक्षक का काम करना समाजद्रोही और धर्मद्रोही बात मानी

गई। पूणे में संताप का वातावरण फैल गया। सावित्रीबाई को पाठशाला जाते देखकर ब्राह्मण और उनके चेले-चांटे उन पर कीचड़, गंदगी फेंकते थे, उन्हें पत्थर मारते थे।''[6]

पंडिता रमाबाई ने महिलाओं की शिक्षा, आत्मनिर्भरता तथा स्वतंत्र निर्णय के अधिकार को सामाजिक परिवर्तन का आधार माना। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि शिक्षा के माध्यम से ही स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर सकती हैं। इसी प्रकार ताराबाई शिंदे ने स्त्री और पुरुष के बीच व्याप्त सामाजिक असमानता पर तीखा प्रश्न उठाते हुए लिखा है, ''पुरुष अपने आपको स्त्रियों से इतना भिन्न क्यों समझता है? स्त्री की तुलना में वह खुद को इतना महान् और बुद्धिमान क्यों मानता है?''[7]

स्पष्ट है कि समाज-सुधार आंदोलनों ने केवल सामाजिक कुरीतियों का विरोध नहीं किया, बल्कि उन्होंने स्त्रियों में आत्मसम्मान, आत्मविश्वास और अधिकार-बोध की भावना विकसित की। यही चेतना आगे चलकर आधुनिक स्त्री-विमर्श और महिला आंदोलनों की आधारशिला बनी।

हिंदी साहित्य में स्त्री-चेतना और स्त्री-विमर्श का विकास

भारतीय समाज में स्त्री-चेतना के विस्तार का प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। आधुनिक हिंदी साहित्य में स्त्री केवल करुणा, त्याग और सहनशीलता की प्रतीक बनकर नहीं रहती, बल्कि वह अपने अनुभवों, संघर्षों, आकांक्षाओं और अधिकारों की सशक्त अभिव्यक्ति करने वाले व्यक्तित्व के रूप में उभरती है। साहित्य ने स्त्री के जीवन की उन वास्तविकताओं को सामने रखा, जिन्हें लंबे समय तक सामाजिक परंपराओं के कारण अनदेखा किया जाता रहा। आधुनिक हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श का उद्देश्य केवल स्त्री की समस्याओं का वर्णन करना नहीं, बल्कि उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व, आत्मसम्मान, समान अधिकार और सामाजिक भागीदारी को स्थापित करना भी है। इस दृष्टि से महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा तथा नासिरा शर्मा जैसी लेखिकाओं ने स्त्री-अनुभवों को साहित्य के केंद्र में स्थापित किया। उनके लेखन में स्त्री एक जागरूक, संवेदनशील और संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप में सामने आती है।

प्रभा खेतान का मत है, ''वास्तव में नारीवाद का केंद्रीय मुद्दा है उन समस्याओं को अभिव्यक्त करना, जिन्हें अब तक इतिहासकार केवल पुरुष संदर्भ में ही देखते रहने के अभ्यस्त हैं।''[8] इन विचारों ने हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श को नई वैचारिक दिशा प्रदान की। महिला लेखिकाओं ने स्त्री के निजी जीवन, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक दबावों, आर्थिक निर्भरता, लैंगिक भेदभाव तथा मानसिक संघर्षों को यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत किया। इस लेखन ने यह स्थापित किया कि स्त्री का अनुभव स्वयं उसके द्वारा व्यक्त किया जाना अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय होता है।

महादेवी वर्मा ने स्त्री-अनुभव की प्रामाणिकता पर बल देते हुए लिखा है, ''पुरुष के द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श बन सकता है, परंतु अधिक सत्य नहीं... पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परंतु नारी के लिए अनुभव।''[9]

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श केवल महिला अधिकारों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक न्याय, समान अवसर, लैंगिक संवेदनशीलता, गरिमा तथा लोकतांत्रिक मूल्यों से भी जुड़ गया है। इसलिए आज स्त्री-विमर्श साहित्य की एक सशक्त वैचारिक धारा के रूप में स्थापित हो चुका है, जो समाज में समानता और मानवीय गरिमा के पक्ष में निरंतर सक्रिय है।

स्वतंत्रता के बाद स्त्री-चेतना : अधिकार, समानता और समकालीन चुनौतियाँ

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति को सुदृढ़ बनाने की दिशा में अनेक संवैधानिक और विधिक प्रयास किए गए। भारतीय संविधान ने महिलाओं को समानता, स्वतंत्रता, शिक्षा, रोजगार तथा राजनीतिक भागीदारी जैसे मौलिक अधिकार प्रदान किए। इसके परिणामस्वरूप महिलाओं के सामाजिक जीवन में नए अवसरों का विस्तार हुआ और वे सार्वजनिक जीवन में अधिक सक्रिय रूप से भाग लेने लगीं। इसके बावजूद सामाजिक संरचना में व्याप्त पितृसत्तात्मक मानसिकता के कारण समानता का लक्ष्य पूर्णत: प्राप्त नहीं हो सका। स्वतंत्र भारत में डॉ. भीमराव आंबेडकर ने महिलाओं के वैधानिक अधिकारों को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से हिंदू कोड बिल का प्रारूप प्रस्तुत किया। यद्यपि इस विधेयक को तत्काल व्यापक विरोध का सामना करना पड़ा, फिर भी इसके आधार पर बाद के वर्षों में विवाह, उत्तराधिकार और संपत्ति संबंधी अनेक कानून बनाए गए। इन विधिक परिवर्तनों ने महिलाओं को पारिवारिक और सामाजिक जीवन में अधिक अधिकार प्रदान किए तथा उनकी स्वतंत्र पहचान को सुदृढ़ किया।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महिला आंदोलनों ने स्त्री-अधिकारों के प्रश्न को और अधिक व्यापक बनाया। इस दौर में समान वेतन, शिक्षा, रोजगार, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, घरेलू हिंसा, दहेज, यौन उत्पीड़न तथा निर्णय लेने की स्वतंत्रता जैसे मुद्दे प्रमुखता से सामने आए। महिलाओं ने यह स्पष्ट किया कि केवल कानूनी अधिकार पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि सामाजिक व्यवहार और मानसिकता में भी परिवर्तन आवश्यक है। राधा कुमार के अनुसार, ''नारीवादियों ने महसूस किया कि समानता की अवधारणा को व्यापक बनना होगा ताकि किसी भी ढाँचे की असमानता को चिह्नित करके मिटाया जा सके।''[10]

आज स्त्री-चेतना केवल अधिकार प्राप्त करने का आंदोलन नहीं है, बल्कि सामाजिक न्याय, सम्मान, आत्मनिर्णय और समान अवसरों की स्थापना का भी प्रयास है। इसी कारण समकालीन स्त्री-विमर्श शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, राजनीतिक सहभागिता और आर्थिक स्वावलंबन जैसे प्रश्नों को समान रूप से महत्त्व देता है। महादेवी वर्मा ने बदलते समय की स्त्री-चेतना की ओर संकेत करते हुए लिखा है, ''आज की बदली हुई परिस्थितियों में स्त्री केवल उन्हीं आदर्शों से संतोष न कर लेगी जिनके सारे रंग उसके आँसुओं में धुल चुके हैं।''[11] वर्तमान समय में महिलाएँ शिक्षा, प्रशासन, विज्ञान, न्यायपालिका, राजनीति, खेल, साहित्य तथा उद्यमिता सहित लगभग सभी क्षेत्रों में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ प्राप्त कर रही हैं। इसके बावजूद लैंगिक भेदभाव, घरेलू हिंसा, कार्यस्थल पर उत्पीड़न, दहेज प्रथा, बाल विवाह तथा महिलाओं के विरुद्ध बढ़ते अपराध जैसी चुनौतियाँ आज भी समाज के सामने गंभीर प्रश्न के रूप में उपस्थित हैं। इसलिए आवश्यक है कि महिलाओं के अधिकारों की रक्षा केवल कानूनों तक सीमित न रहकर सामाजिक चेतना का भी अभिन्न अंग बने।

स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के बाद स्त्री-चेतना का स्वरूप अधिक व्यापक, लोकतांत्रिक और अधिकार-आधारित हुआ है। इसने भारतीय समाज में समानता, न्याय और मानवीय गरिमा के मूल्यों को सुदृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

समकालीन स्त्री-चेतना : उपलब्धियाँ, चुनौतियाँ और भविष्य की दिशा

इक्कीसवीं शताब्दी में भारतीय स्त्री-चेतना ने व्यापक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आयाम ग्रहण किए हैं। शिक्षा के प्रसार, तकनीकी विकास, वैश्वीकरण तथा संवैधानिक अधिकारों के विस्तार ने महिलाओं को अपनी क्षमताओं के विकास के लिए नए अवसर प्रदान किए हैं। आज महिलाएँ शिक्षा, विज्ञान, प्रशासन, न्यायपालिका, साहित्य, राजनीति, खेल, मीडिया और उद्यमिता जैसे विविध क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदान दे रही हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता और शिक्षा ने महिलाओं के आत्मविश्वास को सुदृढ़ किया है तथा उन्हें सामाजिक और राष्ट्रीय विकास में अधिक सक्रिय भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया है। इसके बावजूद महिलाओं के विरुद्ध हिंसा, कार्यस्थलों पर लैंगिक भेदभाव, घरेलू उत्पीड़न, दहेज, बाल विवाह, साइबर अपराध तथा असमान अवसर जैसी समस्याएँ आज भी समाज के सामने गंभीर चुनौती बनी हुई हैं। इसलिए केवल कानूनी प्रावधान पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि सामाजिक सोच, व्यवहार और संस्थागत संवेदनशीलता में परिवर्तन भी आवश्यक है।

महादेवी वर्मा ने स्त्री के अधिकारों और उसकी गरिमा के संबंध में लिखा है, ''हमें न किसी पर जय चाहिए, न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परंतु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगे।''[12] रोहिणी अग्रवाल के अनुसार, ''स्त्री विमर्श चूँकि स्त्री अस्मिता को केंद्र में लाकर उसे 'मनुष्य' रूप में समझे जाने की आवश्यकता पर बल देता है, इसलिए यह अनिवार्य रूप में समाज की विभिन्न संस्थाओं परिवार, विवाह, धर्म, न्याय, मीडिया और सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों को स्त्री संदर्भ में देखता है।''[13]

इसी संदर्भ में राहुल सांकृत्यायन का कथन भी उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं, ''स्त्री की स्वतंत्रता और समाज में उसका समान स्थान तब तक कोरी कल्पना ही रहेगी, जब तक कि समाज के लिए जीविका-उत्पादन से उसे अलग रखा जाएगा।''[14]

यह स्पष्ट है कि समकालीन स्त्री-चेतना का उद्देश्य केवल अधिकार प्राप्त करना नहीं, बल्कि ऐसे समाज का निर्माण करना है जहाँ महिलाओं को समान अवसर, सम्मान, सुरक्षा और स्वतंत्र निर्णय का अधिकार व्यवहारिक रूप से प्राप्त हो। यही आधुनिक लोकतांत्रिक समाज की वास्तविक पहचान भी है।

निष्कर्ष

भारतीय समाज में स्त्री-चेतना का विकास एक सतत

सामाजिक, वैचारिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया का परिणाम है। उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण से प्रारम्भ होकर समकालीन समय तक स्त्रियों ने शिक्षा, समानता, सम्मान, आत्मनिर्भरता तथा अधिकारों की प्राप्ति के लिए निरंतर संघर्ष किया है। समाज-सुधार आंदोलनों ने स्त्री-जागरण की आधारभूमि तैयार की, जबकि स्वतंत्रता के बाद संवैधानिक अधिकारों, लोकतांत्रिक मूल्यों तथा महिला आंदोलनों ने इस चेतना को अधिक व्यापक और सशक्त स्वरूप प्रदान किया। हिंदी साहित्य ने भी स्त्री-अनुभवों, संघर्षों, अस्मिता और स्वायत्तता को अभिव्यक्ति देकर स्त्री-विमर्श को सुदृढ़ वैचारिक आधार प्रदान किया तथा समाज में स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। समकालीन समय में महिलाओं ने शिक्षा, विज्ञान, प्रशासन, साहित्य, राजनीति, खेल तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, किंतु लैंगिक असमानता, घरेलू हिंसा, सामाजिक रूढ़ियाँ, कार्यस्थलों पर भेदभाव तथा महिलाओं के विरुद्ध बढ़ते अपराध जैसी चुनौतियाँ आज भी विद्यमान हैं। इसलिए आवश्यक है कि विधिक अधिकारों के साथ-साथ सामाजिक चेतना, समान अवसर, आर्थिक स्वावलंबन तथा लैंगिक संवेदनशीलता को भी समान रूप से प्रोत्साहित किया जाए। अत: कहा जा सकता है कि आधुनिक स्त्री-चेतना का उद्देश्य किसी प्रकार का वर्चस्व स्थापित करना नहीं, बल्कि समानता, गरिमा, आत्मनिर्णय और मानवीय अधिकारों पर आधारित समाज का निर्माण करना है। जब समाज स्त्री को समान भागीदारी, सम्मान और विकास के समान अवसर प्रदान करेगा, तभी वास्तविक लोकतांत्रिक, समतामूलक एवं मानवीय समाज की स्थापना संभव हो सकेगी।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : nchahalia123@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2014, पृ. 23
2. बिपिन चंद्रा, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ. 46
3. वीरभारत तलवार, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, संस्करण-2006, पृ. 39
4. गरिमा श्रीवास्त्व, अथ सवर्ण स्त्री प्रति-आख्यान, हिंदी समय
5. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2014, पृ. 12
6. वीरभारत तलवार, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, संस्करण-2006, पृ. 46
7. के.एम. मालती, स्त्री-विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. 57-58
8. प्रभा खेतान, हंस, अक्टूबर, 1996, पृ.सं. 75
9. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2017, पृ. 63
10. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2014, पृ. 15
11. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2017, पृ. 95
12. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2017, पृ. 23-24
13. रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की स्त्री दृष्टि, हिंदी समय
14. राहुल सांकृत्यायन, मानव समाज, लोकभारती पेपरबैक्स, संस्करण-2016, पृ. 24

शोध-पत्र

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस : स्थापना और आधुनिक भारतीय राजनीति का उद्‌भव

कृष्ण कुमार जून

शोध सार

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में राजनीतिक जागरण की प्रक्रिया तीव्र होने लगी थी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार, सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों, आधुनिक संचार साधनों के विकास तथा औपनिवेशिक नीतियों के प्रति बढ़ते असंतोष ने एक ऐसे राजनीतिक मंच की आवश्यकता उत्पन्न की, जो भारतीयों की आकांक्षाओं को संगठित रूप से अभिव्यक्त कर सके। इसी पृष्ठभूमि में 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। प्रारम्भ में कांग्रेस ने संवैधानिक और वैधानिक उपायों के माध्यम से भारतीयों की राजनीतिक भागीदारी बढ़ाने तथा प्रशासनिक सुधारों की माँग पर बल दिया। यद्यपि इसके प्रारम्भिक नेता उदारवादी विचारधारा से प्रभावित थे, तथापि कांग्रेस ने भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को एक साझा राजनीतिक मंच प्रदान किया। इसके माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ, राजनीतिक नेतृत्व का निर्माण हुआ तथा भारतीय जनता में अधिकारों और प्रतिनिधित्व के प्रति जागरूकता बढ़ी। समय के साथ कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रमुख संस्था के रूप में विकसित हुई। प्रस्तुत शोध-पत्र में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उसके प्रारम्भिक उद्देश्य तथा आधुनिक भारतीय राजनीति के उद्‌भव में उसकी भूमिका का विश्लेषण किया गया है।

बीज शब्द

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, ए. ओ. ह्यूम, उदारवादी नेतृत्व, राष्ट्रीय चेतना, आधुनिक भारतीय राजनीति, राष्ट्रीय आंदोलन।

प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाज गहरे राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा था। 1857 की क्रांति के दमन के बाद ब्रिटिश शासन ने भारत में अपनी प्रशासनिक पकड़ को और अधिक मजबूत किया, किन्तु साथ ही अंग्रेजी शिक्षा, आधुनिक प्रेस, डाक एवं रेल जैसी व्यवस्थाओं के प्रसार ने भारतीयों के बीच नई राजनीतिक चेतना का भी विकास किया।[1] शिक्षित भारतीयों का एक ऐसा वर्ग उभर रहा था, जो प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी, नागरिक अधिकारों तथा शासन में सुधार की माँग करने लगा था। इसी काल में विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों ने भारतीय समाज में नवजागरण की भावना को प्रोत्साहित किया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा प्रार्थना समाज जैसे आंदोलनों ने सामाजिक सुधारों के साथ-साथ वैचारिक जागृति को भी बल प्रदान किया। दूसरी ओर, भारतीय बुद्धिजीवियों ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक और प्रशासनिक नीतियों की आलोचना प्रारम्भ कर दी थी।[2]

राजनीतिक स्तर पर भी अनेक क्षेत्रीय संगठनों का उदय हुआ, जिनमें भारतीय संघ (Indian Association), बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन तथा मद्रास महाजन सभा प्रमुख थे। यद्यपि इन संगठनों का कार्यक्षेत्र सीमित था, तथापि इन्होंने अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की आवश्यकता को रेखांकित किया।[3] ऐसी परिस्थितियों में ए. ओ. ह्यूम की पहल तथा भारतीय नेताओं के सहयोग से 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस ने भारतीयों को पहली बार

एक अखिल भारतीय राजनीतिक मंच प्रदान किया, जहाँ विभिन्न प्रान्तों, भाषाओं और समुदायों के प्रतिनिधि राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार-विमर्श कर सकते थे।[4] प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना तथा आधुनिक भारतीय राजनीति के उद्भव में उसकी भूमिका का विश्लेषण करना है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्भव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में विकसित हो रही राजनीतिक चेतना, सामाजिक जागृति तथा औपनिवेशिक शासन के प्रति बढ़ते असंतोष की ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम था। 1885 में कांग्रेस की स्थापना किसी एक व्यक्ति अथवा घटना का परिणाम नहीं थी, बल्कि यह उन विविध राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक प्रवृत्तियों की परिणति थी, जिन्होंने भारतीय समाज में एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की आवश्यकता को जन्म दिया।[5]

1857 के विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश शासन ने भारत में अपनी प्रशासनिक व्यवस्था को अधिक संगठित और केंद्रीकृत बनाया। यद्यपि इस प्रक्रिया से शासन की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई, तथापि भारतीयों की राजनीतिक भागीदारी अत्यंत सीमित रही। उच्च प्रशासनिक पदों पर यूरोपीय अधिकारियों का वर्चस्व बना रहा तथा भारतीयों को शासन-व्यवस्था में अपेक्षित प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। फलतः शिक्षित भारतीयों के मध्य असंतोष की भावना क्रमशः विकसित होने लगी।[6]

इस राजनीतिक जागरण में अंग्रेजी शिक्षा की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार ने भारतीयों को आधुनिक राजनीतिक विचारों, संवैधानिक शासन, नागरिक अधिकारों तथा प्रतिनिधित्व की अवधारणाओं से परिचित कराया। शिक्षित भारतीयों का एक नया वर्ग उभरा, जिसने औपनिवेशिक शासन की नीतियों का समालोचनात्मक परीक्षण प्रारम्भ किया तथा प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी की माँग को संगठित रूप से व्यक्त करना शुरू किया।[7]

सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों ने भी इस नवोदित राजनीतिक चेतना को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज तथा अन्य सुधार आंदोलनों ने भारतीय समाज में आत्मविश्वास, सामाजिक सुधार और बौद्धिक जागरण की भावना को प्रोत्साहित किया। इन आंदोलनों ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक गतिविधियों का नेतृत्व नहीं किया, किन्तु उन्होंने ऐसा वैचारिक वातावरण निर्मित किया जिसमें राष्ट्रीयता और राजनीतिक संगठन की भावना विकसित हो सकी।[8]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय प्रेस का विकास भी राष्ट्रीय चेतना के प्रसार का एक प्रभावी माध्यम सिद्ध हुआ। समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं ने सरकारी नीतियों की आलोचना करने, जनमत का निर्माण करने तथा विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का कार्य किया। प्रेस के माध्यम से भारतीय समाज के शिक्षित वर्ग में राजनीतिक विषयों के प्रति अभिरुचि और जागरूकता का विस्तार हुआ।[9]

कांग्रेस के उद्भव की पृष्ठभूमि में प्रारम्भिक राजनीतिक संगठनों का योगदान भी उल्लेखनीय था। Indian Association, Poona Sarvajanik Sabha, Bombay Presidency Association तथा Madras Mahajana Sabha जैसी संस्थाओं ने राजनीतिक विचार-विमर्श की परम्परा को विकसित किया। यद्यपि इनका कार्यक्षेत्र क्षेत्रीय था, तथापि इन संगठनों ने अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक संगठन की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया।[10]

ऐसी परिस्थितियों में एलन ऑक्टेवियन ह्यूम की पहल और भारतीय नेताओं के सहयोग से दिसंबर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। इसका प्रथम अधिवेशन बम्बई में आयोजित किया गया, जिसकी अध्यक्षता व्योमेश चन्द्र बनर्जी ने की। इस अधिवेशन में देश के विभिन्न भागों से आए प्रतिनिधियों ने भाग लिया और राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संवाद की एक नई परम्परा का सूत्रपात हुआ।[11]

कांग्रेस की स्थापना के कारणों के संबंध में इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। कुछ विद्वान इसे भारतीय राष्ट्रीय चेतना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मानते हैं, जबकि कुछ इसे ह्यूम की तथाकथित 'सेफ्टी वाल्व' अवधारणा से जोड़ते हैं। तथापि अधिकांश आधुनिक इतिहासकार इस बात पर सहमत हैं कि कांग्रेस का उद्भव भारतीय समाज में विकसित हो रही राजनीतिक जागरूकता, शिक्षित मध्यमवर्ग के विस्तार तथा राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता की ऐतिहासिक परिणति था।[12]

इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्भव भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसने राजनीतिक जागरण को संगठित दिशा प्रदान की। कांग्रेस ने विभिन्न प्रान्तों,

भाषाओं और समुदायों को एक साझा राजनीतिक मंच पर संगठित किया तथा आधुनिक भारतीय राजनीति और राष्ट्रीय आंदोलन के विकास की आधारभूमि तैयार की।

कांग्रेस के प्रारम्भिक उद्देश्य एवं कार्यप्रणाली : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ऐसे समय में हुई जब भारत में राजनीतिक चेतना का विकास आरम्भिक अवस्था में था और शिक्षित भारतीय वर्ग प्रशासन में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए संगठित प्रयास कर रहा था। कांग्रेस के प्रारम्भिक नेतृत्व ने प्रत्यक्ष संघर्ष के स्थान पर संवैधानिक एवं वैधानिक उपायों के माध्यम से अपनी मांगों को प्रस्तुत करने की नीति अपनाई। इस कारण कांग्रेस के प्रारम्भिक चरण (1885 1905) को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का उदारवादी युग भी कहा जाता है।[13]

कांग्रेस के संस्थापकों और प्रारम्भिक नेताओं का उद्देश्य ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकना नहीं था, बल्कि शासन-व्यवस्था में भारतीयों की भागीदारी बढ़ाना तथा प्रशासनिक सुधारों को प्रोत्साहित करना था। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश शासन की उदारवादी परम्पराओं और न्यायप्रियता की भावना के आधार पर भारतीयों की समस्याओं का समाधान सम्भव है। फलत: कांग्रेस ने अपने प्रारम्भिक वर्षों में संवैधानिक सुधारों, प्रतिनिधित्व के विस्तार तथा प्रशासनिक उत्तरदायित्व की मांगों पर विशेष बल दिया।[14]

कांग्रेस के प्रमुख उद्देश्यों में विभिन्न प्रान्तों के शिक्षित भारतीयों को एक साझा राजनीतिक मंच पर संगठित करना, राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करना तथा भारतीय जनता की समस्याओं को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करना सम्मिलित था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस का उद्देश्य प्रशासनिक नीतियों के संबंध में जनमत का निर्माण करना तथा राजनीतिक शिक्षा के माध्यम से भारतीयों में सार्वजनिक जीवन के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना भी था।[15]

प्रारम्भिक कांग्रेस की कार्यप्रणाली पूर्णत: संवैधानिक और शांतिपूर्ण थी। कांग्रेस के नेता वार्षिक अधिवेशनों का आयोजन करते थे, जिनमें विभिन्न राजनीतिक एवं प्रशासनिक विषयों पर विचार-विमर्श किया जाता था। अधिवेशन में पारित प्रस्तावों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था तथा सुधारों की मांग की जाती थी। प्रार्थनापत्रों, ज्ञापनों, प्रतिनिधिमंडलों तथा सार्वजनिक सभाओं के माध्यम से कांग्रेस अपने विचारों को अभिव्यक्त करती थी। इस पद्धति को सामान्यत: 'प्रार्थना, निवेदन और प्रतिवेदन' (Prayer, Petition and Protest) की नीति कहा जाता है।[16]

कांग्रेस के प्रारम्भिक नेतृत्व में दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा व्योमेश चन्द्र बनर्जी जैसे प्रमुख नेता सम्मिलित थे। इन नेताओं ने राजनीतिक संवाद, तर्कपूर्ण आलोचना तथा संवैधानिक सुधारों के माध्यम से भारतीय हितों की रक्षा का प्रयास किया। उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने राष्ट्रीय राजनीति को एक संगठित दिशा प्रदान की।[17]

प्रारम्भिक कांग्रेस की प्रमुख मांगों में विधान परिषदों का विस्तार, प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों की अधिक नियुक्ति, भारतीय सिविल सेवा परीक्षा भारत में आयोजित करना, न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण तथा सरकारी व्यय में कटौती जैसी मांगें प्रमुख थीं। कांग्रेस ने भारतीयों पर बढ़ते आर्थिक बोझ, विशेषकर भूमि-राजस्व, सैन्य व्यय और धन-निकासी (Drain of Wealth) की समस्या की ओर भी सरकार का ध्यान आकर्षित किया।[18]

इन प्रयासों का भारतीय राजनीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। कांग्रेस ने विभिन्न क्षेत्रों के राजनीतिक नेताओं को एक साझा मंच प्रदान किया तथा राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक विचार-विमर्श की परम्परा को विकसित किया। इसके माध्यम से भारतीय समाज में राष्ट्रीय एकता और राजनीतिक सहभागिता की भावना को बल मिला। साथ ही, कांग्रेस ने शासन और जनता के मध्य संवाद स्थापित करने का कार्य किया, जिससे भारतीय राजनीति को संस्थागत स्वरूप प्राप्त होने लगा।[19]

यद्यपि कांग्रेस की प्रारम्भिक उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण थीं, तथापि उसकी कुछ सीमाएँ भी थीं। कांग्रेस का आधार मुख्यत: शिक्षित मध्यमवर्ग तक सीमित था और ग्रामीण जनता की भागीदारी अपेक्षाकृत कम थी। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता में अत्यधिक विश्वास तथा क्रमिक सुधारों की नीति के कारण कांग्रेस की कार्यशैली को कई राष्ट्रवादियों ने अपर्याप्त माना। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उग्र राष्ट्रवाद के उदय ने इन सीमाओं को और अधिक स्पष्ट कर दिया।[20]

इसके बावजूद कांग्रेस के प्रारम्भिक चरण के योगदान को कम करके नहीं आँका जा सकता। इसी काल में राष्ट्रीय राजनीति की आधारशिला रखी गई, राजनीतिक नेतृत्व का विकास हुआ तथा भारतीयों में संगठित राजनीतिक कार्यवाही की भावना का विस्तार हुआ। वस्तुत: कांग्रेस का उदारवादी

चरण आधुनिक भारतीय राजनीति के निर्माण की प्रारम्भिक और आवश्यक अवस्था सिद्ध हुआ।[21]

आधुनिक भारतीय राजनीति के उद्भव में कांग्रेस की भूमिका : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसने आधुनिक भारतीय राजनीति के विकास को नई दिशा प्रदान की। यद्यपि कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं का उद्देश्य तत्काल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना नहीं था, तथापि उनके प्रयासों ने भारत में आधुनिक राजनीतिक परम्पराओं, राष्ट्रीय चेतना तथा संगठित राजनीतिक गतिविधियों के विकास की आधारभूमि तैयार की। इस दृष्टि से कांग्रेस का योगदान केवल एक राजनीतिक संगठन तक सीमित नहीं था, बल्कि उसने आधुनिक भारतीय राजनीति के स्वरूप को निर्मित करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।[22]

कांग्रेस का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान भारतीयों में राजनीतिक चेतना का विकास था। कांग्रेस के अधिवेशनों, प्रस्तावों तथा सार्वजनिक गतिविधियों के माध्यम से देश के विभिन्न भागों के लोगों को राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे भारतीयों में शासन, प्रतिनिधित्व, अधिकार और उत्तरदायित्व जैसे विषयों के प्रति जागरूकता उत्पन्न हुई। राजनीतिक प्रश्न पहली बार व्यापक सार्वजनिक विमर्श का विषय बने, जिससे आधुनिक राजनीतिक संस्कृति के विकास को बल मिला।[23]

राष्ट्रीय एकता की भावना के विकास में भी कांग्रेस की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। भारत विविध भाषाओं, धर्मों, जातियों और क्षेत्रों का देश था। ऐसी परिस्थितियों में कांग्रेस ने विभिन्न प्रान्तों के नेताओं और प्रतिनिधियों को एक साझा मंच पर संगठित किया। इससे क्षेत्रीय सीमाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हितों पर विचार करने की परम्परा विकसित हुई। कांग्रेस ने भारतीयों में यह भावना उत्पन्न की कि उनकी राजनीतिक समस्याएँ समान हैं और उनका समाधान भी सामूहिक प्रयासों से ही सम्भव है।[24]

कांग्रेस ने राजनीतिक नेतृत्व के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके मंच से अनेक ऐसे नेता उभरे जिन्होंने आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व किया। प्रारम्भिक उदारवादी नेताओं से लेकर बाद के राष्ट्रवादी नेताओं तक, कांग्रेस ने नेतृत्व निर्माण की एक सशक्त परम्परा विकसित की। इसी मंच ने राजनीतिक प्रशिक्षण, संगठनात्मक अनुभव और सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भागीदारी के अवसर प्रदान किए।[25]

आधुनिक भारतीय राजनीति के विकास में कांग्रेस की एक अन्य महत्त्वपूर्ण भूमिका जनमत निर्माण की थी। कांग्रेस ने अपने अधिवेशनों, समाचार-पत्रों और सार्वजनिक सभाओं के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक और प्रशासनिक प्रश्नों पर जनचेतना का विस्तार किया। इससे राजनीतिक मुद्दों पर विचार-विमर्श की लोकतांत्रिक परम्परा विकसित हुई। धीरे-धीरे जनता शासन की नीतियों का मूल्यांकन करने लगी और राजनीतिक अधिकारों के प्रति उसकी जागरूकता बढ़ने लगी।[26]

कांग्रेस ने भारतीय राजनीति को संस्थागत स्वरूप प्रदान करने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। नियमित अधिवेशन, प्रस्तावों की प्रस्तुति, विचार-विमर्श की प्रक्रिया तथा संगठनात्मक ढाँचे ने भारत में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इससे राजनीतिक गतिविधियों को एक व्यवस्थित और संगठित रूप प्राप्त हुआ। भारतीय राजनीति में संवाद, बहस और प्रतिनिधित्व जैसी लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का विकास भी इसी पृष्ठभूमि में हुआ।[27]

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कांग्रेस की गतिविधियों का स्वरूप और अधिक व्यापक हो गया। स्वदेशी आंदोलन, राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन तथा जनसहभागिता की बढ़ती प्रवृत्ति ने कांग्रेस को एक जनोन्मुख संगठन के रूप में विकसित किया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय राजनीति का आधार केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित नहीं रहा, बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों की भागीदारी भी बढ़ने लगी।[28]

कांग्रेस ने औपनिवेशिक शासन की आर्थिक, प्रशासनिक और राजनीतिक नीतियों की आलोचना करते हुए भारतीय हितों की रक्षा का प्रयास किया। विशेष रूप से दादाभाई नौरोजी द्वारा प्रतिपादित 'धन-निकासी सिद्धान्त' ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों की वास्तविकता को उजागर किया। इससे भारतीयों में राष्ट्रीय असंतोष और राजनीतिक जागरूकता को बल मिला।[29]

यह भी उल्लेखनीय है कि कांग्रेस ने भारत में संवैधानिकता, प्रतिनिधिक शासन और लोकतांत्रिक मूल्यों की परम्परा को विकसित किया। यद्यपि प्रारम्भिक चरण में उसकी मांगें सीमित थीं, फिर भी उन्होंने राजनीतिक अधिकारों, उत्तरदायी शासन तथा जनप्रतिनिधित्व की अवधारणाओं को लोकप्रिय बनाया। आगे चलकर यही विचार स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था के आधार बने।[30]

अत: यह स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने आधुनिक भारतीय राजनीति के उद्‌भव में केन्द्रीय भूमिका निभाई। उसने राष्ट्रीय चेतना को संगठित स्वरूप प्रदान किया, राजनीतिक नेतृत्व का निर्माण किया, लोकतांत्रिक परम्पराओं को विकसित किया तथा राष्ट्रीय आंदोलन की आधारभूमि तैयार की। इस प्रकार कांग्रेस का इतिहास केवल एक राजनीतिक संगठन का इतिहास नहीं है, बल्कि आधुनिक भारतीय राजनीति के विकास की प्रक्रिया का भी इतिहास है।

निष्कर्ष : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्‌भव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित हो रही राजनीतिक चेतना, सामाजिक जागृति तथा औपनिवेशिक शासन के प्रति बढ़ते असंतोष की ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम था। 1885 में स्थापित यह संस्था प्रारम्भ में शिक्षित भारतीयों के लिए एक राजनीतिक मंच के रूप में उभरी, किन्तु समय के साथ इसने भारतीय राष्ट्रीय जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। कांग्रेस ने विभिन्न प्रान्तों, भाषाओं और समुदायों के लोगों को एक साझा राजनीतिक मंच पर संगठित कर राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ बनाया। कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं ने संवैधानिक और वैधानिक उपायों के माध्यम से प्रशासनिक सुधारों तथा भारतीयों की राजनीतिक भागीदारी की माँग की। यद्यपि उनकी कार्यप्रणाली क्रमिक सुधारों पर आधारित थी, तथापि उन्होंने भारतीय राजनीति में संगठित राजनीतिक गतिविधियों, सार्वजनिक विमर्श तथा जनमत निर्माण की परम्परा को स्थापित किया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज में राजनीतिक अधिकारों, प्रतिनिधित्व तथा उत्तरदायी शासन के प्रति जागरूकता का विस्तार हुआ।

आधुनिक भारतीय राजनीति के विकास में कांग्रेस का योगदान बहुआयामी था। इसने राष्ट्रीय चेतना को संगठित स्वरूप प्रदान किया, राजनीतिक नेतृत्व का निर्माण किया तथा लोकतांत्रिक मूल्यों और संवैधानिक प्रक्रियाओं के विकास को प्रोत्साहित किया। साथ ही, कांग्रेस ने भारतीय जनता को राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करने और राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। आगे चलकर यही प्रक्रिया भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की सुदृढ़ आधारशिला सिद्ध हुई।

अत: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को केवल एक राजनीतिक संगठन के गठन के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह आधुनिक भारतीय राजनीति के विकास की एक निर्णायक घटना थी, जिसने राष्ट्रीय चेतना, राजनीतिक संगठन और लोकतांत्रिक परम्पराओं के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वस्तुत: कांग्रेस ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को वैचारिक दिशा प्रदान करने के साथ-साथ आधुनिक भारत के राजनीतिक विकास की आधारभूमि भी तैयार की।

गेस्ट फैकल्टी

krishanjoon.hpyc@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. बिपिन चन्द्र, आधुनिक भारत (नई दिल्ली : एनसीईआरटी, 1990), पृ. 187
2. सुमित सरकार, आधुनिक भारत (1885 1947) (नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2010), पृ. 21-23
3. Bipan Chandra et al., India's Struggle for Independence (New Delhi: Penguin Books, 1989), p. 79.
4. Tara Chand, History of the Freedom Movement in India, Vol. I (New Delhi: Publications Division, 1961), p. 112.
5. चन्द्र, बिपिन, आधुनिक भारत, नई दिल्ली : एनसीईआरटी, 1990, पृ. 188
6. सरकार, सुमित, आधुनिक भारत (1885 1947), नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ. 24-26
7. Chand, Tara. History of the Freedom Movement in India, Vol. I. New Delhi: Publications Division, 1961, pp. 105–107.
8. Desai, A. R. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan, 2005, pp. 142–145.
9. Chandra, Bipan et al. India's Struggle for Independence. New Delhi: Penguin Books, 1989, pp. 81–82.
10. Majumdar, R. C. History of the Freedom Movement in India, Vol. II. Calcutta: Firma KLM, 1963, pp. 15–18.
11. Seal, Anil. The Emergence of Indian Nationalism. Cambridge: Cambridge University Press, 1968, p. 132.
12. Bandyopadhyay, Sekhar. From Plassey to Partition and After. New Delhi: Orient Black Swan, 2015, pp. 198–200.

13. Chandra, Bipan et al. India's Struggle for Independence. New Delhi: Penguin Books, 1989, p. 88.
14. Sarkar, Sumit. Modern India 1885–1947. New Delhi: Macmillan, 1983, pp. 12–14.
15. Chand, Tara. History of the Freedom Movement in India, Vol. I. New Delhi: Publications Division, 1961, p. 121.
16. Majumdar, R. C. History of the Freedom Movement in India, Vol. II. Calcutta: Firma KLM, 1963, pp. 32–34.
17. Bandyopadhyay, Sekhar. From Plassey to Partition and After. New Delhi: Orient Black Swan, 2015, pp. 210–212.
18. Naoroji, Dadabhai. Poverty and Un-British Rule in India. New Delhi: Publications Division, Reprint Edition, pp. 25–30.
19. Chandra, Bipan. Modern India. New Delhi: NCERT, 1990, pp. 210–212.
20. Desai, A. R. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan, 2005, pp. 256–258.
21. Grover, B. L. and Alka Mehta. A New Look at Modern Indian History. New Delhi: S. Chand, 2018, pp. 178–180.
22. Chandra, Bipan et al. India's Struggle for Independence. New Delhi: Penguin Books, 1989, p. 92.
23. Chandra, Bipan. Modern India. New Delhi: NCERT, 1990, pp. 214–215.
24. Bandyopadhyay, Sekhar. From Plassey to Partition and After. New Delhi: Orient Black Swan, 2015, pp. 214–216.
25. Sarkar, Sumit. Modern India 1885–1947. New Delhi: Macmillan, 1983, pp. 18–20.
26. Chand, Tara. History of the Freedom Movement in India, Vol. I. New Delhi: Publications Division, 1961, pp. 125–127.
27. Majumdar, R. C. History of the Freedom Movement in India, Vol. II. Calcutta: Firma KLM, 1963, pp. 38–40.
28. Grover, B. L. and Alka Mehta. A New Look at Modern Indian History. New Delhi: S. Chand, 2018, pp. 185–187.
29. Naoroji, Dadabhai. Poverty and Un-British Rule in India. New Delhi: Publications Division, Reprint Edition, pp. 35–38.
30. Desai, A. R. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan, 2005, pp. 262–264.

संदर्भ ग्रंथ सूची

- Bandyopadhyay, Sekhar. From Plassey to Partition and After: A History of Modern India. New Delhi: Orient Black Swan, 2015.
- Chand, Tara. History of the Freedom Movement in India. Vol. I. New Delhi: Publications Division, 1961.
- Chandra, Bipan. Modern India. New Delhi: NCERT, 1990.
- Chandra, Bipan, Mridula Mukherjee, Aditya Mukherjee, K. N. Panikkar and Sucheta Mahajan. India's Struggle for Independence. New Delhi: Penguin Books, 1989.
- Desai, A. R. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan, 2005.
- Grover, B. L. and Alka Mehta. A New Look at Modern Indian History. New Delhi: S. Chand Publishing, 2018.
- Majumdar, R. C. History of the Freedom Movement in India. Vol. II. Calcutta: Firma KLM, 1963.
- Naoroji, Dadabhai. Poverty and Un-British Rule in India. New Delhi: Publications Division, Reprint Edition.
- Sarkar, Sumit. Modern India 1885–1947. New Delhi: Macmillan India, 1983.
- Seal, Anil. The Emergence of Indian Nationalism: Competition and Collaboration in the Later Nineteenth Century. Cambridge: Cambridge University Press, 1968.
- चन्द्र, बिपिन। आधुनिक भारत। नई दिल्ली : एनसीईआरटी, 1990
- सरकार, सुमित। आधुनिक भारत (1885-1947)। नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2010

दुष्यंत कुमार की गजल : समाज और यथार्थ का सशक्त दस्तावेज

चंद्रकांता

दुष्यन्त कुमार हिन्दी साहित्य के ऐसे प्रखर रचनाकार हैं जिन्होंने अपनी गजलों के माध्यम से अपने समय और समाज में जड़ हो चुके मूल्यों को चुनौती दी। उन्होंने नई कविता की अत्यधिक प्रयोगधर्मिता के कारण कविता से दूर होते पाठकों को पुनः साहित्य से जोड़ा। उनकी भाषा सरल, सहज, तीखी तथा व्यंग्यात्मक है, जिसमें सामाजिक परिवर्तन का स्पष्ट स्वर सुनाई देता है। स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न मोहभंग, निराशा और हताशा से जूझती पीढ़ी को उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से संघर्ष, परिवर्तन और नवचेतना का संदेश दिया। उनका एकमात्र प्रकाशित गजल-संग्रह 'साये में धूप' हिन्दी गजल की दिशा और दृष्टि दोनों को बदलने वाला सिद्ध हुआ। इस संग्रह ने कथ्य और शिल्प में नवीन प्रयोगों के साथ हिन्दी गजल को व्यापक लोकप्रियता और साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रदान की। उनकी गजलों की लोकप्रियता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि आज भी अनेक राजनेता, साहित्यकार और वक्ता अपने भाषणों में उनके शेर उद्धृत करते हैं। उनकी रचनाओं में आम जनजीवन की पीड़ा, संघर्ष, निराशा, कुंठा और यथार्थ का अत्यन्त सजीव एवं ईमानदार चित्रण मिलता है, जिससे उनकी प्रत्येक गजल अपने समय का सशक्त दस्तावेज बन जाती है। उन्होंने हिन्दी और उर्दू गजल के बीच की दूरी को कम करते हुए कथ्य और शिल्प का ऐसा संतुलन स्थापित किया जिसमें सामाजिक यथार्थ तो पूर्णतः अभिव्यक्त हुआ, किन्तु कलात्मकता कहीं भी प्रभावित नहीं हुई। उनकी गजलों ने यह सिद्ध किया कि प्रतिबद्ध साहित्य भी उच्च कोटि की कलात्मकता के साथ रचा जा सकता है। उनके काव्य का केन्द्र सदैव आम आदमी रहा है, जिसके जीवन में व्याप्त गरीबी, भ्रष्टाचार, जातिवाद, भाषावाद, प्रांतवाद, भाई-भतीजावाद, सामाजिक विषमता तथा राजनीतिक छल-कपट को उन्होंने अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है।

''दुष्यंत कुमार का महत्तम स्वर मार्क्स की प्रगतिशील विचारधारा की पुष्टि करता है। 'साये में धूप' गजल संग्रह का जन्म कवि दुष्यन्त के मानवीय उत्तरदायित्व का फल है। दुष्यन्त जी की गजलों में हिन्दुस्तानी दुःख, दर्द, पीड़ा, घुटन संत्रास और आम आदमी जो आधुनिक जगकर्ता की व्यवस्थाओं का शिकार होता हुआ तिल-तिल कर मरता है। दुष्यन्त जी ने अपनी गजलों की गहराई में अपने भीतर पड़े हुये अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, जुल्म से टूटते मनुष्य को जिया है। वह शाब्दिक उद्धारक लाशों जैसे इंसानों में जीवन्तता के अर्थ भरता है।''[1]

इसी प्रकार दुष्यन्त कुमार ने स्वतंत्रता-उपरान्त भारतीय राजनीति के वास्तविक स्वरूप को भी अपनी कविताओं और गजलों में अत्यन्त प्रभावी ढंग से चित्रित किया है। उनकी अधिकांश रचनाएँ राजनीतिक पाखंड, नेताओं की अवसर-वादिता, दोहरे चरित्र, भाई-भतीजावाद, चुनावी स्वार्थ, वोट बैंक की राजनीति तथा जनता से किए जाने वाले झूठे वादों को उजागर करती हैं। उन्होंने सत्ता में बैठे नेताओं के स्वार्थपूर्ण और अनैतिक आचरण का बेबाक चित्रण करते हुए सामान्य नागरिक को उसके अधिकारों के प्रति जागरूक करने का प्रयास किया। संसद, संविधान और लोकतांत्रिक व्यवस्था की कमियों पर भी उन्होंने निर्भीकतापूर्वक प्रश्न उठाए। विशेष रूप से 1975

के आपातकाल के दौरान उनकी निर्भीक लेखनी ने तानाशाही प्रवृत्तियों और राजनीतिक दमन का खुलकर विरोध किया, जिसके कारण उनकी गजलों को व्यापक जनस्वीकृति मिली। उनके गजल-संग्रह 'साये में धूप' में राजनीतिक यथार्थ के विविध आयाम अत्यन्त सशक्त रूप में व्यक्त हुए हैं। साथ ही उन्होंने पूँजीवादी समाज व्यवस्था की वास्तविकताओं को भी स्पष्ट रूप से सामने रखा। उनकी कविताओं में शोषक वर्ग के चरित्र, सामाजिक असमानता, आर्थिक विषमता तथा पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामों का मार्मिक चित्रण मिलता है। उन्होंने यह भी दिखाया कि किस प्रकार स्वार्थ, उपभोक्तावाद और व्यक्तिगत हितों ने सामाजिक मूल्यों, लोकतांत्रिक आदर्शों तथा मानवीय संवेदनाओं को कमजोर किया है। इस प्रकार दुष्यन्त कुमार का सम्पूर्ण साहित्य सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक यथार्थ का सशक्त एवं विश्वसनीय दस्तावेज बनकर हिन्दी साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित करता है।

धर्मवीर भारती ने दुष्यन्त स्मृति विशेषांक में लिखा है- उनकी गजलें ''एक ऐसे आदमी की पीड़ा भरी आवाज थीं जो अपने इस मुल्क को, अपनी इस दुनिया को बेहद प्यार करता रहा है जो इसके बेहतर सपनों और उजले भविष्य के प्रति अखंड आस्थावान रहा है। भविष्य के सपने में जी जान से जिया है। जिसने देखा है बेबसी और लाचारी से एक एक कर सपनों को बिखरते हुए और उसका दर्द पूरी शिद्दत से महसूस करते हुए उसने चिरपरिचित बिंबों को एक नए संदर्भ में पुनर्जीवित कर दिया लेकिन न तो उसने छद्म आशावाद में पलायन किया और न कोई बेईमान किस्म की झूठी शब्दाडंबरमयी आक्रामकता में सुविधाओं और पद प्रतिष्ठा से लैस चंद आलोचक एक झूठा मुखौटा लगाकर एक बने बनाये पूर्वाग्रह के साथ जो एक नकली विद्रोही साहित्य चिंतन और उससे उद्भूत तीसरे दर्जे का घटिया काव्य जाल पाठकों पर थोप रहे थे। उस कृत्रिम काव्य संसार मे एक प्रामाणिक दर्द भरी आवाज थी इन गजलो की।"[2]

कवि ने सामाजिक अव्यवस्था और राजनीतिक निरंकुशता का प्रतिवाद करने के लिए व्यंग्य का सहारा लिया है। व्यंग्य सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने में सबसे अधिक समर्थ है। व्यंग्य दुष्यंत कुमार की रचनात्मक शक्ति है। व्यंग्यात्मकता की वजह से ही उनकी कविताएँ सामाजिक यथार्थ के गहरे स्तर तक पहुँच पाई है। अपने युग के राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक हालातों पर कवि ने व्यंग्य के द्वारा करारा प्रहार किया है। विसंगति और विद्रूपताओं के साक्षात्कार से उपजा दुष्यंत कुमार का व्यंग्य पैना, तीखा, धारदार और चुभन पैदा करने वाला है। साथ ही साथ अपने समय के यथार्थ को निर्ममता से उघाड़ने में पूरी तरह सक्षम भी है। उनके व्यंग्य की यही विशेषता उन्हें कबीर, निराला और नागार्जुन की परम्परा का कवि बनाता है। जनता की पीड़ा पर्वत के समान हो रही थी। साथ ही समस्या हल होती नहीं दिखाई दे रही थी। जनता ने सत्ता के खिलाफ आवाज उठाना शुरू कर दिया था। इस सन्दर्भ में दुष्यंत कुमार लिखते हैं कि-

''हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए,
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।
हर सड़क पर, हर गली में, हर नगर, हर गाँव में,
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए।''[3]

दुष्यंत कुमार ने अपनी कविताओं में मिथकों का प्रयोग किया है। युग जीवन की जटिलता और आधुनिकता को अभिव्यक्त करने में मिथकों की दुष्यंत कुमार की कविता में सामाजिक यथार्थ भूमिका अहम् रही है। मिथकों का सार्थक प्रयोग कर कवि ने अपने समय के कई ज्वलंत विषयों को उठाया है। मिथकों के प्रयोग से कवि युगीन राजनीतिक यथार्थ को बहुत सुन्दर तरीके से उजागर करते हैं। उनका बिम्ब और प्रतीक विधान भी सामाजिक यथार्थ को दर्शाता है। अपने सृजन के अंतिम दौर में वे गीत शैली से पृथक गजल शैली को अपनाते हैं। रूमानियत को अभिव्यक्त करनेवाली गजल शैली में वे जिस स्वाभाविकता और सहजता के साथ सामाजिक यथार्थ को अभिव्यंजित करते हैं, वह उनकी कलात्मक कुशलता का परिचायक है। गजल शैली के माध्यम से कवि ने तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक दुर्दशा का आमजन के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया है। गजल शैली को सामाजिक यथार्थ को। उजागर करने के लिए प्रयोग किया है। उनकी गजलें सामाजिक यथार्थ को वृहत्तर स्तर पर आलोचनात्मक दृष्टि से उद्घाटित करती है। कवि ने अपने शिल्प में ऐसे बिम्ब और प्रतीकों का प्रयोग किया है, जिसके माध्यम से सामाजिक यथार्थ व्यापकता से उजागर होता है। दुष्यंत कुमार जानते थे कि अब स्थिति बहुत नाजुक हो चुकी है यहां से स्थिति को संभाल पाना मुश्किल है लेकिन इन नेताओं ने स्थिति को इतना विषम बना दिया है। दुष्यंत कुमार लिखते हैं कि

''देख, दहलीज से काई नहीं जाने वाली,

ये खतरनाक सच्चाई नहीं जाने वाली।
कितना अच्छा है कि साँसों की हवा लगती है,
आग अब उनसे बुझाई नहीं जाने वाली।''[4]

दुष्यंत मानवीय चेतना सम्पन्न कवि हैं। वे नई कविता दौर के कवि होने के बावजूद अपने कतिपय समकालीन कवियों से सर्वथा भिन्न हैं। नई कविता की पहचान जैसे अनास्था, निराशा, कुंठा, वैयक्तिकता आदि उनकी कविता की पहचान नहीं है। जिस तरह उनका व्यक्तित्व आस्थावादी था, उसी तरह उनकी कविताएँ भी आस्थावादी हैं। भले ही समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक परिवेश जन-प्रतिबद्ध कवि दुष्यंत कुमार के मनोनुकूल नहीं रहा तथापि कवि ने अपने व्यक्तित्व और साहित्य में निराशा, अनास्था और वैयक्तिकता को स्थायी स्थान नहीं दिया। वे संघर्ष को जीवन का आधार मानते हैं। संघर्ष व्यक्ति के आंतरिक शक्तियों को जागृत करता है। उसमें वर्तमान विरोधी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने का साहस जगाता है। दुष्यंत कुमार की कविताओं में वर्तमान विसंगतिपूर्ण व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विद्रोह भी है और व्यवस्था में परिवर्तन की आशा भी।

दुष्यंत कुमार जनता को यह भी बता देते हैं कि सिर्फ बातों के द्वारा हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं है मेरी कोशिश है कि हर हालत में जनता की को समस्याओं से छुटकारा मिलना चाहिए। शोषणकारी सत्ता को उखाड़ कर फेंक देना चाहते हैं इसलिए भी लिखते हैं कि

''सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं,
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।
आज यह दीवार, परदों की तरह हिलने लगी,
शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए।''[5]

साथ ही जनता से कहते हैं कि डरने की आवश्यकता नहीं है। हमें आज नहीं तो कल घरों से निकलकर अपने अधिकारों के लिए लड़ना पड़ेगा ही। हमें जान लेना चाहिए कि बिना मांगे और लड़े कुछ नहीं मिलता है इसलिए हमें अपने दिलों से डरों को निकाल कर अपने अधिकारों की मांग करनी होगी। दुष्यंत कुमार लिखते हैं कि

''पुराने पड़ गए डर, फेंक दो तुम भी,
ये कचरा आज बाहर फेंक दो तुम भी।''

उनके काव्य-संसार में प्रवेश करने के पश्चात्, जैसे-जैसे उनकी कविताओं से परिचय बढ़ता गया, यह बात सामने आयी कि उन्होंने कुछ विषयों जैसे नारी जीवन की त्रासदी, बेरोजगारी आदि पर गिनती में कम कविताएँ लिखी हैं, परंतु उनका प्रभाव अक्षुण्ण है। वस्तुतः दुष्यंत कुमार की कविताओं को संख्या से नहीं आँका जा सकता। कुछेक विषयों पर कवि ने भले ही कम लिखा हो, बावजूद इसके वे यथार्थ को गहराई तक उजागर करने में समर्थ हुए हैं।

जनता के अधिकारों के लिए लड़ते हुए दुष्यंत कुमार को अपने जीवन में व्यक्तिगत रूप से सत्ता की चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा था। उन्हें कई बार जवाब-तलब किया गया लेकिन उसके बाद और मुखर रूप से होकर लिखने लगे। वे लिखते हैं कि-

''तेरा निजाम है सिल दे जुबान शायर की,
ये एहतियात जरूरी है इस बहर के लिए।''[6]

एक अन्य गजल में व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि-

''हिम्मत से सच रखो तो बुरा मानते हैं लोग,
रो रो के बात कहने की आदत नहीं रही।''[7]

दुष्यंत कुमार सत्ता की आँखों में आंखें डालकर कहते हैं कि मैं चुप या लिखना बंद नहीं कर सकता हूँ। मैं अपने जैसे करोड़ों लोगों का प्रतिनिधित्व करता हूँ। मेरी गजलों में सिर्फ मेरा दर्द या पीड़ा नहीं है। इसमें मेरे जैसे करोड़ों शोषित और पीड़ित लोगों की वेदना शामिल है। मेरी गजलें निरंकुश और शोषणकारी व्यवस्था के खिलाफ बयान और विद्रोह की पहली चिंगारी है। दुष्यंत कुमार लिखते हैं कि-

''मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूँ,
हर गजल अब सल्तनत के नाम एक बयान है।''[8]

निष्कर्ष

निष्कर्षतः, दुष्यन्त कुमार की गजलें स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक यथार्थ का सशक्त एवं प्रामाणिक दस्तावेज हैं। उन्होंने अपनी गजलों और कविताओं के माध्यम से आम जनजीवन की पीड़ा, शोषण, भ्रष्टाचार, राजनीतिक विसंगतियों, सामाजिक असमानताओं तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के ह्रास को निर्भीकता और संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया। उनकी गजलों में यथार्थ केवल तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण नहीं है, बल्कि परिवर्तन की चेतना, जनजागरण और बेहतर समाज की आकांक्षा भी निहित है। सरल, प्रभावशाली और व्यंग्यपूर्ण भाषा के माध्यम से उन्होंने साहित्य को जनसरोकारों से जोड़ा तथा हिन्दी गजल को नई दिशा और व्यापक लोकप्रियता प्रदान की। इसलिए दुष्यन्त कुमार का साहित्य आज भी अपनी प्रासंगिकता बनाए

हुए है और यथार्थवादी साहित्य की सशक्त परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : charusadhikaraavya@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. नागसेन ई श्रीमाली – हिन्दी गजल साहित्य और दुष्यन्त कुमार, सार्थ पब्लिकेशन आणंद प्र सं 2013, पृष्ठ 258
2. धर्मवीर भारती – दुष्यन्त स्मृति विशेषांक, धर्मयुग 27 अगस्त 1976
3. सं. विजय बहादुर सिंह, दुष्यंत कुमार रचनावली–2, पृ. 272
4. सं. विजय बहादुर सिंह, दुष्यंत कुमार रचनावली–2, पृ. 263
5. सं. विजय बहादुर सिंह, दुष्यंत कुमार रचनावली–2, पृ. 272
6. सं. विजय बहादुर सिंह, दुष्यंत कुमार रचनावली–2, पृ. 261
7 सं. विजय बहादुर सिंह, दुष्यंत कुमार रचनावली–2, पृ. 264
8. सं. विजय बहादुर सिंह, दुष्यंत कुमार रचनावली–2, पृ. 274

तुलनात्मक साहित्य; साहित्यिक धारा, अध्ययन-पद्धति या अनुशासन

अनिता कुमारी

शोध सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र 'तुलनात्मक अध्ययन पद्धति' के अकादमिक विमर्श का विश्लेषण करती है। 'तुलनात्मक साहित्य' जिसे 'विश्व साहित्य' भी कहा जाता है वह 'सांस्कृतिक अध्ययन' का ही पर्याय है अथवा अलग अर्थ रखती है इसका एक अकादमिक विमर्श प्रस्तुत करती है। 'तुलनात्मक अध्ययन-पद्धति' शोध की एक विशेष विश्लेषण पद्धति है या फिर ज्ञान अनुशासन की कोई अलग शाखा है, यह शोध लेख यह सपष्ट करती है।

बीज शब्द

तुलनात्मक साहित्य, तुलनात्मक अध्ययन पद्धति, सांस्कृतिक अध्ययन, विश्व साहित्य, अकादमिक विमर्श

शोध आलेख

''उच्चतर ज्ञान की प्राप्ति तुलना से ही हुई है और वह तुलना पर ही आधारित है।''

-मैक्समूलर

जर्मन भाषाविद मैक्समूलर इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ दो भाषाओं, उनके साहित्य आदि के बीच तुलना की बात होगी। साहित्य किसी भी देश या भाषा का हो, वह उस भाषा, समाज के विचारों, रीति रिवाजों और संस्कृति की झाँकी होने के साथ ही एक स्वतंत्र इतिहास और दर्शन को अपने में समेटे हुए होता है। ''तुलनात्मक साहित्यिक'' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'मैथ्यू आर्नाल्ड' ने एक फ्रांसीसी लेखक के शब्द 'Historie camparative' का अनुवाद करने के क्रम में अंग्रेजी में ''कॉम्परेटिव लिटरेचर'' शब्द के प्रयोग के रूप में किया था। भारतीय विद्वान इन्द्रनाथ मदान अपनी पुस्तक ''तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य'' में लिखते हैं-

''तुलनात्मक साहित्य अंग्रेजी के 'कॉम्परेटिव लिटरेचर' का हिंदी अनुवाद है।...विदेश में इसे 'सांस्कृतिक अध्ययन' के नाम से भी जाना जाता है। अंग्रेजी के कवि मैथ्यू आर्नल्ड ने सन 1848 में अपने एक पत्र में सबसे पहले 'कॉम्परेटिव लिटरेचर' पद का प्रयोग किया था।''[1]

'विश्व साहित्य' शब्द गेथे के "Welt literature" शब्द का अनुवाद माना जाता है जिसे शेक्सपीयर, होम दांते, सेर्वांटीस जैसे विश्वव्यापी यश के रचनाकारों की क्लासिक कृतियों के अमूल्य कोश के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता रहा है। रवींद्रनाथ टैगोर के शब्दों में विश्व साहित्य की परिभाषा इस प्रकार है-

'जिस प्रकार पृथ्वी मेरा खेत है और तुम्हारा खेत, उनका खेत नहीं है, पृथ्वी को इस तरह जानना अत्यंत ग्राम्य रूप में जानना है-उसी प्रकार साहित्य मेरी रचना, तुम्हारी रचना और उनकी रचना नहीं होती। हम लोग साधारणत: साहित्य को इसी ग्राम्य ढंग से देखा करते हैं। इसी ग्राम्य संकीर्णता से अपने को मुक्ति देकर विश्व साहित्य में विश्व मानव को देखने का लक्ष्य हम स्थिर करेंगे, प्रत्येक लेखक की रचना में उसकी समग्रता को ग्रहण करेंगे और उसी समग्रता में सारे मनुष्यों की अभिव्यक्ति-चेष्टा का संबंध देखेंगे यह संकल्प स्थिर करने का समय आ गया है' ['विश्व साहित्य' (तुलनात्मक साहित्य) 'बंग दर्शन', जनवरी 1904 (माघ 1913) में प्रकाशित हुआ था। राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् में दिए गए चार भाषणों में से एक।] (शांतिनिकेतन के प्रति साभार)[2] 'पॉल वैन टीघम तुलनात्मक साहित्य के विषय में अपना मत रखते हुए इसे दो घटकों से

जुड़ा अध्ययन मानते हैं किन्तु मौखिक परंपरा का साहित्य, ग्राम्य या लोक-साहित्य आदि का इसमें स्थान नहीं देते।'[3]

डॉ. राजश्री शुक्ला द्वारा सम्पादित एवं संकलित पुस्तक ''तुलनात्मक साहित्य : व्यावहारिक प्रयोग'' की भूमिका में राजश्री तुलनात्मक साहित्य का संबंध विशेष रूप से आलोचना एवं अनुसंधान से जोड़कर पारस्परिक तुलना केन्द्रीय प्रवृत्ति बताती हैं।

हैनरी एच. एच. रेपाक के अनुसार, ''तुलनात्मक साहित्य एक राष्ट्र के साहित्य की परिधि के परे दूसरे राष्ट्रों के साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन है तथा यह अध्ययन कला, इतिहास, समाज विज्ञान, विज्ञान, धर्मशास्त्र आदि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के आपसी संबंधों का भी अध्ययन है।''[4]

इस तरह हम कह सकते हैं कि तुलनात्मक साहित्य में तुलना का उद्देश्य साम्य-वैषम्य अथवा श्रेष्ठ-श्रेष्ठतर की स्थापन मात्र नहीं बल्कि साहित्य के व्यापक संदर्भ को स्वीकार कर उसके आधार एवं प्रभाव आदि की विवेचना होती है। जिसके माध्यम से किसी देश की भाषा संस्कृति उसका जातीय स्वरूप उस समाज की मानवतावादी विचारधारा इत्यादि सभी विषय का अध्ययन किया जाता है। जहाँ एक ही भाषा के दो रचनाकारों दो विचारधाराओं अथवा दो या अधिक प्रवृत्तियों के सूक्ष्म और व्यापक विश्लेषण के साथ कई भाषाओं का अध्ययन करने की प्रविधि, परिप्रेक्ष्य और वैश्विक दृष्टि होती है। तुलनात्मक साहित्य दो या अधिक साहित्यों के संबंध के अध्ययन तक सीमित न मानकर संपूर्ण साहित्य के अध्ययन, विश्व-साहित्य, सामान्य या सार्वलौकिक साहित्य के अध्ययन के रूप में देखा जा सकता है।

तुलनात्मक साहित्य एक ज्ञान-अनुशासन

फ्रांस के लियोन (Lyon) में सबसे पहले सन् 1897 तुलनात्मक साहित्य का पीठ स्थापित किया गया। जल्द ही फ्रांस के अन्य स्थानों पर भी पीठ स्थापित हुए। अमेरिका में सन् 1871 में कोर्नेल विश्वविद्यालय में पहला पीठ स्थापित हुआ। मिचिगन में सन् 1887 में तथा 1890 में हार्वर्ड में पीठ स्थापित हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर तुलनात्मक साहित्य का पीठ विभिन्न राज्यों में स्थापित होने लगे। विश्व के कई देशों में उच्चतर शिक्षा संस्थाओं में इस विषय का अध्यापन होने लगा। साथ ही तुलनात्मक अध्ययन को लेकर पाश्चात्य साहित्य को तीनों क्षेत्रों में वर्गीकृत किया गया-अमेरिकी स्कूल, पेरिस जर्मन स्कूल और रुसी स्कूल।

''अमेरिकी स्कूल के विद्वान तुलनात्मक साहित्य के अंतर्गत ज्ञान के विविध क्षेत्रों के बीच साहित्य के संबंधों को स्वीकार करने के साथ-साथ साहित्यलोचन को भी तुलनात्मक अध्ययन का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार करते हैं। सन् 1886 में एच. एम. पोजनेट ने अपने 'कंपेरेटिव लिटरेचर ग्रंथ में यह प्रकट होता है कि तुलना करना मनीषी और समीक्षक का परंपरागत कार्य रहा है।'[5]

रेने वेलेक, हेरी लेविन, डेविड मेलोन आदि के तुलनात्मक अध्ययन के स्वरुप के आधार पर अमेरिकी स्कूल का निर्धारण किया गया।

'पेरिस जर्मन स्कूल के अंतर्गत फ्रांसीसी विद्वान तथ्यात्मक संपर्कों और दस्तावेजों के विश्लेषण पर ज्यादा बल देते हैं।''[6]

फ्रांस के बुवलो और सैतव्यूव ज्यान, जर्मनी की गोइथे, शलेगल आदि विद्वानों ने साहित्य के आपसी संबंधों के आदान-प्रदान और रुपान्तरों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

रुसी स्कूल के विद्वानों ने तुलनात्मक अध्ययन को साहित्यिक विधाओं, आंदोलनों तथा साहित्यिक संवृति का अध्ययन स्वीकार किया है।

भारत की बात की जाये तो आधुनिक भारतीय साहित्य के निर्माताओं ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य युग में सामाजिक व साहित्यिक इतिहास से उदाहरण देते हुए साहित्य में अनुकरण का समर्थन किया। बंकिमचंद्र चटर्जी ने सृजनात्मक चेतना और अभिव्यक्ति की प्रविधि को विदेशी मानने से इनकार किया तथा माइकेल मधुसूदन दत्त अपने प्रश्न से नई समीक्षा और नई प्रविधि की माँग कर रहे थे। बंकिमचंद्र का आलेख 'शकुंतला, मिरांडा एवं डेसडेमोना' (1873) इसका उदाहरण है। वे एक नया समीक्षात्मक ढाँचा तैयार कर रहे थे जिसमें संस्कृत और अंग्रेजी जैसी दूर संबंध की भाषाओं की कृतियों का अध्ययन किया जा सके। उन्होंने शेक्सपीयर को कालिदास से बड़ा मानने में, वैदिक ऋचाओं की तुलना बायरन व शेली की प्राकृतिक कविताओं से करने में संकोच नहीं किया।

''सन् 1860 में भारत में पहली बार तुलनात्मक आलोचना के नए मॉडल का संकेत देनेवाले माइकेल ही थे।''[7]

रवींद्रनाथ टैगोर ने तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन का समर्थन अकादमिक शिक्षा विषय के रूप में किया। सन् 1907में रवींद्रनाथ ने बँगला में इसे 'विश्व साहित्य' नाम दिया।

अत: जैसा कि इंद्रनाथ चौधरी कहते हैं, ''तुलनात्मक

साहित्य एक स्वतंत्र विषय है, जिसमें विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्य की एक संपूर्ण इकाई के रुप में व्यापक पहचान की और अधिक संभावना बनती है। यह काम विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्य की मानवीय ज्ञान और विशेष रुप से कलात्मक तथा वैचारिक क्षेत्रों के साथ तुलना से ही संभव हो सकता है।''[8]

तुलनात्मक अध्ययन पद्धति

कई विद्वान तुलनात्मक साहित्य और तुलनात्मक अध्ययन पद्धति दोनों को एक ही मानते हैं बावजूद इसके The Comparative Literature Association of India (CLAI) और International Comparative Literature Association (ICLA) जैसी संस्था इस बात की पुष्टि करते हैं की तुलनात्मक साहित्य ज्ञान का एक अलग अनुशासन है और जिसकी एक निर्धारित पद्धति भी सुनिश्चित की जानी चाहिए।

तुलनात्मक साहित्य को ज्ञान अनुशासन की स्वतंत्र विद्या मानने पर तुलनात्मक साहित्य की सबसे बड़ी समस्या पद्धति विज्ञान (Methodology) की है। कोई भी शोध प्रविधि प्रयोगशाला से तैयार होकर नहीं निकलती। विद्यमान आधार-सामग्री (Data) की सहायता से प्रविधि तैयार होती है। सर्वप्रथम फ्रांसिसी तथा दूसरे यूरोपीय साहित्य की सामग्री जिस आधार से एकत्रित की गई थी उसी आधार पर तुलनात्मक साहित्य की प्रविधि तैयार हुई थी। मगर एशिया और अफ्रीका के साहित्य के संदर्भ में इस प्रविधि का प्रयोग संभव नहीं जन पड़ता।

तुलनात्मक साहित्य एवं अनुवाद की विशेषज्ञ अंग्रेज महिला सूसन बासनेट ने 'कंपेरेटिव लिटरेचर : ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन' (Comparative literature: A critical Introduction) (1993) नामक ग्रंथ में यूरोप और अमेरिका के तुलनात्मक साहित्य तथा अनुवाद पर स्थापित तथा परिवर्तित विचारों को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया है। उन्होंने सामाजिक विकास, व्यक्तिगत विकास तथा मानव के सामाजिक व वैयक्तिक जीवन पर पर्यावरण का प्रभाव जैसे तत्वों को तुलनात्मक साहित्य के बुनियाद माने हैं। वे कहतीं हैं,

'प्राचीन युग में तुलनात्मक साहित्य को साहित्य का अधिक शक्तिशाली और साधन माध्यम तथा अनुवाद से श्रेष्ठ माना गया था। किंतु अब तुलनात्मक साहित्य तथा अनुवाद के संबंध की पुनर्व्याख्या करने पर दोनों की सत्ता के वजन में अंतर आएगा। अनुवाद-अध्ययन मुख्य हिस्सेदार होगा। तुलनात्मक साहित्य का अब अधिक महत्त्व का नहीं रहेगा। अनुवाद-अध्ययन का संबंध अब पाठ्य-सामग्री और प्रसंग से है'[9]

तुलनात्मक अध्ययन पद्धति के अंतर्गत दो अलग-अलग भाषाओं में रचित साहित्य का या फिर एक ही भाषा के दो या अधिक साहित्यकारों का विभिन्न क्षेत्रों में साम्य, वैषम्य या प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन विस्तृत कलात्मकता और वैचारिकता के साथ किया जाता है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार— ''तुलनात्मक साहित्य एक प्रकार का अंत: साहित्यिक अध्ययन है जो अनेक भाषाओं को आधार मानकर चलता है। जिसका उद्देश्य होता है अनेकता में एकता का संधान।''[10]

अत: इन्द्रनाथ के शब्दों में हम कह सकते हैं, ''तुलनात्मक अध्ययन ही आज तुलनात्मक अनुसंधान का रूप ले चुका है। ...अध्ययन व अनुसंधान के बीच एक हल्की सी विभाजक रेखा है। जहां अध्ययन समाप्त होता है वहीं अनुसंधान का प्रारंभ होता है। अध्ययन पर तो साहित्य में अनगिनत पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। अनुसंधान और शोध की ओर दृष्टि बाद में गई है।''[11]

वर्तमान समय में पश्चिम से कहीं अधिक भारत में तुलनात्मक साहित्य के प्रसार-प्रचार की आवश्यकता अधिक है, जिसमें बहुभाषिकता एक बड़ा कारण है। उत्तर-आधुनिक देसीवाद के कारण भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के अंग्रेजी विभागों में भी तुलनात्मक साहित्य पद्धति के आश्रय से भारतीय साहित्य के अध्ययन-अध्यापन को महत्त्व दिया जा रहा है। इस अध्ययन से हम अन्य भाषा, समाज और देश को और अधिक सहृदय भाव से समझ सकते हैं जोकि तुलनात्मक साहित्य की बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है की आज के समय में जब पूरा विश्व एक गाँव के रूप में सीमित जो गया है ऐसे में तुलनात्मक साहित्य का पारंपरिक ढांचा पूरी तरह से अप्रसांगिक है। साथ ही तुलनात्मक साहित्य का महत्व एक अध्ययन पद्धति के रूप में निर्विवाद है। तुलनात्मक साहित्य स्वयं में कोई साहित्य नहीं है। बिना साहित्य के तुलनात्मक साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। दो भाषाओं में रचे साहित्यों को अनुवाद के माध्यम से ही तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयोग में लाया जा सकेगा।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल :anitajaiswal544@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. इन्द्रनाथ मदान, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2014, पृ.सं.-11
2. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, तुलनात्मक साहित्य, विद्या विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ.सं.-57
3. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, तुलनात्मक साहित्य, विद्या विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ.सं.-38
4. इन्द्रनाथ मदान, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2014, पृ.सं.-17
5. संपादक डॉ. भ. ह. राजूरकर, डॉ. राजमल बोरा, तुलनात्मक अध्ययन: स्वरूप और समस्याएं, पृ.-35
6. संपादक डॉ. भ. ह. राजूरकर, डॉ. राजमल बोरा, तुलनात्मक अध्ययन: स्वरुप और समस्याएं, पृ.-36
7. इन्द्रनाथ मदान, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2014, पृ.सं.-19
8. इंद्रनाथ चौधरी, तुलनात्मक साहित्य की भूमिका, पृ.-11
9. सूसन बासनेट, 'कंपेरेटिव लिटरेचर : ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन' (Comparative literature: A critical Introduction, 1993)
10. संपादक डॉ. भ. ह. राजूरकर, डॉ. राजमल बोरा, तुलनात्मक अध्ययन: स्वरूप और समस्याएं, पृ.-34
11. इंद्रनाथ चौधरी, तुलनात्मक साहित्य की भूमिका, पृ. 4-5

अनीता पाण्डेय

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श : अवधारणा, विकास और समकालीन परिप्रेक्ष्य

भूमिका

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक एवं साहित्यिक आंदोलन के रूप में स्थापित हो चुका है। यह केवल स्त्रियों की समस्याओं या अधिकारों तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा वैचारिक संरचनाओं में व्याप्त लैंगिक असमानताओं का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करता है। स्त्री विमर्श का मूल उद्देश्य स्त्री को उसकी स्वतंत्र अस्मिता, गरिमा, समानता और निर्णय लेने के अधिकार के साथ स्थापित करना है। यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा निर्मित उन मान्यताओं और रूढ़ियों का आलोचनात्मक परीक्षण करता है, जिन्होंने लंबे समय तक स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर रखा।

भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। वैदिक काल में अपेक्षाकृत सम्मानजनक स्थान प्राप्त होने के बावजूद उत्तरवैदिक काल से मध्यकाल तक सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिबंधों ने उसकी स्वतंत्रता को सीमित कर दिया। आधुनिक काल में शिक्षा के प्रसार, सामाजिक सुधार आंदोलनों, स्वतंत्रता संग्राम तथा संवैधानिक अधिकारों के परिणामस्वरूप स्त्री की स्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। इसी परिवर्तन ने साहित्य में भी नए दृष्टिकोण को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप स्त्री केवल करुणा या त्याग की प्रतीक न रहकर अपने अधिकारों, संघर्षों और स्वप्नों के साथ एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उभरकर सामने आई। रवीन्द्रनाथ टैगोर स्त्री लेखन के संदर्भ में लिखते हैं कि ''जब विधाता पुरुष का निर्माण कर रहा था, तब वह एक स्कूल मास्टर था, किन्तु जब नारी-निर्माण के लिए उद्धत हुआ तो वह सहसा एक कलाकार हो गया और उसके हाथ में केवल रंग और तुलिका थी।"[1]

विश्व स्तर पर स्त्री विमर्श का विकास विशेष रूप से पश्चिमी नारीवादी आंदोलनों से जुड़ा हुआ है। उदारवादी, रेडिकल, समाजवादी, मार्क्सवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक नारीवाद जैसी विभिन्न विचारधाराओं ने स्त्री की असमान स्थिति के कारणों की व्याख्या करते हुए समानता, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय की अवधारणाओं को विकसित किया। इन विचारधाराओं का प्रभाव भारतीय समाज और हिंदी साहित्य पर भी पड़ा, किंतु भारतीय स्त्री विमर्श ने अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप एक स्वतंत्र स्वर विकसित किया। यहाँ परिवार, परंपरा, संस्कृति और सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ-साथ स्त्री की अस्मिता, स्वायत्तता और आत्मसम्मान के प्रश्नों को भी समान महत्त्व दिया गया।

हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। प्रारंभिक साहित्य में स्त्री का चित्रण मुख्यत: आदर्श पत्नी, माता अथवा त्यागमूर्ति के रूप में मिलता है, जबकि आधुनिक और समकालीन साहित्य में वह अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं, संघर्षों और अधिकारों के साथ उपस्थित होती है। महादेवी वर्मा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल तथा क्षमा शर्मा जैसी लेखिकाओं ने स्त्री जीवन के विविध पक्षों को अत्यंत संवेदनशील और यथार्थपरक ढंग से अभिव्यक्त किया है। इनके साहित्य में स्त्री केवल शोषण की शिकार नहीं, बल्कि प्रतिरोध, आत्मनिर्णय और परिवर्तन की सक्रिय वाहक के रूप में चित्रित होती है।

समकालीन स्त्री विमर्श का दायरा आज और भी व्यापक हो गया है। इसमें दलित स्त्री, आदिवासी स्त्री, अल्पसंख्यक स्त्री, श्रमिक स्त्री, ग्रामीण स्त्री तथा डिजिटल युग की स्त्री से जुड़े प्रश्न भी शामिल हो गए हैं। लैंगिक समानता, कार्यस्थल पर सुरक्षा, घरेलू हिंसा, यौन उत्पीड़न, शिक्षा, आर्थिक स्वावलंबन, राजनीतिक भागीदारी तथा डिजिटल माध्यमों में स्त्री की उपस्थिति जैसे अनेक मुद्दे वर्तमान विमर्श का हिस्सा बन चुके हैं। इसलिए स्त्री विमर्श आज केवल साहित्यिक चर्चा न होकर सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम बन गया है।

स्त्री विमर्श : अवधारणा एवं स्वरूप

'स्त्री विमर्श' समकालीन साहित्य और सामाजिक चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक प्रतिमान है, जिसका मूल उद्देश्य स्त्री को उसकी स्वतंत्र पहचान, समान अधिकार और सम्मानजनक सामाजिक स्थान दिलाना है। यह केवल स्त्री के अधिकारों की माँग तक सीमित नहीं है, बल्कि उन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचनाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण भी करता है, जिन्होंने सदियों से स्त्री को पुरुष की अपेक्षा गौण स्थान पर रखा। इस दृष्टि से स्त्री विमर्श सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय गरिमा की स्थापना का आंदोलन है।

'विमर्श' का सामान्य अर्थ किसी विषय पर गंभीर, तार्किक और बहुआयामी विचार करना है। अत: 'स्त्री विमर्श' का आशय स्त्री के जीवन, उसके अनुभवों, संघर्षों, अधिकारों, अस्मिता, स्वतंत्रता तथा सामाजिक स्थिति पर गंभीर चिंतन से है। यह स्त्री को केवल परिवार या समाज की एक भूमिका के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार करता है, जिसकी अपनी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, संवेदनाएँ और निर्णय लेने की क्षमता है।

स्त्री विमर्श का मूल आधार यह विचार है कि स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से मानव हैं और दोनों को समान अवसर, अधिकार तथा सम्मान प्राप्त होना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री की भूमिका को सीमित करते हुए उसे मुख्यत: गृहस्थ जीवन तक बाँध दिया। शिक्षा, संपत्ति, निर्णय और सार्वजनिक जीवन में उसकी भागीदारी पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाए गए। परिणामस्वरूप स्त्री का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सका। यह बात सही है, कि चेतना एवं शक्ति में औरत कमतर नहीं हैं, किन्तु नासिरा शर्मा कहती है कि ''जब मैं पिछले पचास वर्षों को एक औरत की नजर से देखती हूँ तो मुझे लगता है कि औरतों ने एक जुझारू राह जरूर अपनायी है मगर मर्द के 'जादू' को तोड़ नहीं पायी हैं।''[2] स्त्री विमर्श इन्हीं ऐतिहासिक और सामाजिक असमानताओं की पहचान कर उनके समाधान की दिशा में विचार प्रस्तुत करता है।

आधुनिक युग में शिक्षा के प्रसार, औद्योगीकरण, लोकतांत्रिक मूल्यों, मानवाधिकारों तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने स्त्री की स्थिति में परिवर्तन की प्रक्रिया को गति दी। स्त्रियों ने अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में सक्रिय भागीदारी आरंभ की। इसी परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा और स्त्री के अनुभव, पीड़ा, संघर्ष तथा आत्मसम्मान साहित्य के केंद्र में आने लगे। साहित्य ने यह स्पष्ट किया कि स्त्री केवल त्याग, करुणा और ममता की प्रतिमूर्ति नहीं, बल्कि विचारशील, संघर्षशील और परिवर्तनकारी व्यक्तित्व भी है। अरविन्द जैन का कहना है कि ''जब लेखक कलम उठाकर अपने लिखने का धर्म निभाता है, तब वह केवल लेखक होता है। स्त्री-पुरुष के शरीर से परे धर्म, समाज और परिवार से ऊपर उठ जाता है।"[3]

भारतीय संदर्भ में स्त्री विमर्श की प्रकृति पश्चिमी नारीवाद से कुछ भिन्न दिखाई देती है। पश्चिमी नारीवाद का प्रमुख लक्ष्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लैंगिक समानता तथा पितृसत्ता का प्रतिरोध रहा है, जबकि भारतीय स्त्री विमर्श सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों, पारिवारिक संबंधों और सामूहिक उत्तरदायित्वों के साथ संतुलन स्थापित करते हुए स्त्री की अस्मिता और स्वायत्तता की स्थापना का प्रयास करता है। इसलिए भारतीय स्त्री विमर्श में अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों, संवेदनशीलता और सामाजिक समरसता को भी महत्त्व दिया जाता है।

समकालीन स्त्री विमर्श का दायरा आज अत्यंत व्यापक हो चुका है। इसमें शिक्षा, रोजगार, आर्थिक स्वावलंबन, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, घरेलू हिंसा, यौन उत्पीड़न, कार्यस्थल पर समान अवसर, प्रजनन अधिकार, डिजिटल सुरक्षा, पर्यावरण, जाति, वर्ग और समुदाय से जुड़े प्रश्न भी सम्मिलित हैं। विशेष रूप से दलित, आदिवासी, ग्रामीण तथा अल्पसंख्यक स्त्रियों के अनुभवों ने स्त्री विमर्श को अधिक समावेशी और बहुआयामी बनाया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी स्त्रियों की समस्याएँ समान नहीं हैं; उनकी सामाजिक और आर्थिक

परिस्थितियों के अनुसार उनके संघर्ष भी अलग-अलग हैं।

हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श ने साहित्य की विषयवस्तु, भाषा और दृष्टि—तीनों को प्रभावित किया है। समकालीन लेखिकाओं ने स्त्री के अंतर्मन, उसकी मनोवैज्ञानिक जटिलताओं, सामाजिक संघर्षों और आत्मनिर्णय की आकांक्षा को अत्यंत प्रामाणिक ढंग से अभिव्यक्त किया है। इन रचनाओं में स्त्री दया की पात्र नहीं, बल्कि अपने जीवन के निर्णय स्वयं लेने वाली, अन्याय का प्रतिरोध करने वाली और अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत व्यक्तित्व के रूप में सामने आती है। राधा कुमार का मत है कि-''बीसवीं सदी के आरंभ में महिलाओं के स्वायत्त संगठन बनने शुरू हो गए तथा कुछ ही दशकों में नारी सक्रियता की एक विशेष श्रेणी का निर्माण हो गया।''[4]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री विमर्श केवल साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की एक सशक्त वैचारिक प्रक्रिया है। इसका उद्देश्य स्त्री और पुरुष के बीच संघर्ष उत्पन्न करना नहीं, बल्कि समानता, न्याय, गरिमा और मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज की स्थापना करना है। स्त्री लेखन की गौरवशाली यात्रा पर प्रकाश डालते हुए कथाकार सूर्यबाला लिखती हैं कि ''साहित्य लेखन के सामने आज सबसे बड़ी चुनौती देहवादी साजिशों से सावधान रहने की है। स्त्री विमर्श सशक्तिकरण का अर्थ मात्र स्त्री शरीर और प्रेम के त्रिकोण के चमत्कारी बयानों से न होकर आज के बाहरी और आन्तरिक दबावों को झेलती स्त्री का मन उसकी सोच और उसके सम्पूर्ण अन्तरंग और बहिरंग से है।''[5]

वर्तमान समय में स्त्री विमर्श लोकतांत्रिक चेतना, मानवाधिकार और सामाजिक परिवर्तन के सबसे महत्त्वपूर्ण विमर्शों में से एक है।

भारतीय एवं पाश्चात्य नारीवाद का विकास और प्रमुख विचारधाराएँ

स्त्री विमर्श की वैचारिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य नारीवाद के विकास का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। यद्यपि स्त्री-पुरुष समानता की भावना प्राचीन काल से विभिन्न रूपों में विद्यमान रही है, परंतु संगठित रूप में नारीवाद का विकास आधुनिक युग की देन माना जाता है। यह एक ऐसी वैचारिक और सामाजिक चेतना है, जिसका उद्देश्य स्त्री को समान अधिकार, सम्मान, स्वतंत्रता तथा न्याय दिलाना है। नारीवाद ने यह स्थापित किया कि स्त्री केवल परिवार की जिम्मेदारियों तक सीमित व्यक्ति नहीं, बल्कि समाज की सक्रिय, स्वतंत्र और समान अधिकारों वाली नागरिक है। ''स्त्री विमर्श का सरोकार जीवन और साहित्य में स्त्री-मुक्ति के प्रयासों से है। स्त्री की स्थिति की पड़ताल उसके संघर्ष एवं पीड़ा की अभिव्यक्ति के साथ-साथ बदलते सामाजिक संदर्भों में उसकी भूमिका, तलाशे गए रास्तों के कारण जन्मे नए प्रश्नों के टकराने के साथ-साथ आज की स्त्री की मुक्ति का मूल प्रश्न उसके मनुष्य के रूप में अस्वीकारे जाने का प्रश्न ही है।"[6]

पाश्चात्य नारीवाद का विकास

पाश्चात्य नारीवाद का विकास मुख्यत: अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारंभ माना जाता है। औद्योगिक क्रांति, फ्रांसीसी राज्य क्रांति, लोकतांत्रिक मूल्यों तथा मानवाधिकारों की अवधारणा ने स्त्रियों में समान अधिकारों के प्रति चेतना उत्पन्न की। इस काल में यह प्रश्न उठाया गया कि यदि स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व सभी मनुष्यों के लिए हैं, तो स्त्रियाँ इन अधिकारों से वंचित क्यों रहें?

पाश्चात्य नारीवाद का प्रथम चरण स्त्रियों को शिक्षा, संपत्ति, मताधिकार तथा नागरिक अधिकार दिलाने के संघर्ष से जुड़ा था। इस दौर में यह विश्वास व्यक्त किया गया कि स्त्री और पुरुष दोनों समान बौद्धिक क्षमता रखते हैं, इसलिए दोनों को समान अवसर मिलने चाहिए। बीसवीं शताब्दी में नारीवाद का दूसरा चरण प्रारंभ हुआ, जिसमें केवल कानूनी अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक, सांस्कृतिक और मानसिक दासता के प्रश्नों को अधिक महत्त्व दिया गया। इस समय परिवार, विवाह, लैंगिक भूमिकाओं, यौन स्वतंत्रता तथा कार्यस्थल पर समानता जैसे विषय विमर्श के केंद्र में आए। तीसरे चरण में जाति, नस्ल, वर्ग, संस्कृति और लैंगिक विविधताओं से जुड़े प्रश्नों को भी नारीवाद का हिस्सा बनाया गया। इस प्रकार पाश्चात्य नारीवाद समय के साथ अधिक व्यापक और बहुआयामी होता गया।

भारतीय नारीवाद का विकास

भारतीय नारीवाद का स्वरूप पाश्चात्य नारीवाद से भिन्न है। भारत में स्त्री जागरण की शुरुआत सामाजिक सुधार आंदोलनों के माध्यम से हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में बाल-विवाह, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, कन्या शिक्षा की उपेक्षा तथा विधवाओं की दयनीय स्थिति जैसी सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध अनेक सुधारकों ने आंदोलन चलाए। इन प्रयासों ने भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, स्त्री सम्मान तथा सामाजिक समानता की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान महिलाओं की सक्रिय भागीदारी ने उनके आत्मविश्वास और सामाजिक पहचान को नई दिशा दी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान ने स्त्री और पुरुष को समान अधिकार प्रदान किए, जिससे स्त्री सशक्तिकरण की प्रक्रिया को संवैधानिक आधार मिला। शिक्षा, रोजगार, राजनीति, प्रशासन, विज्ञान, साहित्य तथा अन्य क्षेत्रों में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी ने भारतीय नारीवाद को नई ऊर्जा प्रदान की। महादेवी वर्मा ने कहा है कि ''पुरुष के समान स्त्री भी कुटुम्ब, समाज, नगर तथा राष्ट्र की विशिष्ट सदस्य है तथा उसकी प्रत्येक क्रिया का प्रतिफल सबके विकास में बाधा भी डाल सकता है और उनके मार्ग को प्रशस्त भी कर सकता है।"[7]

समकालीन भारतीय नारीवाद केवल समान अधिकारों की माँग तक सीमित नहीं है, बल्कि स्त्री की अस्मिता, आत्मनिर्णय, आर्थिक स्वावलंबन, लैंगिक न्याय, सामाजिक सुरक्षा, कार्यस्थल पर समान अवसर, घरेलू हिंसा, यौन उत्पीड़न तथा दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक महिलाओं की समस्याओं को भी अपने विमर्श का विषय बनाता है।

हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श का विकास

हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श का विकास सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा के प्रसार तथा स्त्री चेतना के क्रमिक विस्तार के साथ हुआ है। प्रारंभिक हिंदी साहित्य में स्त्री का चित्रण मुख्यत: आदर्श पत्नी, माता, त्यागमूर्ति और पतिव्रता के रूप में मिलता है। उस समय साहित्य में स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व, उसकी इच्छाओं तथा उसके अधिकारों की अपेक्षा उसके कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया। यद्यपि भक्तिकाल में मीरा जैसी कवयित्री ने सामाजिक बंधनों से ऊपर उठकर अपनी स्वतंत्र चेतना का परिचय दिया, फिर भी व्यापक स्तर पर स्त्री जीवन के यथार्थ का चित्रण सीमित रहा।

आधुनिक हिंदी साहित्य के आगमन के साथ स्त्री संबंधी दृष्टिकोण में परिवर्तन दिखाई देता है। भारतेंदु युग तथा द्विवेदी युग में स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह जैसी सामाजिक समस्याओं पर गंभीर विचार हुआ। प्रेमचंद ने पहली बार स्त्री के सामाजिक, आर्थिक और मानसिक संघर्षों को यथार्थवादी दृष्टि से चित्रित किया। उनके उपन्यासों और कहानियों में स्त्री केवल करुणा की पात्र नहीं, बल्कि संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप में उभरती है।

छायावाद काल में महादेवी वर्मा ने स्त्री की संवेदना, आत्मसम्मान और स्वतंत्र चेतना को नई अभिव्यक्ति प्रदान की। उनकी रचनाओं ने स्त्री जीवन की आंतरिक पीड़ा और आत्मबल दोनों को उजागर किया। प्रगतिवाद और नई कहानी आंदोलन के साथ स्त्री विमर्श को और अधिक यथार्थपरक स्वर मिला। इस दौर में स्त्री के पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक संघर्ष साहित्य का प्रमुख विषय बने।

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श का स्वर और अधिक व्यापक तथा प्रखर हुआ। कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा तथा क्षमा शर्मा जैसी लेखिकाओं ने स्त्री जीवन के विविध आयामों को गहरी संवेदनशीलता और वैचारिक दृष्टि से प्रस्तुत किया। इन लेखिकाओं ने स्त्री को पुरुष की आश्रित सत्ता के रूप में नहीं, बल्कि स्वतंत्र अस्मिता, आत्मनिर्णय और सामाजिक परिवर्तन की वाहक के रूप में चित्रित किया। इनके साहित्य में स्त्री अपनी पहचान स्वयं निर्मित करती है और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करती दिखाई देती है।

समकालीन स्त्री विमर्श की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

समकालीन स्त्री विमर्श का स्वरूप बहुआयामी है। आज यह केवल स्त्री-पुरुष समानता तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि सामाजिक न्याय, मानवीय गरिमा और लोकतांत्रिक मूल्यों से जुड़ा व्यापक विमर्श बन चुका है।

इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों में स्त्री अस्मिता की खोज, आर्थिक स्वावलंबन, शिक्षा, राजनीतिक भागीदारी, कार्यस्थल पर समान अवसर, घरेलू हिंसा एवं यौन उत्पीड़न का विरोध, दलित एवं आदिवासी स्त्रियों के प्रश्न, डिजिटल युग में स्त्री की सुरक्षा, तथा पर्यावरण और स्त्री संबंधी चिंतन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

समकालीन लेखिकाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि स्त्री का संघर्ष केवल पुरुष के विरुद्ध नहीं, बल्कि उन सामाजिक संरचनाओं के विरुद्ध है जो उसके विकास में बाधक है, उठाती हैं। क्षमा शर्मा के अनुसार, ''स्त्री विमर्श स्त्री की अस्मिता के साथ ही उसमें चेतना, अन्याय के विरोध, अस्तित्व बोध और अत्याचार के खिलाफ लड़ाकू वृत्ति का परिचय देता है।"[8]

इसलिए आज का स्त्री विमर्श समानता, स्वतंत्रता और न्याय पर आधारित समाज की स्थापना की दिशा में एक सशक्त वैचारिक हस्तक्षेप है।

उपसंहार

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श ने साहित्यिक

और सामाजिक दोनों स्तरों पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। इसने स्त्री को केवल करुणा या त्याग की प्रतीक मानने वाली परंपरागत दृष्टि को चुनौती देकर उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व, समान अधिकार और मानवीय गरिमा से संपन्न व्यक्ति के रूप में स्थापित किया है। भारतीय और पाश्चात्य नारीवादी चिंतन ने इस विमर्श को वैचारिक आधार प्रदान किया, जबकि हिंदी साहित्य ने इसे भारतीय सामाजिक यथार्थ के अनुरूप विकसित किया।

समकालीन लेखिकाओं ने अपने साहित्य के माध्यम से स्त्री जीवन के विविध अनुभवों, संघर्षों, आकांक्षाओं तथा आत्मसम्मान को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है। उनके साहित्य में स्त्री केवल अन्याय की शिकार नहीं, बल्कि परिवर्तन की सक्रिय वाहक है। यही कारण है कि स्त्री विमर्श आज साहित्य तक सीमित न रहकर सामाजिक परिवर्तन, लोकतांत्रिक चेतना और मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रभावी माध्यम बन चुका है।

वर्तमान समय में आवश्यकता इस बात की है कि स्त्री विमर्श को केवल अधिकारों के आंदोलन के रूप में न देखकर सामाजिक समता, संवेदनशीलता और मानवीय गरिमा के व्यापक संदर्भ में समझा जाए। तभी एक ऐसे समाज की स्थापना संभव होगी जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों समान अवसरों, समान सम्मान और समान अधिकारों के साथ अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : anitamishra42@yahoo.com

सन्दर्भ सूची

1. स्त्री विमर्श विविध पहलू, संपा. कल्पना वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण-2012, पृ. 66
2. 94 औरत की कहानी, सम्पादिका, सुधा अरोड़ा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2010, पृ. 108
3. अनुसंधान, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, अंक-8, पृ. 268
4. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2014, पृ. 12
5. नई शताब्दी का स्त्री विमर्श, साहित्यिक अवधारणा एवं यथार्थ, संपादक- वीरेन्द्र सिंह यादव, राधा पब्लिकेशन्सस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. 48
6. स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2013, पृ. 24
7. महादेवी वर्मा - श्रृंखला की कड़ियाँ, प्रकाशक - लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद (प्रथम संस्करण), प्रकाशन वर्ष 2008, पृ. 17
8. क्षमा शर्मा, स्त्रीत्व विमर्श समाज व साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

कनक गौर

डॉ. अम्बेडकर और जॉन डेवी : लोकतंत्र, ऐतिहासिक पुनर्निर्माण और सामाजिक मुक्ति का तुलनात्मक अध्ययन

सारांश

यह शोध पत्र बीसवीं शताब्दी के दो प्रमुख विचारकों—जॉन डेवी, जो एक प्रमुख अमेरिकी दार्शनिक हैं, और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, जो भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी और समाज सुधारक रहे हैं के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन का एक गहन तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह रिसर्च इस बात की गहरी जांच करता है कि कैसे कोलंबिया विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान डेवी का 'प्रयोजनवादी' दृष्टिकोण और उनकी शैक्षिक विचारधारा ने अम्बेडकर के बौद्धिक विकास पर गहरा प्रभाव डाला। इस अध्ययन का फोकस 'लोकतंत्र' की उस मूल अवधारणा पर है, जिसे डेवी ने न सिर्फ एक शासन प्रणाली के रूप में, बल्कि 'सहचर्यपूर्ण जीवन की एक विधा' और 'संयुक्त संप्रेषित अनुभव' के रूप में परिभाषित किया था। यह रिसर्च यह दिखाता है कि अम्बेडकर ने पश्चिमी दर्शन के इन प्रगतिशील विचारों को अंधानुकरण के बजाय, भारतीय समाज की जटिल और असमान जाति व्यवस्था के विखंडन के लिए सफलतापूर्वक रूपांतरित किया। अम्बेडकर ने साफ तौर पर यह स्थापित किया कि बिना 'सामाजिक लोकतंत्र' और 'सामाजिक अंत:सरण' के, भारत में कोई भी राजनीतिक लोकतंत्र वास्तविकता में नहीं आ सकता। इसके अलावा, यह शोध पत्र 'ऐतिहासिक पुनर्निर्माण' की वैज्ञानिक पद्धति पर भी प्रकाश डालता है, जिसे दोनों विचारकों ने अतीत के मिथकों को तोड़ने और वर्तमान की सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए अपनाया। अंतत:, यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अम्बेडकर का 'जाति का उन्मूलन' का दृष्टिकोण वास्तव में डेवी के अनुभववादी दर्शन का एक तेज और प्रायोगिक विस्तार है, जिसका अंतिम लक्ष्य हाशिए पर खड़े वर्गों की पूर्ण 'सामाजिक मुक्ति' और एक समानता आधारित राष्ट्र का निर्माण करना है।

बीज शब्द

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, जॉन डेवी, सामाजिक लोकतंत्र, प्रयोजनवाद (Pragmatism), ऐतिहासिक पुनर्निर्माण, सामाजिक मुक्ति, जाति का उन्मूलन, सामाजिक अंत:सरण, संयुक्त संप्रेषित अनुभव।

प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी ने मानव स्वतंत्रता, अधिकारों के लिए संघर्ष, और लोकतांत्रिक मूल्यों की गहरी पुनर्व्याख्या का एक अनूठा अनुभव दिया है। इस दौर ने कई ऐसे विचारकों को जन्म दिया, जिन्होंने न केवल समाज की गहरी संरचनाओं का दार्शनिक विश्लेषण किया, बल्कि मानव मुक्ति के लिए नए रास्ते भी खोले। इस विचारधारा में दो व्यक्तित्व बेहद महत्वपूर्ण हैं प्रसिद्ध अमेरिकी शिक्षाविद् और दार्शनिक जॉन डेवी, और भारत के विचारक, संविधान के मुख्य वास्तुकार डॉ. बी.आर. अम्बेडकर।[1] यह शोध पत्र इन दोनों के विचारों के केंद्र में 'लोकतंत्र', 'ऐतिहासिक पुनर्निर्माण', और 'सामाजिक मुक्ति' की अवधारणाओं का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। अध्ययन में यह देखा गया है कि कैसे एक पश्चिमी दार्शनिक की उपयोगितावादी दृष्टि ने एक भारतीय सुधारक को सदियों पुरानी उत्पीड़नकारी व्यवस्था का सामना करने का बौद्धिक आधार दिया।[2] डॉ. अम्बेडकर और जॉन डेवी के विचारों के संबंध समझने के लिए उनके ऐतिहासिक संदर्भ पर गौर करना बेहद जरूरी है। यह महज एक संयोग

नहीं था कि वह युवा भारतीय छात्र, जो अस्पृश्यता का अनुभव कर रहा था, ने 1913 से 1916 के बीच न्यूयॉर्क के कोलंबिया विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा ग्रहण की, जो उस समय स्वतंत्र विचारों और प्रगतिशीलता का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। वहीं, डॉ. अम्बेडकर का जॉन डेवी के 'प्रयोजनवाद' और 'उपकरणवाद' से सीधा सामना हुआ। डेवी ने पारंपरिक यूरोपीय दर्शन में मौजूद अमूर्तता और पारलौकिक विचारों को नकारते हुए यह स्थापित किया था कि ज्ञान और सत्य का मूल्यांकन उनके व्यावहारिक परिणामों और मानव समस्याओं को सुलझाने की क्षमता के आधार पर होना चाहिए। विचार सिर्फ ठोस वस्तुएं नहीं हैं, बल्कि वे साधन हैं जिनसे मनुष्य अपने चारों ओर की दुनिया को समझता है और उसे सुधारता है। इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण ने डॉ. अम्बेडकर पर गहरा असर डाला। उन्हें यह समझ में आया कि भारतीय समाज की समस्याओं को समझने के लिए सिर्फ प्राचीन ग्रंथों की आध्यात्मिक व्याख्या पर्याप्त नहीं है; एक आलोचनात्मक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की जरूरत है जो मानव अनुभव और सामाजिक वास्तविकता पर आधारित हो।[3] इन दोनों विचारकों के विचार-विमर्श का सबसे जीवंत पहलू लोकतंत्र की उनकी मौलिक समझ है। पारंपरिक राजनीति विज्ञान में लोकतंत्र को मुख्य रूप से शासन प्रणाली, मतदान प्रक्रिया, या संस्थागत ढांचे के रूप में देखा जाता था। लेकिन जॉन डेवी ने लोकतंत्र को एक नए और व्यापक सामाजिक-नैतिक ढांचे में पेश किया।[4] उनके अनुसार, लोकतंत्र केवल एक शासन का रूप नहीं है, बल्कि यह 'सहकारी जीवन की एक विधा' और एक 'संयुक्त अनुभव' है। एक सच्चा लोकतांत्रिक समाज वह है जहां विचारों, हितों और अवसरों का स्वतंत्र रूप से आदान-प्रदान होता है, बिना किसी कृत्रिम सीमाओं के। डेवी का मानना था कि कोई भी सामाजिक ढांचा जो लोगों के बीच अलगाव पैदा करता है, वह अनिवार्य रूप से अलोकतांत्रिक है क्योंकि वह मानव अनुभवों के विस्तार को रोकता है और समाज को जड़ बना देता है।[5] डॉ. अम्बेडकर ने अपने गुरु के लोकतांत्रिक सिद्धांत को न सिर्फ गहराई से समझा, बल्कि इसे भारतीय समाज की जटिल और अमानवीय जाति व्यवस्था के कठिन सच पर लागू कर उसके भारतीयकरण का रचनात्मक प्रयास भी किया। इस आलोचनात्मक पुनर्निर्माण का मुख्य उद्देश्य शोषित वर्गों से सदियों पुरानी हीनभावना को मिटाना और उन्हें यह एहसास दिलाना था कि जो शोषक व्यवस्था इंसानों ने बनाई है, उसे भी इंसानी मेहनत से ही खत्म किया जा सकता है।

जॉन डेवी : लोकतंत्र और अनुभव का दर्शन

बीसवीं शताब्दी के वैश्विक दार्शनिक विमर्श में, जॉन डेवी को एक ऐसे युगप्रवर्तक विचारक के रूप में देखा जाता है, जिन्होंने पुराने दार्शनिक सिद्धांतों को उनके अमूर्त और पारलौकिक स्तर से नीचे उतारकर, मानव जीवन के ठोस धरातल पर खड़ा किया। डेवी का दार्शनिक चिंतन, जिसे अकादमिक जगत में 'प्रयोजनवाद' (Pragmatism) या 'उपकरणवाद' (Instrumentalism) कहा जाता है, मुख्य रूप से दो बुनियादी स्तंभों पर निर्भर है 'अनुभव' (Experience) की एक बिल्कुल मौलिक वैज्ञानिक व्याख्या, और उस अनुभव के आधार पर 'लोकतंत्र' (Democracy) का एक व्यापक सामाजिक-नैतिक पुनर्निर्माण। डेवी के दर्शन को सही से समझने के लिए, यह जानना बेहद जरूरी है कि उनके लिए सत्य, ज्ञान और मूल्य वो शाश्वत या निरपेक्ष मुद्दे नहीं हैं जो किसी रहस्यमयी कोने में छिपे हैं; बल्कि ये सभी निरंतर मानव अनुभवों के माध्यम से विकसित होते हैं।[6] पारंपरिक पश्चिमी दर्शन, खासकर प्लेटो से लेकर डेसकार्टेस तक, ने हमेशा भौतिक शरीर और चेतन मन, सिद्धांत और व्यवहार, और ज्ञाता और ज्ञेय के बीच गहरी खाई बना दी थी। इस क्लासिकल परंपरा में 'अनुभव' को प्रायः ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त एक निष्क्रिय और अपूर्ण प्रक्रिया माना जाता था। लेकिन, जॉन डेवी ने इस संकीर्ण दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल दिया। उनके अनुसार, अनुभव सिर्फ दुनिया को दूर से देखने या महसूस करने की कोई निष्क्रिय अवस्था नहीं है; बल्कि ये जीव (Organism) और उसके भौतिक तथा सामाजिक परिवेश (Environment) के बीच एक बेहद सक्रिय और निरंतर अंतःक्रिया (Interaction) है। इंसान अपने माहौल पर क्रिया करता है, उसे बदलता है, और इस बदलाव के साथ-साथ खुद भी बदलता है।[7] इस लगातार चलने वाली 'करने और सहने' (Doing and undergoing) की प्रक्रिया से असली ज्ञान का जन्म होता है। डेवी का स्पष्ट मानना था कि विचार महज बौद्धिक विलास का विषय नहीं है, बल्कि ये जीवन की जटिल समस्याओं को हल करने, संघर्षों को खत्म करने और भविष्य के अनुभवों को और समृद्ध बनाने के उपकरण हैं।[8] अनुभव के इसी प्रायोगिक दृष्टिकोण ने डेवी के राजनीतिक चिंतन की नींव रखी, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण उनके

'लोकतंत्र' के सिद्धांत में साफ दिखाई देता है। डेवी ने पारंपरिक राजनीति विज्ञान की उस संकीर्ण धारणा को चुनौती दी जो लोकतंत्र को बस एक प्रशासनिक ढांचे, चुनाव प्रणाली, बहुसंख्यक शासन या सत्ता के हस्तांतरण का यांत्रिक तंत्र मानती थी। इसके विपरीत, उन्होंने लोकतंत्र को एक व्यापक, नैतिक और सामाजिक आदर्श के रूप में परिभाषित किया। अपनी प्रसिद्ध रचनाओं में, उन्होंने लोकतंत्र को इस तरह से समझाया है कि यह मूलत: 'सहचर्यपूर्ण जीवन की एक विधा' (A mode of associated living) और एक 'संयुक्त संप्रेषित अनुभव' (Conjoint communicated experience) है। डेवी के लिए लोकतंत्र एक जीवन पद्धति है जो समाज के हर व्यक्ति की अंतर्निहित क्षमताओं के अधिकतम विकास को सुनिश्चित करती है और सामाजिक संबंधों में गरिमा और समानता की स्थापना करती है।[9] डेवी के लोकतांत्रिक विमर्श का केंद्र बिंदु 'संप्रेषण' और 'साझा हितों' का सिद्धांत है। एक सच्चा और जीवंत लोकतांत्रिक समाज वो होता है जहां विभिन्न वर्गों, समूहों और व्यक्तियों के बीच विचारों, अनुभवों, अवसरों और संसाधनों का निर्बाध आदान-प्रदान हो। डेवी का कहना था कि जब कोई समाज जाति, धर्म, नस्ल या आर्थिक स्थिति के आधार पर अपने सदस्यों के बीच दूरी बना लेता है तो वो सिर्फ राजनीतिक रूप से नहीं, बल्कि बौद्धिक और नैतिक रूप से भी कमजोर हो जाता है। वो सामाजिक ढांचे जो एक समूह को दूसरे समूह के अनुभवों से काट देते हैं, वे समाज के विकास में बाधा डालते हैं। ऐसे किसी भी अलगाव और विशेषाधिकार पर आधारित व्यवस्था को अलोकतांत्रिक माना जाएगा, क्योंकि ये मानव अनुभवों के मुक्त प्रवाह में रुकावट डालती हैं।

डॉ. अम्बेडकर : सामाजिक लोकतंत्र और जाति का उन्मूलन

बीसवीं शताब्दी में भारतीय राजनीति और दर्शन में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का योगदान अनोखा और समय को बदलने वाला है। जहां एक तरफ पश्चिमी दार्शनिक जॉन डेवी एक अपेक्षाकृत समतामूलक अमेरिकी समाज में अपने लोकतांत्रिक और प्रयोगात्मक विचारों को विकसित कर रहे थे, वहीं डॉ. अम्बेडकर को एक बिल्कुल अलग और अधिक जटिल ऐतिहासिक चुनौती का सामना करना पड़ा। भारत का सामाजिक यथार्थ यूरोप या अमेरिका के आर्थिक वर्ग विभाजन से पूरी तरह अलग था; यह हजारों साल पुरानी, कठोर और संवेदनहीन जाति व्यवस्था से प्रभावित था। डॉ. अम्बेडकर ने बहुत चतुराई से समझा कि पश्चिमी राजनीतिक और लोकतांत्रिक तंत्र को किसी ऐसे समाज में यांत्रिक तरीके से लागू नहीं किया जा सकता, जिसकी विचारधारा असमानता और सामाजिक बहिष्कार पर आधारित हो। इसलिए, उनके दार्शनिक, अकादमिक और राजनीतिक संघर्ष का मुख्य उद्देश्य सिर्फ विदेशी सत्ता से राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल करना नहीं था, बल्कि भारतीय समाज के उस गहरे अंधकार और संस्थागत अन्याय को खत्म करना था, जिसे हम 'जाति' के नाम से जानते हैं।[10] डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक विचार का सबसे स्पष्ट और दूरदर्शी पहलू 'राजनीतिक लोकतंत्र' (Political Democracy) और 'सामाजिक लोकतंत्र' (Social Democracy) के बीच का सूक्ष्म अंतर है। उनका मानना था कि संविधान, कानून और संसद के जरिए स्थापित किया गया कोई राजनीतिक लोकतंत्र केवल ताश के पत्तों की तरह अस्थायी होगा, यदि इसकी नींव में एक मजबूत और जीवंत सामाजिक लोकतंत्र न हो। जब तक समाज में जन्म के आधार पर ऊंच-नीच, छुआछूत और भेदभाव का सिलसिला जारी रहेगा, तब तक 'एक व्यक्ति, एक वोट' और 'एक वोट, एक मूल्य' का सिद्धांत हाशिए पर रहने वाले वर्गों के लिए कोई असली मतलब नहीं रखता।

उन्होंने सामाजिक लोकतंत्र को केवल एक संवैधानिक प्रावधान या कानूनी ढांचे के रूप में नहीं, बल्कि एक समग्र 'जीवन पद्धति' के तौर पर देखा। उनके अनुसार, यह एक ऐसी जीवन दृष्टि है जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व (Liberty, Equality, Fraternity) के सिद्धांतों को जीवन के सबसे महत्वपूर्ण मूल्यों के रूप में स्वीकार करती है। उन्होंने स्पष्ट किया कि ये तीनों मूल्य अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि एक साथ मिलकर एक अखंड त्रिमूर्ति बनाते हैं। किसी एक को दूसरे से अलग करना सीधे तौर पर लोकतंत्र के मूल उद्देश्य और उसकी आत्मा को मारने जैसा है।[11] सामाजिक लोकतंत्र के इस विशाल दार्शनिक ढांचे में डॉ. अम्बेडकर ने 'बंधुत्व' और 'सामाजिक अंत:सरण' (Social Endosmosis) की धारणा को बहुत महत्व दिया। अपने गुरु जॉन डेवी के 'संयुक्त संप्रेषित अनुभव' (Conjoint communicated experience) के सिद्धांत को भारतीय सामाजिक यथार्थ में ढालते हुए, अम्बेडकर ने यह मजबूत तर्क रखा कि एक आदर्श और लोकतांत्रिक समाज को अपने स्वभाव से बहुत गतिशील होना चाहिए। समाज के किसी एक हिस्से में होने वाले परिवर्तन,

बौद्धिक विकास या अनुभव अन्य हिस्सों तक बिना किसी रुकावट के पहुंचने चाहिए। लेकिन, भारतीय जाति व्यवस्था इस मानवीय संचार और सामाजिक अंत:सरण की सबसे बड़ी दुश्मन है। जाति व्यवस्था लोगों को ऐसे अलग-अलग सामाजिक बक्सों में बांट देती है, जहां अंतर-जातीय भोजन, विवाह और रोजमर्रा की बातचीत पर कड़े धार्मिक और सामाजिक प्रतिबंध होते हैं। यह अलगाववादी व्यवस्था विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच साझा हितों, करुणा और सहानुभूति को पनपने नहीं देती। डॉ. अम्बेडकर का एक महत्वपूर्ण सवाल था कि जब समाज के अलग-अलग वर्गों के बीच कोई साझा अनुभव और सुख-दुख की भागीदारी नहीं होगी, तो एक सच्चे लोकतांत्रिक समाज का निर्माण कैसे संभव है?[12] डॉ. अम्बेडकर का समाजशास्त्रीय और दार्शनिक विश्लेषण उन्हें उनके सबसे महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी निष्कर्ष तक ले गया 'जाति का उन्मूलन' (Annihilation of Caste)। उन्होंने उस समय के सुधारवादियों के उस सतही सोच को पूरी तरह से नकार दिया, जो मानते थे कि जाति व्यवस्था की कुछ बुराइयों को सुधारकर इसे ठीक किया जा सकता है।

डॉ. अम्बेडकर का तर्क बेहद स्पष्ट, वैज्ञानिक और तार्किक था : जाति कोई ठोस दीवार नहीं है जिसे तोड़ा जा सके; बल्कि, यह एक 'मानसिक अवस्था' है, एक विकृत मनोवैज्ञानिक समस्या। और चूंकि ये मानसिक समस्याएं, और भेदभावपूर्ण व्यवहार, हिंदू धर्मग्रंथों खासकर श्रुतियों और स्मृतियों से सीधे तौर पर ईश्वरीय और पवित्र मान्यता प्राप्त करते हैं, इसलिए जाति का वास्तविक रूप से नाश नहीं हो सकता जब तक कि इन धार्मिक ग्रंथों की शक्ति और पवित्रता की धारणा को बौद्धिक रूप से चुनौती नहीं दी जाती। यह सिर्फ एक राजनीतिक अधिकार की मांग करने की लड़ाई नहीं थी; यह भारतीय सोच का 'ऐतिहासिक और नैतिक पुनर्निर्माण' करने का एक बड़ा अभियान था। अम्बेडकर ने डेवी के प्रयोजनवादी दर्शन के औजारों का इस्तेमाल करते हुए यह स्थापित किया कि यदि कोई धार्मिक या सामाजिक परंपरा मानव गरिमा को कुचलती है, तर्क की कसौटी पर खड़ी नहीं उतरती, और बड़ी जनसंख्या को विकास के समान मौके से वंचित रखती है, तो उसे बिना किसी पछतावे के छोड़ दिया जाना चाहिए।[13]

ऐतिहासिक पुनर्निर्माण

मानव सभ्यता के बौद्धिक और दार्शनिक विकास में श्इतिहासश को अक्सर पिछले समय की घटनाओं की एक ठंडी समयरेखा या बीते युग की महिमा के रूप में देखा जाता रहा है। लेकिन जब हम जॉन डेवी के प्रयोजनवादी दर्शन और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के सामाजिक मुक्ति के विचारों पर गहराई से विचार करते हैं, तो यह पारंपरिक और जड़ता भरी सोच पूरी तरह से उजागर हो जाती है। इन दोनों उत्कृष्ट विचारकों के लिए इतिहास महज अतीत का अध्ययन नहीं था, बल्कि यह आज की जटिल सामाजिक समस्याओं के समाधान और एक न्यायपूर्ण भविष्य के निर्माण का एक प्रभावी उपकरण था। इस प्रक्रिया को दर्शनशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्र में 'ऐतिहासिक पुनर्निर्माण' के रूप में जाना जाता है। इसमें अतीत के मिथकों और स्थापित आख्यानों को तोड़ा जाता है, ताकि शोषित और हाशिए पर खड़े लोगों को उनके वर्तमान यथार्थ की वैज्ञानिक समझ मिल सके।[14]

जॉन डेवी के प्रयोजनवादी दर्शन में ऐतिहासिक पुनर्निर्माण की ज्ञानमीमांसा स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। डेवी का कहना था कि कोई भी ऐतिहासिक ज्ञान तब तक बेकार है जब तक वह समकालीन मानव समस्याओं को समझने और सुलझाने में सहायक न हो। डॉ. अम्बेडकर ने अपने गुरु जॉन डेवी की इस ऐतिहासिक और दार्शनिक दृष्टि को पूरी तरह से आत्मसात किया, लेकिन उन्होंने इसे जिस स्तर और जटिलता के भारतीय संदर्भ में लागू किया, वह उनके बौद्धिक कौशल को दिखाता है। भारत में डॉ. अम्बेडकर की चुनौती अमेरिका के वर्ग विभाजन से कहीं अधिक गहन और आध्यात्मिक रूप से जटिल थी। शोषित वर्गों (दलितों, शूद्रों और महिलाओं) को यह समझाया गया था कि उनकी दयनीय स्थिति उनके पूर्वजन्मों के कर्मों का परिणाम है और यह व्यवस्था अपरिवर्तनीय है। इस गहरी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक दासता को तोड़ने के लिए केवल राजनीतिक भाषण या आर्थिक सुधार ही काफी नहीं थे; इसके लिए भारतीय इतिहास की नींव को हिला देने वाले एक सच्चे और कट्टर 'ऐतिहासिक पुनर्निर्माण' की आवश्यकता थी।[15]

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी बहुप्रभावी शोध रचनाओं जैसे 'शूद्र कौन थे?', 'अछूत : वे कौन थे और अछूत कैसे बने', और 'प्राचीन भारत में क्रांति और प्रतिक्रांति' में एक समाज-शास्त्री, मानवविज्ञानी और इतिहासकार की तरह भारतीय अतीत का गहरा विश्लेषण किया है। उन्होंने ऐतिहासिक, भाषाई, और पुरातात्विक सबूतों के आधार पर यह सिद्ध किया कि वर्ण

व्यवस्था और अस्पृश्यता का उदय कोई दिव्य चमत्कार या स्वाभाविक घटना नहीं है। वास्तव में, उन्होंने यह स्थापित किया कि ये व्यवस्थाएं कुछ विशेष हितों मुख्यत: ब्राह्मणवादी ताकतों द्वारा सत्ता, संपत्ति और ज्ञान पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए तैयार की गई एक कठोर ऐतिहासिक और राजनीतिक साजिश का परिणाम हैं। डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म के पतन और ब्राह्मणवाद के पुनरुत्थान के ऐतिहासिक संघर्ष को उजागर करते हुए यह स्पष्ट किया कि भारत का इतिहास आधारित है समानता (बौद्ध क्रांति) और असमानता (ब्राह्मणवादी प्रतिक्रांति) के बीच के वैचारिक टकराव पर।[16] डॉ. अम्बेडकर द्वारा किया गया यह ऐतिहासिक पुनर्निर्माण एक गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। जहाँ जॉन डेवी ने ऐतिहासिक पुनर्निर्माण को एक दार्शनिक पद्धति के रूप में पेश किया, वहीं डॉ. अम्बेडकर ने उस पद्धति को एक प्रभावशाली वैचारिक हथियार में बदल दिया, जिसने सहस्राब्दियों से सोए हुए एक बड़े शोषित समाज की चेतना को जगाया और भारत में सच्चे सामाजिक लोकतंत्र की नींव रखी।[17]

सामाजिक मुक्ति

मानव समाज के विचारात्मक विकास का पूरा इतिहास अगर किसी एक लक्ष्य की दिशा में बढ़ा है, तो वो 'मुक्ति' का संघर्ष है। दार्शनिकों, समाज सुधारकों और राजनीतिक विचारकों के लिए 'सामाजिक मुक्ति' का मतलब सिर्फ राजनीतिक आजादी या शोषण का अंत नहीं है, बल्कि यह इंसान की उन छिपी हुई क्षमताओं के विकास का मौका है, जो सदियों से चल रही परंपराओं, असमानता और संरचनात्मक बाधाओं द्वारा दबाई गई हैं। जॉन डेवी और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के विचारों में सामाजिक मुक्ति का मतलब सिर्फ बाहरी बेड़ियों को तोड़ना नहीं है। यह एक ऐसी 'मनोवैज्ञानिक और संस्थागत स्थिति' बनाना है, जहां हर व्यक्ति बिना डर और बिना किसी कृत्रिम रोक-टोक के अपने जीवन का चुनाव कर सके और समाज के निर्माण में अपनी गरिमापूर्ण भूमिका निभा सके।[18] जॉन डेवी के नजरिए में सामाजिक मुक्ति का आधार 'शिक्षा और अनुभव का लोकतंत्रीकरण' है। डेवी का मानना था कि इंसान तब तक वास्तव में आजाद नहीं हो सकता, जब तक वह उन अंधविश्वासों और परंपराओं से मुक्त न हो जाएं, जो उसकी स्वतंत्र सोच और वैज्ञानिक दृष्टिकोण में रुकावट डालती हैं। उनके लिए मुक्ति का मतलब था 'अज्ञानता और रूढ़िवादिता के बंधनों से आजादी'। उन्होंने कहा कि जब कोई समाज अपने सदस्यों को एक-दूसरे के अनुभवों से सीखने का मौका देता है, तो यह दरअसल मुक्ति की प्रक्रिया को आगे बढ़ा रहा होता है। डेवी ने सामाजिक मुक्ति को एक 'सतत विकास प्रक्रिया' समझा। उनके लिए एक मुक्त समाज वो है जो खुद को निरंतर सुधारने (Self-Correction) की क्षमता रखता है। अगर समाज में संवाद के रास्ते बंद हो जाएं, तो वो मुक्ति की दिशा से भटक जाता है। इसलिए, डेवी के अनुसार सामाजिक मुक्ति का रास्ता 'सार्वजनिक शिक्षा' (Public Education) और 'सक्रिय नागरिकता' से होकर गुजरता है।[19] डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का दृष्टिकोण सामाजिक मुक्ति के मामले में और भी व्यापक, ज्यादा गंभीर और व्यावहारिक था। उनके लिए मुक्ति का मतलब सिर्फ 'अंधकार से प्रकाश की ओर' नहीं था, बल्कि यह 'अपमानजनक अतीत से गर्वित वर्तमान की ओर' जाना था। अम्बेडकर ने पहचान लिया था कि भारतीय समाज में सामाजिक मुक्ति का सबसे बड़ा रोड़ा 'जाति' नामक वह ढांचा है, जो जन्म से ही व्यक्ति की नियति और सीमाएं निर्धारित कर देता है। अम्बेडकर ने सामाजिक मुक्ति को तीन महत्वपूर्ण स्तरों पर देखा : पहला, मनोवैज्ञानिक मुक्ति, जिसमें दलित और शोषित वर्ग इस झूठी धारणा से बाहर निकलें कि उनकी स्थिति 'ईश्वरीय विधान' है; दूसरा, कानूनी और संवैधानिक मुक्ति, जिसमें उन्हें बराबरी के अधिकार और कानून का संरक्षण मिलेय और तीसरा, धार्मिक और नैतिक मुक्ति, जिसके लिए उन्होंने बौद्ध धम्म को अपनाया, क्योंकि वह नैतिकता, समानता और तर्क पर आधारित है।[20] दोनों विचारकों के बीच जो सहमति है, वो इस बात पर है कि मुक्ति को वे 'व्यक्तिगत' तरीके से नहीं, बल्कि 'सामूहिक' प्रक्रिया के रूप में देखते थे। डेवी ने इस बात पर जोर दिया कि समाज को आजाद कराने के लिए हमें 'संस्थानों' को लोकतांत्रिक बनाना होगा। वहीं, अम्बेडकर ने यह कहा कि हमें उन 'मानसिकताओं' को समाप्त करना होगा जो इन संस्थानों के पीछे मौजूद हैं। मुक्ति का मतलब ये नहीं है कि हम किसी निश्चित स्थान पर पहुँचकर रुक जाएं, बल्कि इसका मतलब है उस व्यवस्था को लगातार चुनौती देना जो मानव गरिमा को घटित करती है।

निष्कर्ष

बीसवीं शताब्दी के विचार विमर्श में जॉन डेवी और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का तुलनात्मक अध्ययन सिर्फ दो विचारकों के बीच की अकादमिक बातचीत की कहानी नहीं है, बल्कि यह एक बड़ी दार्शनिक परंपरा के तहत एक बहुत अलग और

जटिल सामाजिक वास्तविकता के बदलाव की ऐतिहासिक कहानी है। इस विस्तृत शोध पत्र का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि डॉ. अम्बेडकर ने न्यूयॉर्क के कोलंबिया विश्वविद्यालय में जॉन डेवी से जो 'प्रयोजनवादी' और 'लोकतांत्रिक' दृष्टिकोन सीखा, उसे न केवल भारतीय संदर्भ में प्रभावी ढंग से लागू किया, बल्कि उसे एक नए विचारात्मक स्तर तक पहुँचाया। डेवी का दर्शन एक आधुनिक, औद्योगिक और अपेक्षाकृत खुला अमेरिकी समाज था, जबकि अम्बेडकर का संघर्ष एक हजारों साल पुरानी, अत्यंत कठोर और धार्मिक रूप से मान्यता प्राप्त 'जाति व्यवस्था' के अंधकार से था। इसलिए, अम्बेडकर ने डेवी के उपकरणों जैसे अनुभव, स्वतंत्र बातचीत और ऐतिहासिक आलोचना को अपनाया, लेकिन उन्हें एक ऐसे धारदार अस्त्र में बदल दिया जो भारतीय हिंदू सामाजिक व्यवस्था की गहरी जड़ों और वर्चस्व को काट सके। लोकतंत्र के संदर्भ में दोनों विचारकों के बीच की वैचारिक सहमति और उसका भारतीयकरण इस शोध का सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष है। डेवी का यह सिद्धांत कि लोकतंत्र सिर्फ एक यांत्रिक सरकारी ढांचा नहीं, बल्कि 'सहचार्यपूर्ण जीवन की एक विधा' है, डॉ. अम्बेडकर के संपूर्ण सामाजिक दर्शन का मूल आधार बना। इस अध्ययन से साफ होता है कि अम्बेडकर ने डेवी के 'संयुक्त संप्रेषित अनुभव' के सिद्धांत को 'सामाजिक अंत:सरण' की भारतीय अवधारणा में विस्तार किया। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से साबित किया कि भारतीय समाज तब तक एक सच्चा राष्ट्र या लोकतंत्र नहीं बन सकता जब तक विभिन्न जातियों, वर्गों और समूहों के बीच संवाद और सामाजिक संपर्क न हो। यह कहा जा सकता है कि डॉ. अम्बेडकर का 'जाति का उन्मूलन' का आह्वान सिर्फ एक सुधारवादी एजेंडा नहीं था, बल्कि यह भारत में एक असली 'सामाजिक लोकतंत्र' की स्थापना के लिए एक अनिवार्य दार्शनिक और व्यावहारिक शर्त थी। बिना सामाजिक और आर्थिक समानता के, केवल राजनीतिक समानता को उन्होंने एक खतरनाक विरोधाभास माना, जो अंतत: लोकतांत्रिक ढांचे को ही नुकसान पहुँचा सकता है। इस तरह, ये साफ है कि अम्बेडकर केवल डेवी के एक शिष्य या अनुकरणकर्ता नहीं थे; वे एक ऐसे दूरदर्शी थे जिन्होंने अपने गुरु के विचारों की सीमाओं को पार करते हुए एक शोषित समाज के लिए 'मुक्ति का एक नया दृष्टिकोण' तैयार किया, जो दुनिया के सबसे जटिल सामाजिक उत्पीड़न का शिकार था। आखिरकार, जॉन डेवी और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का ये दार्शनिक और तुलनात्मक अध्ययन आज के वैश्विक परिदृश्य में एक गंभीर चेतावनी और एक मार्गदर्शक प्रकाश दोनों ही है।

शोधार्थी
बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सन्दर्भ सूची

1. मुखर्जी, ए. पी. (2009). अम्बेडकर, डेवी और लोकतंत्र का अर्थ. नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन, पृष्ठ 45–48.
2. कैंपबेल, जे. (1995). अंडरस्टैंडिंग जॉन डेवी : नेचर एंड कोऑपरेटिव इंटेलिजेंस. शिकागो : ओपन कोर्ट पब्लिशिंग, पृष्ठ 112–115.
3. डेवी, जे. (1916). लोकतंत्र और शिक्षा : शिक्षा के दर्शन का एक परिचय. (अनुवादक : शर्मा, पी.). वाराणसी : सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, पृष्ठ 87–89.
4. अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश. (अनुवादक : सिंह, आर.). लखनऊ : बहुजन साहित्य संस्थान, पृष्ठ 41–43.
5. अम्बेडकर, बी. आर. (1948). अछूत : वे कौन थे और अछूत कैसे बने. नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन, पृष्ठ 12–14.
6. कैंपबेल, जे. (1995). अंडरस्टैंडिंग जॉन डेवी : नेचर एंड कोऑपरेटिव इंटेलिजेंस. शिकागो : ओपन कोर्ट पब्लिशिंग, पृष्ठ 42–45.
7. डेवी, जे. (1925). एक्सपीरियंस एंड नेचर. लंदन : जॉर्ज एलन एंड अनविन लिमिटेड, पृष्ठ 18–22.
8. डेवी, जे. (1916). लोकतंत्र और शिक्षा : शिक्षा के दर्शन का एक परिचय. (अनुवादक : शर्मा, पी.). वाराणसी : सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, पृष्ठ 87–89.
9. बर्नस्टीन, आर. जे. (1966). जॉन डेवी. न्यूयॉर्क : वाशिंगटन स्क्वायर प्रेस, पृष्ठ 54–58.
10. रॉड्रिक्स, वी. (सं.). (2002). द एसेंशियल राइटिंग्स ऑफ बी. आर. अम्बेडकर. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 261–264.
11. अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश. (अनुवादक : सिंह, आर.). लखनऊ : बहुजन साहित्य

संस्थान, पृष्ठ 54–58.
12. गुरु, जी. (2011). अम्बेडकर का सामाजिक लोकतंत्र का विचार. इकोनामिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 46(10), पृष्ठ 48–52.
13. थोरट, एस., और कुमार, एन. (सं.). (2008). बी. आर. अम्बेडकर : पर्सपेक्टिव्स ऑन सोशल एक्सक्लूजन एंड इन्क्लूसिव पॉलिसीज. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 114–118.
14. डेवी, जे. (1916). लोकतंत्र और शिक्षा : शिक्षा के दर्शन का एक परिचय. (अनुवादक : शर्मा, पी.). वाराणसी : सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, पृष्ठ 112–115.
15. अम्बेडकर, बी. आर. (1948). अछूत : वे कौन थे और अछूत कैसे बने. नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन, पृष्ठ 24–28.
16. मुखर्जी, ए. पी. (2009). अम्बेडकर, डेवी और लोकतंत्र का अर्थ. नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन, पृष्ठ 76–80.
17. वही, पृष्ठ 85–88.
18. डेवी, जे. (1938). एक्सपीरियंस एंड एजुकेशन. न्यूयॉर्क : मैकमिलन कंपनी, पृष्ठ 45–49.
19. अम्बेडकर, बी. आर. (1957). द बुद्धा एंड हिज धम्मा. बंबई : पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी, पृष्ठ 210–215.
20. जेलियट, ई. (2013). अम्बेडकर की दुनिया : बाबासाहेब और दलित आंदोलन का निर्माण. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, पृष्ठ 130–135.

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश (आर. सिंह, अनु.). लखनऊ : बहुजन साहित्य संस्थान.
2. अम्बेडकर, बी. आर. (1948). अछूत : वे कौन थे और अछूत कैसे बने. नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन.
3. ओमवेट, जी. (2004). अम्बेडकर : टुवर्ड्स एन एनलाइटेंड इंडिया. नई दिल्ली : पेंग्विन बुक्स.
4. कैंपबेल, जे. (1995). अंडरस्टैंडिंग जॉन डेवी : नेचर एंड कोऑपरेटिव इंटेलिजेंस. शिकागो : ओपन कोर्ट पब्लिशिंग.
5. गुरु, जी. (2011). अम्बेडकर का सामाजिक लोकतंत्र का विचार. इकोनामिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 46(10), 48–56.
6. जेलियट, ई. (2013). अम्बेडकर की दुनिया : बाबासाहेब और दलित आंदोलन का निर्माण. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स.
7. टारटकोव, जी. एम. (सं.). (2003). दलित आर्ट एंड विजुअल इमेजरी. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
8. थोरट, एस., एवं कुमार, एन. (सं.). (2008). बी. आर. अम्बेडकर : पर्सपेक्टिव्स ऑन सोशल एक्सक्लूजन एंड इन्क्लूसिव पॉलिसीज. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
9. डेवी, जे. (1916). लोकतंत्र और शिक्षा : शिक्षा के दर्शन का एक परिचय (पी. शर्मा, अनु.). वाराणसी : सर्वोदय साहित्य प्रकाशन.
10. डेवी, जे. (1920). रिकंस्ट्रक्शन इन फिलॉसफी. न्यूयॉर्क : हेनरी होल्ट एंड कंपनी.
11. डेवी, जे. (1939). क्रिएटिव डेमोक्रेसी द टास्क बिफोर अस. जॉन डेवी : द लेटर वर्क्स, 1925–1953 (खंड 14) (पृष्ठ 224–230). कारबोंडेल : सदर्न इलिनोइस यूनिवर्सिटी प्रेस.
12. बर्नस्टीन, आर. जे. (1966). जॉन डेवी. न्यूयॉर्क : वाशिंगटन स्क्वायर प्रेस.
13. मुखर्जी, ए. पी. (2009). अम्बेडकर, डेवी और लोकतंत्र का अर्थ. नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन.
14. रॉड्रिक्स, वी. (सं.). (2002). द एसेंशियल राइटिंग्स ऑफ बी. आर. अम्बेडकर. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

रूपल

उत्तर-आधुनिकतावाद और समकालीन राजनीतिक सिद्धांत : विमर्श एवं विश्लेषण

सारांश

उत्तर-आधुनिकता ने 20वीं सदी के मध्य से पारंपरिक दार्शनिक और राजनीतिक सोच को हिलाकर रख दिया। इसने प्रबोधन युग के सार्वभौमिक सिद्धांतों, तर्कशक्ति और मानवता की प्रगति के बड़े कहानियों पर गहरा संदेह जताया। समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में, उत्तर-आधुनिकता ने संप्रभुता, राज्य, न्याय और स्वतंत्रता जैसी स्थापित श्रेणियों को तोड़ा है। यह शोध पत्र उत्तर-आधुनिकता और समकालीन राजनीतिक सिद्धांत के बीच के संबंधों का एक व्यवस्थित और आलोचनात्मक विश्लेषण पेश करता है। इसमें मिशेल फूको के 'ज्ञान-सत्ता' संबंध, जाक देरिदा की 'विखंडन' पद्धति, और ज्यां-फ्रांस्वा ल्योतार के 'महाआख्यानों पर अविश्वास' की अवधारणा के राजनीतिक निहितार्थों का अध्ययन किया गया है। यह पत्र समकालीन राजनीति में पहचान की राजनीति और बहुलवाद पर इसके प्रभावों को दर्शाते हुए इसके सीमाओं और प्रासंगिकता का मूल्यांकन करता है।

बीज शब्द

उत्तर-आधुनिकतावाद, महाआख्यान, विखंडन, ज्ञान-सत्ता, पहचान की राजनीति।

प्रस्तावना

20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में समकालीन राजनीतिक सिद्धांत ने एक अद्वितीय वैचारिक उथल-पुथल और दार्शनिक बदलाव का सामना किया। प्रबोधनकालीन मान्यताओं और आधुनिकता की मजबूत नींव पर एक ऐसा बौद्धिक हमला हुआ, जिसने हमारे राजनीतिक, सामाजिक और ज्ञान की धारणा को पूरी तरह बदल दिया।[1] इसे अकादमिक जगत में 'उत्तर-आधुनिकता' के नाम से जाना जाता है। आधुनिक राजनीतिक दर्शन जो प्लेटो और अरस्तू की परंपरा से शुरू होकर थॉमस हॉब्स, जॉन लॉक, ज्यां-जाक रूसो और अंत में कार्ल मार्क्स तक पहुंचा। मुख्य रूप से कुछ निश्चित दार्शनिक स्थापनाओं पर आधारित था। इनमें मानवीय तर्कशीलता की प्राथमिकता, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के माध्यम से निरंतर सामाजिक प्रगति का विश्वास और एक सार्वभौमिक मानवीय स्वभाव का अस्तित्व शामिल था। आधुनिकता में यह अवधारणा थी कि मानव तर्क और बुद्धिमत्ता के जरिए एक ऐसा वस्तुनिष्ठ और निष्पक्ष 'सत्य' खोजा जा सकता है, जो पूरी मानवता के लिए एक आदर्श और न्यायपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था की नींव रखेगा।[2] लेकिन, 20वीं सदी के पहले भाग में दो विनाशकारी विश्व युद्ध, होलोकॉस्ट के क्रूरतम अनुभव, परमाणु हथियारों का खतरा और तानाशाही राज्यों का उदय इस विश्वास को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया।

विज्ञान जो पहले मुक्ति का प्रतीक माना जाता था, अब विनाश और दमन के औजार बन गए। इसी निराशा और बौद्धिक शून्यता से उत्तर-आधुनिक राजनीतिक विमर्श का उदय हुआ। उत्तर-आधुनिकता वास्तव में एक संगठित या एकल राजनीतिक विचारधारा नहीं है, बल्कि यह पारंपरिक दार्शनिक और राजनीतिक मान्यताओं के प्रति गहरा संशय और विखंडनकारी प्रवृत्ति है। इसे सबसे सही तरीके से ''महाआख्यानों के प्रति अविश्वास'' कहा जा सकता है। राजनीतिक सिद्धांत में, उदारवाद और मार्क्सवाद दोनों ने अपने-अपने सिद्धांतों के माध्यम से समाज और इतिहास के महाआख्यानों का निर्माण किया है। उत्तर-आधुनिक विचारकों

ने तर्क किया है कि ये महाआख्यान भ्रामक हैं और उनमें गहरी दमनकारी प्रवृत्तियाँ हैं। इन बड़े सिद्धांतों ने स्थानीय संस्कृतियों, विचारों और हाशिए के समुदायों की आवाजों को कुचल दिया है जो उनके ढांचे में फिट नहीं बैठते। उत्तर-आधुनिकता का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव राज्य, सत्ता और न्याय की पारंपरिक धारणाओं का विखंडन है। इस विचारधारा ने राजनीति को सिर्फ बड़े संस्थानों जैसे संसद और न्यायालयों से हटाकर 'भाषा', 'विमर्श' और दैनिक जीवन की सूक्ष्म-राजनीति की ओर मोड़ दिया। इसने यह विचार प्रस्तुत किया कि सत्ता केवल राज्य के शीर्ष पर नहीं है, बल्कि समाज के ढांचे में हर जगह फैली हुई है। इसे जाल की तरह समझा जा सकता है, जो हर संस्था जैसे अस्पताल, स्कूल, जेल और परिवार में ज्ञान के उत्पादन से जुड़ी है। समाज जो 'वस्तुनिष्ठ सत्य' मानता है, वह वास्तव में शक्तिशाली वर्गों और सत्ता-संबंधों द्वारा निर्मित एक विमर्श है। उत्तर-आधुनिकता ने समकालीन राजनीतिक सिद्धांत को विकेंद्रित और बहुलवादी बना दिया है।[3] इसने पहचान की राजनीति, नारीवाद और उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन को नया वैचारिक आधार दिया है। हाँ, इसने पारंपरिक राजनीतिक विज्ञान को उसके संकीर्ण दृष्टिकोण से मुक्त किया है, लेकिन इसकी अत्यधिक सापेक्षवादी प्रवृत्तियों के कारण गंभीर दार्शनिक और नैतिक आपत्तियाँ भी उठी हैं। यह शोध पत्र समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में उत्तर-आधुनिकता के प्रभावों, उसकी सत्तामीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय आधारों, और राजनीति को समझने के नए पदृष्टिकोण का एक व्यवस्थित और आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

उत्तर-आधुनिकतावाद की सत्ता और ज्ञान का अध्ययन

किसी भी राजनीतिक सिद्धांत या दर्शन की नींव उसके सत्ताई (वास्तविकता और अस्तित्व का स्वरूप क्या है) और ज्ञानमीमांसी (हम उस वास्तविकता को कैसे जान सकते हैं) आधारों पर होती है। पारंपरिक और आधुनिक राजनीतिक विचार इसी धारणा पर आधारित थे कि भौतिक और सामाजिक संसार में एक वस्तुनिष्ठ (Objective) और स्थिर वास्तविकता है, जिसे मानव बुद्धि, विज्ञान और तार्किकता के जरिए सत्य के रूप में जाना जा सकता है।[4] उत्तर-आधुनिकतावाद ने इन दोनों बुनियादी धारणाओं पर गंभीर प्रहार किया है। इसने राजनीतिक सिद्धांत को एक नए आयाम पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ सत्य, वास्तविकता, ज्ञान और सत्ता की पुरानी परिभाषाएं पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद की सत्ता और ज्ञान की समझ को 'अधिष्ठानवाद-विरोध' (Anti-foundationalism) के सिद्धांत के जरिए सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।[5] आधुनिकतावाद की सत्ता इस मान्यता पर थी कि वास्तविकता मानव मन या भाषा से स्वतंत्र एक बाहरी सत्य के रूप में मौजूद है। राजनीति विज्ञान में, इसका मतलब था कि 'मानव स्वभाव', 'राज्य', 'अधिकार' या 'स्वतंत्रता' जैसी अवधारणाओं का एक निश्चित, प्राकृतिक और अपरिवर्तनीय सार (Essence) होता है। उत्तर-आधुनिकतावाद इस सारवाद (Essentialism) और यथार्थवाद को पूरी तरह नकार देता है। उत्तर-आधुनिक सत्ता यह दावा करती है कि कोई 'स्वतंत्र वास्तविकता' या 'अंतिम आधार' नहीं है जिस पर दुनिया को समझा जा सके।[6] इसके अनुसार, जिसे हम प्राकृतिक या सार्वभौमिक वास्तविकता मानते हैं, वह वास्तव में भाषा, संस्कृति और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं द्वारा गढ़ी गई एक सामाजिक रचना है।[7] यह विचार फ्रेडरिक नीत्शे के उस प्रसिद्ध दर्शन से प्रभावित है, जो कहता है कि दुनिया में बस व्याख्याएं होती हैं, कोई ठोस तथ्य नहीं। राजनीतिक सिद्धांत के लिए इसके परिणाम बहुत क्रांतिकारी हैं। जब हम मान लेते हैं कि मानव स्वभाव जैसी कोई स्थिर चीज नहीं है, तो यह भी समझ आता है कि आधुनिक राजनीतिक विचारकों (जैसे थॉमस हॉब्स का स्वार्थी मानव या जॉन लॉक का तार्किक मानव) ने अपने-अपने 'मानव स्वभाव' को खोजा नहीं था, बल्कि अपने राजनीतिक विचारों को सही ठहराने के लिए उनका 'निर्माण' किया था।

उत्तर-आधुनिक सत्ता के अनुसार, 'होना' स्थिर नहीं है, बल्कि यह एक निरंतर 'बनने' (Becoming) की प्रक्रिया है जो भाषाई और सांस्कृतिक ढांचों से प्रायोजित होती है। यदि सत्ता के स्तर पर कोई ठोस वास्तविकता नहीं है, तो ज्ञान के स्तर पर उस वास्तविकता को जानने का कोई वस्तुनिष्ठ तरीका भी नहीं हो सकता। आधुनिक ज्ञानमीमांसा 'प्रबोधन' की इस घमंड से ग्रस्त थी कि मानवीय विवेक और वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से हम अज्ञानता और अंधविश्वास को पार कर एक साफ-सुथरे और तटस्थ सत्य तक पहुंच सकते हैं।[8] उत्तर-आधुनिक ज्ञानमीमांसा इस निष्पक्षता और तटस्थता के दावे को सबसे बड़ा भ्रम मानती है। हर प्रकार का ज्ञान किसी विशेष स्थान, समय, संस्कृति और सत्ता-संरचना के संदर्भ में उत्पन्न होता है। इसलिए, सभी ज्ञान अनिवार्य रूप से सापेक्ष और दृष्टिकोण-आधारित होते हैं। यहाँ 'विमर्श' की अवधारणा

महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भाषा ज्ञान को व्यक्त करने में कोई पारदर्शी माध्यम नहीं है, बल्कि यह खुद ज्ञान और सत्य का निर्माण करती है। सत्य वही होता है जिसे किसी विशेष समय में प्रमुख विमर्श द्वारा सत्य के रूप में स्थापित किया गया हो। उत्तर-आधुनिक ज्ञानमीमांसा का सबसे जटिल और प्रभावशाली राजनीतिक विश्लेषण मिशेल फूको के काम में मिलता है। पारंपरिक मान्यता थी कि ज्ञान और सत्ता दो अलग चीजें हैं; यह माना जाता था कि ज्ञान तटस्थ होता है और सत्ता का इस्तेमाल राजनीतिज्ञ करते हैं। ''ज्ञान ही शक्ति है'' के प्रसिद्ध मुहावरे का मतलब था कि ज्ञान से व्यक्ति शक्तिशाली बनता है। लेकिन फूको ने इस विचार को पलट दिया। उन्होंने 'ज्ञान-सत्ता' (Power-Knowledge) का सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए कहा कि ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कोई भी सत्ता बिना ज्ञान के समाज पर नियंत्रण नहीं रख सकती, और कोई भी ज्ञान सत्ता की संरचनाओं से मुक्त होकर नहीं उत्पन्न हो सकता। फूको के अनुसार, आधुनिक राज्य शारीरिक दंड से सत्ता का संचालन नहीं करता, बल्कि वह नागरिकों को अनुशासित करने के लिए 'विशेषज्ञ ज्ञान' (जैसे मनोविज्ञान, चिकित्सा, अपराध विज्ञान और समाजशास्त्र) का निर्माण करता है।[9] जब राज्य यह वैज्ञानिक रूप से निर्धारित करता है कि कौन 'सामान्य' है और कौन 'पागल', कौन 'सभ्य' है और कौन 'अपराधी', तो वह वास्तव में ज्ञान के आवरण में अपनी सत्ता का सूक्ष्म इस्तेमाल कर रहा होता है। समकालीन राजनीतिक सिद्धांत के लिए यह एक बड़ा दार्शनिक मोड़ था। इससे यह स्पष्ट हुआ कि जब कोई राजनीतिक विचारधारा (जैसे उदारवाद या राष्ट्रवाद) किसी सिद्धांत को 'सार्वभौमिक सत्य' कहकर प्रस्तुत करती है, तो वह दरअसल समाज के अन्य वर्गों या हाशिए के समुदायों पर अपनी वैचारिक सत्ता थोप रही होती है। सत्य अब कोई पवित्र या अलौकिक हासिल नहीं रह गया, बल्कि यह राजनीतिक संघर्ष और सत्ता के खेल का एक मंच बन गया। आधुनिक ज्ञानमीमांसा का केंद्र 'व्यक्ति' या रेने देकार्त का वह 'ज्ञाता' था, जो स्वतंत्र रूप से सोच सकता था। उत्तर-आधुनिकतावाद यह तर्क करता है कि व्यक्ति अपनी चेतना या ज्ञान का स्वतंत्र निर्माता नहीं है; वास्तव में, व्यक्ति समाज में चल रहे विभिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विमर्शों का उत्पाद है। हमारी इच्छाएं, हमारे विचार और हमारी राजनीतिक प्राथमिकताएं उस भाषा और सत्ता-संरचना द्वारा पहले से तय की गई हैं, जिसमें हमने जन्म लिया। संक्षेप में, उत्तर-आधुनिकता की सत्ता और ज्ञान की समझ ने राजनीतिक सिद्धांत से उन सभी दार्शनिक आधारों को हटा दिया है जिन पर आधुनिक राजनीति विज्ञान खड़ा था।

महाआख्यानों का विखंडन और राजनीतिक सिद्धांत

उत्तर-आधुनिकतावाद को राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में फ्रांसीसी दार्शनिक ज्यां-फ्रांस्वा ल्योतार ने सबसे सटीक और प्रभावशाली ढंग से परिभाषित किया है, जिन्होंने इसे 'महाआख्यानों के प्रति अविश्वास' के रूप में प्रस्तुत किया। महाआख्यान या 'मेटा-नैरेटिव्स' वे बड़े सिद्धांत हैं जो मानव इतिहास, समाज, संस्कृति और ज्ञान को एक रैखिक सूत्र में बुनकर समझाने का दावा करते हैं। आधुनिक राजनीतिक दर्शन इन महाआख्यानों के निर्माण और विस्तार पर आधारित था।[10] प्रबोधन युग से निकले इन आख्यानों की नींव यह विश्वास था कि मानव बुद्धि और विज्ञान के जरिए मानवता अज्ञानता के अंधकार से बाहर निकलकर एक न्यायपूर्ण और आदर्श समाज की ओर बढ़ रही है। उत्तर-आधुनिकतावाद इसी प्रवृत्ति को पूरी तरह से चुनौती देता है। राजनीतिक दर्शन के इतिहास में उदारवाद और मार्क्सवाद दो सबसे प्रमुख महाआख्यान रहे हैं।[11] उदारवाद यह दावा करता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता, वैज्ञानिक तार्किकता, मुक्त बाजार और लोकतांत्रिक संस्थाओं के माध्यम से मानवता अंततः शांति और समृद्धि के एक लक्ष्य की ओर बढ़ रही है।[12] दूसरी ओर, मार्क्सवाद भौतिकवादी द्वंद्व और वर्ग-संघर्ष के माध्यम से इतिहास की व्याख्या करता है। मार्क्सवादी आख्यान का कहना है कि पूंजीवाद के पतन के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी, जो अंततः एक साम्यवादी स्वप्नलोक में परिणत होगी। आधुनिक राजनीति विज्ञान लंबे समय तक इन दोनों महाआख्यानों के बीच संघर्ष का दृश्य बना रहा। उत्तर-आधुनिक विचारक इन दोनों दावों को न केवल भ्रामक मानते हैं, बल्कि उन्हें अत्यधिक हिंसक और दमनकारी बताते हैं। ल्योतार और अन्य विचारकों का तर्क है कि ये महाआख्यान जितने व्यापक होने का दावा करते हैं, असल में वे उतने ही असहिष्णु होते हैं। एक 'अंतिम सच' या 'आदर्श समाज' के मॉडल को दुनिया पर थोपने के प्रयास में, इन सिद्धांतों ने उन विचारों, संस्कृतियों, और समुदायों को कुचल दिया जो इनके मानकों में फिट नहीं बैठते। सोवियत संघ और चीन में मार्क्सवाद के नाम पर हुए दमन और पश्चिम में उदारवाद के नाम पर हुए उपनिवेशीकरण के विनाशकारी परिणाम इस महाआख्यानवादी सोच के प्रमाण

हैं।[13] उत्तर-आधुनिकतावाद यह स्पष्ट करता है कि सार्वभौमिकता का दावा दरअसल कुछ विशेष यूरोपीय केंद्रों का विमर्श था, जिसे उन्होंने ताकत से पूरे विश्व पर थोप दिया। महाआख्यानों के विखंडन के साथ, जैक्स डेरिडा द्वारा विकसित 'विखंडन' की विधि समकालीन राजनीतिक सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण उपकरण बन गई। डेरिडा का विखंडन यह प्रदर्शित करता है कि कोई भी राजनीतिक सिद्धांत या पाठ अपने आप में पूर्ण और स्थिर नहीं होता। पश्चिमी राजनीतिक दर्शन हमेशा कृत्रिम 'द्वैधों' पर आधारित रहा है जैसे कि तर्क बनाम भावना, पुरुष बनाम स्त्री, नागरिक बनाम गैर-नागरिक। इन द्वैधों में पहले पद को हमेशा श्रेष्ठ माना जाता है। देरिदा की विधि यह दर्शाती है कि यह पदानुक्रम प्राकृतिक सत्य नहीं है, बल्कि इसे भाषा और शक्ति के माध्यम से थोप दिया गया है। समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में जब विखंडन लागू होता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राष्ट्र' या 'संप्रभुता' जैसे विचारों का निर्माण हमेशा किसी न किसी 'अन्य' को पहचान कर, उसके बहिष्कार की कीमत पर किया जाता है। महाआख्यानों का यह विखंडन समकालीन राजनीतिक सिद्धांत की दिशा को वृहद्-विमर्शों से हटाकर 'लघु आख्यानों' की ओर ले गया है।[14] जब यह स्थापित हो गया कि संपूर्ण मानवता का कोई साझा इतिहास या लक्ष्य नहीं है, तो राजनीतिक सिद्धांतकारों का ध्यान उन छोटी, स्थानीय, विशिष्ट और हाशिए पर पड़ी आवाजों की ओर गया जिन्हें बड़े आख्यानों ने दबा दिया था। अब राजनीतिक सिद्धांत का कार्य किसी सार्वभौमिक न्याय की खोज करना नहीं है, बल्कि उन विमर्शों और भाषा-संरचनाओं को चुनौती देना है जो समाज में असमानता को 'सामान्य' या 'तार्किक' बनाते हैं। इस प्रकार, उत्तर-आधुनिकतावाद ने राजनीतिक सिद्धांत को अंतिम सत्यों के अहंकार से मुक्त किया और इसे अधिक लोकतांत्रिक, बहुलवादी और सूक्ष्म बना दिया।[15]

समकालीन राजनीतिक विमर्श पर उत्तर-आधुनिकतावाद का प्रभाव

उत्तर-आधुनिकतावाद ने समकालीन राजनीतिक सिद्धांत और विमर्श के परिदृश्य को पूरी तरह से बदल डाला है। इसके प्रभाव के कारण राजनीतिक सक्रियता, राज्य की समझ और अधिकारों की अवधारणाओं में एक ऐतिहासिक बदलाव आया है जिसने पारंपरिक राजनीति विज्ञान के स्थापित प्रतिमानों को अप्रासंगिक बना दिया है। सबसे बड़ा बदलाव राजनीति के केंद्र-बिंदु का विस्थापन है।[16] जहां आधुनिक राजनीतिक दर्शन राज्य की संस्थाओं, संप्रभुता, वर्ग-संघर्ष और बडे राजनीतिक क्रांतियों पर केंद्रित था, वहीं उत्तर-आधुनिकतावाद ने राजनीति को इन भारी संस्थानों से निकालकर जीवन के छोटे और रोजमर्रा के पहलुओं पर लाकर खड़ा कर दिया है। अब राजनीति सिर्फ संसदों, न्यायालयों या राजनीतिक दलों के घोषणापत्रों तक सीमित नहीं रह गई है। यह हमारी भाषा, संस्कृति, यौनिक संबंधों और सौंदर्यबोध में भी सक्रिय हो गई है।[17] इस दार्शनिक बदलाव ने समकालीन विमर्श को वृहद्-राजनीति से 'सूक्ष्म-राजनीति' की दिशा में मोड़ दिया है, जहां सत्ता के अदृश्य और भाषाई रूपों को चुनौती दी जाती है जो समाज में असमानता को 'प्राकृतिक' या 'सामान्य' बनाकर प्रस्तुत करते हैं। पारंपरिक मार्क्सवाद मानता था कि समाज में केवल एक ही असली विभाजन है आर्थिक वर्ग का विभाजन। लेकिन उत्तर-आधुनिकतावाद ने इस वर्गीय न्यूनीकरण को खारिज करते हुए यह स्थापित किया कि उत्पीड़न के कई समानांतर और स्वतंत्र रूप मौजूद हैं, जैसे नस्ल, जेंडर, यौनिकता और जातीयता। इसी सोच पर नारीवाद की तीसरी लहर, समलैंगिक और ट्रांसजेंडर अधिकार आंदोलनों का विकास हुआ। उत्तर-आधुनिक विमर्श ने यह स्पष्ट किया कि एक उच्च वर्गीय श्वेत महिला और एक गरीब अश्वेत महिला का राजनीतिक अनुभव कभी एक जैसा नहीं हो सकता। राजनीति अब केवल राज्य की सत्ता हथियाने का साधन नहीं रह गई, बल्कि यह अपनी विशेष भाषाई, सांस्कृतिक और व्यक्तिगत पहचान को सार्वजनिक मान्यता दिलाने का संघर्ष बन गई है।[18] पहचान और विमर्श की राजनीति ने लोकतंत्र की पारंपरिक उदारवादी परिभाषा को भी झकझोर दिया है। समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रभाव से 'उग्र लोकतंत्र' या 'रैडिकल डेमोक्रेसी' की एक नई और महत्वपूर्ण अवधारणा का जन्म हुआ है। पारंपरिक उदारवादी लोकतंत्र इस मान्यता पर आधारित है कि तार्किक संवाद के माध्यम से समाज में एक अंतिम 'आम सहमति' का निर्माण किया जा सकता है। लेकिन उत्तर-आधुनिक विचारक इस आम सहमति को खतरनाक मानते हैं। उनका कहना है कि कोई भी पूर्ण सहमति किसी न किसी अल्पसंख्यक या असहमति वाले स्वर को दबाकर ही प्राप्त की जा सकती है। इसके विकल्प के रूप में उग्र लोकतंत्र का सिद्धांत यह प्रस्तावित करता है कि एक सच्चे लोकतांत्रिक समाज को अपने अंदर

मौजूद अंतर्विरोधों, मतभेदों और बहुलताओं को समाप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, बल्कि उन्हें स्वीकार करना चाहिए। यह दृष्टिकोण लोकतंत्र को एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया बना देता है, जहां सत्ता के नए समीकरणों को लगातार चुनौती दी जाती है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन और सीमाएं

हालांकि उत्तर-आधुनिकतावाद ने समकालीन राजनीतिक सिद्धांत को उन जड़ और दमनकारी प्रवृत्तियों से मुक्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जो आधुनिकता के महाकथाओं में छिपी हुई थीं, पर इसका निष्पक्ष और आलोचनात्मक मूल्यांकन करना आवश्यक है। अकादमिक और दार्शनिक हलकों में इस विमर्श की तीखी आलोचना हुई है, क्योंकि इसकी कुछ अंतर्निहित सीमाएं इसे पूर्ण और सकारात्मक राजनीतिक दर्शन बनने से रोकती हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद की सबसे बड़ी सीमा इसका चरम ज्ञानमीमांसीय और नैतिक सापेक्षवाद है। जब यह दर्शन कहता है कि कोई भी वस्तुनिष्ठ सत्य, सार्वभौमिक मूल्य या मूलभूत मानव स्वभाव नहीं है, और सभी विचार केवल विशिष्ट ऐतिहासिक कालों के 'विमर्श' हैं, तो यह नैतिक और दार्शनिक संकट को जन्म देता है।[19] अगर कोई सार्वभौमिक मानदंड नहीं है, तो हम कैसे कह सकते हैं कि लोकतंत्र तानाशाही से बेहतर है, या फासीवाद, नस्लवाद और मानवाधिकारों का उल्लंघन नैतिक रूप से गलत है? सापेक्षवाद के इस जाल में फंसकर, उत्पीड़क और पीड़ित दोनों के विमर्श समान स्तर पर आ जाते हैं, क्योंकि दोनों को केवल अपनी शक्ति स्थापित करने का प्रयास समझा जाता है। यह स्थिति न्याय, स्वतंत्रता और समानता के लिए बड़े राजनीतिक आंदोलनों की वैचारिक जमीन को भी छीन लेती है। इसी तरह, कई आधुनिकतावादी दार्शनिकों ने उत्तर-आधुनिकतावाद को अत्यंत निराशावादी और पराजयवादी समझा है।[20] इस संदर्भ में जर्गन हेबरमास की आलोचना सबसे प्रमुख है, जिन्होंने उत्तर-आधुनिक विचारकों को 'नव-रूढ़िवादी' कहा है।

हेबरमास का तर्क है कि प्रबोधन युग का तार्किकता और मानव मुक्ति का प्रोजेक्ट विफल नहीं हुआ है, बल्कि वह अब भी 'अधूरा' है। आधुनिकता की कमियों को दूर करने के लिए वैज्ञानिक तार्किकता और सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों का खारिज करना विवेकहीनता को आमंत्रित करता है। जब उत्तर-आधुनिकतावाद विवेक और तर्क पर अविश्वास पैदा करता है, तो वह समाज को उन आदिम स्थितियों की ओर धकेलता है, जहां केवल शक्ति और विमर्श का ही बोलबाला होता है। इसके अलावा, उत्तर-आधुनिकतावाद एक गंभीर तार्किक विरोधाभास का भी शिकार है।[21] जब यह कहता है कि 'कोई भी सार्वभौमिक सत्य नहीं होता', तो यह अनजाने में उसी कथन को एक नए 'सार्वभौमिक सत्य' के रूप में स्थापित कर देता है। यह एक ऐसा दर्शन है जो अपनी ही नींव को कमजोर करता है।

राजनीतिक सक्रियता के क्षेत्र में, उत्तर-आधुनिकतावाद की सबसे कड़ी आलोचना पारंपरिक मार्क्सवादी और वामपंथी विचारकों द्वारा की गई है। जब उत्तर-आधुनिकतावाद बड़े आख्यानों और व्यापक वर्गीय पहचानों को तोड़कर राजनीति को केवल भाषा, संस्कृति और व्यक्तिगत पहचान की सूक्ष्म-राजनीति तक सीमित कर देता है, तो समाज अनगिनत छोटे-छोटे गुटों में बंट जाता है। इस अत्यधिक विखंडन के कारण किसी बड़े पैमाने पर सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई और एकजुटता का निर्माण लगभग असंभव हो जाता है। उदाहरण के लिए, वैश्विक भूमंडलीकरण या जलवायु परिवर्तन जैसी बड़ी चुनौतियों का सामना करने के लिए पूरी मानवता या एक बड़े शोषित वर्ग का एकजुट होना जरूरी है। टेरी ईगलटन और डेविड हार्वे जैसे विचारकों का स्पष्ट मानना है कि उत्तर-आधुनिकतावाद, अपनी तमाम क्रांतिकारी बातों के बावजूद, अंततः नव-उदारवादी पूंजीवाद के तर्कों के साथ मेल खाता है, क्योंकि यह आर्थिक और भौतिक असमानताओं के मूल प्रश्नों से ध्यान हटाकर राजनीति को केवल सांस्कृतिक पहचान और प्रतीकों की लड़ाई बना देता है। इसी प्रकार, उत्तर-आधुनिकतावाद मुख्य रूप से एक नकारात्मक और विखंडनकारी विचारधारा है।[22] यह बताने में कुशल है कि आधुनिक राज्य की संस्थाएं, कानून और ज्ञान-प्रणालियां कैसे दमनकारी हैं, लेकिन यह इस प्रश्न का कोई सकारात्मक उत्तर नहीं देता कि न्यायपूर्ण समाज का निर्माण कैसे किया जाए। यह पुरानी संरचनाओं को नष्ट कर देता है, परंतु सरकार के संचालन, न्यायपालिका के गठन या अधिकारों के वितरण की कोई नई योजना नहीं पेश करता।

इस सकारात्मक दृष्टि के अभाव में यह गहरे राजनीतिक शून्यवाद को जन्म देता है। इन सभी सीमाओं के बावजूद, समकालीन राजनीतिक सिद्धांत के लिए उत्तर-आधुनिकतावाद के योगदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इसकी असली प्रासंगिकता इसे एक विचारधारा के रूप में स्वीकार

करने में नहीं, बल्कि इसके आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि का उपयोग करके आधुनिक व्यवस्थाओं को उन तानाशाही प्रवृत्तियों से बचाने में है जो 'सार्वभौमिक सत्य' का मुखौटा ओढ़कर सत्ता स्थापित करना चाहती हैं।[23]

निष्कर्ष

उत्तर-आधुनिकतावाद ने राजनीतिक दर्शन को उन संकीर्ण, जड़ और सत्तावादी सीमाओं से मुक्त किया है जो आधुनिकता के महाकथाओं में गहराई से छिपी थीं। सदियों से राजनीति विज्ञान इस भ्रामक विश्वास पर टिका था कि राज्य, संप्रभुता, न्याय और मानव स्वभाव जैसी अवधारणाएं वस्तुनिष्ठ और अपरिवर्तनीय हैं। लेकिन उत्तर-आधुनिक विचारकों ने ज्ञान और शक्ति के अंतर्संबंधों को उजागर कर यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी राजनीतिक दावा या सत्य तटस्थ नहीं होता; वह हमेशा किसी न किसी विशिष्ट सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सत्ता-संरचना का उत्पाद होता है। इसने यह सिखाया है कि जो सिद्धांत पूरे विश्व को एक ही रैखिक तार्किकता में डाले रखने का प्रयास करते हैं, वे अंततः हाशिए के समुदायों, अल्पसंख्यकों और भिन्न विचारों के लिए अत्यधिक हिंसक और दमनकारी सिद्ध होते हैं। इस वैचारिक क्रांति ने राजनीति के पारंपरिक परिभाषा को पूरी तरह से विकेन्द्रित कर दिया। इसने राजनीतिक संघर्ष को सिर्फ राज्य की सत्ता प्राप्त करने के बड़े संस्थागत खेल से निकालकर भाषा, विमर्श, दैनिक जीवन और पहचान की सूक्ष्म-राजनीति की ओर मोड़ दिया। इसने उग्र लोकतंत्र की एक नई अवधारणा को जन्म दिया है जो असहमति और मतभेदों को मिटाने के बजाय उन्हें एक जीवंत समाज की आवश्यकता मानती है। उत्तर-आधुनिकतावाद ने हमें यह महत्वपूर्ण सबक दिया है कि समकालीन राजनीतिक सिद्धांत को हमेशा एक खुला, बहुलवादी और निरंतर आत्म-आलोचना करने वाला विमर्श बनाए रखना चाहिए।

अतिथि संकाय
राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. देरिदा, जे. (1976). ऑफ ग्रैमेटोलॉजी. जॉन्स हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 45-63.
2. फूको, एम. (1980). पावर/नॉलेज : सिलेक्टेड इंटरव्यूज एंड अदर राइटिंग्स. पांथियन बुक्स. पृष्ठ 78-95.
3. ल्योतार, जे. एफ. (1984). द पोस्टमॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज. यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस. पृष्ठ 10-24.
4. बर्जर, पी. एल., और लकमैन, टी. (1966). द सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ रियलिटी. एंकर बुक्स. पृष्ठ 85-110.
5. फूको, एम. (1980). पावर/नॉलेज : सिलेक्टेड इंटरव्यूज एंड अदर राइटिंग्स. पांथियन बुक्स. पृष्ठ 109-133.
6. रॉर्टी, आर. (1979). फिलॉसफी एंड द मिरर ऑफ नेचर. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 150-175.
7. ल्योतार, जे. एफ. (1984). द पोस्टमॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज. यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस. पृष्ठ 30-45.
8. वाइट, एस. के. (1991). पॉलिटिकल थ्योरी एंड पोस्टमॉडर्निज्म. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 60-82.
9. देरिदा, जे. (1976). ऑफ ग्रैमेटोलॉजी. जॉन्स हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 45-63.
10. न्यूमैन, एस. (2001). फ्रॉम बकुनिन टू लाकां : एंटी-ऑथॉरिटेरियनिज्म एंड द एपिस्टेमोलॉजी ऑफ पावर. लेक्सिंगटन बुक्स. पृष्ठ 112-130.
11. भार्गव, आर., और आचार्य, ए. (2008). राजनीतिक सिद्धांत : एक परिचय. पियर्सन एजुकेशन. पृष्ठ 210-235.
12. ल्योतार, जे. एफ. (1984). द पोस्टमॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज. यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस. पृष्ठ 10-45.
13. सिम्स, एस. (2005). द रूटलेज कम्पेनियन टू पोस्टमॉडर्निज्म. रूटलेज. पृष्ठ 75-92.
14. बटलर, जे. (1990). जेंडर ट्रबल : फेमिनिज्म एंड द सबवर्जन ऑफ आइडेंटिटी. रूटलेज. पृष्ठ 30-45.
15. यंग, आई. एम. (1990). जस्टिस एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डिफरेंस. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 110-128.
16. लाक्लाउ, ई., और मुफे, एस. (1985). हेजेमनी एंड सोशलिस्ट स्ट्रेटेजी : टुवर्ड्स ए रेडिकल डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स. वर्सो बुक्स. पृष्ठ 105-122.
17. सईद, ई. डब्ल्यू. (1978). ओरिएंटलिज्म. पैंथियन बुक्स. पृष्ठ 55-72.
18. स्मिथ, ए. एम. (1998). लाकां एंड पॉलिटिकल थ्योरी : मेकिंग द पॉलिटिकल सब्जेक्ट. रूटलेज. पृष्ठ 88-104.

19. हेबरमास, जे. (1987). द फिलॉसॉफिकल डिस्कोर्स ऑफ मॉडर्निटी. एमआईटी प्रेस. पृष्ठ 294–315.
20. फूको, एम. (1980). पावर/नॉलेज : सिलेक्टेड इंटरव्यूज एंड अदर राइटिंग्स. पांथियन बुक्स. पृष्ठ 109–133.
21. भार्गव, आर., और आचार्य, ए. (2008). राजनीतिक सिद्धांत : एक परिचय. पियर्सन एजुकेशन. पृष्ठ 210–235.
22. ल्योतार, जे. एफ. (1984). द पोस्टमॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज. यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस. पृष्ठ 30–45.
23. वाइट, एस. के. (1991). पॉलिटिकल थ्योरी एंड पोस्टमॉडर्निज्म. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 60–82.

विस्तृत संदर्भ सूची

1. ईगलटन, टी. (1996). द इल्यूजन्स ऑफ पोस्टमॉडर्निज्म. ब्लैकवेल पब्लिशर्स. पृष्ठ 40–58.
2. कैलिनिकोस, ए. (1989). अगेन्स्ट पोस्टमॉडर्निज्म : ए मार्क्सिस्ट क्रिटिक. पॉलिटी प्रेस. पृष्ठ 105–125.
3. देरिदा, जे. (1976). ऑफ ग्रैमेटोलॉजी. जॉन्स हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 45–63.
4. न्यूमैन, एस. (2001). फ्रॉम बकुनिन टू लाकां : एंटी-ऑथॉरिटेरियनिज्म एंड द एपिस्टेमोलॉजी ऑफ पावर. लेक्सिंगटन बुक्स. पृष्ठ 112–130.
5. फूको, एम. (1980). पावर/नॉलेज : सिलेक्टेड इंटरव्यूज एंड अदर राइटिंग्स. पांथियन बुक्स. पृष्ठ 78–133.
6. बटलर, जे. (1990). जेंडर ट्रबल : फेमिनिज्म एंड द सबवर्जन ऑफ आइडेंटिटी. रूटलेज. पृष्ठ 30–45.
7. बर्जर, पी. एल., और लकमैन, टी. (1966). द सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ रियलिटी. एंकर बुक्स. पृष्ठ 85–110.
8. भार्गव, आर., और आचार्य, ए. (2008). राजनीतिक सिद्धांत : एक परिचय. पियर्सन एजुकेशन. पृष्ठ 210–235.
9. यंग, आई. एम. (1990). जस्टिस एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डिफरेंस. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 110–128.
10. रॉर्टी, आर. (1979). फिलॉसफी एंड द मिरर ऑफ नेचर. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 150–175.
11. लाक्लाउ, ई., और मुफे, एस. (1985). हेजेमनी एंड सोशलिस्ट स्ट्रेटेजी : टुवर्ड्स ए रेडिकल डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स. वर्सो बुक्स. पृष्ठ 105–122.
12. ल्योतार, जे. एफ. (1984). द पोस्टमॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज. यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस. पृष्ठ 10–45.
13. वर्मा, एस. पी. (2006). आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत. विकास पब्लिशिंग हाउस. पृष्ठ 340–365.
14. वाइट, एस. के. (1991). पॉलिटिकल थ्योरी एंड पोस्टमॉडर्निज्म. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 60–82.
15. सईद, ई. डब्ल्यू. (1978). ओरिएंटलिज्म. पैंथियन बुक्स. पृष्ठ 55–72.
16. सिम्स, एस. (2005). द रूटलेज कम्पेनियन टू पोस्टमॉडर्निज्म. रूटलेज. पृष्ठ 75–92.
17. स्मिथ, ए. एम. (1998). लाकां एंड पॉलिटिकल थ्योरी : मेकिंग द पॉलिटिकल सब्जेक्ट. रूटलेज. पृष्ठ 88–104.
18. हार्वे, डी. (1989). द कंडीशन ऑफ पोस्टमॉडर्निटी. ब्लैकवेल पब्लिशर्स. पृष्ठ 110–130.
19. हेबरमास, जे. (1987). द फिलॉसॉफिकल डिस्कोर्स ऑफ मॉडर्निटी. एमआईटी प्रेस. पृष्ठ 294–315.

रितेश अजय तिवारी

तुलसी और तुकडोजी के साहित्य में निहित समन्वय और समरसता

अमूर्त (Abstract)

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य भारतीय संत-परंपरा के दो मूर्धन्य विचारकों-गोस्वामी तुलसीदास एवं राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज के साहित्य में निहित 'समन्वय दृष्टि' का तुलनात्मक विश्लेषण करना है। समन्वय भारतीय संस्कृति की वह आधारशिला है जिसने ऐतिहासिक विखंडन और सामाजिक विषमताओं के मध्य सदैव समता और समरसता का मार्ग प्रशस्त किया है। यद्यपि दोनों साहित्यकारों का कालखंड, सामाजिक परिस्थितियाँ और भाषायी माध्यम भिन्न थे, तथापि लोक-कल्याण, सर्वधर्म समभाव और नैतिक समाज-रचना के धरातल पर उनके विचार अंत:संबद्ध हैं। प्रस्तुत पत्र में उनके काव्य में सगुण-निर्गुण, ज्ञान-भक्ति, भाषा और लोक-शास्त्र के समन्वय के साथ-साथ युगीन यथार्थ के प्रति उनके दृष्टिकोण का मूल्यांकन किया गया है, जो समकालीन भाषायी विद्वेष और सामाजिक विखंडन के दौर में एक दार्शनिक व व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द

समन्वयवाद, लोक-कल्याण, संत-साहित्य, तुलनात्मक अध्ययन, सामाजिक समरसता, रामराज्य, ग्रामगीता।

मूल लेख

समन्वय भारतीय विचार-परंपरा और साहित्य की वह केंद्रीय विशेषता है, जो विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक और दार्शनिक विचारधाराओं को एक संगम की भाँति आत्मसात करती आई है। भारत जैसे वैविध्यपूर्ण देश में एकरूपता न तो संभव है और न ही अपेक्षित; ऐसे समाज में समन्वय ही वह उपाय है जिससे भारतीय समाज की विविधता के सौंदर्य को जीवित रखते हुए उसमें समता की दृष्टि को विकसित किया जा सकता है। इतिहास गवाह है कि भारत में समन्वय की चेतना का विकास सतत होता आया है और यही भावना बुद्ध के धम्म, कबीर के विद्रोह, गाँधी के रामराज्य तथा रवींद्रनाथ के विश्वमानवतावाद के मूल में दिखाई देती है। गोस्वामी तुलसीदास और राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज के साहित्य की मूल प्रेरणा भी यही समन्वय है। इसी विराट समन्वयवादी चेष्टा को देखकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसीदास को 'लोकनायक' तथा डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने तुकडोजी को 'राष्ट्रसंत' कहकर संबोधित किया था। भारतीय संत-परंपरा में इन दोनों विभूतियों का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि दोनों का कालखंड एवं सामाजिक परिस्थितियाँ सर्वथा भिन्न थीं, तथापि इनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति, नैतिकता एवं समाज सुधार के सिद्धांतों में उल्लेखनीय समानताएँ और वैचारिक सातत्य विद्यमान हैं। गोस्वामी तुलसीदास (1511-1623 ई.) ने जहाँ मध्यकालीन रूढ़ियों, मुगलकालीन सामंतवाद और दार्शनिक वैमनस्य के बीच समाज को जोड़ा, वहीं राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज (1909-1968 ई.) ने बीसवीं शताब्दी में ब्रितानी औपनिवेशिक दासता और स्वतंत्रता-पूर्व एवं स्वतंत्र भारत के संक्रमण काल में महाराष्ट्र के ग्रामीण अंचलों में सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। इन दोनों साहित्यकारों के साहित्य में पर्याप्त साम्य एवं वैषम्य दिखाई दे सकता है, किंतु इसके बावजूद इनके साहित्य का मूल स्वर मानवता, नैतिकता, लोकमंगल तथा यथार्थ की अभिव्यक्ति से

सृजित समन्वयवाद ही है, जो बाह्य और भीतरी दोनों ही स्तरों पर परिलक्षित होता है।

इस समन्वयवादी चेतना का पहला प्रकटीकरण दोनों संतों के भाषागत दृष्टिकोण में दिखाई देता है। जहाँ तुलसीदास ने अपने समय की दोनों प्रमुख साहित्यिक भाषाओं—ब्रज एवं अवधी—का प्रयोग पूरे सामर्थ्य के साथ किया और जनभाषा को शास्त्रीय गरिमा प्रदान की, वहीं तुकडोजी महाराज ने भी अपनी रचनाओं के लिए अपनी प्रादेशिक भाषा मराठी तथा राष्ट्रभाषा हिंदी दोनों को माध्यम बनाया। मराठीभाषी होने के बावजूद हिंदी के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यंत सकारात्मक, उदार और राष्ट्रीय गरिमा से ओतप्रोत था, जिसके माध्यम से उन्होंने उत्तर और दक्षिण के भाषायी संकोच को मिटाने का प्रयास किया। वे प्रादेशिक अस्मिता का आदर करते हुए भी राष्ट्र की एकजुटता के लिए हिंदी को अनिवार्य मानते थे, जिसे उन्होंने अपनी इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया-

''प्रदेश भाषा ओळखी पुरती, परि राष्ट्राला ती नापुरती,
म्हणुनी हिंद ला हिन्दीच शोभे, पावली हा अनुभव घेऊनी।"

तुकडोजी महाराज का यह स्पष्ट मानना था कि अपनी प्रादेशिक पहचान के लिए प्रादेशिक भाषा महत्त्वपूर्ण है, परंतु राष्ट्रीय स्तर पर संपूर्ण देश को जोड़ने के लिए भारत पर हिंदी ही शोभायमान हो सकती है। भाषायी समन्वय के साथ-साथ तुलसी के काव्य में अभिव्यक्त सगुण-निर्गुण, ज्ञान-भक्ति-कर्म, जाति-धर्म, राजा-प्रजा, लोक-शास्त्र तथा विभिन्न संप्रदायों के समन्वय की भावना तुकडोजी के काव्य में भी समान रूप से दृष्टिगोचर होती है। तुलसीदास ने जहाँ अपने युग में शैव और वैष्णव संप्रदायों के ऐतिहासिक टकराव को टालने के लिए राम और शिव की एकात्मता प्रतिपादित की, वहीं तुकडोजी महाराज ने आधुनिक युग में विभिन्न मत-पंथों के झगड़ों को समाप्त करने के लिए 'सामूहिक प्रार्थना' का मार्ग सुझाया। दोनों ही संत अपने नायक का चयन अपने-अपन काल की ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुसार करते हैं। तुलसी ने समाज में मर्यादा और असुर-शक्तियों के विनाश के लिए लोकरक्षक राम को अपने काव्य का नायक बनाया और गाया-

''भजु दीनबंधु दिनेश, दानव दैत्यवंश निकंदनम्।
आजानुभुज सर चाप धर संग्राम जित खर दूषणम्॥''

ठीक इसी तरह, राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज भी अपने युग की विसंगतियों, पराधीनता और सामाजिक अन्याय के प्रतिकार के लिए ईश्वर के उसी सुदर्शनधारी रूप की आराधना करते हुए पुकारते हैं—

''वंशी बजाना छोड़ दे, बन कर सुदर्शन धारी,
गौओं को चराना छोड़ प्रभु, अब रखिये लाज हमारी।''

नायकों के इस स्वरूपगत साम्य से स्पष्ट होता है कि दोनों संतों की चेतना केवल निवृत्तिपरक साधना में नहीं, बल्कि प्रवृत्तिपरक होकर अन्याय के विरुद्ध समाज को संगठित करने में रमी थी।

धर्म के व्यावहारिक और लोकोन्मुख स्वरूप को लेकर भी दोनों साहित्यकारों की कृतियों में अद्‌भुत वैचारिक ऐक्य दिखाई देता है, जहाँ धर्म का स्वरूप किसी संकीर्ण कर्मकांड से नहीं बल्कि शुद्ध मानवतावाद और नैतिक आचरण से प्रेरित है। तुलसीदास लोक-कल्याण और प्राणिमात्र के प्रति संवेदना को ही सबसे बड़ा धर्म मानते हुए उद्‌घोष करते हैं-

''परहित सरिस धर्म नहि भाई।
परपीड़ा सम नहीं अधमाई॥''

इसी शाश्वत मानवीय मूल्य को बीसवीं सदी के धरातल पर प्रतिध्वनित करते हुए राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज अपनी रचनाओं में सर्वसाधारण को समझाते हैं कि मत-मतांतरों के फेर में पड़ने के बजाय परोपकार को धारण करना ही वास्तविक धर्म है—

''उपकार हरदम कीजिए, पीड़ा न किसको दीजिए।
यह धर्म है सबके लिए, सब शास्त्र मत सुन लीजिए॥''

इस प्रकार दोनों के यहाँ धर्म का मूल लोक-पीड़ा को हरने और सामाजिक बंधुत्व की स्थापना में ही समाहित है। यही कारण है कि दोनों साहित्यकारों की कृतियों में जातिगत संकीर्णता और ऊंच-नीच के बोध के प्रति घोर निस्पृहता और अनासक्ति का भाव दिखाई देता है। मध्यकाल के कठोर सामाजिक स्तरीकरण के बीच तुलसीदास अपनी 'कवितावली' में सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार करते हुए डंके की चोट पर कहते हैं—

''मेरें जाति-पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।''

सामाजिक समता का यही स्वर राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज की मराठी वाणी में भी उतना ही प्रखर, विद्रोही और पारदर्शी होकर गूँजता है—

''हरिभक्ता पाशी नसे जातपात। लोकांत एकांत काही नाही।
नाहीं मज जात, झालो मी अजात।''

अर्थात् ईश्वर के सच्चे भक्त की कोई जाति नहीं होती, वह

हर जगह समान दृष्टि से देखता है और समरस समाज का निर्माण करता है। इसी समन्वयवादी और समतामूलक दृष्टि से निर्मित जिस 'रामराज्य' की संकल्पना को तुलसीदास ने मध्यकाल में लोक-मानस के भीतर एक स्वप्न के रूप में रोपा था, तुकडोजी महाराज आधुनिक युग में अपनी श्रम-संस्कृति और ग्राम-सुधार के आंदोलनों के माध्यम से उसी रामराज्य के व्यावहारिक क्रियान्वयन के लिए जमीन पर संघर्ष करते दिखलाई पड़ते हैं-

''मानवता के लिए लड़ेंगे, रामराज्य पाने को,
जन-जन जागृत किया लगाया, घर-घर में गाने को।''

एक समन्वयवादी कवि या साहित्यकार केवल आदर्शों की काल्पनिक दुनिया में नहीं जीता, बल्कि वह अपने युग का मार्गद्रष्टा होता है जो समाज को जीवन-मार्ग के कटु और विषम यथार्थ से भी साक्षात्कार कराता है। इस दृष्टि से तुलसीदास तथा तुकडोजी के साहित्य में युगीन यथार्थ के प्रति देखने का दृष्टिकोण पूरी तरह एक जैसा दिखाई देता है। तुलसीदास अपने समय के नैतिक पतन, अकाल और संवेदनहीन राजसमाज पर चोट करते हुए लिखते हैं—

''बेद-पुरान बिहाइ सुपंथु, कुमारग,
कोटि कुचालि चली है।
कालु कराल, नृपाल कृपाल न,
राजसमाजु बड़ोई छली है॥''

व्यवस्थागत दोषों और पाखंड पर ऐसा ही तीखा प्रहार राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज के यहाँ भी मिलता है जब वे गाते हैं—

''राजा भक्ष्य भरे तब कैसे! पंडित गलत करे तब कैसे।
भोगीनर जब साधु बनेगा! तब कैसे यह देश जियेगा॥''

केवल राजनैतिक या धार्मिक पाखंड ही नहीं, बल्कि आर्थिक मोर्चे पर जनता की बदहाली, बेकारी और भूखमरी का जो मर्मस्पर्शी चित्रण तुलसी ने अकाल के संदर्भ में किया था, वह उनकी लोक-संपृक्ति का प्रमाण है-

''खेती न किसानको, भिखारीको न भीख, बलि,
बनिकको बनिज, न चाकरको चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी?''

ठीक वैसी ही आर्थिक विवशता, पराधीनता और भारतीय किसानों की अंतहीन उपेक्षा को दर्ज करते हुए तुकडोजी महाराज आधुनिक भारत की व्यवस्थापिका से अत्यंत मर्मस्पर्शी सवाल पूछते हैं—

''गुलाम था जब वतन हमारा तभी से रोता किसान सारा,
अभी तो हालत बड़ी बुरी है, कभी इधर भी चला करोगे?
किसान का कब भला करोगे?''

यह तुलनात्मक यथार्थ सिद्ध करता है कि समय और सदियों का अंतराल होने के बाद भी, समाज के वंचित, पीड़ित और शोषित वर्ग के प्रति दोनों संतों की करुणा और उनके सामाजिक सरोकार एक समान प्रखर और लोकोन्मुख थे।

आधुनिक भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषायी एवं धार्मिक विषमताओं के समाधान हेतु इन दोनों महापुरुषों की समन्वयवादी दृष्टि का यह तुलनात्मक अनुशीलन आज के समय में अत्यंत प्रासंगिक और अनिवार्य शोध का विषय बन जाता है। वर्तमान समय में जहाँ एक ओर संवैधानिक एवं कानूनी प्रावधानों के माध्यम से समता, बंधुत्व और सामाजिक समरसता की स्थापना का प्रयास किया जा रहा है, वहीं वास्तविक सामाजिक परिदृश्य में जातिवाद, सांप्रदायिकता, क्षेत्रीय संकीर्णता एवं भाषायी विद्वेष की भावनाएँ गहराई तक व्याप्त दिखाई देती हैं। आज भारत के विभिन्न राज्यों में कतिपय राजनैतिक स्वार्थों के कारण हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं के मध्य जो कृत्रिम विद्वेष की आग सुलग रही है, वह राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिए अत्यंत घातक है। किसी भी बहुसांस्कृतिक राष्ट्र में भाषायी और सामाजिक स्वीकृति बढ़ाने का सबसे सफल माध्यम साहित्य का आदान-प्रदान और सांस्कृतिक पारस्परिकता ही हो सकती है। यदि दोनों भाषा-समाज एक-दूसरे के उत्तम साहित्य का आदर करेंगे, तो समाजों में परस्पर विश्वास और समरसता की वृद्धि होगी। इस संदर्भ में तुलसीदास की रचनाओं—'रामचरितमानस', 'विनय पत्रिका', 'कवितावली' और 'दोहावली' में निहित सर्वधर्म समभाव तथा राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज की 'ग्रामगीता' एवं 'भारतीय संस्कृति के स्वर' में निहित समाज के अंतिम व्यक्ति तक शिक्षा, स्वावलंबन, ग्राम-स्वराज और सामूहिक सद्भाव का संदेश आज के समकालीन सामाजिक संकटों के समाधान हेतु एक सुदृढ़ दार्शनिक एवं व्यावहारिक आधार प्रदान करता है।

निष्कर्षत:, यह तुलनात्मक अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि भारतीय चिंतन परंपरा में समन्वय कोई तात्कालिक समझौता या आत्मसमर्पण नहीं, बल्कि विविधता का उत्सव मनाते हुए समाज को जीवंत और समतामूलक बनाए रखने का शाश्वत जीवन-मूल्य है, जो आज के शिक्षाविदों, नीति-

निर्माताओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए समान रूप से मार्गदर्शक और प्रेरणास्रोत है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग, कला संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- तुलसीदास, गोस्वामी. रामचरितमानस. गीताप्रेस, गोरखपुर, 2018।
- तुलसीदास, गोस्वामी. कवितावली. गीताप्रेस, गोरखपुर, 2021।
- महाराज, राष्ट्रसंत तुकडोजी. ग्रामगीता. साहित्य प्रकाशन समिति, नागपुर, 2017।
- महाराज, राष्ट्रसंत तुकडोजी. लहर की बरखा. साहित्य प्रकाशन समिति, नागपुर, 2018।
- शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. गोस्वामी तुलसीदास. इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1935।
- त्रिपाठी, आचार्य विश्वनाथ. लोकवादी तुलसीदास. राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021।
- देशपांडे, डॉ. विलास. राष्ट्रसंत श्री तुकडोजी महाराज. लाखे प्रकाशन, नागपुर, 2016।

शोध-पत्र

अनमोल

भारत में जलवायु परिवर्तन और शहरी असमानता : एक समालोचनात्मक अध्ययन

सारांश

यह शोध-पत्र भारत में तेजी से हो रहे अनियोजित शहरीकरण के संदर्भ में जलवायु परिवर्तन और सामाजिक-आर्थिक असमानता के जटिल संबंधों का विश्लेषण करता है। राजनीति विज्ञान और राजनीतिक पारिस्थितिकी के सैद्धांतिक संदर्भ में, यह अध्ययन इस धारणा को चुनौती देता है कि जलवायु संकट बस एक प्राकृतिक घटना है। इसके बजाय, यह लेख दिखाता है कि शहरी जलवायु की संवेदनशीलता मुख्य रूप से खराब शहरी प्रशासन, नवउदारवादी विकास नीतियों और कल्याणकारी विफलताओं का राजनीतिक परिणाम है। शोध में गहराई से यह बताया गया है कि कैसे चरम मौसमी घटनाएं जैसे हीटवेव, विनाशकारी बाढ़ और जल संकट शहर के हाशिए पर रहने वाले समुदायों, खासकर अनौपचारिक क्षेत्र के श्रमिकों, प्रवासियों और झुग्गियों के निवासियों को असमान रूप से प्रभावित करती हैं। इन समुदायों का स्थानिक हाशियाकरण, बुनियादी ढांचे की कमी और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की कमी उन्हें स्थायी जोखिम के चक्र में डाल देती है। इसके साथ ही, यह अध्ययन राज्य की वर्तमान 'टेक्नो-सेंट्रिक' नीतियों, जैसे 'स्मार्ट सिटी मिशन' की भी आलोचना करता है, जो अक्सर जमीनी हकीकतों को नजरअंदाज करके 'पर्यावरणीय रंगभेद' पैदा करती हैं। यह शोधपत्र जलवायु न्याय के मानवाधिकार-आधारित दृष्टिकोण की मजबूत वकालत करता है। अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि एक सुरक्षित और लचीला शहरी भविष्य तब तक संभव नहीं है, जब तक कि शहरी योजनाएँ समावेशी न हों, 74वें संविधान संशोधन के तहत स्थानीय निकायों को वास्तव में लोकतांत्रिक सशक्तिकरण न दिया जाए, और हाशिये पर रहने वाले वर्गों के आवास और श्रम अधिकारों को कानूनी रूप से सुरक्षित नहीं किया जाता।

बीज शब्द

जलवायु परिवर्तन, शहरी असमानता, जलवायु न्याय, राजनीतिक पारिस्थितिकी, शहरी शासन, सुभेद्यता, पर्यावरणीय रंगभेद, अनौपचारिक श्रम, स्थानिक हाशियाकरण।

प्रस्तावना

इक्कीसवीं सदी में, भारत एक अनोखे जनसांख्यिकीय और भौगोलिक परिवर्तन का सामना कर रहा है। तेजी से हो रहा शहरीकरण, जहां एक ओर देश की आर्थिक विकास का मुख्य आधार बनता जा रहा है, वहीं दूसरी ओर यह एक गहरी और संरचनात्मक सामाजिक-आर्थिक खाई भी पैदा कर रहा है। आज के भारतीय शहर विरोधाभासों का गढ़ बन गए हैं, जहां एक ओर शानदार इमारतें और उच्चस्तरीय बुनियादी ढांचा है, वहीं दूसरी ओर घनी बस्तियां हैं, जो बुनियादी सुविधाओं से बेदखल हैं। यह शहरी विभाजन सिर्फ आय की असमानता को नहीं दर्शाता, बल्कि यह संसाधनों की पहुंच, नागरिक अधिकारों और जीवन की गुणवत्ता के संदर्भ में एक गहरा अलगाव भी दिखाता है। राजनीति विज्ञान के दृष्टिकोण से, ये असमानताएं राज्य की कल्याणकारी विफलताओं और नवउदारवादी शहरी नियोजन की कमियों का नतीजा हैं।[1] इस जटिल शहरी परिदृश्य में 'जलवायु परिवर्तन' एक नया, बेहद विनाशकारी कारक बनकर उभरा है। पहले जलवायु परिवर्तन को एक पर्यावरणीय या वैज्ञानिक चुनौती माना जाता था, जिसका हल तकनीकी नवाचारों या कार्बन उत्सर्जन को घटाने में देखा जाता था। पर अब का अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है

कि जलवायु परिवर्तन एक राजनीतिक और सामाजिक न्याय का मुद्दा है। भारत में, यह किसी 'खतरे के गुणक' की तरह काम कर रहा है, जो मौजूदा शहरी असमानताओं को और भी गहरा और स्थायी बना रहा है। जब कोई शहर अत्यधिक गर्मी, संदिग्ध बाढ़, या जल संकट का सामना करता है, तो इसका असर सभी वर्गों पर समान रूप से नहीं होता।[2] हालांकि जलवायु आपदाएं प्राकृतिक लग सकती हैं, लेकिन इनके द्वारा उत्पन्न की गई संवेदनशीलता पूरी तरह से मानव निर्मित और राजनीतिक है। शहरी गरीब, जो अक्सर अनियोजित, निचले या खतरनाक स्थानों पर रहने को मजबूर होते हैं, जलवायु झटकों का सबसे पहला शिकार बनते हैं। जैसे, जब भारी बारिश होती है और बाढ़ आती है, तो सबसे पहले झुग्गियों को नुकसान पहुँचता है, जो नदी के किनारे या नालों के पास बसी होती हैं। इसी तरह, बढ़ते तापमान और 'शहरी ऊष्मा द्वीप' का प्रभाव उन दिहाड़ी श्रमिकों, निर्माण मजदूरों और रेहड़ी-पटरी वालों के लिए बेहद खतरनाक होता है, जिनके पास कोई एयर कंडीशंड जगह नहीं होती है या गर्मी से बचने की सुरक्षित जगह नहीं होती। आर्थिक संसाधनों और सामाजिक सुरक्षा की कमी के चलते, जलवायु परिवर्तन के हर झटके इन हाशिए के समुदायों को और अधिक गरीबी के जाल में घसीटता है।[3] इस संदर्भ का समालोचनात्मक विश्लेषण यह दर्शाता है कि जलवायु संकट के प्रति यह असमान संवेदनशीलता केवल संयोग नहीं है, बल्कि यह एक दोषपूर्ण शहरी शासन प्रणाली का परिणाम है।

भारत में शहरी नियोजन हमेशा से अभिजात्य और मध्यवर्ग के हितों को प्राथमिकता देता आया है। राज्य की नीतियां अक्सर 'पर्यावरणीय रंगभेद' पैदा करती हैं। इन परियोजनाओं में तकनीकी समाधान तो प्रमुख होते हैं, लेकिन वे शहर के बड़े अनौपचारिक मजदूर वर्ग की पर्यावरणीय सुरक्षा को नजरअंदाज कर देती हैं, जो असल में शहर की अर्थव्यवस्था का आधार हैं। यह नागरिकता के विचार पर सवाल उठाता है कि क्या एक लोकतांत्रिक कल्याणकारी राज्य में स्वच्छ पर्यावरण और जलवायु आपदाओं से सुरक्षा केवल उन लोगों का विशेषाधिकार है, जो इसके लिए भुगतान कर सकते हैं? भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत, सर्वोच्च न्यायालय 'स्वच्छ पर्यावरण और जीवन के अधिकार' को एक मौलिक अधिकार मानता है, लेकिन जमीनी स्थिति इस संवैधानिक वादे से काफी दूर है। 74वें संविधान संशोधन के तहत शहरी स्थानीय निकायों के विकेंद्रीकरण का जो लक्ष्य था, वह जलवायु अनुकूलन के मामले में भी विफल नजर आता है। नगरपालिकाओं के पास न तो पर्याप्त वित्तीय स्वतंत्रता है और न ही संस्थागत क्षमता है, जिससे वे जलवायु परिवर्तन जैसी जटिल चुनौतियों का समावेशी तरीके से सामना कर सकें। इससे, नीतियां अक्सर आपदा के बाद राहत पहुँचाने तक ही सीमित रह जाती हैं, जबकि असल जरूरत दीर्घकालिक और संरचनात्मक सुधारों की है।[4] यहीं पर 'जलवायु न्याय' का विचार बेहद महत्वपूर्ण हो जाता है। जलवायु न्याय यह मांग करता है कि पर्यावरणीय नीतियों और जलवायु अनुकूलन की रणनीतियों में न केवल भौतिक बुनियादी ढांचे को बल्कि मानवीय अधिकारों को भी केंद्र में रखा जाए। भारतीय शहरों में राजनीतिक प्रतिनिधित्व की कमी इस संकट को और बढ़ाती है। लाखों प्रवासी मजदूर, जो शहरों की आबादी का बड़ा हिस्सा हैं, मतदाता सूची में शामिल न होने के कारण राजनीतिक रूप से अदृश्य रहते हैं। नतीजतन, स्थानीय प्रशासन और नीति निर्माता उनकी बस्तियों में जलवायु अनुकूल ढांचे के निर्माण में कोई राजनीतिक लाभ नहीं देखते। यह प्रक्रियात्मक अन्याय की एक बेहतरीन मिसाल है, जहां सबसे अधिक प्रभावित समुदाय पूरी तरह से निर्णय प्रक्रिया से बाहर रखे जाते हैं।[5]

यह शोध पत्र भारत में जलवायु परिवर्तन और शहरी असमानता के इस जटिल संबंध का गहन और समालोचनात्मक मूल्यांकन करता है। राजनीति विज्ञान और राजनीतिक पारिस्थितिकी के सैद्धांतिक ढांचे का उपयोग करते हुए, यह अध्ययन यह देखता है कि कैसे समकालीन शहरी नीतियां और संस्थागत ढांचे जलवायु असमानताओं को बढ़ावा दे रहे हैं। यह न केवल राज्य की प्रतिक्रियाओं और नीतिगत खामियों का विश्लेषण करेगा, बल्कि यह भी सुझाव देगा कि कैसे एक अधिकार-आधारित दृष्टिकोण और समावेशी शहरी शासन प्रणाली के माध्यम से जलवायु न्याय को हासिल किया जा सकता है। इसका उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि जब तक जलवायु नीतियों को सामाजिक-आर्थिक समानता के व्यापक संघर्ष से नहीं जोड़ा जाएगा, तब तक भारतीय शहरों को न्यायसंगत और सुरक्षित बनाना केवल एक अधूरा सपना ही रहेगा।

जलवायु सुभेद्यता और शहरी गरीबी का अंतर्संबंध

शहरी गरीबी और जलवायु सुभेद्यता के बीच का रिश्ता कोई साधारण या प्राकृतिक घटना नहीं है। ये एक गहरी संरचनात्मक और राजनीतिक-आर्थिक प्रक्रिया का नतीजा है।

आज की राजनीतिक पारिस्थितिकी और शहरी अध्ययन हमें बताती हैं कि सुभेद्यता का आकलन सिर्फ प्राकृतिक खतरों के स्तर से नहीं किया जा सकता। असल में, यह एक सामाजिक और राजनीतिक निर्माण है, जो इस बात पर निर्भर करता है कि किस वर्ग के पास आपदाओं से निपटने, उनसे बचने, और बाद में खुद को फिर से खड़ा करने की कितनी क्षमता है। भारतीय शहरों के संदर्भ में, यह क्षमता वर्ग, जाति, और भौगोलिक हाशियाकरण के आधार पर काफी असमान है। जलवायु परिवर्तन पहले से मौजूद सामाजिक-आर्थिक विषमताओं को और बढ़ा देता है।[6] इस टकराव को समझने के लिए सबसे पहले स्थानिक सुभेद्यता का अध्ययन बेहद जरूरी है। भारतीय शहरों में नवउदारवादी नीतियों और भूमि के अंधाधुंध बाजारीकरण ने गरीबों को शहर के सुरक्षित और महंगे इलाकों से बाहर खदेड़ दिया है।

रियल एस्टेट के सट्टा बाजार में ये लोग मजबूरी में ऐसे स्थानों पर बसने को मजबूर होते हैं, जिन्हें शहरी नियोजन के मुताबिक 'रहने योग्य' नहीं माना जाता। इनमें नदियों के डूब क्षेत्र, गहरे नाले, दलदली भूमि, ऊँचे ढलान और औद्योगिक कचरे के डंपिंग ग्राउंड जैसे इलाके शामिल हैं। जब भी कोई मौसमी आपदा आती है, जैसे कि भारी बारिश या शहरी बाढ़, तो ये बस्तियां सबसे पहले जलमग्न होती हैं। यह भूमि उपयोग की राजनीति दिखाती है कि शहर के भूगोल पर गरीबों का कोई अधिकार नहीं है, और वे केवल उन खतरनाक जगहों पर रहने को मजबूर हैं।[7] स्थानिक सुभेद्यता के साथ-साथ, ढांचागत समस्याएं भी इस संकट को और गहरा बनाती हैं। झुग्गियों और अनधिकृत कॉलोनियों में बुनियादी सुविधाओं जैसे पक्की सड़कें, सीवरेज नेटवर्क, तूफानी जल निकासी और पेयजल की भारी कमी होती है। यहां घर अक्सर टिन की चादरों, तिरपाल, प्लास्टिक और मलबे से बनाए जाते हैं। जब शहर में लू चलती है, तो ये घर तंदूर की तरह गर्म हो जाते हैं, क्योंकि इनमें न तो वेंटिलेशन होता है और न ही ताप-रोधी सामग्री का इस्तेमाल किया गया होता। इसी तरह, हल्की बारिश भी जलभराव का कारण बन जाती है, क्योंकि पानी निकलने का कोई रास्ता नहीं होता। इस तरह, बुनियादी ढांचे में राज्य का भेदभावपूर्ण रवैया गरीबों को सीधे जलवायु की सबसे भयानक स्थितियों के सामने असहाय छोड़ देता है। साथ ही, व्यावसायिक और आजीविका से जुड़ी सुभेद्यता इस समस्या का एक बेहद महत्वपूर्ण पहलू है।

भारतीय शहरों में अधिकांश गरीब लोग अनौपचारिक अर्थव्यवस्था का हिस्सा होते हैं, जैसे निर्माण श्रमिक, रेहड़ी-पटरी वाले, रिक्शा चालक और कचरा बीनने वाले। इनकी आजीविका सीधे मौसम की स्थिति पर निर्भर करती है और इन्हें कोई सामाजिक सुरक्षा या छुट्टी की सुविधा नहीं होती। जब शहर में रिकॉर्ड तोड़ गर्मी या लगातार बारिश होती है, तो उच्च और मध्यम वर्ग के लोग वातानुकूलित कमरों में रह सकते हैं, लेकिन खुले में काम करने वाले मजदूरों की पूरी आजीविका ठप हो जाती है। काम के घंटे गंवाने का सीधा असर उनके परिवार के भोजन और पोषण पर पड़ता है। इसके अलावा, अत्यधिक तापमान में काम करने से हीटस्ट्रोक और गंभीर स्वास्थ्य समस्याएं होती हैं, जिससे उनकी कार्यक्षमता हमेशा के लिए घट सकती है।[8] राजनीति विज्ञान और शहरी शासन के परिप्रेक्ष्य से, इस सुभेद्यता का सबसे बड़ा कारण संपत्ति के अधिकारों और 'कानूनी मान्यता' की कमी है। राज्य की नजर में अधिकांश झुग्गियां और स्लम अवैध अतिक्रमण हैं। इस कानूनी 'अवैधता' का बहाना बनाकर स्थानीय प्रशासन जलवायु-अनुकूल बुनियादी ढांचे का विकास करने से बचता है। वहीं, बेदखली के डर के चलते गरीब भी अपनी सीमित बचत को अपने घर को पक्का और सुरक्षित बनाने में निवेश नहीं कर पाते। उन्हें हमेशा यह डर रहता है कि किसी दिन बुलडोजर आकर उनकी बस्ती को तिनकों के समान बिखेर सकता है।

राज्य की यह दंडात्मक नीति गरीबों को स्थायी तौर पर सुभेद्यता की स्थिति में बांध देती है। आखिरकार, जलवायु सुभेद्यता और गरीबी एक ऐसे दुष्चक्र का निर्माण करती हैं, जिसे तोड़ना मौजूदा नीतियों के तहत लगभग नामुमकिन लगता है। जब भी कोई जलवायु आपदा आती है, तो गरीबों की बचत, उनके घरेलू सामान और उनके घर सब कुछ खत्म हो जाता है। दूषित जलभराव के कारण मलेरिया, डेंगू और हैजा जैसी बीमारियां फैलती हैं, जिससे उनका स्वास्थ्य खर्च अचानक बढ़ जाता है। काम छिन जाने और इलाज के बढ़ते खर्च के कारण वे साहूकारों के कर्ज के जाल में फंस जाते हैं। इस तरह, एक जलवायु घटना उन्हें गरीबी रेखा से और नीचे धकेल देती है, जिससे भविष्य में किसी नई आपदा का सामना करने की उनकी क्षमता और भी घट जाती है।[9] जब तक शासन प्रणाली इस चक्रीय अन्याय को नहीं समझेगी, तब तक शहरी जलवायु अनुकूलन के प्रयास सतही साबित होंगे।

भारत में जलवायु परिवर्तन के प्रमुख शहरी प्रभाव

भारत के तेजी से बढ़ते शहरी और मझोले शहर आज जलवायु परिवर्तन के सबसे जटिल और विनाशकारी परिणामों का सामना कर रहे हैं। राजनीति विज्ञान और शहरी पारिस्थितिकी के विशेषज्ञ इस बात पर सहमत हैं कि जलवायु परिवर्तन के प्रभाव भारतीय शहरों में केवल प्राकृतिक आपदाएं नहीं हैं, बल्कि ये अनियोजित विकास नीतियों, शासन की विफलता, और पूंजीवादी शहरीकरण के सीधे परिणाम हैं। जलवायु परिवर्तन का असर शहरों के भौतिक बुनियादी ढांचे से लेकर उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिरता और सार्वजनिक स्वास्थ्य तक हर पहलू पर मुसीबत बन गया है। इसके मुख्य प्रभावों को हम निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से देख सकते हैं[10]: पहला और सबसे गंभीर प्रभाव 'शहरी ऊष्मा द्वीप' (Urban Heat Island) और लगातार बढ़ती लू (हीटवेव) की घटनाएं हैं। बढ़ते कंक्रीट के जंगल, डामर की सड़कें, और विशाल गगनचुंबी इमारतें शहरों को 'हीट ट्रैप' (ऊष्मा जाल) में बदल रही हैं। अब भारतीय शहर ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में कई डिग्री ज्यादा गर्म हो गए हैं। ये केवल मौसम की असुविधा नहीं है, बल्कि यह सार्वजनिक स्वास्थ्य और श्रम अधिकारों का गंभीर मुद्दा है। नीति-निर्माता वातानुकूलित कमरों में बैठकर इस तथ्य को नजरअंदाज कर देते हैं कि शहर के अनौपचारिक श्रमिक और सड़क पर काम करने वाले इस गर्मी के शिकार होते हैं, जिससे उनकी काम करने की क्षमता घटती है और हीट स्ट्रोक के कारण मौत का खतरा बढ़ता है। यह स्थिति दर्शाती है कि शहर का तापमान भी वर्ग के हिसाब से बंट चुका है।[11] दूसरा गंभीर प्रभाव 'शहरी बाढ़' की बढ़ती आवृत्ति और तीव्रता है। मुंबई, चेन्नई, बेंगलुरु और हाल ही में दिल्ली में बाढ़ की घटनाएं दर्शाती हैं कि अनियमित मानसून और अत्यधिक वर्षा अब आम बात है। लेकिन एक गहरी नजर डालने पर यह समझ में आता है कि शहरी बाढ़ केवल बारिश का परिणाम नहीं है; यह Urban Planning में विफलता और भू-माफियाओं, बिल्डरों और सरकारी भ्रष्टाचार का नतीजा है। इस गठजोड़ ने शहर के प्राकृतिक 'स्पंज'—झीलों, वेटलैंड्स, और जल निकासी के मार्गों पर कंक्रीट का अतिक्रमण किया है। जब बाढ़ आती है, तो यह न केवल बुनियादी ढांचे को नुकसान पहुंचाती है, बल्कि सामाजिक असमानताएं भी उजागर करती है। सबसे ज्यादा नुकसान गरीब बस्तियों में रहने वालों को होता है, जिनकी जीवन भर की पूंजी एक झटके में बह जाती है, जबकि सुरक्षित स्थानों पर रहने वाले अभिजात्य वर्ग इस संकट से काफी हद तक सुरक्षित रहते हैं।[12] जहां एक ओर भारतीय शहर बाढ़ से जूझ रहे हैं, वहीं दूसरी ओर वे एक गंभीर जल संकट के भी मुहाने पर हैं।

जलवायु परिवर्तन के कारण मानसूनी बारिश के पैटर्न में अनिश्चितता, लंबे समय तक सूखा और भूजल का अंधाधुंध दोहन जैसे मुद्दे बेंगलुरु, चेन्नई और शिमला जैसे शहरों को 'डे जीरो' (जब शहर का जल भंडार सूख जाए) की स्थिति में ला खड़ा कर रहे हैं। जल संकट का ये असर सामाजिक रूप से बहुत असमान है। नवउदारवादी नीतियों के कारण जल का बाजारीकरण बढ़ा है, जिससे पानी एक वस्तु बन गई है जो निजी टैंकरों के माध्यम से खरीदी जा सकती है। उच्च आय वर्ग इस संकट से बचते हैं, लेकिन शहर के गरीब और निम्न-मध्यम वर्ग को पानी खरीदने में अपनी आय का एक बड़ा हिस्सा खर्च करना पड़ता है। इसके साथ, पानी जुटाना ज्यादातर महिलाओं और युवा लड़कियों पर बोझ डालता है, जो उनके स्वास्थ्य, शिक्षा, और लैंगिक समानता पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। चौथा प्रमुख प्रभाव सार्वजनिक स्वास्थ्य के ढांचे में गिरावट और नई बीमारियों का फैलाव है। जलवायु परिवर्तन ने शहरी क्षेत्रों में तापमान और नमी के स्तर को बदल दिया है, जिससे डेंगू, मलेरिया, और चिकनगुनिया जैसे रोगों का फैलना आसान हो गया है। बार-बार आने वाली बाढ़ और जलभराव के बाद दूषित पानी के चलते हैजा और पीलिया जैसी बीमारियां तेजी से फैलती हैं। पहले से ही धन और श्रमिकों की कमी से जूझ रही सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली इन जलवायु-प्रेरित स्वास्थ्य संकटों का मुकाबला करने में असमर्थ है। महंगे निजी अस्पतालों की सेवाएं आम नागरिकों के लिए दूर की कौड़ी हैं, जिससे बीमारियां शहरी गरीबों को कर्ज के जाल में धकेल देती हैं।[13] अंत में, भारत की एक बड़ी आबादी तटीय महानगरीय केंद्रों जैसे मुंबई, कोलकाता और कोच्चि में बसी हुई है। जलवायु परिवर्तन के कारण समुद्र स्तर में वृद्धि और चक्रवातों की बढ़ती संख्या इन शहरों के अस्तित्व को खतरे में डाल रही हैं। समुद्र का खारा पानी तटीय मीठे पानी के स्रोतों और भूजल को प्रदूषित कर रहा है, जिससे स्थानीय पारिस्थितिकी तंत्र को खतरा है। यह मछुआरों और तटीय समुदायों की आजीविकाओं को प्रभावित कर रहा है। इसके अलावा, पर्यावरणीय विस्थापन के कारण 'जलवायु शरणार्थियों' की समस्या भी सामने आ रही है। ग्रामीण और तटीय क्षेत्रों से

विस्थापित लोग मजबूरी में बड़े शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं, जिससे पहले से ही खराब बुनियादी ढांचे पर और दबाव बढ़ रहा है। संक्षेप में, भारत में जलवायु परिवर्तन के शहरी प्रभाव केवल पर्यावरणीय या मौसमी बदलाव नहीं हैं; वे एक गहरे राजनीतिक और प्रशासनिक संकट का संकेत देते हैं। ये प्रभाव दर्शाते हैं कि मौजूदा विकास मॉडल, जो पारिस्थितिक सीमाओं की अनदेखी करता है और दीर्घकालिक दृष्टि के बिना बुनियादी ढांचे के निर्माण को प्राथमिकता देता है, पूरी तरह अस्थिर है। यह राज्य की कल्याणकारी भूमिका और नगर पालिकाओं की विफलता को भी उजागर करता है, जो स्मार्ट सिटी जैसी तकनीकी परियोजनाओं पर करोड़ों खर्च करती हैं, लेकिन जलवायु अनुकूलन को प्राथमिकता नहीं देतीं। जब तक शहरी शासन प्रणाली में मौलिक बदलाव नहीं होते, ये जलवायु प्रभाव भारतीय शहरों को असमानता और पर्यावरणीय पतन की गहरी खाई में ढकेलते रहेंगे।[14]

राजनीतिक और नीतिगत समालोचना

जलवायु परिवर्तन और शहरी असमानता के मुद्दों को सिर्फ तकनीकी या ढांचागत नजरिए से नहीं देख सकते। अगर आप राजनीति विज्ञान के छात्र या शोधकर्ता हैं, तो यह समझना बेहद जरूरी है कि राज्य, उसकी नीतियां और शासन की संस्थाएं कैसे अनजाने में या फिर कभी-कभी जानबूझकर इस संकट को और बढ़ा रही हैं। मौजूदा शहरी नीतियां अक्सर 'जलवायु शमन' और 'विकास' के नाम पर ऐसी योजनाओं को अपनाती हैं जो अमीरों को सुरक्षा देती हैं, जबकि हाशिए पर रहने वाले समुदायों को और ज्यादा असुरक्षित बना देती हैं। इस राज्य की भूमिका का आलोचनात्मक विश्लेषण दिखाता है कि भारतीय शहरों में जलवायु नीतियां सिर्फ तटस्थ नहीं हैं, बल्कि ये गहराई से राजनीतिक हैं और नवउदारवादी पूंजीवाद के हितों को ध्यान में रखती हैं।[15] इस नीतिगत विफलता का एक प्रमुख उदाहरण भारत सरकार का 'स्मार्ट सिटी मिशन' और 'अमृत' (AMRUT) जैसी महत्वाकांक्षी शहरी परियोजनाएं हैं। इन नीतियों का आधार 'टेक्नो-सेंट्रिक' (तकनीक-केंद्रित) है, जो मुख्य रूप से डिजिटल इंफ्रास्ट्रक्चर, स्मार्ट ग्रिड, वाई-फाई जोन और पूंजी-गहन बुनियादी ढांचे पर बल देती हैं। नीति-निर्माता मानते हैं कि प्रौद्योगिकी के जरिए जलवायु परिवर्तन जैसी जटिल समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। हालांकि, यह दृष्टिकोण शहर के बड़े अनौपचारिक वर्ग को पूरी तरह नजरअंदाज करता है, जिसे 'स्मार्ट' सुविधाओं से ज्यादा एक सुरक्षित, पक्के और जलवायु-अनुकूल आवास की जरूरत है। स्मार्ट सिटी के नाम पर अक्सर रिवरफ्रंट डेवलपमेंट या शहरी सौंदर्यीकरण जैसी परियोजनाएं चलाई जाती हैं, जो गरीब बस्तियों को शहर के केंद्र से बेदखल कर देती हैं। इसे अकादमिक विमर्श में 'पर्यावरणीय रंगभेद' या 'इको-अपार्थाइड' कहा गया है, जहां स्वच्छता और हरित क्षेत्र केवल ऊपर के वर्ग के लिए आरक्षित होते हैं, जबकि गरीबों को जोखिम भरे और औद्योगिक कचरे से भरे इलाकों में धकेल दिया जाता है।[16] संस्थागत स्तर पर, भारत में शहरी जलवायु संकट का सीधा संबंध 74वें संविधान संशोधन (1992) की विफलता से है। इस संशोधन का उद्देश्य शहरी स्थानीय निकायों को स्वायत्तता देकर विकेंद्रीकरण और जमीनी स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत करना था। थ्योरी में, नगर पालिकाओं को स्थानीय जलवायु अनुकूलन में अग्रणी होना चाहिए, क्योंकि वे नागरिकों के सबसे करीब होते हैं। लेकिन असलियत में बात बिलकुल उलट है।

राज्य सरकारों ने स्थानीय निकायों को वास्तविक वित्तीय और प्रशासनिक शक्तियां कभी नहीं दीं। आज, भारतीय नगर निगम गंभीर वित्तीय समस्याओं, कर्मचारियों की कमी और राजनीतिक हस्तक्षेप से जूझ रहे हैं। उनके पास न तो जलवायु विशेषज्ञों की टीम है और न ही दीर्घकालिक जलवायु कार्रवाई योजनाओं को लागू करने के लिए पर्याप्त बजट। नतीजा यह है कि स्थानीय प्रशासन केवल आपातकालीन प्रबंधन तक सीमित रह गया है, जबकि जलवायु अनुकूलन के लिए आवश्यक संरचनात्मक उपाय उनकी पहुंच से बाहर हैं।[17] साथ ही, भारत में जलवायु नीतियों के निर्माण की प्रक्रिया अत्यधिक अलोकतांत्रिक है और सामान्यत: 'ऊपर से नीचे' के दृष्टिकोण से प्रभावित है। राज्य जलवायु परिवर्तन कार्य योजनाएं (SAPCC) अक्सर वातानुकूलित दफ्तरों में बैठे नौकरशाहों और अंतरराष्ट्रीय सलाहकारों द्वारा बनाई जाती हैं, जिनमें स्थानीय समुदायों या नागरिक समाज की कोई भागीदारी नहीं होती। यह प्रक्रियात्मक अन्याय का एक बड़ा उदाहरण है। शहर के झुग्गी-झोंपड़ी के निवासी जो प्राकृतिक आपदाओं का सामना कर चुके हैं और जिनके पास स्थानीय पारिस्थितिकी का गहरा ज्ञान है, उन्हें इस नीति निर्माण में कभी भी प्राथमिकता नहीं दी जाती। जब नीतियां ऐसे लोगों द्वारा बनाई जाती हैं जो जमीनी वास्तविकताओं से कटे हुए होते हैं, तो वे उन लोगों की रक्षा नहीं कर पातीं जो सबसे अधिक संवेदनशील होते हैं।[18] इस

नीतिगत उपेक्षा के पीछे एक गहरा राजनीतिक और चुनावी गणित है। राजनीति विज्ञान में 'वोट बैंक की राजनीति' संसाधनों के आवंटन को समझने का एक महत्वपूर्ण तंत्र है। भारतीय शहरों में रहने वाले लाखों प्रवासी मजदूर, जो शहरी अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं, अक्सर उस शहर के पंजीकृत मतदाता नहीं होते। क्योंकि वे चुनाव में वोट नहीं डाल सकते, स्थानीय प्रतिनिधि उनके कल्याण या बस्तियों में जलवायु-अनुकूल बुनियादी ढांचे के विकास में कोई राजनीतिक लाभ नहीं देखते हैं। इसलिए, राजनीतिज्ञों के लिए मध्यम और उच्च वर्ग के क्षेत्रों में ढांचागत विकास करना ज्यादा फायदेमंद होता है, क्योंकि वहां से उन्हें वोट और चुनावी फंड दोनों मिलते हैं। इस कारण, शहरी गरीबों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व शून्य हो जाता है। अंत में, राज्य की नीतियां जलवायु परिवर्तन को एक 'आपदा' के रूप में देखती हैं, न कि एक 'अधिकारों के संकट' के रूप में। राज्य यह मानने को तैयार नहीं है कि स्वच्छ पानी, सुरक्षित आवास और अत्यधिक तापमान से बचाव नागरिकों का मौलिक अधिकार है। जब तक जलवायु परिवर्तन से निपटने की नीतियों को विकास और आर्थिक वृद्धि के नवउदारवादी मॉडल से अलग करके मानवाधिकारों और सामाजिक न्याय के ढांचे में नहीं ढाला जाएगा, तब तक राज्य की कोई भी नीति शहरी असमानता को कम करने में सफल नहीं हो पाएगी। यह राजनीतिक विश्लेषण स्पष्ट करता है कि जलवायु परिवर्तन केवल प्रकृति का एक प्रकोप नहीं है, बल्कि यह उस असमानता का एक लक्षण है जिसे हमारी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था ने अपने फायदे के लिए सावधानीपूर्वक निर्मित और संरक्षित किया है।[19]

जलवायु न्याय का परिप्रेक्ष्य

जलवायु न्याय का विचार इस महत्वपूर्ण सच्चाई से शुरू होता है कि जलवायु परिवर्तन सिर्फ ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन और तापमान में वृद्धि का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है। राजनीति विज्ञान और राजनीतिक दर्शन में, यह मानवाधिकार, नैतिकता, और सामाजिक समानता के संदर्भ में एक बड़ा मुद्दा है। अगर हम भारतीय शहरों की बात करें, तो जलवायु न्याय यह इंगित करता है कि पर्यावरणीय नुकसान और जलवायु आपदाओं का बोझ उन लोगों पर अधिक है जिन्होंने इस संकट में सबसे कम योगदान दिया है। जब हम जलवायु संकट को 'न्याय' के नजरिए से देखते हैं, तो चर्चा का केंद्र कार्बन कम करने और तकनीकी उपायों से हटकर उन ऐतिहासिक और संरचनात्मक असमानताओं पर चला जाता है, जो marginalized समुदायों को जानबूझकर जोखिम में डालती हैं। इस दृष्टिकोण से यह जरूरी है कि शहरी जलवायु नीतियों को परोपकार या कल्याणकारी योजनाओं के रूप में नहीं, बल्कि नागरिकों के अविभाज्य अधिकारों के रूप में देखा जाए।[20] जलवायु न्याय का पहला और सबसे महत्वपूर्ण स्तंभ 'वितरणात्मक न्याय' है। यह इस बात की गहराई से पड़ताल करता है कि किसी शहर में जलवायु परिवर्तन के नकारात्मक प्रभाव (जैसे बाढ़, लू, या जल संकट) और सकारात्मक संसाधनों (जैसे हरित क्षेत्र, स्वच्छ पेयजल, और जलवायु वित्त) का वितरण कैसे किया जा रहा है। भारतीय महानगरों में यह वितरण अत्यधिक असमान और अन्यायपूर्ण है। राज्य का अधिकांश जलवायु वित्त और संरचनात्मक निवेश उन आलीशान इलाकों की सुरक्षा में खर्च होता है, जहां उच्च और मध्यम वर्ग के लोग रहते हैं। नवउदारवादी शहरीकरण ने संसाधनों का इस तरह से बाजारीकरण कर दिया है कि सुरक्षा भी एक 'खरीदी जाने वाली चीज' बन गई है। इसके विपरीत, अनौपचारिक क्षेत्रों और झुग्गी बस्तियों को बुनियादी सुविधाओं से वंचित कर दिया गया है। वितरणात्मक न्याय ये मांग करता है कि संसाधनों का आवंटन विशेषाधिकार या क्रय शक्ति के बजाय सुभेद्यता और जरूरत के आधार पर होना चाहिए। जिन समुदायों को जलवायु आपदाओं का सबसे अधिक खतरा है, उन्हें शहर के जलवायु बजट और अनुकूलन संसाधनों का बड़ा हिस्सा मिलना चाहिए।[21] वितरणात्मक न्याय के साथ-साथ 'प्रक्रियात्मक न्याय' भी जलवायु विमर्श का एक अनिवार्य हिस्सा है। इसका मूल सवाल है कि नीतियों का निर्धारण कौन कर रहा है और निर्णय लेने की मेज पर किसे बैठने का अधिकार है? यह 'शहर पर अधिकार' की अवधारणा से जुड़ा है, जो मानती है कि शहर के निर्माण में हर नागरिक की समान हिस्सेदारी होनी चाहिए। फिलहाल, भारतीय शहरों की जलवायु कार्ययोजनाएं मुख्य रूप से कुलीन और तकनीकी विशेषज्ञों द्वारा संचालित हैं। इन नीतियों के निर्माण में उन समुदायों जैसे ठेले-खुमचाले वाले, निर्माण श्रमिक, और झुग्गियों में रहने वाले लोग की राय नहीं ली जाती है, जिनका जीवन जलवायु परिवर्तन से सबसे अधिक प्रभावित होता है। जब तक इन marginalized समूहों की भागीदारी सुनिश्चित नहीं की जाती, तब तक कोई भी नीति समावेशी नहीं हो सकती। प्रक्रियात्मक न्याय यह सुनिश्चित करता है कि प्रभावित समुदायों को सिर्फ 'लाभार्थी'

या 'पीड़ित' नहीं माना जाना चाहिए, बल्कि उन्हें शहर के पारिस्थितिक भविष्य के निर्माण में एक अहम हितधारक माना जाना चाहिए।[22] जलवायु न्याय का तीसरा और अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू 'मान्यता का न्याय' है, जो इस बात को रेखांकित करता है कि जलवायु सुभेद्यता एकरूप नहीं होती। भारतीय समाज की जटिलता को समझते हुए, यह जरूरी है कि जलवायु संकट जाति, वर्ग और लैंगिक पहचान के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। उदाहरण के लिए, एक झुग्गी में रहने वाली दलित महिला की जलवायु सुभेद्यता एक पुरुष या सवर्ण महिला की तुलना में कहीं अधिक होती है, क्योंकि जल संकट के समय पानी जुटाने की शारीरिक और सामाजिक जिम्मेदारी मुख्यत: महिलाओं पर होती है, और जातिगत भेदभाव उनकी संसाधनों तक पहुंच को भी सीमित कर देता है। इसी तरह, अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले आदिवासी और बहुजन श्रमिक लू और बाढ़ के आर्थिक झटकों के प्रति सबसे अधिक असुरक्षित होते हैं, क्योंकि उनके पास कोई सामाजिक सुरक्षा या संपत्ति नहीं होती। न्याय का यह नजरिया मांग करता है कि राज्य इन जटिल पहचानों और उनके अनुभवों को अपनी जलवायु नीतियों में समाहित करे। जब तक राज्य इन अंतर्निहित सामाजिक भेदभावों को स्वीकार नहीं करेगा, तब तक जलवायु नीतियां अपने स्वरूप में सतही और भेदभावपूर्ण बनी रहेंगी।[23] आखिरकार, राजनीति विज्ञान के एक शोधार्थी के लिए जलवायु न्याय का अध्ययन राज्य और नागरिक के बीच बदलते सामाजिक अनुबंध को समझने का एक तरीका है। यह हमें यह सिखाता है कि जलवायु परिवर्तन के खिलाफ लड़ाई और गरीबी तथा शहरी असमानता के खिलाफ लड़ाई दो अलग-अलग मुद्दे नहीं हैं; ये एक ही बड़े राजनीतिक संघर्ष के दो पहलू हैं।

भारतीय शहरों को जलवायु अनुकूल बनाना सिर्फ मजबूत दीवारें खड़ी करने या जल निकासी को दुरुस्त करने का नाम नहीं है। असली मायने में इसका मतलब है शहरी शासन को लोकतांत्रिक बनाना, अनौपचारिक श्रमिकों के अधिकारों की सुरक्षा करना और गरीबों के लिए भूमि तथा संसाधनों पर अधिकारों को वैधानिक मान्यता देना। जलवायु न्याय का जोर इस बात पर है कि जब तक समाज का सबसे गरीब और कमजोर व्यक्ति पर्यावरणीय आपदाओं के खिलाफ सुरक्षित नहीं है, तब तक कोई भी शहर या राज्य खुद को सुरक्षित या विकसित नहीं कह सकता। एक सच्चा जलवायु नीति वही हो सकती है जो केवल कार्बन उत्सर्जन कम करने की बात नहीं करती, बल्कि मानवाधिकार, गरिमा, और समानता के मूल्यों पर आधारित होती है।[24]

निष्कर्ष और आगे का रास्ता

भारत में जलवायु परिवर्तन और शहरी असमानता पर यह आलोचनात्मक अध्ययन यह साबित करता है कि आज के पर्यावरणीय संकट का सवाल सिर्फ मौसम विज्ञान या प्राकृतिक विज्ञान का नहीं है, बल्कि यह एक गहरी राजनीतिक, संस्थागत और सामाजिक-आर्थिक चुनौती है। पहले के अध्यायों में किए गए विश्लेषण से यह साफ होता है कि भारत के शहरों में जलवायु परिवर्तन एक 'खतरे का गुणक' बनकर उभरा है। यह नवउदारवादी पूंजीवाद, अनियोजित शहरीकरण और कल्याणकारी राज्य की विफलताओं से पैदा हुई मौजूदा असमानताओं को तेज कर रहा है। 'शहरी ऊष्मा द्वीप', विनाशकारी बाढ़ और जल संकट जैसी समस्याएं केवल प्राकृतिक आपदाएं नहीं हैं, बल्कि ये दोषपूर्ण शहरी शासन की विफलताएं हैं। अक्सर, राज्य की नीतियां उच्च और मध्यवर्ग के हितों की रक्षा करती हैं, जबकि अनौपचारिक श्रमिकों और झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वालों को 'पर्यावरणीय रंगभेद' का सामना करना पड़ता है। इस तरह, जलवायु की संवेदनशीलता एक प्राकृतिक आपदा नहीं, बल्कि यह एक राजनीतिक निर्माण है, जो संपत्ति के अधिकारों की कमी, राजनीतिक प्रतिनिधित्व की कमी और अलोकतांत्रिक नीति-निर्माण प्रक्रियाओं से उभरती है। इस गंभीर संकट के समाधान के लिए हमें पारंपरिक, तकनीकी और शीर्ष से तल (टॉप-डाउन) दृष्टिकोण को पूरी तरह से छोड़ना होगा। आगे का रास्ता न सिर्फ भौतिक बुनियादी ढांचे के निर्माण या स्मार्ट सिटी परियोजनाओं तक सीमित नहीं हो सकता; बल्कि इसके लिए हमें शहरी शासन और राजनीतिक इच्छाशक्ति में एक गहरा और संरचनात्मक परिवर्तन लाने की जरूरत है। जलवायु न्याय प्राप्त करने और भारतीय शहरों को भविष्य के पारिस्थितिक संकटों से बचाने के लिए हमें कुछ बहुआयामी और अधिकार-आधारित रणनीतियों को अपनाना जरूरी है : सबसे पहले, शहरी नियोजन को समावेशी और न्यायसंगत बनाना है। राज्य को मलिन बस्तियों को 'अवैध अतिक्रमण' के रूप में देखने के दंडात्मक दृष्टिकोण को बदलना होगा। जलवायु अनुकूलन के लिए सबसे प्रभावी उपाय गरीबों को उनके आवास का कानूनी अधिकार देने का है। जब तक बस्तियों में बेदखली का डर रहेगा, तब तक न तो

समुदाय और न ही राज्य वहां जलवायु-अनुकूल बुनियादी ढांचे का निर्माण करेंगे। मास्टर प्लान बनाते समय पर्यावरणीय तौर पर संवेदनशील क्षेत्रों की पहचान होनी चाहिए और विस्थापित समुदायों के लिए शहर के केंद्र के पास सुरक्षित और किफायती आवास की व्यवस्था की जानी चाहिए, बजाय उन्हें शहर के बाहरी हिस्सों में धकेलने के। आवास का अधिकार जलवायु सुरक्षा की पहली सीढ़ी है। दूसरा, 74वें संविधान संशोधन की मूल भावना के अनुसार उसका पुनर्स्थापन और कार्यान्वयन करना है। जलवायु परिवर्तन के प्रभाव स्थानीय होते हैं, इसलिए उनके समाधान भी स्थानीय स्तर पर होना चाहिए। शहरी स्थानीय निकायों को राज्य सरकारों के राजनीतिक और प्रशासनिक नियंत्रण से मुक्त कर उन्हें वित्तीय स्वतंत्रता, निर्णय लेने की क्षमता और तकनीकी दक्षता दी जानी चाहिए। जलवायु वित्त का एक बड़ा हिस्सा सीधे नगर पालिकाओं को दिया जाना चाहिए ताकि वे अपनी जरूरतों के अनुसार योजनाएं बना सकें। इसके साथ, वार्ड समितियों और मोहल्ला सभाओं को पुनर्जीवित करना चाहिए ताकि स्थानीय नागरिक, खासकर महिलाएं और हाशिए के समुदाय, जलवायु अनुकूलन परियोजनाओं में भाग ले सकें। तीसरा, जलवायु नीतियों को श्रम अधिकारों और सामाजिक सुरक्षा के साथ मिलाना है। भारत के शहरी गरीबों का एक बड़ा हिस्सा अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में काम कर रहा है, जो जलवायु झटकों के लिए सबसे संवेदनशील है। जब अत्यधिक तापमान या भारी वर्षा के कारण बाहर निकलना जानलेवा हो जाता है, तब इन श्रमिकों के लिए वैधानिक सवैतनिक अवकाश मिलना जरूरी है। राज्य को एक 'शहरी रोजगार गारंटी योजना' और 'जलवायु बीमा' का एक मजबूत तंत्र विकसित करना चाहिए, जो विशेष रूप से रेहड़ी-पटरी वालों, निर्माण श्रमिकों और कचरा बीनने वालों को लक्षित करे। मौसमी आपदाओं की वजह से उनके निवास या आजीविका का नुकसान होने पर बिना किसी लंबी प्रक्रिया के तुरंत मुआवजा दिया जाना चाहिए, ताकि वे कर्ज के चक्र में न फंसें। चौथा, जलवायु नीतियों को प्रतिच्छेदी दृष्टिकोण अपनाना होगा। नीतियों का निर्माण करते समय यह समझना जरूरी है कि जलवायु संकट का प्रभाव वर्ग, जाति और जेंडर के आधार पर अलग होता है। अनुकूलन रणनीतियों को महिलाओं, दलितों और प्रवासियों की विशेष जरूरतों के अनुसार ढाला जाना चाहिए। साथ ही 'प्रकृति-आधारित समाधान' को भी बढ़ावा दिया जाना चाहिए। कंक्रीट की बुनियादी ढांचे पर निर्भरता कम करते हुए, शहरी झीलों, वेटलैंड्स, और हरे क्षेत्रों का संरक्षण और पुनरुद्धार करना चाहिए। ये प्राकृतिक संसाधन किसी एक निजी बिल्डर की संपत्ति नहीं, बल्कि पूरे शहर के लिए जलवायु सुरक्षा का ढाल हैं, और इनका प्रबंधन सामुदायिक भागीदारी से होना चाहिए। सिर्फ यही नहीं, बल्कि राजनीति विज्ञान और न्याय के नजरिए से देखा जाए, तो भारत में शहरी जलवायु संकट के समाधान की कुंजी न तो इंजीनियरिंग में है और न ही अंतरराष्ट्रीय संधियों में, बल्कि यह लोकतंत्र के सुदृढ़ीकरण और सामाजिक न्याय की स्थापना में है। राज्य का पहला कर्तव्य है अपने सबसे कमजोर नागरिकों के जीवन और गरिमा की रक्षा करना, जिसे संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत मूल अधिकार माना गया है। जब तक जलवायु परिवर्तन के निवारण और अनुकूलन की रणनीतियों को गरीबी उन्मूलन, मानवाधिकारों और लोकतांत्रिक भागीदारी के साथ नहीं जोड़ा जाता, तब तक 'सुरक्षित और स्मार्ट शहर' का विचार सिर्फ एक खोखला नारा बना रहेगा। जलवायु न्याय तभी संभव है, जब शहर के संसाधनों और उसके भविष्य के पारिस्थितिक स्वरूप को तय करने की ताकत समाज के हर उस अंतिम व्यक्ति के पास होगी, जो आज इस संकट का सबसे बड़ा शिकार है।

शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सन्दर्भ सूची

1. कुंदू, ए. (2011). भारत में शहरीकरण और शहरी शासन : असमानता और बहिष्करण के नए आयाम. अश्वक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 45-48.
2. रेवी, ए. (2008). जलवायु परिवर्तन का जोखिम : भारतीय शहरों के लिए एक अनुकूलन और शमन एजेंडा. एनवायरनमेंट एंड अर्बनाइजेशन, 20(1). पृ. 210-212.
3. बाविस्कर, ए. (2003). हिंसा और इच्छा के बीच : दिल्ली में स्थान, शक्ति और पहचान. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 38(2). पृ. 92.
4. दुबाश, एन. के. (2012). जलवायु परिवर्तन और भारत : विकास, राजनीति और वैश्विक प्रशासन. सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च. पृ. 115-118.
5. भान, जी. (2016). जनहित में : दिल्ली की मलिन

बस्तियां, बेदखली और नागरिकता. ओरिएंट ब्लैकस्वान. पृ. 78–81.

6. अग्रवाल, बी. (2014). जेंडर, पर्यावरण और सुभेद्यता : राजनीतिक पारिस्थितिकी के नए आयाम. कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 88–91.
7. महादेविआ, डी. (2011). भारतीय शहरों में जलवायु परिवर्तन और असुरक्षित आवास : एक नीतिगत विश्लेषण. अर्बन स्टडीज जर्नल, 23(4). पृ. 112–115.
8. साहा, एस., और घोष, ए. (2018). अनौपचारिक श्रम और जलवायु चरम : दिल्ली के रेहड़ी-पटरी वालों का अध्ययन. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 53(12). पृ. 45–48.
9. भान, जी. (2014). अवैध शहर और नागरिकता की राजनीति : शहरी बेदखली का न्यायशास्त्र. लॉ एंड सोसाइटी रिव्यू, 48(3). पृ. 210–213.
10. पचौरी, एस., और चक्रवर्ती, डी. (2018). शहरीकरण और जलवायु संकट : भारत में पर्यावरण और स्वास्थ्य की राजनीति. सेज पब्लिकेशन्स. पृ. 102–105.
11. मेनन, ए. (2016). चेन्नई की बाढ़ और शहरी नियोजन की राजनीति : एक पारिस्थितिक विश्लेषण. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 51(8). पृ. 34–37.
12. नारायण, एस. (2019). नवउदारवादी शहर में जल का बाजारीकरण और लैंगिक असमानता. जर्नल ऑफ एशियन पब्लिक पॉलिसी, 12(2). पृ. 145–148.
13. घोष, ए. (2021). द ग्रेट डिअरेंजमेंट : क्लाइमेट चेंज एंड द अनथिंकेबल (हिंदी अनुवाद). पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया. पृ. 88–92.
14. रामनाथ, एम. (2017). स्मार्ट सिटी और बेदखली का अर्थशास्त्र : भारत में नवउदारवादी शहरीकरण की समीक्षा. जर्नल ऑफ अर्बन पॉलिसी, 15(3). पृ. 45–49.
15. साहा, डी., और भान, जी. (2019). विकेंद्रीकरण का भ्रम : भारतीय शहरों में शासन, राजनीति और जलवायु अनुकूलन. ओरिएंट ब्लैकस्वान. पृ. 112–116.
16. दुबाश, एन. के., और जोगेलकर, ए. (2015). भारत में जलवायु नीति का संस्थागतकरण : ऊपर से नीचे के दृष्टिकोण की सीमाएं. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 50(22). पृ. 55–58.
17. रॉय, ए. (2014). नागरिकता की अनौपचारिकता : भारतीय शहरों में प्रवासी मजदूर और राजनीतिक बहिष्कार. पॉलिटिकल जियोग्राफी जर्नल, 38(1). पृ. 88–92.
18. देशपांडे, आर. (2018). पारिस्थितिकी और न्याय : भारतीय परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण राजनीति. सेज पब्लिकेशन्स. पृ. 67–71.
19. नंदा, एम. (2020). नवउदारवादी शहर और जलवायु असमानता : वितरणात्मक न्याय की विफलता. जर्नल ऑफ एशियन अर्बन स्टडीज, 14(2). पृ. 112–115.
20. भान, जी., और चटर्जी, पी. (2019). शहर पर किसका अधिकार? शहरी नियोजन और प्रक्रियात्मक न्याय का संकट. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 54(9). पृ. 45–48.
21. राव, एस. (2021). मान्यता का संकट : जेंडर, जाति और जलवायु सुभेद्यता. इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, 82(3). पृ. 210–214.
22. भान, जी., और पेंकल, ई. (2018). शहरी अधिकार और बेदखली : भारतीय शहरों में नियोजन की राजनीति. कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 185–188.
23. साहा, डी. (2020). स्थानीय शासन और जलवायु अनुकूलन : 74वें संशोधन की चुनौतियां और संभावनाएं. पब्लिक पॉलिसी एंड एडमिनिस्ट्रेशन रिसर्च, 29(4). पृ. 55–59.
24. चटर्जी, पी., और सेन, ए. (2021). अनौपचारिक श्रम और जलवायु आपदा : सामाजिक सुरक्षा जाल की आवश्यकता. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 56(14). पृ. 40–44.

सन्दर्भ ग्रंथ

★ अग्रवाल, बी. (2014). जेंडर, पर्यावरण और सुभेद्यता : राजनीतिक पारिस्थितिकी के नए आयाम. कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

★ कुंदू, ए. (2011). भारत में शहरीकरण और शहरी शासन : असमानता और बहिष्करण के नए आयाम. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

★ घोष, ए. (2021). द ग्रेट डिअरेंजमेंट : क्लाइमेट चेंज एंड द अनथिंकेबल (हिंदी अनुवाद). पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया.

★ चटर्जी, पी., और सेन, ए. (2021). अनौपचारिक श्रम

और जलवायु आपदा : सामाजिक सुरक्षा जाल की आवश्यकता. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 56(14), 40–44.

★ दुबाश, एन. के. (2012). जलवायु परिवर्तन और भारत : विकास, राजनीति और वैश्विक प्रशासन. सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च.

★ दुबाश, एन. के., और जोगेलेकर, ए. (2015). भारत में जलवायु नीति का संस्थागतकरण : ऊपर से नीचे के दृष्टिकोण की सीमाएं. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 50(22), 55–58.

★ देशपांडे, आर. (2018). पारिस्थितिकी और न्याय : भारतीय परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण राजनीति. सेज पब्लिकेशन्स.

★ नंदा, एम. (2020). नवउदारवादी शहर और जलवायु असमानता : वितरणात्मक न्याय की विफलता. जर्नल ऑफ एशियन अर्बन स्टडीज, 14(2), 112–115.

★ नारायण, एस. (2019). नवउदारवादी शहर में जल का बाजारीकरण और लैंगिक असमानता. जर्नल ऑफ एशियन पब्लिक पॉलिसी, 12(2), 145–148.

★ पचौरी, एस., और चक्रवर्ती, डी. (2018). शहरीकरण और जलवायु संकट : भारत में पर्यावरण और स्वास्थ्य की राजनीति. सेज पब्लिकेशन्स.

★ बाविस्कर, ए. (2003). हिंसा और इच्छा के बीच : दिल्ली में स्थान, शक्ति और पहचान. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 38(2), 92–105.

★ भान, जी. (2014). अवैध शहर और नागरिकता की राजनीति : शहरी बेदखली का न्यायशास्त्र. लॉ एंड सोसाइटी रिव्यू, 48(3), 210–213.

★ भान, जी. (2016). जनहित में : दिल्ली की मलिन बस्तियां, बेदखली और नागरिकता. ओरिएंट ब्लैकस्वान.

★ भान, जी., और चटर्जी, पी. (2019). शहर पर किसका अधिकार? शहरी नियोजन और प्रक्रियात्मक न्याय का संकट. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 54(9), 45–48.

★ भान, जी., और पेंकल, ई. (2018). शहरी अधिकार और बेदखली : भारतीय शहरों में नियोजन की राजनीति. कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

★ महादेविआ, डी. (2011). भारतीय शहरों में जलवायु परिवर्तन और असुरक्षित आवास : एक नीतिगत विश्लेषण. अर्बन स्टडीज जर्नल, 23(4), 112–115.

★ मेनन, ए. (2016). चेन्नई की बाढ़ और शहरी नियोजन की राजनीति : एक पारिस्थितिक विश्लेषण. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 51(8), 34–37.

★ रामनाथ, एम. (2017). स्मार्ट सिटी और बेदखली का अर्थशास्त्र : भारत में नवउदारवादी शहरीकरण की समीक्षा. जर्नल ऑफ अर्बन पॉलिसी, 15(3), 45–49.

★ राव, एस. (2021). मान्यता का संकट : जेंडर, जाति और जलवायु सुभेद्यता. इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, 82(3), 210–214.

★ रेवी, ए. (2008). जलवायु परिवर्तन का जोखिम : भारतीय शहरों के लिए एक अनुकूलन और शमन एजेंडा. एनवायरनमेंट एंड अर्बनाइजेशन, 20(1), 210–212.

★ रेवी, ए., और अन्य. (2019). जलवायु परिवर्तन और भारतीय शहर : प्रकृति-आधारित समाधान और सतत विकास. सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च.

★ रॉय, ए. (2014). नागरिकता की अनौपचारिकता : भारतीय शहरों में प्रवासी मजदूर और राजनीतिक बहिष्कार. पॉलिटिकल जियोग्राफी जर्नल, 38(1), 88–92.

★ साहा, डी. (2020). स्थानीय शासन और जलवायु अनुकूलन : 74वें संशोधन की चुनौतियां और संभावनाएं. पब्लिक पॉलिसी एंड एडमिनिस्ट्रेशन रिसर्च, 29(4), 55–59.

★ साहा, डी., और भान, जी. (2019). विकेंद्रीकरण का भ्रम : भारतीय शहरों में शासन, राजनीति और जलवायु अनुकूलन. ओरिएंट ब्लैकस्वान.

★ साहा, एस., और घोष, ए. (2018). अनौपचारिक श्रम और जलवायु चरम : दिल्ली के रेहड़ी-पटरी वालों का अध्ययन. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 53(12), 45–48.

डॉ. शीला कुमारी

बौद्ध-साहित्य के प्रचार-प्रसार में अनुवाद की भूमिका

भारतीय संस्कृति और साहित्य से अनुवाद के माध्यम से ही दुनिया परिचित हो सकी। अनुवाद संस्कृति, सांस्कृतिक मूल्यों, ज्ञान-विज्ञान, भाव-सौंदर्य, रीति-रिवाज, परंपराओं आदि के आदान-प्रदान करने का सबसे सशक्त माध्यम है। अनुवाद एक अपरिहार्य उपकरण है जिससे भारतीय साहित्य में वर्णित विषय-वस्तु और उसके भाव-सौन्दर्य का आस्वादन किया जा सकता है। 'विश्व-साहित्य' की अवधारणा को मूर्त रूप प्रदान करने में जिन चिंतकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, उनमें हरीश त्रिवेदी, गायत्री चक्रवर्ती, लारेंस वेनुटी, मोना बेकर, सूसन बेसनेट, होमी भाभा आदि का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। भारत के वैभवपूर्ण सांस्कृतिक अतीत को विदेशी समाज अनुवाद के माध्यम से ही जान सका है।

अनुवाद ने बौद्ध-विचारधारा को सीमाओं से परे पहुंचाया और इसे सार्वभौमिक बनाया। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों को प्राकृत भाषा में दिया था जो उस समय की आम बोलचाल की भाषा थी। बाद में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए इन उपदेशों को विभिन्न भाषाओं में अनुवादित किया गया। जीवन में मध्यम मार्ग के प्रचार-प्रसार को सामान्य जन में व्यापक स्वीकार्यता मिली। अनुवाद ने बौद्ध धर्म को एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आंदोलन में परिवर्तित कर दिया।

बौद्ध धर्म का उद्‌गम भारत में हुआ परंतु इसकी शिक्षा और सिद्धांत समय के साथ एशिया के अनेक देशों में फैला। इस वैश्विक प्रसार में अनुवाद का काम अत्यंत महत्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म के प्रारंभिक ग्रंथ जैसे त्रिपिटक मूलत: पालि तथा संस्कृत में थे। जैसे-जैसे बौद्ध धर्म चीन, तिब्बत, कोरिया, जापान आदि पहुंचा; इन ग्रंथों को स्थानीय भाषाओं में रूपांतरित करने की आवश्यकता पड़ी। कई बार भारतीय संदर्भ की बातें चीनी या तिब्बती पाठकों के लिए अपरिचित होती थीं। अनुवादकों ने स्थानीय रूपकों, उदाहरणों व व्याख्याओं का समावेश कर ग्रन्थों को स्वीकार्य बनाया। नालंदा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालय में विद्वान भिक्षु विदेशी शिष्यों को अनुवाद में प्रशिक्षित करते थे।

बौद्ध साहित्य अत्यंत विशाल है पर उसका बहुत ही कम अंश अपने मूल रूप में सुरक्षित रह सका है। बौद्ध साहित्य पालि, संस्कृत, तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं में संरक्षित है। पालि दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में, संस्कृत दक्षिण और मध्य एशिया में, चीनी पूर्वी एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ हिस्सों में और तिब्बती हिमालय और मंगोलियाई समुदायों में एक अनुवादिक भाषा के रूप में कार्य करती है। संस्कृत, पालि, तिब्बती और चीनी- सभी स्थानीय भाषाओं में अनुवाद के स्रोत के रूप में कार्य करते हैं। अनुवाद प्रथाओं ने विभिन्न सांस्कृतिक और भाषाई समुदाय के लिए ग्रन्थों को सुलभ बनाने में और बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बौद्ध धर्म के कुछ आधुनिक विद्वानों ने सोचा है कि तिब्बती अनुवादों का उपयोग 'बैक-ट्रांसलेशन' के पुनर्निर्माण के लिए किया जा सकता है। तिब्बत में अनुवाद तकनीकों के नियमितीकरण के विपरीत चीनी अनुवाद व्यापक दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हैं।

मौर्य साम्राज्य का प्रतापी सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा अनुयायी एवं आश्रयदाता रहा। अशोक के उत्तर कालीन कुषाण वंश के संस्थापक कनिष्क ने और उसके बाद

गुप्त राजाओं ने इस धर्म-प्रचार कार्य को मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, वर्मा, थाईलैंड और कंबोडिया आदि देशों में प्रचारित-प्रसारित करवाया और सहस्राब्दियों के बाद भी इन देशों में बौद्ध धर्म की अटूट परंपरा बनी हुई है।

चीन और भारत के सांस्कृतिक संबंधों की स्थाई परंपरा 64 ई. से आरंभ होती है। भारतीय बौद्ध भिक्षु काश्यप मातंग और धर्मरक्ष के चीन-प्रवेश (68 ई.) और वहां 'बयालीस-परिच्छेदीय सूत्र' आदि ग्रन्थों के अनुवाद (भाषांतर) करने के बाद चीन-भारत के सांस्कृतिक मैत्री संबंधों की ऐतिहासिक परंपरा का उदय हुआ। मध्य एशिया से आन-शिह-काओ (लोकोत्तम) नामक राजकुमार ने राज्य त्याग कर सन्यास धारण कर चीन आ गया। वहां रहकर आन-शिह-काओ ने लगभग 10 लाख शब्दों से युक्त 30 ग्रन्थों का अनुवाद किया।[1] इस युग में प्रभाकरमित्र, अतिगुप्त, नादिर, बुद्धपाल, दिवाकर, देव प्रज्ञा, शुभंकरण, बोधिरुचि आदि बौद्ध भिक्षु भारत से चीन गए और वहां रहकर सैकड़ों ग्रन्थों का अनुवाद किया। महायान सूत्र जैसे लोटस सूत्र और हृदय सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद बहुत प्रभावशाली रहा। चीन के आधुनिक प्रजातंत्र युग के प्रमुख भिक्षु ताई-हु और ओउ-यांग-चिग-बू हुए, जिनके अविरत प्रयासों से चीन में कई साहित्यिक संस्थाएं, विद्यापीठ और परिषदें नियुक्त हुई और जिनके द्वारा कई ग्रन्थों का अनुवाद व संपादन और मुद्रण का कार्य किया गया।[2]

चीनी बौद्ध भिक्षुओं के संपर्क में सातवीं-आठवीं शताब्दी में कोरिया में बौद्ध धर्म की जड़ें मजबूत हुईं। नवमी शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी तक हीआन और कमुकर युगों में बौद्ध धर्म को जनसाधारण का धर्म बनाने के लिए बौद्ध-सिद्धांतों का राष्ट्रीयकरण हुआ। तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश चौथी शताब्दी में हो चुका था। तिब्बतीय साहित्य के पिता थो- मि-सम्-भौ-ट ने अकेले तिब्बती लिपि और व्याकरण पर आठ स्वतंत्र ग्रंथ लिखे और अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों को तिब्बती में अनूदित किया। तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार और बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के लिए नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य शांतरक्षित को आमंत्रित किया। दसवीं 11वीं शताब्दी के लगभग पश्चिमी तिब्बत के राजवंशों ने कई तिब्बती विद्वान भिक्षुओं को आश्रय देकर तत्कालीन बौद्ध विद्या के केंद्र कश्मीर में अध्ययनार्थ भेजा और बहुत सारे बौद्ध-ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद करवाया। बौद्ध साहित्य की महत्ता को सुदूर देशों में प्रचारित करने और वर्षों के अथक परिश्रम से बौद्ध कृतियों का अनुवाद एवं व्याख्या करने वाले भारतीय विद्वानों में आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य ने निरंतर घूम-घूम कर तिब्बत भर में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार और ग्रन्थों की रचना एवं अनुवाद किया।[3] दीपंकर श्रीज्ञान द्वारा तिब्बती में अनूदित ग्रन्थों की सूची—

	ग्रन्थ	ग्रन्थकार
1.	माध्यमक रत्नप्रदीप	भव्य
2.	माध्यमक हृदयकारिका	भव्य
3.	मध्यमक हृदयकारिका वृत्ति	भव्य
4.	माध्यमकार्थसंग्रह	भव्य
5.	माध्यमकभ्रमघाट	आर्यदेव
6.	पञ्चस्कन्धप्रकरण	चन्द्रकीर्ति
7.	रत्नाकरण्डोद्घाट	दीपंकर श्रीज्ञान
8.	शिक्षासमुच्चयाभिसमय	धर्मपाल
9.	बोधिपथप्रदीप	दीपंकर श्रीज्ञान
10.	बोधिपथप्रदीपपञ्जिका	दीपंकर श्रीज्ञान
11.	महासूत्रसमुच्चय	दीपंकर श्रीज्ञान

नेपाल के राजा अंशुबर्मन ने तिब्बत के राजाश्रय में संस्कृत के बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद करवाया। अनुवादकों में नेपाली विद्वान शीलमंजु का नाम उल्लेखनीय है। नेपाल की धर्मोदय सभा के द्वारा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया जा रहा है, फलस्वरूप कई पालि ग्रंथ अनूदित होकर प्रकाश में आए हैं।

दक्षिण में श्रीलंका, वर्मा मलयप्रायदीप, स्याम (थाईलैंड), काम्बोज (कंबोडिया), चंपा (वियतनाम) और इंडोनेशिया आदि देशों में भी बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य का प्रवेश सम्राट अशोक के समय होने लगा था। इन देशों में बौद्ध धर्म एवं बौद्ध साहित्य के अध्ययनार्थ वहां अनेक महत्वपूर्ण कार्य होते रहे और आज भी वहां साहित्य निर्माण की यह उच्च परम्परा बनी हुई है।[4]

बौद्धकालीन भारत की चार संगीति प्रसिद्ध हैं। तृतीय बौद्ध संगीति सम्राट अशोक के समय एवं संरक्षण में बुद्धपरिनिर्वाण के 236 वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई।[5] इस संगीति की विशेषता यह है कि इस समय अशोक ने यवन, कंबोज, गांधार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पांड्य और सिंहल आदि देशों में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अपने धर्मोपदेशकों को भेजा।[6] राजा कनिष्क के निर्देशन में 100 ईस्वी में चौथी परिषद आयोजित

हुई। इस परिषद में सर्वप्रथम संस्कृत भाषा को मान्यता मिली और संस्कृत में ही बौद्ध-न्याय को सूत्रबद्ध किया गया। जिन बौद्ध पंथों ने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन संस्कृत भाषा में किया उनमें सर्वास्तिवादी आचार्यों की गणना प्रमुख है।

महायान संप्रदाय के अधिकांश ग्रंथ चीनी और तिब्बतीय अनुवादों के रूप में सुरक्षित है। हीनयान शाखा के वैभाषिक संप्रदाय की प्राय: सारी ग्रंथ संपत्ति अपने मूल रूप संस्कृत या पाली में न होकर चीनी-तिब्बती अनुवादों के रूप में उपलब्ध है।

आचार्य नागार्जुनकृत 'माध्यमिककारिका' का तिब्बतीय भाषा में अनूदित संस्करण उपलब्ध होता है। आचार्य बुद्धपालित द्वारा रचित वृति ग्रंथ तिब्बतीय अनुवाद के रूप में सुरक्षित हैं। बौद्ध-न्याय के क्षेत्र में आचार्य भाव विवेक की कृतियां भी केवल तिब्बतीय एवं चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित है। इनके उपलब्ध ग्रंथ के नाम हैं

1. माध्यमिककारिकाव्याख्या
2. मध्यमहृदयकारिका
3. मध्यमार्थसंग्रह और हस्तरत्न

महायान संप्रदाय के माध्यमिक मत का सर्वप्रथम महान ग्रंथ 'प्रज्ञापारमितसूत्र' है, जिस पर अचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिककारिका' नामक व्याख्या लिखी। शून्यवाद के प्रकाण्ड भाष्यकार आचार्य बुद्धपालीत का मत चीन, तिब्बत, मंगोलिया तक प्रचारित हुआ।

आचार्य वसुबन्धु के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक ग्रंथ उनका 'अभिधर्मकोष' है। बौद्ध-दर्शन की विचार-परंपरा का इतना समर्थ और मौलिक प्रतिपादन किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं मिलता। परमार्थ और युवानसांग द्वारा सातवीं शताब्दी में इस कोश-कृति का दो बार चीनी भाषा में अनुवाद हुआ।

पवित्र बौद्ध-ग्रंथ इतनी अधिक भाषाओं में मिलते हैं कि कोई एक व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता है कि वह उन सबसे परिचित है। यह भाषाएं हैं पालि, संस्कृत, तिब्बती, चीनी, जापानी, अपभ्रंश और बहुत सी मध्य एशियाई भाषाएं। इनमें पालि भाषा के ही बौद्ध-ग्रंथ ऐसे हैं जो अभी तक पूरे-के-पूरे मिलते हैं और जो अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में अनुवादों के द्वारा अधिक संख्या में पाठकों तक पहुंचे हैं। पालि के प्राचीन ग्रंथो में 'मिलिंदपन्ह', त्रिपिटकों के बाद अपना विशिष्ट महत्व रखता है जिसको महास्थविर नागसेन ने संकलित किया था। उसमें सात अध्याय हैं। तीसरे अध्याय के अंत में यह संकेत किया गया है कि मिलिंद के प्रश्न समाप्त हो गए हैं। इन तीनों अध्यायों का एक चीनी अनुवाद 317 से 420 ई. के बीच नागसेन सूत्र के नाम से हुआ।

भगवान बुद्ध की सिद्धांत (व्याख्याएं) सिंहली भाषा में उपलब्ध हैं। बुद्धघोष उन्हें मागधि में रूपांतरित करने के उद्देश्य से सिंहल गए। बुद्धघोष के समय संस्कृत का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। जिन बौद्ध विद्वानों ने अपनी कृतियों के लिए संस्कृत को अपनाया, उनमें अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबंधु और दिङ्नाग प्रमुख हैं। गुप्त राजाओं ने भी पालि की जगह संस्कृत में ही अपनी रुचि प्रदर्शित की है।

श्रीलंका में बुद्धघोष ने भिक्षु संघ से सिंहली में अनूदित 'अट्ठकथाओं' का अनुवाद मागधी में करने की स्वीकृति प्राप्त की। पालि भाषा में संप्रति उपलब्ध 'जातकट्ठवण्णनां' किसी सिंहली पुस्तक का अनुवाद है जो कि पांचवीं शताब्दी में किया गया था। मूल सिंहली पुस्तक संप्रति अप्राप्य है।[7] 'थूपवंश' की रचना 13वीं शताब्दी में की गई और इसी समय इसका सिंहली रूपांतर भी हुआ।[8] लंका के धार्मिक इतिहास में थूपवंश का बड़ा महत्व है। 'अत्तनगलुविहारवंश'—किसी विहार के नाम पर इस ग्रंथ (1229-1246 ई.) का नामकरण हुआ। इसका सिंहली अनुवाद 'हत्थवनगल्लविहारवंश' के नाम से प्रकाशित है। बरमी भिक्षु सद्धर्मकीर्ति कृत 'एक्कखरकोस' है। आचार्य सधर्मकीर्ति का कोश संस्कृत के एकाक्षरी कोश का पालि रूपांतर है, जिसका उल्लेख कोशकार पुष्पिका में किया है।[9]

जिस प्रकार बौद्ध धर्म की स्थविरवादी शाखा के प्राय: संपूर्ण ग्रंथ पाली भाषा में लिखित है, उसी प्रकार सर्वास्तिवादी शाखा के प्रवर्तक और अनुवर्तक विद्वानों की प्रायरू समग्र कृतियां संस्कृत भाषा में लिखी हुई मिलती है। सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु एवं संस्कृत ग्रंथों के चीनी अनुवादक कुमारजीव ने 401-409 ई. के बीच आचार्य नागार्जुन और आचार्य वसुबन्धु की दो जीवनी ग्रंथ लिखे थे। 405 ई. में कुमारजीव कृत नागार्जुन के जीवनी ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था। चीनी तथा तिब्बती भाषाओं के अनुवादक के रूप में नागार्जुन के नाम से 20 ग्रन्थों का पता लगता है, परन्तु अधिकांश विद्वानों ने 12 कृतियों को प्रामाणिक माना है। ये कृतियां हैं -

1. माध्यमिक कारिका या माध्यमिक शास्त्र
2. दशभूमि विभाषाशास्त्र
3. महाप्रज्ञापारमितासूत्र- कारिका

4. उपाय-कौशल्य
5. प्रमाण विध्वंसक
6. विग्रह- व्यावर्तिनी
7. चतु: स्तवन
8. युक्ति-षष्ठिका
9. शून्यता संपत्ति
10. प्रतीत्यसमुत्पाद
11. महायान विंशक
12. सुहृल्लेख।

नागार्जुन कृत उक्त 12 कृतियों में 'माध्यमिक कारिका और 'विग्रह-व्यावर्तिनी' ही अपने मूल रूप संस्कृत में उपलब्ध है। शेष तिब्बती एवं चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित हैं।

वसुबंधु के दो जीवनीकार कुमारजीव और परमार्थ हुए। कुमारजीव की पुस्तक संप्रति उपलब्ध नहीं है; किंतु परमार्थ की चीनी भाषा में अनूदित पुस्तक आज भी सुरक्षित है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद विद्वान तकाकुसु ने किया है।[10]

दिङ्नाग, शंकरस्वामी, ईश्वरकृष्ण और माठर प्रभृत्ति ग्रंथकारों के ग्रन्थों का चीनी भाषा का भारतीय अनुवादक परमार्थ 548 ईस्वी में चीन गये थे। परमार्थ ने वसुबंधु के ग्रन्थों का भी अनुवाद किया।

बौद्ध-साहित्य के स्वर्ण-युग गुप्त काल में आचार्य दिङ्नाग का जन्म हुआ था। बौद्ध साहित्य के संवर्द्धन और बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए गुप्त राजाओं ने जो कार्य किए, वह अमर है। दिङ्नाग ने न्याय-दर्शन पर 100 पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें कुछ तिब्बती और चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। उनका विवरण बुनियु नंजियु ने अपने सूचि-ग्रंथ में दिया है।[11]

दिङ्नाग का प्रमुख ग्रंथ 'प्रमाण-समुच्चय' है। यह सम्प्रति अपने मूल रूप संस्कृत में उपलब्ध न होकर हेमवर्मा द्वारा अनूदित तिब्बती भाषा में उपलब्ध है। अब तक विद्वानों द्वारा उस पर दस प्रामाणिक टीका लिखी जा चुकी है। 'प्रमाण-समुच्चय वृत्ति' उनका दूसरा ग्रंथ है, जो प्रमाण समुच्चय ग्रंथ की व्याख्या है और वह तिब्बती अनुवाद के रूप में उपलब्ध है।[12]

उनके चौथे ग्रंथ 'हेतुचक्र-निर्णय' को श्री दुर्गाचार्य चटर्जी ने तिब्बती अनुवाद के आधार पर संस्कृत में पुनर्मुद्रित किया है। इसका एक अंग्रेजी अनुवाद भी निकल चुका है। उनका पांचवां महत्वपूर्ण ग्रंथ 'प्रमाण-शास्त्र न्याय प्रवेश' तिब्बती और चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित है। उनके दूसरे प्रमुख ग्रंथ 'आलंबन परीक्षा', 'आलंबनपरीक्षावृत्ति', त्रिकाल परीक्षा और मर्मप्रदीपवृत्ति आदि भी तिब्बती अनुवादों के रूप में जीवित है।

बौद्ध साहित्य के विकास में चंद्रगोमिन और धर्मकृति नामक विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

इस प्रकार अनुवाद के माध्यम से बौद्ध-धर्म के उपदेशों को विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों में पहुंचाया गया, जिससे इसका व्यापक प्रसार हुआ। विश्व की विभिन्न भाषाओं में, विभिन्न विधाओं में रचित साहित्य के आस्वादन में अनुवाद की अप्रतिम भूमिका है। भारतीय ग्रंथों के अनुवाद से पूर्वी एशिया के चीन, जापान इंडोनेशिया, श्रीलंका, वर्मा (म्यांमार) थाईलैंड, कम्पूचिया, लाओस आदि अनेक देशों में बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। भाषा-संस्कृति के विकास में साहित्यानुवाद ने अपनी उपयोगिता प्रमाणित की है।

सहायक प्राध्यापक
दर्शन शाह महाविद्यालय
पूर्णिया विश्वविद्यालय, बिहार

सन्दर्भ सूची

1. चीनी बौद्ध धर्म का इतिहास : डॉ. चाउ सिआंग कुआंग
2. वही, पृष्ठ 255-262
3. आजकल : बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पृष्ठ 164-172
4. आजकल : बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पृष्ठ 59-67
5. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ-9
6. अशोक का तेरहवां शिलालेख
7. कामिल बुल्के रामकथा : उद्भव और विकास, पृष्ठ-76
8. डॉ. लाहा : महाबोधि, मई-जून, 1946
9. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 616
10. जे. आर. ए. एस., 1905
11. आजकल : बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पृष्ठ 163
12. गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, ग्रंथांक 38 में प्रोफेसर ध्रुव द्वारा संपादित।

भारत में गठबंधन राजनीति

ज्योति

शोध सार

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है, जहाँ सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई एवं क्षेत्रीय विविधता राजनीतिक व्यवस्था को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। इसी विविधता के परिणामस्वरूप गठबंधन राजनीति भारतीय लोकतंत्र का एक महत्त्वपूर्ण आयाम बनकर उभरी है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य भारत में गठबंधन राजनीति की अवधारणा, ऐतिहासिक विकास, उद्‌भव के प्रमुख कारणों, शासन एवं लोकतंत्र पर इसके प्रभाव, समकालीन चुनौतियों तथा भविष्य की संभावनाओं का विश्लेषण करना है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि स्वतंत्रता के पश्चात प्रारम्भिक वर्षों में एकदलीय प्रभुत्व विद्यमान रहा, किन्तु 1967 के बाद क्षेत्रीय दलों के उदय, बहुदलीय व्यवस्था के विस्तार तथा सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के कारण गठबंधन राजनीति ने सशक्त रूप ग्रहण किया। विशेष रूप से 1989 के बाद गठबंधन युग ने भारतीय राजनीति की दिशा और स्वरूप को व्यापक रूप से प्रभावित किया। लेख में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि गठबंधन राजनीति ने समावेशी प्रतिनिधित्व, सहकारी संघवाद तथा लोकतांत्रिक सहभागिता को प्रोत्साहित किया है, जबकि वैचारिक मतभेद, नेतृत्व संबंधी चुनौतियाँ, दल-बदल तथा राजनीतिक अवसरवाद जैसी समस्याएँ इसकी प्रमुख सीमाएँ हैं। 2024 के आम चुनावों के पश्चात गठबंधन राजनीति की पुनः बढ़ती प्रासंगिकता ने यह संकेत दिया है कि राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दलों के बीच सहयोग भारतीय शासन व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण आधार बना रहेगा। अध्ययन का निष्कर्ष है कि पारदर्शिता, राजनीतिक उत्तरदायित्व, प्रभावी समन्वय तथा आवश्यक चुनावी सुधारों के माध्यम से गठबंधन राजनीति को अधिक स्थिर, उत्तरदायी एवं जनोन्मुख बनाया जा सकता है। भारतीय लोकतंत्र की बहुलतावादी प्रकृति को देखते हुए गठबंधन राजनीति भविष्य में भी लोकतांत्रिक शासन, संघीय संतुलन और समावेशी विकास की एक प्रभावी व्यवस्था बनी रहने की संभावना रखती है।

कुंजी शब्द

गठबंधन राजनीति, भारतीय लोकतंत्र, बहुदलीय व्यवस्था, क्षेत्रीय दल, सहकारी संघवाद।

प्रस्तावना

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र है, जहाँ राजनीतिक व्यवस्था विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक तथा क्षेत्रीय समूहों की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। भारतीय लोकतंत्र की यही बहुलतावादी प्रकृति राजनीतिक दलों की बहुदलीय व्यवस्था को प्रोत्साहित करती है, जिसके परिणामस्वरूप गठबंधन राजनीति का विकास हुआ है। गठबंधन राजनीति उस व्यवस्था को कहा जाता है, जिसमें दो या दो से अधिक राजनीतिक दल साझा उद्देश्यों, नीतियों एवं कार्यक्रमों के आधार पर सरकार का गठन एवं संचालन करते हैं। यह व्यवस्था विशेष रूप से तब महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जब किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता या व्यापक जनप्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न दलों के सहयोग की आवश्यकता होती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में प्रारम्भिक वर्षों तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रभुत्व बना रहा, किंतु 1967 के बाद राजनीतिक परिदृश्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देने लगे। क्षेत्रीय दलों के उदय, सामाजिक न्याय की राजनीति,

जातीय एवं क्षेत्रीय पहचान, संघीय व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण तथा मतदाताओं के बदलते राजनीतिक व्यवहार ने गठबंधन राजनीति को नई दिशा प्रदान की। विशेष रूप से 1989 के बाद केंद्र की राजनीति में गठबंधन सरकारों का दौर प्रारम्भ हुआ, जिसने भारतीय लोकतंत्र में शक्ति-साझेदारी, सहमति-आधारित शासन तथा समावेशी प्रतिनिधित्व को नई पहचान दी। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (NDA) तथा संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (UPA) जैसे राजनीतिक गठबंधनों ने विभिन्न अवधियों में देश का नेतृत्व करते हुए गठबंधन शासन की प्रभावशीलता और चुनौतियों दोनों को उजागर किया।

गठबंधन राजनीति ने भारतीय लोकतंत्र को अधिक सहभागी, प्रतिनिधिक एवं संघीय स्वरूप प्रदान किया है। इसके माध्यम से क्षेत्रीय दलों और विविध सामाजिक समूहों को राष्ट्रीय नीति-निर्माण में भागीदारी का अवसर मिला है। दूसरी ओर, वैचारिक मतभेद, नेतृत्व संबंधी चुनौतियाँ, राजनीतिक अवसरवाद तथा सरकारों की स्थिरता जैसे प्रश्न भी समय-समय पर सामने आए हैं। वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य, विशेषकर 2024 के आम चुनावों के पश्चात, गठबंधन राजनीति की निरंतर प्रासंगिकता को पुनः रेखांकित करता है। इस संदर्भ में प्रस्तुत लेख का उद्देश्य भारत में गठबंधन राजनीति की अवधारणा, ऐतिहासिक विकास, उद्भव के कारणों, लोकतांत्रिक शासन पर इसके प्रभाव, समकालीन चुनौतियों तथा भविष्य की संभावनाओं का समग्र एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है।

गठबंधन राजनीति की अवधारणा एवं सैद्धान्तिक आधार

गठबंधन राजनीति आधुनिक लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, विशेषकर उन देशों में जहाँ बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था विद्यमान है। जब कोई एक राजनीतिक दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने में असफल रहता है, तब दो या दो से अधिक दल साझा राजनीतिक उद्देश्यों, नीतियों तथा कार्यक्रमों के आधार पर मिलकर सरकार का गठन करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था को गठबंधन राजनीति कहा जाता है। भारत जैसे विविधतापूर्ण समाज में, जहाँ भाषा, धर्म, जाति, क्षेत्र तथा सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में व्यापक विविधता है, वहाँ गठबंधन राजनीति लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व को अधिक व्यापक और समावेशी बनाती है। यह व्यवस्था विभिन्न सामाजिक समूहों और क्षेत्रीय हितों को राष्ट्रीय राजनीति में स्थान प्रदान करती है तथा संघीय लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने में सहायक होती है।

गठबंधन राजनीति का अर्थ केवल सरकार बनाने के लिए राजनीतिक दलों का एक साथ आना नहीं है, बल्कि यह साझा उत्तरदायित्व, नीति-समन्वय, सहमति निर्माण तथा सहयोगात्मक शासन की एक प्रक्रिया है। इसमें भाग लेने वाले दल अपनी वैचारिक भिन्नताओं के बावजूद न्यूनतम साझा कार्यक्रम (Common Minimum Programme) के आधार पर शासन संचालन का प्रयास करते हैं। अतः गठबंधन राजनीति लोकतांत्रिक संवाद, सहमति तथा शक्ति-साझेदारी का व्यावहारिक स्वरूप है।

गठबंधन के विभिन्न प्रकार होते हैं। पहला, पूर्व-निर्वाचन गठबंधन (Pre-Poll Alliance), जिसमें राजनीतिक दल चुनाव से पहले ही सीटों के बँटवारे तथा साझा एजेंडे पर सहमत होकर चुनाव लड़ते हैं। दूसरा, पश्च-निर्वाचन गठबंधन (Post-Poll Alliance), जिसमें चुनाव परिणाम आने के बाद बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्न दल मिलकर सरकार बनाते हैं। तीसरा, बहुमत गठबंधन (Majority Coalition), जिसमें गठबंधन के सभी दल मिलकर विधानमंडल में स्पष्ट बहुमत रखते हैं। चौथा, अल्पमत गठबंधन (Minority Coalition), जिसमें सरकार को अन्य दलों का बाहरी समर्थन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त, वैचारिक समानता पर आधारित गठबंधन तथा केवल सत्ता-साझेदारी के उद्देश्य से बने अवसरवादी गठबंधन भी राजनीतिक व्यवहार में देखने को मिलते हैं।

गठबंधन राजनीति को समझने के लिए अनेक राजनीतिक सिद्धांत विकसित किए गए हैं। विलियम एच. राइकर (William H. Riker) का न्यूनतम विजयी गठबंधन सिद्धांत (Minimum Winning Coalition Theory) यह प्रतिपादित करता है कि राजनीतिक दल सामान्यतः ऐसा गठबंधन बनाना चाहते हैं जिसमें केवल उतने ही सहयोगी दल हों जितने बहुमत प्राप्त करने के लिए आवश्यक हों, ताकि सत्ता और संसाधनों का अधिकतम लाभ साझेदारों में कम से कम विभाजित हो। अरेंड लिजफार्ट (Arend Lijphart) का सहमति आधारित लोकतंत्र (Consensus Democracy) सिद्धांत बताता है कि बहुलतावादी समाजों में गठबंधन सरकारें विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक समूहों के बीच सहभागिता, सहमति और समावेशी शासन को प्रोत्साहित करती हैं। इसी प्रकार जियोवानी सारटोरी (Giovanni Sartori) के दल-प्रणाली सिद्धांत के अनुसार बहुदलीय व्यवस्था में गठबंधन राजनीति लोकतांत्रिक प्रतिस्पर्धा का स्वाभाविक

परिणाम होती है, जहाँ अनेक दल सत्ता में भागीदारी के लिए सहयोग और प्रतिस्पर्धा दोनों का सहारा लेते हैं।

लोकतंत्र में गठबंधन राजनीति की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह शासन में विविध सामाजिक, सांस्कृतिक और क्षेत्रीय समूहों की भागीदारी सुनिश्चित करती है तथा संघीय ढाँचे को अधिक प्रभावी बनाती है। गठबंधन सरकारें संवाद, परामर्श और सहमति के आधार पर निर्णय लेने की संस्कृति को बढ़ावा देती हैं, जिससे लोकतांत्रिक मूल्यों का विस्तार होता है। साथ ही, यह किसी एक दल के अत्यधिक प्रभुत्व पर नियंत्रण स्थापित कर शक्ति के संतुलन को बनाए रखने में सहायक होती है। यद्यपि गठबंधन राजनीति में वैचारिक मतभेद, नीति-निर्माण में विलंब, नेतृत्व संबंधी विवाद तथा राजनीतिक अस्थिरता जैसी चुनौतियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं, फिर भी विविधतापूर्ण लोकतांत्रिक समाजों में यह व्यवस्था व्यापक प्रतिनिधित्व, राजनीतिक समावेशन तथा उत्तरदायी शासन के लिए एक प्रभावी माध्यम सिद्ध होती है। भारतीय लोकतंत्र के विकास में गठबंधन राजनीति ने न केवल विभिन्न राजनीतिक शक्तियों को साथ लाने का कार्य किया है, बल्कि लोकतांत्रिक संस्थाओं को अधिक सहभागी, उत्तरदायी और समावेशी बनाने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

भारत में गठबंधन राजनीति का ऐतिहासिक विकास

भारत में गठबंधन राजनीति का विकास देश की बदलती राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रारंभिक दो दशकों तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का राजनीतिक प्रभुत्व बना रहा। 1952, 1957 तथा 1962 के आम चुनावों में कांग्रेस ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया, जिसके कारण केंद्र एवं अधिकांश राज्यों में एकदलीय सरकारों का गठन हुआ। इस काल को राजनीतिक वैज्ञानिक रजनी कोठारी ने 'कांग्रेस प्रणाली' (Congress System) की संज्ञा दी, जिसमें विपक्ष अपेक्षाकृत कमजोर था और शासन में स्थिरता बनी रही।

वर्ष 1967 के आम चुनाव भारतीय राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुए। पहली बार कई राज्यों में कांग्रेस का प्रभुत्व कमजोर पड़ा और गैर-कांग्रेसी दलों ने संयुक्त विधायक दलों तथा अन्य गठबंधनों के माध्यम से सरकारें बनाईं। क्षेत्रीय दलों के उभार, सामाजिक न्याय की राजनीति, जातीय एवं क्षेत्रीय पहचान तथा बहुदलीय प्रतिस्पर्धा के विस्तार ने गठबंधन राजनीति को नई दिशा प्रदान की। यद्यपि इस अवधि की अनेक गठबंधन सरकारें अल्पकालिक रहीं, फिर भी उन्होंने भारतीय लोकतंत्र में शक्ति-साझेदारी की संस्कृति को स्थापित किया।

वर्ष 1989 के आम चुनावों के बाद भारत में गठबंधन युग का वास्तविक आरम्भ हुआ। राष्ट्रीय मोर्चा (National Front) सरकार के गठन के साथ केंद्र की राजनीति में किसी एक दल के पूर्ण बहुमत का दौर समाप्त होने लगा। इसके बाद 1990 के दशक में संयुक्त मोर्चा (United Front) की सरकारें बनीं, जिन्होंने गठबंधन शासन की परंपरा को आगे बढ़ाया। वर्ष 1999 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (NDA) के नेतृत्व में गठित सरकार ने अपेक्षाकृत स्थिर गठबंधन शासन का उदाहरण प्रस्तुत किया। इसके पश्चात 2004 से 2014 तक संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (UPA) ने साझा न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर दो कार्यकाल पूरे किए। वर्ष 2014 और 2019 में भारतीय जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने के बावजूद राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (NDA) की संरचना बनी रही। 2024 के आम चुनावों के बाद पुनः सहयोगी दलों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हुई, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय राजनीति में गठबंधन व्यवस्था आज भी लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व, संघीय संतुलन तथा समावेशी शासन की एक प्रभावशाली और प्रासंगिक राजनीतिक प्रक्रिया बनी हुई है।

भारत में गठबंधन राजनीति के उदय के कारण

भारत में गठबंधन राजनीति का उदय अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा संवैधानिक कारकों का परिणाम है। इनमें सबसे प्रमुख कारण बहुदलीय व्यवस्था का विकास है। भारतीय लोकतंत्र में समय के साथ राष्ट्रीय दलों के साथ-साथ अनेक क्षेत्रीय एवं वैचारिक दलों का उदय हुआ, जिससे किसी एक दल के लिए स्पष्ट बहुमत प्राप्त करना कठिन होता गया। परिणामस्वरूप सरकार गठन के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच सहयोग और गठबंधन की आवश्यकता बढ़ी।

क्षेत्रीय दलों का उभार भी गठबंधन राजनीति के विस्तार का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। द्रविड़ दलों, समाजवादी दलों, बहुजन राजनीति, तृणमूल कांग्रेस, बीजू जनता दल तथा अन्य क्षेत्रीय दलों ने अपने-अपने राज्यों में मजबूत जनाधार विकसित किया। इन दलों ने क्षेत्रीय आकांक्षाओं, स्थानीय विकास, भाषाई पहचान तथा सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों को राष्ट्रीय राजनीति के केंद्र में स्थापित किया। परिणामस्वरूप केंद्र में सरकार गठन के दौरान इनकी भूमिका निर्णायक होती गई।

भारत की सामाजिक एवं जातीय विविधता ने भी गठबंधन राजनीति को प्रोत्साहित किया है। देश की बहुभाषी, बहुधार्मिक, बहुजातीय तथा बहुसांस्कृतिक संरचना के कारण विभिन्न सामाजिक समूहों के हितों का प्रतिनिधित्व अलग-अलग राजनीतिक दलों के माध्यम से होने लगा। गठबंधन राजनीति ने इन विविध समूहों को शासन व्यवस्था में भागीदारी का अवसर प्रदान किया तथा लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व को अधिक समावेशी बनाया।

संघीय व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण ने भी गठबंधन राजनीति को नई दिशा दी। राज्यों की राजनीतिक एवं आर्थिक भूमिका के बढ़ने के साथ क्षेत्रीय नेतृत्व अधिक प्रभावशाली हुआ। केंद्र राज्य संबंधों में सहयोगात्मक संघवाद की भावना विकसित हुई, जिसके कारण राष्ट्रीय स्तर पर सरकार गठन में राज्यों के हितों और क्षेत्रीय दलों की भागीदारी बढ़ी।

इसके अतिरिक्त, मतदाताओं के बदलते राजनीतिक रुझानों ने गठबंधन राजनीति को मजबूत किया है। आज मतदाता केवल राष्ट्रीय मुद्दों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे स्थानीय विकास, सुशासन, सामाजिक न्याय, पहचान की राजनीति तथा क्षेत्रीय हितों को भी महत्त्व देते हैं। परिणामस्वरूप चुनावी जनादेश अधिक बिखरा हुआ दिखाई देता है, जिससे गठबंधन सरकारों की संभावना बढ़ जाती है। इस प्रकार, बहुदलीय प्रतिस्पर्धा, क्षेत्रीय दलों का विस्तार, सामाजिक विविधता, संघीय संरचना और मतदाताओं के परिवर्तित दृष्टिकोण ने भारत में गठबंधन राजनीति को लोकतांत्रिक प्रक्रिया का एक स्थायी और प्रभावशाली स्वरूप बना दिया है।

गठबंधन राजनीति का शासन एवं लोकतंत्र पर प्रभाव

गठबंधन राजनीति ने भारत की शासन व्यवस्था और लोकतांत्रिक प्रक्रिया को अनेक स्तरों पर प्रभावित किया है। इसका प्रभाव नीति-निर्माण, संघीय ढाँचे, संसदीय लोकतंत्र, राजनीतिक प्रतिनिधित्व तथा शासन की स्थिरता पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यद्यपि गठबंधन सरकारों के समक्ष समन्वय और सहमति बनाए रखने की चुनौती रहती है, फिर भी उन्होंने भारतीय लोकतंत्र को अधिक सहभागी और समावेशी बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

नीति-निर्माण के क्षेत्र में गठबंधन राजनीति ने विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच संवाद, परामर्श और सहमति की संस्कृति को प्रोत्साहित किया है। गठबंधन सरकारों में नीतियाँ सामान्यतः साझा न्यूनतम कार्यक्रम (Common Minimum Programme) के आधार पर तैयार की जाती हैं, जिससे विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं क्षेत्रीय हितों का संतुलन स्थापित करने का प्रयास होता है। हालांकि अनेक दलों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण के कारण निर्णय लेने की प्रक्रिया अपेक्षाकृत धीमी हो सकती है।

गठबंधन राजनीति ने भारतीय संघवाद को भी सुदृढ़ किया है। क्षेत्रीय दलों की बढ़ती भूमिका के कारण केंद्र सरकार को राज्यों की आवश्यकताओं और हितों पर अधिक ध्यान देना पड़ता है। इससे केंद्र राज्य संबंधों में सहयोग, संवाद तथा सहभागिता की भावना विकसित हुई है और सहकारी संघवाद को बढ़ावा मिला है।

संसदीय लोकतंत्र की दृष्टि से गठबंधन राजनीति ने संसद की भूमिका को अधिक प्रभावी बनाया है। सरकार को अपने सहयोगी दलों तथा विपक्ष के साथ निरंतर संवाद बनाए रखना पड़ता है, जिससे संसदीय बहस, उत्तरदायित्व और पारदर्शिता को बल मिलता है। इसके साथ ही गठबंधन व्यवस्था ने विभिन्न सामाजिक, क्षेत्रीय, भाषाई और जातीय समूहों को शासन में प्रतिनिधित्व प्रदान कर लोकतंत्र को अधिक समावेशी बनाया है।

हालाँकि गठबंधन राजनीति का एक पक्ष राजनीतिक अस्थिरता से भी जुड़ा है। सहयोगी दलों के बीच मतभेद, समर्थन वापसी, नेतृत्व विवाद तथा नीतिगत असहमति के कारण सरकारों के गिरने या निर्णय प्रक्रिया में बाधा आने की संभावना बनी रहती है। इसके विपरीत, जब गठबंधन साझा दृष्टि, प्रभावी नेतृत्व और समन्वय के आधार पर संचालित होते हैं, तब वे स्थिर शासन, व्यापक जनप्रतिनिधित्व और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व का सफल उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसलिए गठबंधन राजनीति भारतीय लोकतंत्र में स्थिरता और समावेशिता के बीच संतुलन स्थापित करने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

गठबंधन राजनीति की चुनौतियाँ एवं समकालीन परिदृश्य

भारतीय लोकतंत्र में गठबंधन राजनीति ने समावेशी शासन और व्यापक प्रतिनिधित्व को बढ़ावा दिया है, किंतु इसके साथ अनेक व्यावहारिक एवं राजनीतिक चुनौतियाँ भी जुड़ी हुई हैं। गठबंधन सरकारों की सफलता मुख्यतः सहयोगी दलों के बीच विश्वास, समन्वय तथा साझा नीति-निर्माण पर निर्भर करती है। जब इन तत्वों में संतुलन नहीं बन पाता, तब शासन व्यवस्था प्रभावित होती है।

गठबंधन राजनीति की सबसे बड़ी चुनौती वैचारिक मतभेद है। गठबंधन में शामिल दलों की राजनीतिक विचारधाराएँ, चुनावी घोषणापत्र और नीतिगत प्राथमिकताएँ अक्सर भिन्न होती हैं। ऐसी स्थिति में साझा निर्णय लेने के लिए समझौते करने पड़ते हैं, जिससे कई बार नीतियों की प्रभावशीलता और निर्णय प्रक्रिया प्रभावित होती है।

दूसरी प्रमुख चुनौती नेतृत्व एवं समन्वय की है। गठबंधन सरकारों में विभिन्न दलों के नेताओं के बीच अधिकारों का संतुलन बनाए रखना, मंत्रिपरिषद में प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना तथा सहयोगी दलों की अपेक्षाओं का समुचित प्रबंधन करना कठिन कार्य होता है। यदि प्रभावी समन्वय का अभाव हो, तो सरकार के भीतर मतभेद और राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

दल-बदल और राजनीतिक अवसरवाद भी गठबंधन राजनीति की गंभीर समस्या रहे हैं। अनेक अवसरों पर राजनीतिक दल या जनप्रतिनिधि सत्ता प्राप्ति अथवा व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से अपना समर्थन बदल देते हैं, जिससे सरकारों की स्थिरता प्रभावित होती है। यद्यपि दल-बदल विरोधी कानून ने इस प्रवृत्ति पर कुछ नियंत्रण स्थापित किया है, फिर भी राजनीतिक अवसरवाद पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है।

गठबंधन राजनीति में 'गठबंधन धर्म' का विशेष महत्व है। इसका आशय यह है कि सभी सहयोगी दल साझा उत्तर-दायित्व, आपसी सम्मान, निरंतर संवाद तथा सहमति के आधार पर शासन का संचालन करें। गठबंधन धर्म का पालन ही सरकार की स्थिरता और प्रभावशीलता का आधार बनता है।

2024 के लोकसभा चुनाव के बाद गठबंधन राजनीति ने एक नया स्वरूप ग्रहण किया है। यद्यपि राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (NDA) ने सरकार बनाई, किंतु सहयोगी दलों की भूमिका पहले की तुलना में अधिक निर्णायक बनकर उभरी। इससे स्पष्ट हुआ कि भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का महत्व बना हुआ है और राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण में उनकी भागीदारी निरंतर बढ़ रही है। वर्तमान परिदृश्य यह संकेत देता है कि भविष्य में भी भारतीय लोकतंत्र में गठबंधन राजनीति सहयोग, सहमति और साझा उत्तरदायित्व पर आधारित शासन व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण आधार बनी रहेगी।

निष्कर्ष

भारतीय लोकतंत्र की विविधतापूर्ण सामाजिक, भाषाई, सांस्कृतिक तथा क्षेत्रीय संरचना को देखते हुए गठबंधन राजनीति भविष्य में भी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनी रहने की संभावना है। बहुदलीय व्यवस्था, क्षेत्रीय दलों का निरंतर प्रभाव तथा मतदाताओं की बदलती राजनीतिक प्राथमिकताएँ इस बात का संकेत देती हैं कि राष्ट्रीय स्तर पर गठबंधन सरकारों की भूमिका आगे भी बनी रहेगी। यद्यपि समय-समय पर किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो सकता है, फिर भी शासन संचालन में सहयोगी दलों की भागीदारी और राजनीतिक सहमति का महत्व निरंतर बना रहेगा।

गठबंधन राजनीति को अधिक प्रभावी और स्थिर बनाने के लिए चुनावी एवं राजनीतिक सुधारों की आवश्यकता है। राजनीतिक दलों के भीतर आंतरिक लोकतंत्र को मजबूत करना, उम्मीदवारों के चयन में पारदर्शिता बढ़ाना, चुनावी वित्तपोषण में सुधार, दल-बदल विरोधी कानून का प्रभावी क्रियान्वयन तथा गठबंधन संबंधी स्पष्ट आचार-संहिता का निर्माण समय की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, साझा न्यूनतम कार्यक्रम को अधिक उत्तरदायी और परिणामोन्मुख बनाना भी गठबंधन सरकारों की कार्यकुशलता को बढ़ा सकता है।

सुशासन और जवाबदेही गठबंधन राजनीति की सफलता के प्रमुख आधार हैं। गठबंधन सरकारों को केवल सत्ता-साझेदारी तक सीमित न रहकर जनकल्याण, पारदर्शिता, उत्तरदायित्व तथा विकासोन्मुख नीतियों को प्राथमिकता देनी चाहिए। सहयोगी दलों के बीच नियमित संवाद, नीति-समन्वय और परस्पर विश्वास लोकतांत्रिक शासन को अधिक प्रभावी एवं स्थिर बना सकते हैं।

समकालीन राजनीति में राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दलों की भूमिका निरंतर परिवर्तित हो रही है। राष्ट्रीय दल जहाँ व्यापक राष्ट्रीय मुद्दों और नीतिगत दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहीं क्षेत्रीय दल स्थानीय आकांक्षाओं, क्षेत्रीय विकास तथा सामाजिक समूहों के हितों को राष्ट्रीय विमर्श में स्थान दिलाने का कार्य करते हैं। दोनों के बीच संतुलित सहयोग भारतीय संघीय लोकतंत्र को अधिक सुदृढ़ और सहभागी बनाता है।

अंततः, गठबंधन राजनीति भारतीय लोकतंत्र की जटिल सामाजिक संरचना और बहुलतावादी राजनीतिक संस्कृति का स्वाभाविक परिणाम है। यद्यपि इसके समक्ष वैचारिक मतभेद, नेतृत्व संबंधी चुनौतियाँ तथा राजनीतिक अस्थिरता जैसी

समस्याएँ विद्यमान हैं, फिर भी यह व्यवस्था समावेशी प्रतिनिधित्व, सहकारी संघवाद, लोकतांत्रिक सहभागिता तथा शक्ति के संतुलन को सुदृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रभावी नेतृत्व, पारदर्शी राजनीतिक प्रक्रियाओं और सहयोगात्मक शासन के माध्यम से गठबंधन राजनीति भविष्य में भी भारतीय लोकतंत्र को अधिक उत्तरदायी, समावेशी और सशक्त बनाने का आधार बनी रहेगी।

शोधार्थी
राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : jyoti270399@gmail.com

सन्दर्भ सूची

- ऑस्टिन, ग्रैनविल. (1999). भारतीय लोकतंत्र की कार्यप्रणाली : एक राष्ट्र का लोकतांत्रिक अनुभव (Working a Democratic Constitution: The Indian Experience). नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- बासु, डी. डी. (2018). भारत का संविधानरू एक परिचय (24वाँ संस्करण). नई दिल्ली : लेक्सिसनेक्सिस।
- ब्रास, पॉल आर. (1994). स्वतंत्रता के बाद भारतीय राजनीति (The Politics of India Since Independence). नई दिल्ली : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
- चंद्रा, बिपिन. (2004). स्वतंत्रता के बाद का भारत (India Since Independence). नई दिल्ली : पेंगुइन बुक्स।
- भारत निर्वाचन आयोग. (2024). भारत में आम चुनाव 2024 : सांख्यिकीय प्रतिवेदन. नई दिल्ली : भारत निर्वाचन आयोग।
- भारत सरकार. (2024). भारत का संविधान (अद्यतन संस्करण). नई दिल्ली : विधि एवं न्याय मंत्रालय।
- जाफ्रेलोट, क्रिस्टोफ. (2003). भारत की मौन क्रांति : उत्तर भारत में निचली जातियों का उदय (India*s Silent Revolution). नई दिल्ली : पर्मानेंट ब्लैक।
- कोठारी, रजनी. (1964). द कांग्रेस सिस्टम इन इंडिया. एशियन सर्वे, 4(12), 1161-1173.
- कोठारी, रजनी. (1970). पॉलिटिक्स इन इंडिया. नई दिल्ली : ओरिएंट ब्लैकस्वान।
- लिजफार्ट, अरेंड. (2012). लोकतंत्र के प्रतिमान (Patterns of Democracy) (द्वितीय संस्करण). न्यू हेवनरू येल यूनिवर्सिटी प्रेस।
- राइकर, विलियम एच. (1962). द थ्योरी ऑफ पॉलिटिकल कोएलिशन्स. न्यू हेवन : येल यूनिवर्सिटी प्रेस।
- सारटोरी, जियोवानी. (1976). पार्टीज एंड पार्टी सिस्टम्स : ए फ्रेमवर्क फॉर एनालिसिस. कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
- सिंह, महेन्द्र प्रसाद, एवं सक्सेना, रेखा (सम्पा.). (2013). भारतीय राजनीति : संवैधानिक आधार एवं संस्थाएँ. नई दिल्ली : पीयरसन।
- यादव, योगेन्द्र, एवं पालशीकर, सुहास. (2008). ''भारत की द्वितीय लोकतांत्रिक उथल-पुथल : राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन से निष्कर्ष.'' इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 43(15), 33-46.
- लोकसभा सचिवालय. (2024). लोकसभा की संरचना एवं संसदीय कार्यप्रणाली. नई दिल्ली : लोकसभा सचिवालय।
- पंची आयोग. (2010). केंद्र राज्य संबंधों पर आयोग की रिपोर्ट. नई दिल्ली : भारत सरकार।

नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग के उपन्यासों में रूढ़िमुक्त स्त्री

डॉ. ज्योति सिंह

शोध सार

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श ने पारंपरिक कथा-जगत को एक नई दिशा प्रदान की है। नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यासों में परंपरागत पुरुषसत्तात्मक ढांचे को चुनौती देते हुए 'रूढ़िमुक्त स्त्री' की नई अवधारणा को आकार दिया है। यह शोध पत्र दोनों लेखिकाओं के उपन्यासों में स्त्री की मुक्ति, आत्मबोध और अस्मिता की खोज का तुलनात्मक विश्लेषण करता है।

नासिरा शर्मा : आंतरिक चेतना और आत्मबोध की मुक्ति समकालीन हिंदी कथा साहित्य में स्त्री विमर्श ने एक नई दिशा अख्तियार की है, जहाँ स्त्री केवल पीड़ित या शोषित नहीं है, बल्कि वह अपनी नियति की निर्माता स्वयं है। नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग इस विमर्श की दो केंद्रीय हस्ताक्षर हैं। उनके उपन्यासों में 'रूढ़िमुक्त स्त्री' का स्वरूप पारंपरिक पितृसत्तात्मक ढाँचे को चुनौती देता है। यह शोध पत्र नासिरा शर्मा के उपन्यास 'शाल्मली' और 'पारिजात' तथा मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' और 'कठगुलाब' के विशेष संदर्भ में इन लेखिकाओं द्वारा सृजित स्त्री पात्रों के वैचारिक, आर्थिक और लैंगिक स्वतंत्रता के आयामों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द

स्त्रीवाद, रूढ़िमुक्त स्त्री, नासिरा शर्मा, मृदुला गर्ग, अस्मिता, पुरुषसत्ता, हिंदी उपन्यास।

नासिरा शर्मा की रचनाओं में स्त्री की मुक्ति किसी बाहरी विद्रोह से अधिक, आंतरिक चेतना और आत्मबोध से जुड़ी है। 'काजल कोठी' और 'आखिरी चट्टान' जैसे उपन्यासों में उनकी पात्र समाज की उन अदृश्य रूढ़ियों को तोड़ती हैं जो उन्हें घरेलू चारदीवारी और 'सती-साध्वी' के पारंपरिक ढांचे तक सीमित रखती हैं। शर्मा की स्त्री पुरुष के प्रतिशोध में नहीं, बल्कि अपनी स्वतंत्र अस्मिता की स्थापना में विश्वास करती है। वह पारिवारिक बंधनों, सामाजिक दबावों और आधुनिकता के द्वंद्व के बीच भी अपने अस्तित्व का सार्थक मार्ग खोज निकालती है। उनकी स्त्री संवेदनाओं और स्मृतियों के माध्यम से अपने भीतर के कारागार को तोड़ती है।

हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श ने स्त्री को केवल करुणा और त्याग की प्रतिमूर्ति के रूप में नहीं, बल्कि एक स्वतंत्र, विवेकशील और आत्मनिर्णयी व्यक्तित्व के रूप में स्थापित किया है। नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग समकालीन हिंदी कथा-साहित्य की ऐसी महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपने उपन्यासों में रूढ़िगत सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देने वाली स्त्री का सशक्त चित्रण किया है। इनकी स्त्री न तो परंपराओं की अंधस्वीकारकर्ता है और न ही विद्रोह को मात्र प्रदर्शन का माध्यम बनाती है, बल्कि वह अपने अस्तित्व, सम्मान और स्वतंत्र निर्णय की पक्षधर है।

नासिरा शर्मा के उपन्यासों शाल्मली, कुइयाँजान तथा ठीकरे की मंगनी में स्त्री सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक बंधनों से जूझते हुए अपनी अस्मिता की रक्षा करती है। उनके यहाँ स्त्री का संघर्ष केवल पुरुष-विरोध नहीं, बल्कि सामाजिक अन्याय और रूढ़िवादी मानसिकता के विरुद्ध मानवीय संघर्ष है। नासिरा शर्मा स्त्री को परिवार से विमुख नहीं करतीं, बल्कि परिवार और समाज के भीतर उसकी समान भागीदारी तथा

सम्मानजनक पहचान की स्थापना करती हैं। उनकी नायिकाएँ परंपरा और आधुनिकता के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए रूढ़ियों का तार्किक प्रतिरोध करती हैं।

दूसरी ओर मृदुला गर्ग के उपन्यास चित्तकोबरा, कठगुलाब तथा उसके हिस्से की धूप स्त्री की मानसिक, भावनात्मक और वैचारिक स्वतंत्रता को केंद्र में रखते हैं। उनकी स्त्रियाँ सामाजिक नैतिकता के दोहरे मानदंडों पर प्रश्न उठाती हैं। वे प्रेम, विवाह, देह, मातृत्व और स्वतंत्र जीवन के विषय में स्वयं निर्णय लेने का अधिकार चाहती हैं। मृदुला गर्ग की दृष्टि में स्त्री की वास्तविक मुक्ति तभी संभव है जब वह अपने व्यक्तित्व को सामाजिक स्वीकृति की अपेक्षा आत्मस्वीकृति के आधार पर विकसित करे। इस प्रकार उनकी स्त्री रूढ़ियों से मुक्त होकर अपने अस्तित्व की नई परिभाषा निर्मित करती है।

दोनों लेखिकाओं की दृष्टि में समानता यह है कि वे स्त्री को दया की पात्र नहीं, बल्कि परिवर्तन की वाहक मानती हैं। दोनों के यहाँ स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग है और पितृसत्तात्मक संरचना से संवाद करते हुए उसका प्रतिरोध करती है। अंतर केवल इतना है कि नासिरा शर्मा की स्त्री सामाजिक यथार्थ, सांस्कृतिक विविधता और सामुदायिक जीवन से अधिक जुड़ी हुई दिखाई देती है, जबकि मृदुला गर्ग की स्त्री मनोवैज्ञानिक, वैचारिक और अस्तित्ववादी प्रश्नों के माध्यम से अपनी स्वतंत्र पहचान निर्मित करती है।

मृदुला गर्ग : आक्रामक विद्रोह और मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता

दूसरी ओर, मृदुला गर्ग का स्त्रीवाद अधिक आक्रामक, स्पष्टवादी और मनोवैज्ञानिक है। 'चित्तकोबरा' और 'काला देश' में गर्ग ने स्त्री की कामुकता, इच्छाओं और मानसिक जटिलताओं को जिस निर्भयता से अभिव्यक्त किया है, वह हिंदी साहित्य में एक क्रांतिकारी कदम है। गर्ग की रूढ़िमुक्त स्त्री समाज के दंभ और नैतिक मापदंडों से मुक्त होकर अपनी शारीरिक और मानसिक स्वतंत्रता का दावा करती है। वह 'पतिव्रता' और 'त्यागमयी' जैसे पुरुषसत्ता द्वारा गढ़े गए आदर्शों को नकारते हुए, स्वयं को अपनी इच्छाओं और शरीर की पूर्ण स्वामिनी स्थापित करती है। गर्ग की पात्रियाँ समझौता करने के बजाय विद्रोह और तार्किक प्रहार के माध्यम से अपनी सत्ता की स्थापना करती हैं।

1. रूढ़ियों को तोड़ने का माध्यम

साहित्य समाज का दर्पण होने के साथ-साथ उसकी रूढ़ियों को तोड़ने का माध्यम भी है। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध और इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों के हिंदी उपन्यासों ने स्त्री को 'त्याग की प्रतिमूर्ति' या 'अबला' के पारंपरिक खांचे से बाहर निकाला है। नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यासों में जिस स्त्री दृष्टि को विकसित किया है, वह पुरुष के विरोध पर टिकी अंध-आधुनिकता नहीं है, बल्कि वह स्त्री की स्वायत्तता, आत्म-निर्णय की क्षमता और अस्मिता की खोज है। यहाँ 'रूढ़िमुक्त' होने का अर्थ सामाजिक मर्यादाओं का निरर्थक उल्लंघन नहीं, बल्कि उन बेड़ियों को काटना है जो स्त्री के व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास को रोकती हैं।

2. नासिरा शर्मा के उपन्यासों में रूढ़िमुक्त स्त्री : आर्थिक और वैचारिक स्वावलंबन

नासिरा शर्मा के उपन्यासों की स्त्रियाँ अक्सर सामाजिक रूढ़ियों और रूढ़िवादी धार्मिक व्याख्याओं के बीच से अपने लिए रास्ता बनाती हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'शाल्मली' की केंद्रीय पात्र 'शाल्मली' एक कामकाजी, आधुनिक और शिक्षित स्त्री है। वह विवाह के बाद भी अपनी आर्थिक स्वतंत्रता और आत्मसम्मान से समझौता नहीं करती। जब उसका पति पुरुष-अहंकार (Male Ego) के कारण उस पर हावी होने का प्रयास करता है, तो शाल्मली घुटने टेकने के बजाय अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्ष करती है।

इसी तरह, 'पारिजात' उपन्यास में नासिरा जी ने स्त्री के भीतर की सांस्कृतिक और वैचारिक दृढ़ता को रेखांकित किया है। यहाँ की स्त्रियाँ केवल परिवार चलाने वाली इकाइयाँ नहीं हैं, बल्कि वे समाज, कला और राजनीति पर अपनी स्वतंत्र राय रखती हैं। नासिरा शर्मा की रूढ़िमुक्त स्त्री भावुकता से अधिक बौद्धिकता और तार्किकता पर भरोसा करती है।

3. मृदुला गर्ग के उपन्यासों में रूढ़िमुक्त स्त्री : देह, मन और लैंगिक स्वायत्तता

मृदुला गर्ग का स्त्री विमर्श हिंदी साहित्य में अपनी बेबाकी के लिए जाना जाता है। उन्होंने स्त्री की मानसिक स्वतंत्रता के साथ-साथ उसकी दैहिक और लैंगिक स्वायत्तता (Bodily Autonomy) को भी प्रखरता से उठाया, जो तत्कालीन समाज के लिए एक बड़ी रूढ़ि को तोड़ना था।

उपन्यास 'चित्तकोबरा' में 'मनु' का पात्र पारंपरिक वैवाहिक संस्था के भीतर स्त्री की अतृप्ति और उसकी स्वतंत्र इच्छा (Free Will) को स्वर देता है। मृदुला जी यह स्थापित करती हैं कि स्त्री का शरीर और मन किसी पुरुष की जागीर नहीं हैं।

वहीं, उनके कालजयी उपन्यास 'कठगुलाब' में मार्था,

स्मिता और असीमा जैसी स्त्रियाँ रूढ़ियों को पूरी तरह ध्वस्त कर देती हैं। इस उपन्यास की स्त्रियाँ पुरुष-सत्ता द्वारा दिए गए दुखों (जैसे मातृत्व का अभाव, परित्याग, या शोषण) को अपनी कमजोरी नहीं बनने देतीं। वे बिना किसी पुरुष के सहारे के, एक-दूसरे की सहभागिता (Sisterhood) से अपने जीवन को नया अर्थ देती हैं। यहाँ मातृत्व की परिभाषा भी जैविक (Biological) न होकर मानवीय हो जाती है।

4. तुलनात्मक विश्लेषण

जहाँ नासिरा शर्मा की रूढ़िमुक्त स्त्री सामाजिक ताने-बाने के भीतर रहकर, अपनी शिक्षा और कार्यकुशलता के बल पर व्यवस्था को बदलती है, वहीं मृदुला गर्ग की स्त्री अधिक विद्रोही है। वह व्यवस्था की आँखों में आँखें डालकर अपनी देह और मन के अधिकारों की बात करती है। नासिरा जी के यहाँ रूढ़िमुक्ति का आधार 'अधिकार और कर्तव्य का संतुलन' है, जबकि मृदुला गर्ग के यहाँ यह 'अस्तित्ववादी स्वतंत्रता' के अधिक निकट है। दोनों ही लेखिकाएं अंततः स्त्री को एक 'वस्तु' (Object) से 'कर्ता' (Subject) के रूप में रूपांतरित करती हैं।

मूल्यांकन

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग के उपन्यासों की स्त्रियाँ पारंपरिक पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा तय किए गए 'आदर्श स्त्री' के प्रतिमानों को अस्वीकार करती हैं। वे शिक्षित हैं, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हैं, और सबसे महत्वपूर्ण यह कि वे अपने निर्णयों की जिम्मेदारी खुद लेती हैं। इन दोनों लेखिकाओं ने हिंदी उपन्यास को ऐसी रूढ़िमुक्त नायिकाएं दी हैं जो आज की समकालीन स्त्री के वास्तविक संघर्षों और उसकी अदम्य जिजीविषा का प्रतिनिधित्व करती हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग दोनों ने हिंदी उपन्यास को रूढ़िमुक्त स्त्री की ऐसी सशक्त अवधारणा प्रदान की है जो आत्मसम्मान, स्वतंत्र चिंतन और मानवीय गरिमा पर आधारित है। इनकी नायिकाएँ सामाजिक रूढ़ियों का विरोध केवल विद्रोह के लिए नहीं करतीं, बल्कि समानता, न्याय और मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष करती हैं। इस दृष्टि से दोनों लेखिकाओं का साहित्य समकालीन स्त्री-विमर्श की अमूल्य धरोहर है।

नासिरा शर्मा और मृदुला गर्ग दोनों ने ही स्त्री को एक 'वस्तु' से 'विषय' और 'शिकार' से 'सर्जक' बनाया है। जहाँ शर्मा की स्त्री संवेदना और आत्मबोध के माध्यम से सामाजिक रुधियों को तोड़ती है, वहीं गर्ग की स्त्री विद्रोह और कामना के माध्यम से पुरुषसत्ता को सीधे चुनौती देती है। दोनों के उपन्यास मिलकर हिंदी साहित्य में एक सशक्त, स्वतंत्र और रूढ़िमुक्त स्त्री के बहुआयामी चित्रण का निर्माण करते हैं, जो आज की नारीवादी चेतना का सजीव दर्पण हैं।

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
नाथ चन्द्रावत महाविद्यालय,
जगदीशपुर गोरखपुर (उ.प्र.)
Email : rajputsinghjyotiparmar@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. गर्ग, मृदुला. (2000). चित्तकोबरा. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. शर्मा, नासिरा. (1998). काजल कोठी. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. निगम, आदित्य. (2005). हिंदी उपन्यास और स्त्री विमर्श. राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. शर्मा, नमिनी. (2010). हिंदी साहित्य में स्त्रीवाद : स्वरूप और दिशाएँ. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. शर्मा, नासिरा. शाल्मली. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन।
6. शर्मा, नासिरा. कुइयाँजान. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
7. गर्ग, मृदुला. चित्तकोबरा. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
8. गर्ग, मृदुला. कठगुलाब. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
9. डॉ. रवीन्द्र कुमार सिंह, ''स्त्री विमर्श के संदर्भ और नासिरा शर्मा के उपन्यास'', International Journal of Arts, Humanities & Social Studies, 2024.
10. Fedora Barwa, ''मृदुला गर्ग के कथा-साहित्य में स्त्री अस्मिता और सामाजिक यथार्थ'', Granthaalayah, 2025.
11. शर्मा, नासिरा. (1987). शाल्मली. किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली.
12. शर्मा, नासिरा. (2011). पारिजात. किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली.
13. गर्ग, मृदुला. (1979). चित्तकोबरा. राजपाल एंड संस, दिल्ली.
14. गर्ग, मृदुला. (1996). कठगुलाब. सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली.
15. सिंह, राजेश्वर. (2015). समकालीन हिंदी उपन्यास और स्त्री विमर्श. राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली.
16. प्रियंवदा, उषा. (2018). हिंदी कथा साहित्य में रूढ़िमुक्ति के स्वर. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

आभांकिता

भारत की दुर्लभ खनिज राजनीति : आत्मनिर्भरता की राह में चुनौतियां और अवसर

परिचय : वैश्विक संदर्भ

वैश्विक ऊर्जा संक्रमण और उच्च-प्रौद्योगिकी क्षेत्रों की बढ़ती मांग के कारण लिथियम, कोबाल्ट, निकेल, दुर्लभ पृथ्वी तत्व (REEs) जैसे महत्वपूर्ण खनिजों की भूमिका रणनीतिक रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। ये खनिज बैटरी, पवन टरबाइन, सोलर पैनल, रक्षा उपकरण आदि में आधारभूत अवयव के रूप में प्रयोग होते हैं। विश्व भर में इन खनिजों की मांग तेजी से बढ़ रही है और आपूर्ति श्रृंखलाओं में व्यवधान भू-राजनीतिक जोखिम को बढ़ा रहा है। चीन दुनिया में दुर्लभ पृथ्वी तत्वों का प्रमुख प्रसंस्करणकर्ता है, और उसने हाल ही में सात महत्त्वपूर्ण REE (जैसे सैमैरियम, टर्बियम, डाइसप्रोसीयम) पर निर्यात प्रतिबंध लगा रखे हैं। ऐसे माहौल में भारत को वैकल्पिक स्रोत खोजने तथा घरेलू आपूर्ति बढ़ाने की रणनीति अपनानी पड़ेगी।

भारत की वर्तमान स्थिति

भारत में नवीकरणीय ऊर्जा व ईवी (इलेक्ट्रिक वाहन) लक्ष्यों के मद्देनजर इन खनिजों की आवश्यकता बढ़ रही है। वर्तमान में देश कई महत्वपूर्ण खनिजों के लिए लगभग पूरी तरह आयात पर निर्भर है : लिथियम, कोबाल्ट और निकेल लगभग 100% आयात से आते हैं। दूसरी ओर, भारत के पास कुछ खनिजों के बड़े भंडार भी हैं, जिनका उपयोग सीमित है। उदाहरण के लिए, भारत में कोबाल्ट के लगभग 44.9 मिलियन टन, तांबे के 163.9 मिलियन टन और ग्रेफाइट के 211.6 मिलियन टन भंडार मौजूद हैं। नीचे दी गई तालिका में चुनिंदा खनिजों के घरेलू भंडार और उनकी आयात निर्भरता दर्शाई गई है (स्रोत) :

खनिज (Mineral)	घरेलू भंडार (मिलियन टन)	आयात निर्भरता (%)
कोबाल्ट (Cobalt)	44.9	लगभग 100%
निकेल (Nickel)	189	लगभग 100%
लिथियम (Lithium)	5.9	लगभग 100%

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत को रणनीतिक खनिजों में समग्र आत्मनिर्भरता के लिए अपनी खोज-खनन क्षमता बढ़ानी होगी और महत्वपूर्ण घरेलू भंडारों का उपयोग सुनिश्चित करना होगा।

राष्ट्रीय महत्वपूर्ण खनिज मिशन एवं नीतिगत पहल

भारत सरकार ने रणनीतिक खनिजों की स्थायी आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्रीय महत्वपूर्ण खनिज मिशन (NCMM) की शुरुआत की है। वित्त वर्ष 2024-25 के बजट में वित्तमंत्री ने इसकी घोषणा की, जिसमें घरेलू उत्पादन को बढ़ाना, खनिजों के पुनर्चक्रण को प्रोत्साहित करना और विदेशों में खनिज संपत्तियों का अधिग्रहण करना शामिल है। जनवरी 2025 में कैबिनेट ने रु. 16,300 करोड़ (और PSU से अतिरिक्त रु. 18,000 करोड़ निवेश) की राशि स्वीकृत की, जो 2024-25 से 2030-31 तक सात वर्षों में खर्च की जाएगी। मिशन की प्रमुख सुविधाएं निम्नलिखित हैं :

⋆ **घरेलू अन्वेषण एवं उत्पादन :** GSI को 2024-25 से 2030-31 तक करीब 1,200 खोज परियोजनाएं चलाने का लक्ष्य दिया गया है। इनमें 100 से अधिक महत्त्वपूर्ण खनिज ब्लॉकों की नीलामी शामिल है। साथ ही गहरे (200 मीटर से अधिक) भू-गर्भीय स्त्रोतों और समुद्री किनारों के खनन पर

भी ध्यान दिया जा रहा है, निजी क्षेत्र को नए लाइसेंस मॉडल और अधिक अनुमति देकर खोज तेज की जाएगी।

⋆ **पुनर्चक्रण एवं द्वितीयक स्रोत :** खनिज संसाधनों के टिकाऊ उपयोग के लिए मिशन ने रु. 1,500 करोड़ की पुनर्चक्रण प्रोत्साहन योजना चलाई है, जिससे tailings, e-वेस्ट इत्यादि से महत्वपूर्ण खनिज अलग किए जा सकेंगे। नवम्बर 2025 में प्राधिकरण ने इन पायलट परियोजनाओं के दिशानिर्देश जारी किए, जिससे इन अवशिष्टों से खनिज प्रबंधन को बढ़ावा मिलेगा। इससे आयात घटेगा और कचरा भी कम होगा।

⋆ **वैश्विक साझेदारी और अधिग्रहण :** भारत ने अर्जेंटीना, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, जापान आदि देशों के साथ महत्त्वपूर्ण खनिजों पर सहयोग बढ़ाया है। उदाहरणत: PSU संयुक्त उद्यम KABIL ने अर्जेंटीना में लिथियम खोज परियोजना में निवेश किया है। कोल इंडिया, एनएमडीसी, ONGC-वाइड्स जैसी कंपनियां ऑस्ट्रेलिया, जाम्बिया, कांगो आदि में लिथियम, निकेल, कोबाल्ट की खोज में लगी हैं। इन पहलों से भारत को खनिज आपूर्ति स्थिर होगी और प्रसंस्करण संबंधी तकनीकी सहयोग भी विकसित होगा।

⋆ **प्रौद्योगिकी एवं मानव संसाधन :** मिशन के तहत सात केंद्रों को सेंटर ऑफ एक्सीलेंस घोषित किया गया है, जहां बैटरी प्रौद्योगिकी और उन्नत सामग्री अनुसंधान पर काम चल रहा है। एक आउटरीच फोरम के जरिए सरकार, उद्योग एवं शिक्षा क्षेत्र आपसी सहयोग बढ़ा रहे हैं। साथ ही उच्चस्तरीय कोर्स और प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाकर नये खनिज वैज्ञानिकों और तकनीशियनों को तैयार किया जा रहा है।

⋆ **कर एवं वित्तीय प्रोत्साहन :** बजट 2025-26 में महत्वपूर्ण खनिजों के लघु अपशिष्ट (scrap, tailings) पर आयात शुल्क शून्य कर दिया गया। 25 चिन्हित खनिजों (जैसे लिथियम, कोबाल्ट, REE) के आधारभूत सीमा शुल्क समाप्त कर दिये गये। इससे स्थानीय प्रसंस्करण को आर्थिक लाभ मिला है। इसके अतिरिक्त बैटरी, सोलर पैनल इत्यादि के PLI प्रोत्साहनों में भी इन खनिजों को शामिल किया गया है, जिससे निवेश में वृद्धि हो रही है।

इन पहलों से भारत की खनिज नीति आत्मनिर्भरता की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति कर रही है। NCMM बजट और अधिनियमों ने नीति का आधार मजबूत किया है, पर तेज कार्यान्वयन आवश्यक है।

खनन कानूनों में सुधार

खनन क्षेत्र को आत्मनिर्भर बनाने हेतु हाल ही में कानूनों में बड़े संशोधन किए गए हैं। खनिज विकास विनियमन (संशोधन) अधिनियम, 2025 में कई नए प्रावधान सम्मिलित हैं :

⋆ **खनिज सम्मिलन :** अब एक पट्टाधारक कई खनिजों को एक ही खदान पट्टे में जोड़ सकता है। लिथियम, कोबाल्ट, निकेल, सोना, चांदी आदि को मिलाने पर अतिरिक्त रॉयल्टी/प्रीमियम नहीं देना होगा। इससे बहु-खनिज जमीन का पूरा दोहन सम्भव होगा।

⋆ **एनएमईडीटी का विस्तार :** राष्ट्रीय खनिज अन्वेषण निधि को राष्ट्रीय खनिज अन्वेषण एवं विकास कोष में परिवर्तित कर विदेश तथा समुद्री क्षेत्र में अन्वेषण को भी शामिल किया गया। पट्टाधारकों से अब 3% अंशदान लिया जायेगा (पहले 2%) जिससे अनुसंधान में धन उपलब्धता बढ़ेगी।

⋆ **क्षेत्र विस्तार :** गहरे (200 मी) खनिजों के लिए पट्टे के क्षेत्र को एक बार 30% (कुल क्षेत्र का) तक बढ़ाने की अनुमति दी गई है। इससे जोत के चारों ओर विस्तार क्षेत्र में भी खनन सम्भव होगा।

⋆ **खनिज बाजार एवं विनियमन :** खनिजों के लेन-देन के लिए इलेक्ट्रॉनिक माइनरल एक्सचेंज बनाने का प्रावधान है। इससे ट्रेड में पारदर्शिता बढ़ेगी और कीमतें स्थिर होंगी।

⋆ **अन्य महत्वपूर्ण सुधार :** बेराइट्स, फेल्स्पार, माइका, क्वार्ट्ज जैसी खनिजों को माइनर से मेजर में स्थानांतरित किया गया। अब ये ब्लॉकों के साथ नीलाम किए जा सकेंगे, जिससे इनसे जुड़ी पूरक तकनीक विकसित होगी।

इन संशोधनों और नियमों की सरलता से भी निवेश बढ़ा है। उदाहरणत: मार्च 2025 तक महत्त्वपूर्ण खनिजों के 34 ब्लॉकों की सफल नीलामी की घोषणाएं हो चुकी हैं। यह दर्शाता है कि नीतिगत सुधारों से खनन क्षेत्र में नई उत्सुकता पैदा हुई है।

विदेशों में निवेश एवं अधिग्रहण

आत्मनिर्भरता के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भारत ने विदेशों में भी सक्रिय पहल की है। फरवरी 2025 की रिपोर्ट के अनुसार भारत जाम्बिया, कांगो, ऑस्ट्रेलिया और तंजानिया में महत्वपूर्ण खनिज अन्वेषण के अवसर तलाश रहा है। कोल इंडिया, एनएमडीसी और ONGC-वाइड्स जैसी कंपनियाँ ऑस्ट्रेलिया में लिथियम, निकेल एवं कोबाल्ट की खोज में लगी हैं। निजी क्षेत्र ने भी अफ्रीका व दक्षिण अमेरिका के

निक्षेपों में हिस्सेदारी खरीदी है।

द्विपक्षीय समझौतों ने भी मदद की है : भारत-अर्जेंटीना तथा भारत-ऑस्ट्रेलिया समझौतों से लिथियम एवं कोबाल्ट परियोजनाओं को गति मिली है। विदेशों में संपत्ति अधिग्रहण से भारत को न केवल खनिजों की विश्वसनीय आपूर्ति मिलेगी, बल्कि प्रसंस्करण तकनीकों में साझेदारी और विदेश निवेश को भी प्रोत्साहन मिलेगा।

चुनौतियां

इन प्रयासों के बावजूद चुनौतियां प्रमुख बनी हुई हैं :

⋆ **तकनीकी आधार की कमी :** भारत में अभी महत्त्वपूर्ण खनिजों का प्रसंस्करण अत्याधुनिक संयंत्रों पर आधारित नहीं है। उच्च-शुद्धता वाले रसायनों (बैटरी ग्रेड लिथियम, REE धातु) के लिए जरूरी तकनीक सीमित है।

⋆ **पर्यावरण एवं सामाजिक प्रतिबंध :** भूमि अधिग्रहण, वन-पर्यावरण मंजूरी और स्थानीय सामाजिक मतभेद खनन परियोजनाओं में विलंब लाते हैं। इन प्रक्रियाओं में समय लगता है और निवेश जोखिम बढ़ जाता है।

⋆ **आर्थिक एवं मूल्य अस्थिरता :** खनिज मूल्य अंतरराष्ट्रीय बाजार में उतार-चढ़ाव से निवेशकों की रोक-टोक रहती है। भारी पूंजी और लंबे समय के निवेश की आवश्यकता वित्तीय बाधा है।

⋆ **अनुसंधान एवं मानवीय संसाधन :** उन्नत भू-वैज्ञानिक डेटा व अनुसंधान केंद्रों की कमी है। प्रशिक्षित शोधकर्त्ता एवं तकनीशियन की संख्या अपर्याप्त है, जिससे खोज में धीमापन होता है।

इन चुनौतियों का सामना करने के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों को समन्वित योजनाएं बनानी होंगी, निजी निवेश व तकनीकी सहयोग को प्रोत्साहित करना होगा तथा रुके हुए अनुमोदन प्रक्रियाओं को सरल बनाना होगा।

अवसर

भारत के समृद्ध खनिज भंडार और उच्च मांग के कारण अनेक अवसर बने हुए हैं :

⋆ **औद्योगिक आत्मनिर्भरता :** घरेलू खनिज उपलब्धता से बैटरी, इलेक्ट्रिक वाहन, सौर ऊर्जा, दूरसंचार और रक्षा जैसे उद्योगों को कच्चा माल सुलभ होगा। इससे इन क्षेत्रों के PLI प्रोत्साहन और विनिर्माण को नई दिशा मिलेगी।

⋆ **आर्थिक विकास :** खनिज उत्खनन और प्रसंस्करण में निवेश से मध्यप्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों में आर्थिक विकास होगा। नए खनिज-आधारित लघु-मध्यम उद्योग बनने से रोजगार सृजन होगा और ग्रामीण-आदिवासी विकास को गति मिलेगी।

⋆ **पुनर्चक्रण एवं नवाचार :** ई-अपशिष्ट, बैटरी, औद्योगिक अवशिष्टों से खनिज पुन:प्राप्ति के क्षेत्र में नवाचार हो रहे हैं। NCMM के दिशानिर्देशों से ये उद्योग ''खनिज अर्थव्यवस्था'' की दिशा में अग्रसर हैं, जिससे पर्यावरण सुरक्षा के साथ संसाधन दक्षता बढ़ेगी।

⋆ **वैश्विक भागीदारी :** Mineral Security Partnership, Quad, IPEF जैसे मंचों में भागीदारी से तकनीकी सहयोग, मानकीकरण और वित्तीय संसाधन जुटाने के अवसर बढ़ रहे हैं। विकसित भारत 2047 के दृष्टिकोण में आत्मनिर्भर खनिज अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई गई है, जो अंतरराष्ट्रीय सहकार्यों को भी प्रोत्साहन देगा।

सरकार की वोकल फॉर लोकल एवं मेक इन इंडिया पहलों से उद्योग को यह स्पष्ट संदेश मिलता है कि खनिज केवल निष्कर्षण तक सीमित नहीं रहेंगे, बल्कि इनके मूल्य संवर्धन पर जोर देना है। इन पहलों से ऊर्जा संक्रमण और सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति अपेक्षा त सरल होगी।

भारत की क्रिटिकल खनिज कूटनीति और वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला में रणनीतिक स्थिति

क्रिटिकल खनिजों की उपलब्धता आज केवल औद्योगिक विकास का प्रश्न नहीं रह गई है, बल्कि यह वैश्विक शक्ति संतुलन, आर्थिक सुरक्षा और रणनीतिक स्वायत्तता का भी प्रमुख आधार बन चुकी है। वर्तमान अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में जिन देशों के पास क्रिटिकल खनिजों के स्रोत, प्रसंस्करण क्षमता तथा आपूर्ति श्रृंखला पर प्रभावी नियंत्रण है, वे वैश्विक अर्थव्यवस्था और नई प्रौद्योगिकियों के विकास में निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं। चीन द्वारा दुर्लभ मृदा तत्वों (Rare Earth Elements) तथा अन्य महत्वपूर्ण खनिजों के प्रसंस्करण क्षेत्र में स्थापित प्रभुत्व ने अनेक देशों को अपनी आपूर्ति श्रृंखलाओं के विविधीकरण (Supply Chain Diversification) की दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारत भी अपनी क्रिटिकल खनिज नीति को केवल घरेलू खनन तक सीमित न रखकर एक व्यापक भू-आर्थिक (Geo-economic) और भू-राजनीतिक (Geopolitical) रणनीति के रूप में विकसित कर रहा है।

भारत ने पिछले कुछ वर्षों में खनिज सुरक्षा को विदेश

नीति, व्यापार नीति तथा औद्योगिक नीति के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। भारत, ऑस्ट्रेलिया, अर्जेंटीना, चिली तथा अफ्रीकी देशों के साथ सहयोग बढ़ाकर लिथियम, कोबाल्ट, तांबा, निकल तथा ग्रेफाइट जैसे खनिजों की दीर्घकालिक उपलब्धता सुनिश्चित करने की दिशा में कार्य कर रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र की संयुक्त कंपनी KABIL (Khanij Bidesh India Limited) के माध्यम से विदेशों में खनिज परिसंपत्तियों के अधिग्रहण तथा अन्वेषण की पहल इसी रणनीतिक दृष्टिकोण का हिस्सा है। इसके अतिरिक्त भारत ने विभिन्न द्विपक्षीय समझौतों तथा बहुपक्षीय मंचों के माध्यम से भी खनिज सहयोग को प्राथमिकता दी है, जिससे भविष्य में आपूर्ति जोखिमों को कम किया जा सके।

हालाँकि केवल विदेशी स्रोतों तक पहुँच बना लेना पर्याप्त नहीं होगा। यदि भारत को वैश्विक मूल्य श्रृंखला (Global Value Chain) में प्रभावशाली स्थान प्राप्त करना है, तो उसे खनिजों के निष्कर्षण (Extraction) के साथ-साथ प्रसंस्करण (Processing), परिशोधन (Refining), पुनर्चक्रण (Recycling) तथा उच्च मूल्यवर्धित विनिर्माण (Value-added Manufacturing) में भी निवेश बढ़ाना होगा। वर्तमान में भारत अनेक महत्वपूर्ण खनिजों के परिशोधन के लिए बाहरी देशों पर निर्भर है, जिसके कारण कच्चे खनिजों की उपलब्धता होने के बावजूद औद्योगिक प्रतिस्पर्धा प्रभावित होती है। इसलिए खनिज आधारित उद्योगों, बैटरी निर्माण, सेमीकंडक्टर, विद्युत वाहन तथा स्वच्छ ऊर्जा उपकरणों के घरेलू उत्पादन को समानांतर रूप से प्रोत्साहित करना आवश्यक है।

इस दिशा में अनुसंधान एवं विकास (Research and Development), भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण, आधुनिक खनन तकनीकों, डिजिटल खनन प्रबंधन तथा मानव संसाधन विकास पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विश्वविद्यालयों, अनुसंधान संस्थानों तथा उद्योगों के बीच सहयोग बढ़ाकर नई तकनीकों का विकास किया जा सकता है, जिससे भारत केवल खनिज उपभोक्ता नहीं बल्कि तकनीकी नवाचार का केंद्र भी बन सके। इसके साथ ही पर्यावरणीय प्रभावों को कम करने, स्थानीय समुदायों की भागीदारी सुनिश्चित करने तथा सतत् खनन (Sustainable Mining) के सिद्धांतों का पालन करने से भारत की खनिज नीति अधिक समावेशी और दीर्घकालिक रूप से प्रभावी बन सकती है।

भविष्य की दृष्टि से भारत के लिए सबसे बड़ी चुनौती यह होगी कि वह आर्थिक विकास, ऊर्जा संक्रमण, पर्यावरण संरक्षण तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के बीच संतुलन स्थापित करे। यदि भारत घरेलू संसाधनों के वैज्ञानिक दोहन, वैश्विक रणनीतिक साझेदारियों, तकनीकी आत्मनिर्भरता तथा प्रभावी संस्थागत समन्वय को एकी त रूप से आगे बढ़ाता है, तो वह वैश्विक क्रिटिकल खनिज आपूर्ति श्रृंखला में एक विश्वसनीय, प्रतिस्पर्धी और रणनीतिक भागीदार के रूप में उभर सकता है। ऐसी स्थिति में क्रिटिकल खनिज नीति केवल संसाधन प्रबंधन का माध्यम न रहकर भारत की आत्मनिर्भर भारत, हरित ऊर्जा संक्रमण तथा दीर्घकालिक आर्थिक सुरक्षा की आधारशिला सिद्ध होगी।

निष्कर्ष

भारत के लिए महत्वपूर्ण खनिजों में आत्मनिर्भरता हासिल करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है, लेकिन उपयुक्त नीति और सहभागिता से इसे संभव बनाया जा सकता है। NCMM सहित अन्य योजनाओं ने ठोस आधार तैयार किया है; अब इसका शीघ्र एवं पारदर्शी क्रियान्वयन जरूरी है। घरेलू उत्खनन बढ़ाने, अंतरराष्ट्रीय साझेदारियाँ सुदृढ़ करने और पर्यावरणीय मानदंडों का पालन सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी सभी पक्षों को मिलकर उठानी होगी। यदि सरकार, उद्योग और अनुसंधान समुदाय मिलकर काम करें, तो भारत अपने ऊर्जा और तकनीकी भविष्य को सुरक्षित कर सकता है। विकसित भारत 2047 के दृष्टिकोण में आत्मनिर्भर खनिज अर्थव्यवस्था की नींव रखी जा रही है।

शोधार्थी, अफ्रीकी अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रंथ

- P. Krishnamurthy et al., **India's critical minerals strategy: Geopolitical imperatives and energy transition goals**, FIIA Briefing Paper, April 2024.
- C. Gupta, **The National Critical Mineral Mission, 2025: Securing Critical Minerals and a Clean Energy Future**, IMPRI 0, Report, April 2025.
- Press Information Bureau, **Extraction of Critical Minerals from Tailings**, 26 Mar 2025.
- Press Information Bureau, **Strategic Supply Chain Management for Critical Minerals**, 2 Apr 2025.
- PRS Legislative Research, **Mines and Minerals (Development and Regulation) Amendment Act, 2025**.
- S. Sachdeva et al., **Critical minerals: India must step up its strategies**, IEEFA , Report, April 2025.
- PSU Watch, **Budget 2024-25 Highlights: National Critical Minerals Mission**, 23 July 2024.
- Reuters (N. Arora), **India exploring critical minerals in Zambia, Congo and Australia**, 27 Feb 2025.

शोध-पत्र

निकिता ज्याणी

वाशिंगटन शांति समझौते (2025) के बाद ग्रेट लेक्स क्षेत्र में पश्चिमी सहायता की बदलती राजनीति : रवांडा और डीआरसी का एक तुलनात्मक अध्ययन

सार

यह शोध पत्र जून और दिसंबर 2025 में हस्ताक्षरित 'वाशिंगटन शांति समझौते' (Washington Accords for Peace and Prosperity) के बाद अफ्रीका के ग्रेट लेक्स क्षेत्र (Great Lakes Region) विशेष रूप से रवांडा और लोकतांत्रिक गणराज्य कांगो (DRC) में पश्चिमी विकास और मानवीय सहायता के बदलते भू-राजनीतिक आयामों का एक गहन और विस्तृत तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पारंपरिक रूप से, पश्चिमी देशों द्वारा दी जाने वाली सहायता ''उदारवादी शांति स्थापना'' (Liberal Peacebuilding) और सुशासन के सिद्धांतों पर आधारित थी। हालांकि, 2025 के वाशिंगटन समझौते के बाद एक नए ''शांति के बदले खनिज'' (Peace-for-Minerals) और ''क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण ढांचे'' (REIF) का उदय हुआ है, जिसने सहायता कूटनीति को अत्यधिक संविदात्मक और लेन-देन पर आधारित बना दिया है।

इस अध्ययन में 'मोस्ट डिफरेंट सिस्टम्स डिजाइन' (MDSD) का उपयोग करते हुए यह दर्शाया गया है कि कैसे रवांडा ने अपनी ''विकासात्मक सहायता रेंटियरवाद'' (Developmental Aid Rentierism) की रणनीति को नए खनिज समझौतों के साथ जोड़ा है, जबकि डीआरसी ने अपनी संप्रभुता की रक्षा के लिए अपनी कमियों और विशाल खनिज संपदा का उपयोग करते हुए ''संपर्क-सौदेबाजी'' (Sovereignty-Bargaining) का मार्ग अपनाया है। यह शोध इस बात की पड़ताल करता है कि कैसे हरित संक्रमण (Green Transition) के लिए आवश्यक रणनीतिक खनिजों (जैसे कोबाल्ट और कोल्टन) की वैश्विक मांग ने शांति स्थापना और पश्चिमी सहायता को एक नए आर्थिक हित के साथ सरेखित कर दिया है।

प्रस्तावना

अफ्रीका का ग्रेट लेक्स क्षेत्र, विशेष रूप से रवांडा और लोकतांत्रिक गणराज्य कांगो (DRC) के बीच का सीमावर्ती क्षेत्र, दशकों से दुनिया के सबसे जटिल और हिंसक संघर्षों का केंद्र रहा है। वर्ष 2022 से शुरू हुए एम23 (M23) विद्रोही समूह के आक्रामक अभियानों और जनवरी 2025 में गोमा (Goma) शहर के पतन ने इस क्षेत्र को एक बार फिर पूर्ण युद्ध की कगार पर खड़ा कर दिया था। इस गंभीर सुरक्षा संकट के समाधान के रूप में, जून 2025 में अमेरिका और कतर की मध्यस्थता से 'वाशिंगटन शांति समझौते' की रूपरेखा तैयार की गई, जिसे अंततः 4 दिसंबर 2025 को दोनों देशों के राष्ट्रपतियों फेलिक्स त्शिसेकेदी (DRC) और पॉल कागमे (रवांडा) द्वारा वाशिंगटन में अंतिम रूप दिया गया।

यह समझौता केवल एक पारंपरिक संघर्ष-विराम संधि नहीं था। इसमें पहली बार 'क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण ढांचा' (Regional Economic Integration Framework - REIF) शामिल किया गया, जिसने शांति स्थापना को रणनीतिक खनिजों के दोहन और पश्चिमी आपूर्ति श्रृंखलाओं की सुरक्षा से सीधे जोड़ दिया। इस समझौते ने पश्चिमी सहायता (Western Aid) के पूरे ढांचे को बदल दिया है। सहायता अब केवल मानवीय राहत या लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण का साधन नहीं रह गई है, बल्कि यह एक 'रणनीतिक विनिमय दर' (Strategic Exchange Rate) बन गई है, जहां दाता और

प्राप्तकर्ता देश सुरक्षा प्रतिबद्धताओं के बदले आर्थिक और खनिज रियायतों का आदान-प्रदान कर रहे हैं।

यह आलेख इस बात की पड़ताल करता है कि वाशिंगटन समझौते के बाद रवांडा और डीआरसी की सरकारों ने पश्चिमी सहायता के इस नए प्रतिमान (Paradigm) को अपनी घरेलू राजनीतिक स्थिरता और क्षेत्रीय सुरक्षा रणनीतियों के लिए किस प्रकार अनुकूलित किया है।

सैद्धांतिक ढांचा : राजनीतिक बाजार और आर्थिक संप्रभुता

ग्रेट लेक्स क्षेत्र में सहायता की इस बदलती राजनीति को समझने के लिए दो प्रमुख राजनीतिक-आर्थिक सिद्धांतों का सहारा लिया जा सकता है :

1. एलेक्स डी वाल का 'राजनीतिक बाजार ढांचा' (Political Marketplace Framework)

एलेक्स डी वाल (Alex de Waal) के अनुसार, समकालीन अफ्रीकी संघर्षों में राजनीति एक मौद्रिक लेनदेन की तरह संचालित होती है, जहां संप्रभुता और वफादारी की कीमतें बदलती रहती हैं। इस सिद्धांत के तहत, राज्य के सुरक्षा तंत्र, विद्रोही समूहों और विदेशी दाताओं के बीच वित्तीय संसाधनों का आदान-प्रदान ही तय करता है कि शांति स्थापित होगी या संघर्ष जारी रहेगा। वाशिंगटन समझौते (2025) ने इस राजनीतिक बाजार में पश्चिमी शक्तियों (विशेष रूप से अमेरिका) को एक प्रमुख खिलाड़ी बना दिया है, जो विकास सहायता और सुरक्षा गारंटी के बदले रणनीतिक खनिजों तक पहुंच खरीद रही हैं।

2. जेम्स फर्ग्यूसन का 'एंटी-पॉलिटिक्स मशीन' (The Anti-Politics Machine)

जेम्स फर्ग्यूसन (James Ferguson) का यह सिद्धांत दर्शाता है कि कैसे अंतरराष्ट्रीय सहायता एजेंसियां किसी क्षेत्र के गहरे राजनीतिक और सैन्य संघर्षों को 'तकनीकी' और 'विकासात्मक' मुद्दों के रूप में पेश करती हैं। वाशिंगटन समझौते में प्रयुक्त 'क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण' (REIF) की शब्दावली इसी 'एंटी-पॉलिटिक्स मशीन' का सटीक उदाहरण है। यह शब्दावली रवांडा और डीआरसी के बीच के दशकों पुराने जातीय और क्षेत्रीय संघर्ष को एक व्यापारिक और आपूर्ति-श्रृंखला प्रबंधन के तकनीकी ढांचे में बदलने का प्रयास करती है, जिससे वास्तविक राजनीतिक और ऐतिहासिक जटिलताएं अनदेखी रह जाती हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : 1994 से 2025 तक संघर्ष का संक्रमण

ग्रेट लेक्स क्षेत्र के वर्तमान भू-राजनीतिक संकट को समझने के लिए इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण आवश्यक है। 1994 के रवांडा नरसंहार के बाद, क्षेत्र की सुरक्षा व्यवस्था पूरी तरह से अस्त-व्यस्त हो गई। नरसंहार के जिम्मेदार चरमपंथी हुतु गुटों (जैसे FDLR) ने पूर्वी डीआरसी के घने जंगलों में शरण ली, जिससे निपटने के लिए रवांडा ने कई बार सीमा पार सैन्य हस्तक्षेप किया।

इन हस्तक्षेपों के परिणामस्वरूप पूर्वी डीआरसी में अनगिनत स्थानीय सशस्त्र समूहों (Mai-Mai, M23 आदि) का उदय हुआ। अंतरराष्ट्रीय दाताओं ने शुरुआत में विकास और मानवीय सहायता के विशाल प्रवाह के माध्यम से इन सुरक्षा चुनौतियों का सामना करने का प्रयास किया। जहां रवांडा को अपनी पुनर्निर्माण प्रक्रिया के लिए 'सशर्त विकास सहायता' मिली, वहीं डीआरसी को विश्व इतिहास के सबसे बड़े और सबसे महंगे शांति रक्षा मिशनों में से एक मोनूस्को (MONUSCO) का आश्रय मिला। हालांकि, इन दोनों प्रणालियों ने अंततः संघर्ष को हल करने के बजाय उसे एक विशेष वित्तीय संरचना में बदल दिया, जहां शांति स्थापना की विफलता ही सहायता के प्रवाह को बनाए रखने का साधन बन गई।

वाशिंगटन शांति समझौता (2025) और 'शांति के बदले खनिज' सौदा

वाशिंगटन शांति समझौते (2025) की सबसे अनूठी विशेषता इसका 'शांति के बदले खनिज' (Peace-for-Minerals) का फॉर्मूला है। फरवरी 2025 में, डीआरसी के राष्ट्रपति त्शिसेकेदी ने अमेरिकी प्रशासन को एक औपचारिक पत्र लिखकर अमेरिकी सुरक्षा और सैन्य सहायता के बदले देश के महत्वपूर्ण खनिजों (कोबाल्ट, कोल्टन, तांबा और लिथियम) तक अमेरिकी कंपनियों को विशेष पहुंच देने का प्रस्ताव रखा था।

इस प्रस्ताव ने समझौते की नींव रखी। इसके तहत निम्नलिखित प्रमुख प्रावधान किए गए :

⋆ **रवांडा की सैन्य वापसी :** रवांडा को पूर्वी डीआरसी से अपने सैनिकों को चरणबद्ध तरीके से वापस बुलाना होगा।

⋆ **एफडीएलआर (FDLR) का विघटन :** डीआरसी सरकार रवांडा विरोधी हुतु विद्रोही समूह (FDLR) को अपनी सेना से अलग करेगी और उसका निशस्त्रीकरण करेगी।

⋆ **क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण ढांचा (REIF) :** अमेरिकी निवेशकों और दोनों देशों के बीच सीमा पार व्यापारिक गलियारे की स्थापना, विशेष रूप से खनिज रिफाइनिंग और निर्यात को औपचारिक बनाने के लिए।

वाशिंगटन समझौता इस बात का स्पष्ट उदाहरण है कि कैसे हरित ऊर्जा संक्रमण (Green Energy Transition) ने वैश्विक सुरक्षा कूटनीति को बदल दिया है। कोबाल्ट और लिथियम के बिना पश्चिमी देशों के जलवायु लक्ष्य अधूरे हैं, और इन खनिजों को सुरक्षित करने के लिए पश्चिमी देश लोकतांत्रिक सिद्धांतों और मानवाधिकारों से समझौता कर सहायता कूटनीति को संविदात्मक बनाने के लिए तैयार हैं।

रवांडा का मॉडल : विकासात्मक सहायता रेंटियरवाद (Developmental Aid Rentierism)

रवांडा के राष्ट्रपति पॉल कागमे की सरकार ने 1994 के नरसंहार के बाद से हमेशा विदेशी सहायता का उपयोग एक संप्रभु ढाल के रूप में किया है। इस मॉडल को ''विकासात्मक सहायता रेंटियरवाद'' कहा जा सकता है।

1. प्रदर्शन कूटनीति (Performance Diplomacy)

रवांडा को मिलने वाली पश्चिमी सहायता मुख्य रूप से 'सेक्टर बजट सपोर्ट' के माध्यम से सीधे सरकारी खजाने में जाती है। रवांडा इस धन का उपयोग अत्यधिक कुशल प्रशासनिक व्यवस्था, उत्कृष्ट स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाओं, तथा भ्रष्टाचार मुक्त परियोजनाओं को लागू करने में करता है। इस उत्कृष्ट प्रदर्शन के बल पर रवांडा अंतरराष्ट्रीय दाताओं के सामने खुद को एक 'सफल कहानी' (Success Story) के रूप में पेश करता है। दाताओं के लिए रवांडा का यह 'प्रशासनिक चमत्कार' उनके अपने बजट आवंटन को सही ठहराने का एक शानदार जरिया बन जाता है।

2. सुरक्षा निर्यात और भू-राजनीतिक सौदेबाजी

रवांडा ने इस विकासात्मक सफलता से मिले घरेलू वित्तीय लचीलेपन का उपयोग अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने और उसे मोजाम्बिक (काबो डेलगाडो) तथा मध्य अफ्रीकी गणराज्य (CAR) जैसे देशों में ष्सुरक्षा निर्यातष करने में किया है। जब पश्चिमी देशों ने रवांडा द्वारा पूर्वी डीआरसी में एम23 विद्रोहियों का समर्थन करने पर विकास सहायता रोकने की धमकी दी, तो रवांडा ने मोजाम्बिक में अपनी आतंकवाद विरोधी सेना को वापस बुलाने का संकेत दिया (जहां फ्रांसीसी कंपनी 'टोटलएनर्जीज' के अरबों डॉलर के गैस प्रोजेक्ट्स मौजूद हैं)।

वाशिंगटन समझौते (2025) के तहत, रवांडा ने अपनी विकास सहायता को बहाल रखने और अपनी क्षेत्रीय सुरक्षा प्राथमिकताओं को अक्षुण्ण रखने के लिए अमेरिका के खनिज हितों के साथ तालमेल बिठाया है। रवांडा ने पूर्वी डीआरसी के खनिज पारगमन मार्गों (mineral transit routes) पर अपने अप्रत्यक्ष नियंत्रण को पश्चिमी देशों के सामने एक रणनीतिक संसाधन के रूप में प्रस्तुत किया है।

डीआरसी का मॉडल : संप्रभुता-सौदेबाजी और संकट कूटनीति (Sovereignty-Bargaining)

रवांडा की तुलना में, डीआरसी की प्रशासनिक क्षमता अत्यंत कमजोर और खंडित रही है। इसके बावजूद, किनशासा प्रशासन ने अपनी 'कमजोरी को ही अपनी ताकत' बनाकर सहायता हासिल करने का एक अलग मॉडल विकसित किया है।

1. संकट को भुनाना (Leveraging the Crisis)

डीआरसी लगातार मंडराते मानवीय संकट, विस्थापन और राज्य के संभावित पतन के भय को पश्चिमी दाताओं के सामने एक सौदेबाजी के साधन के रूप में उपयोग करता है। पश्चिमी देश इस बात से डरते हैं कि यदि उन्होंने मानवीय सहायता और शांति अभियानों (जैसे MONUSCO या SADC बल) को आर्थिक सहायता देना बंद कर दिया, तो पूरा मध्य अफ्रीकी क्षेत्र अस्थिर हो जाएगा। यह अस्थिरता सीधे तौर पर वैश्विक खनिज बाजारों को ठप कर सकती है, जिससे इलेक्ट्रिक वाहन और उच्च तकनीक उद्योगों को भारी नुकसान होगा।

2. संप्रभुता-सौदेबाजी (Sovereignty-Bargaining)

त्सिसेकेदी प्रशासन ने वाशिंगटन समझौते (2025) के तहत अपनी संप्रभुता के कुछ हिस्सों का सौदा किया है। 'सुरक्षा के बदले खनिज' के प्रस्ताव ने यह सुनिश्चित किया कि अमेरिकी सरकार और वित्तीय संस्थान सीधे तौर पर डीआरसी की क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध हों, भले ही इसके लिए पश्चिमी कंपनियों को बिना किसी घरेलू प्रसंस्करण (domestic processing) के कच्चे खनिजों के निर्यात की छूट देनी पड़े।

इस रणनीति के माध्यम से, किनशासा ने सुरक्षा और चुनावी वैधता दोनों हासिल कर ली है, जबकि उसे पूर्वी क्षेत्रों में वास्तविक प्रशासनिक सुधार या स्थानीय स्तर पर सुशासन स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। संप्रभुता-

सौदेबाजी ने स्थानीय आबादी की सुरक्षा को विदेशी कॉर्पोरेट हितों के अधीन कर दिया है।

तुलनात्मक विश्लेषण : रवांडा बनाम डीआरसी

पश्चिमी सहायता के इस नए भू-राजनीतिक परिवेश में दोनों देशों की सहायता प्राप्त करने की विधियों, रणनीतियों और उनके प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन नीचे दी गई तालिका में स्पष्ट किया गया है :

तालिका 1 : वाशिंगटन समझौते (2025) के बाद सहायता और सुरक्षा का तुलनात्मक विश्लेषण

विश्लेषणात्मक आयाम	**रवांडा (Rwandan Model)**	**लोकतांत्रिक गणराज्य कांगो (DRC Model)**
सहायता का मुख्य प्रकार	विकासात्मक एवं बजट समर्थन (Direct Treasury Support)	मानवीय सहायता एवं बहुपक्षीय सुरक्षा कोष (NGOs - Peacekeeping)
रणनीतिक सौदेबाजी का साधन	सुरक्षा निर्यात (मोजाम्बिक/CAR) और प्रशासनिक दक्षता	विशाल खनिज भंडार (कोबाल्ट/कोल्टन) और संभावित राज्य विघटन का भय
वाशिंगटन समझौता (2025) के तहत लाभ	सहायता कटौती की धमकियों से मुक्ति; सुरक्षा सहयोगी के रूप में पहचान	अमेरिकी सुरक्षा प्रतिबद्धता और विद्रोही समूहों (M23) पर कूटनीतिक दबाव
खनिज अर्थव्यवस्था में भूमिका	खनिज प्रसंस्करण और पारगमन केंद्र (Transit Hub) के रूप में खुद को स्थापित करना	कच्चे माल के प्राथमिक निर्यातक के रूप में अपनी स्थिति का सौदा करना
सहायता का घरेलू राजनीतिक प्रभाव	केंद्रीय सत्तावादी शासन और सुरक्षा तंत्र का सुदृढ़ीकरण	किनशासा में संभ्रांत वर्ग (Elite) की सत्ता पर पकड़ मजबूत होना; पूर्वी क्षेत्रों में राज्य की अनुपस्थिति को बढ़ावा
दीर्घकालिक जोखिम	आंतरिक असंतोष और सुरक्षा तंत्र पर अत्यधिक वित्तीय निर्भरता	खनिज औपनिवेशीकरण और स्थानीय संघर्षों का अंतहीन होना

पश्चिमी सहायता का नया प्रतिमान : उदारवादी शांति से लेन-देन की राजनीति तक

वाशिंगटन शांति समझौते (2025) ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शीत युद्ध के बाद का 'उदारवादी शांति स्थापना' (Liberal Peacebuilding) का दौर समाप्त हो चुका है। वर्तमान में पश्चिमी देशों की सहायता नीतियां निम्नलिखित तीन नए प्रतिमानों से संचालित हो रही हैं :

1. संविदात्मक कूटनीति (Transactional Diplomacy) : सहायता को अब मानवाधिकारों या लोकतांत्रिक सुधारों की प्रगति से नहीं, बल्कि रणनीतिक खनिजों की आपूर्ति श्रृंखला को निर्बाध रखने की क्षमता से मापा जा रहा है।

2. सुरक्षा का निजीकरण और क्षेत्रीयकरण : संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके यूरोपीय सहयोगी अब सीधे बड़े बहुपक्षीय शांति अभियानों (जैसे MONUSCO) पर खर्च करने के बजाय चुनिंदा क्षेत्रीय शक्तियों (जैसे रवांडा की सेना या SADC बलों) को द्विपक्षीय सहायता देकर सुरक्षा व्यवस्था को आउटसोर्स कर रहे हैं।

3. खनिज राष्ट्रवाद का मुकाबला : चीन के बढ़ते प्रभाव (जो पहले से ही डीआरसी के कोबाल्ट उद्योग पर हावी है) को रोकने के लिए पश्चिमी सहायता का उपयोग भू-राजनीतिक ब्लॉक बनाने के लिए किया जा रहा है। इस संदर्भ में सहायता अब विकास का साधन न रहकर भू-राजनीतिक घेराबंदी (Geopolitical Containment) का हथियार बन चुकी है।

स्थानीय स्तर पर शांति स्थापना पर प्रभाव (Micro-level Impact on Local Peacebuilding)

जबकि रवांडा और डीआरसी की केंद्रीय सरकारें पश्चिमी सहायता और वाशिंगटन समझौते से बड़े लाभ कमा रही हैं,

स्थानीय स्तर पर इसके परिणाम विपरीत हैं।

1. स्थानीय नागरिक समाज का हाशिए पर जाना

पश्चिमी सहायता का बड़ा हिस्सा अब सीधे सुरक्षा अभियानों और सीमा-पार व्यापारिक बुनियादी ढांचों के विकास पर केंद्रित हो गया है। इसके कारण स्थानीय स्तर पर सुलह और पुनर्वास का काम करने वाले जमीनी संगठनों (Civil Society Organizations) की उपेक्षा हो रही है। स्थानीय लोगों की आवाज को इस वृहत-आर्थिक और खनिज कूटनीति की चर्चाओं में दबा दिया गया है।

2. 'ग्रीन वाशिंग' और पर्यावरणीय संघर्ष

डीआरसी के पूर्वी हिस्सों में अमेरिकी कंपनियों के प्रवेश ने वन संरक्षण और खनन गतिविधियों के बीच संघर्ष को जन्म दिया है। पर्यावरण को बचाने के नाम पर मिलने वाली 'ग्रीन ऐड' (Green Aid) का उपयोग कई बार स्थानीय लोगों को उनकी पारंपरिक जमीनों से बेदखल करने के लिए किया जा रहा है, ताकि उन क्षेत्रों में कोबाल्ट और कोल्टन का खनन किया जा सके। इस प्रकार, शांति स्थापना की आड़ में नए प्रकार के पर्यावरणीय शरणार्थियों (Environmental Refugees) का जन्म हो रहा है।

चुनौतियाँ और क्षेत्रीय सुरक्षा दुविधा (Security Dilemma)

यद्यपि वाशिंगटन समझौते ने तात्कालिक युद्ध को टाल दिया है, लेकिन इसकी संरचनात्मक कमियां दीर्घकालिक शांति स्थापना में बड़ी बाधा हैं :

⋆ **गैर-राज्य अभिनेताओं का बहिष्कार :** इस समझौते में मुख्य विद्रोही समूह, जैसे एम23 (M23), सीधे तौर पर शामिल नहीं थे, जिसके कारण जमीनी स्तर पर हिंसक झड़पें पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं।

⋆ **सैनिकों की वापसी में देरी :** रवांडा ने सुरक्षा चिंताओं और एफडीएलआर की सक्रियता का हवाला देते हुए अपनी सेना की पूर्ण वापसी में देरी की है।

⋆ **संसाधनों का दोहन :** 'शांति के बदले खनिज' के इस सौदे से स्थानीय स्तर पर पर्यावरण का अत्यधिक क्षरण हो रहा है और खनन क्षेत्रों में काम करने वाले स्थानीय समुदायों को सुरक्षा या आर्थिक विकास का कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिल रहा है।

निष्कर्ष और नीतिगत अनुशंसाएं

रवांडा और डीआरसी के बीच पश्चिमी सहायता की राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि सहायता कभी भी एक तटस्थ मानवीय साधन नहीं होती। वाशिंगटन शांति समझौते (2025) के बाद, दोनों देशों ने अपनी विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों और रणनीतिक भौगोलिक स्थिति का उपयोग करके सहायता प्रवाह को अपनी सत्ता की रक्षा के लिए मोड़ने में सफलता हासिल की है।

ग्रेट लेक्स क्षेत्र में स्थायी और वास्तविक शांति स्थापित करने के लिए पश्चिमी दाता देशों और अंतरराष्ट्रीय समुदायों को निम्नलिखित सुधारात्मक कदम उठाने चाहिए :

1. खनिज समझौतों को स्थानीय विकास से जोड़ना : अंतरराष्ट्रीय कंपनियों को केवल कच्चा खनिज निर्यात करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। समझौते में यह शर्त अनिवार्य होनी चाहिए कि खनिजों का प्रसंस्करण (processing) और रिफाइनिंग स्थानीय स्तर पर हो, जिससे रोजगार और बुनियादी ढांचे का निर्माण हो सके।

2. सहायता का विकेंद्रीकरण : डीआरसी में मानवीय सहायता को केवल अंतरराष्ट्रीय एनजीओ तक सीमित रखने के बजाय स्थानीय नागरिक समाज (Civil Society) और प्रांतीय सरकारों को सीधे वित्तीय सहायता दी जानी चाहिए ताकि वे राज्य की अनुपस्थिति को भर सकें।

3. द्विपक्षीय जवाबदेही तय करना : रवांडा को दी जाने वाली विकासात्मक सहायता को पूर्वी डीआरसी में उसकी सैन्य गतिविधियों की पूर्ण समाप्ति से पूरी तरह और कड़ाई से जोड़ा जाना चाहिए।

शोधार्थी, अफ्रीकी अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. **Africa Center for Strategic Studies.** (2025). *Risk of Regional Conflict Following Fall of Goma and M23 Offensive in the DRC*. ACSS Policy Paper.
2. **Al Jazeera.** (2025). *Qatar emphasises peaceful resolution of conflicts after DRC-Rwanda deal*. Al Jazeera English.
3. **Associated Press.** (2025). *What we know about the Rwanda-Democratic Republic of Congo peace deal*. AP News.
4. **Boulos, M., & Sanders, C.** (2025). *Digital Press Briefing on Great Lakes Region and US*

Mediated Peace Initiatives. U.S. Department of State.

5. **Congo Research Group (CRG).** (2025). *The Washington Accords: Evaluating the Strategic Peace-for-Minerals Framework in Central Africa*. New York University.
6. **Council on Foreign Relations.** (2025). *Conflict in the Democratic Republic of Congo: Great Lakes Displacements and Regional Security*. CFR Global Conflict Tracker.
7. **De Waal, A.** (2023). *Situating the Contribution of the Political Market Framework to Peace Processes*. PeaceRep Report.
8. **Farmer, B.** (2025). *Congo offers Trump minerals deal in exchange for military aid*. Yahoo! News.
9. **Ferguson, J.** (1990). *The Anti-Politics Machine: "Development," Depoliticization, and Bureaucratic Power*. Cambridge University Press.
10. **Financial Times.** (2025). *US secures access to critical mineral supply chains in DRC under new Washington peace accord*. Financial Times Energy Report.
11. **Global Witness.** (2025). *Digging for Peace? A critical look at mineral extraction rights in the 2025 Washington Accords*. Global Witness Investigation Report.
12. **Hackenesch, C.** (2018). *The EU and China in African Authoritarian Regimes: Development without Democracy*. Springer.
13. **International Crisis Group.** (2025). *The DR Congo-Rwanda Deal: Now Comes the Hard Part*. ICG Africa Briefing No. 198.
14. **Luanda Process Monitoring Group.** (2024). *Harmonized Plan for the Neutralization of the FDLR and Disengagement of Forces (CONOPS)*. African Union Commission.
15. **Mashariki Research on Peace and Conflict.** (2025). *Peace For Minerals: Future Prospects of DRC-Rwanda Washington Accords*. Mashariki RPC Journal, 4(3), 89-104.
16. **Moncrieff, R.** (2025). *A New Great Lakes Peace Pledge Marks Progress but Questions Remain*. International Crisis Group Commentary.
17. **Mongabay.** (2025). *Environmental degradation and local displacement in eastern Congo's mining hubs post-Washington Accords*. Mongabay Environmental News.
18. **NBC News.** (2025). *Congo and Rwanda sign a U.S.-mediated peace deal aimed at ending decades of bloody conflict*. NBC News World.
19. **Quincy Institute.** (2025). *Trump tasks first-time envoy Massad Boulos with the most complex African conflict*. Responsible Statecraft.
20. **United States Department of State.** (2025). *Peace Agreement Between the Democratic Republic of the Congo and the Republic of Rwanda (Washington Accords)*. Bureau of African Affairs.
21. **Mamdani, M.** (2001). *When Victims Become Killers: Colonialism, Nativism, and the Genocide in Rwanda*. Princeton University Press.
22. **Prunier, G.** (1995). *The Rwanda Crisis: History of a Genocide*. Columbia University Press.
23. **Stearns, J.** (2012). *Dancing in the Glory of Monsters: The Collapse of the Congo and the Great War of Africa*. PublicAffairs.
24. **Reyntjens, F.** (2004). *Rwanda, Ten Years On: From Genocide to Dictatorship*. African Affairs, 103(411), 177–210.
25. **Tull, D. M.** (2018). *The UN Peacekeeping Mission in the DRC: MONUSCO and the Limits of Authoritarian Peacebuilding*. International Peacekeeping, 25(3), 398-421.

डॉ. ज्योति शर्मा

भारतीय संस्कृति की अधिष्ठाता राजमाता अहिल्याबाई होलकर

शोध सार

भारत की पावन वसुंधरा अपनी अनुपम, अलौकिक धार्मिक ऊर्जा, बौद्धिक, नैतिक, न्यायशील राजनीतिज्ञ, शासकीय एवं प्रशासकीय कार्यकुशल और कर्मठ वीरांगनाओं से स्पंदित रही है। इनमें सर्वप्रमुख अभिधान जिसका लिया जा सकता है वो हैं युगदृष्टा राजमाता अहिल्याबाई होलकर। जिनके समाज सुधार, कुशल प्रशासन और देश-भर के खंडित मंदिरों के पुनरोत्थान और भारतीय संस्कृति के संरक्षक और संवर्धन की कथाएं उन निर्मित एवं पुनर्निमित मंदिरों के घंटियों से निरूसृत नादों से प्रतिक्षण ध्वनित होती हैं।

बीज शब्द

अहिल्याबाई होलकर, मंदिर, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, निर्माण, सफल आदि।

मूल आलेख

मंदिर के प्रांगण में अलौकिक ऊष्मा एवं सात्विक तेज से संपन्न जिस छोटी बालिका को देखकर मल्हारराव ने अपने पुत्र खण्डेलवाल की वधू बनाने का निर्णय ले लिया था, उस अहिल्याबाई होलकर का जन्म सन् 1725 में चौंडी ग्राम के पटेल माण कोजी शिंदे के प्रांगण में हुआ था। माता-पिता धर्मपरायण एवं सात्विक गृहस्थ थे। अहिल्याबाई होलकर को घर में ही कुछ धर्मग्रंथों का अध्ययन एवं शिक्षा-दीक्षा दी गई।[1] उनकी मृत्यु 1798 ई. में महेश्वर में हुई।

अहिल्याबाई होलकर ने अपने अलौकिक गुणों से इतिहास के पन्नों पर अपनी ऊर्जस्वित उपस्थिति दर्ज की जिसे अभिलेखित करने में तत्कालीन कवियों, विद्वानों एवं इतिहासकारों ने अपनी लेखनी को अहिल्याबाई होलकर की प्रतिछाया बनने को कहा।

मोरोपंत मराठी कवि एवं भक्त ने अहिल्याबाई होलकर की न्यायप्रियता और धर्मपरायणता की स्तुति करते हुए कहा-

''देवी अहिल्याबाई! झालीस तूं धरा जन्या।

न न्याय -धर्म -निरता अन्या कलिमाजि ऐकिली कन्या॥''[2]

स्कॉटलैंड की कवयित्री जोना बेली जो अहिल्याबाई होलकर के समकालीन थीं। उन्होंने अहिल्याबाई होलकर पर पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने लिखा ''अहिल्याबाई ने तीस वर्षों तक शांति पूर्वक राज्य किया। उनके समय में राज्य का ऐश्वर्य बढ़ता ही गया। सभ्य और असभ्य, बूढ़े और जवान सब उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते थे।''[3]

सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री जदुनाथ सरकार ने अहिल्याबाई होलकर को भारतीय इतिहास की महान स्त्रियों की संज्ञा देते हुए लिखा-''अहिल्याबाई के प्रति मेरा आदर बढ़ गया है। अभी तक केवल एक शासिका, सत्ता एवं संपत्ति की स्वामिनी होते हुए भी सरल जीवन बिताने वाली माता के रूप में मैं उन्हें आदर देता था। उन्होंने कई मंदिर बनवाए, घाट बनवाए, बहुत-सा धन दान-धर्म में दिया। भूमि व गांव इनाम में दिए। पर अब उनका दूसरा स्वरूप ही मेरे सामने आया है। मूल कागज-पत्रों से ये सिद्ध होता है कि वे प्रथम श्रेणी की राजनीतिक थीं और इसलिए उन्होंने इतनी तत्परता से महाद जी का सहयोग दिया। यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि अहिल्याबाई होलकर के आश्रय के बिना उत्तर भारत की राजनीति में महाद जी को इतना श्रेष्ठत्व कदापि नहीं मिलता।''[4]

मल्हारराव ने अहिल्याबाई होलकर की अर्हता को पहचानकर साधारण परिवार में जन्मी अहिल्याबाई होलकर से न केवल अपने पुत्र का विवाह किया वरन् उन्हें शासन प्रशासन, राजपाठ, युद्ध संबंधी दांव-पेंच भी सिखाए।[5] प्रतिभाशाली अहिल्याबाई होलकर ने एक ओर राजनीति के गुण मनोयोग से सीखे तो दूसरी ओर अपनी सौम्यता और सेवा एवं निष्ठा से राज-परिवार के सभी सदस्यों के हृदय की कंठहार बन गई। उनकी दो संतान हुईं पुत्र मालेराव और पुत्री मुक्ताबाई। पर नियति ने अपनी कठोरता दिखाते हुए अहिल्याबाई होलकर से सभी परिजन दूर कर मृत्युलोक बुला लिए। सन् 24 मार्च 1754 ई. में उनके पति खांडेराव युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए और वे 29 वर्ष की अल्पायु में विधवा हो गई।[6] पति की मृत्यु उपरांत उन्होंने सती होने के स्थान पर राजकाज संभालकर एक प्रशासक के उत्तरदायित्व का निर्वहन करना उचित समझा जिससे मल्हारराव राव की विरासत को संरक्षित एवं संवर्धित किया जा सके। इसी बीच में उनके पुत्र भालेराव का भी निधन हो गया। इस व्यक्तिगत पीड़ा को अपने अंतर्मन में समा कर राष्ट्र और प्रजा-पालन प्रथम समझकर प्रशासन इस कठिन समय में पुन: संभाल लिया।

अहिल्याबाई होलकर में एक कुशल दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ और प्रतिभाशाली प्रशासक के गुण भी विद्यमान थे, जिसके द्वारा वह अपने राजनीतिक शत्रुओं चाहे चंद्रावतों का दमन हो चाहे, राघोबा जैसों से चतुराईपूर्ण तरीके से बिना युद्ध लड़े केवल एक पत्र के माध्यम से अपने राज्य की रक्षा करना हो वे सफलतापूर्वक कर सकीं। वे तत्कालीन समय में महिला सशक्तिकरण की अद्‌भुत मिसाल थीं। उन्होंने शत्रुओं से लड़ने के लिए महिलाओं की सेना भी तैयार की थी।

अहिल्याबाई होलकर ने तत्कालीन समय में विधवा स्त्रियों के हितों के संरक्षण के कार्य भी किए जिससे उनके जीवन को स्वार्थी तत्वों से बचाकर सरल बनाया जा सके। उन्होंने विधवा स्त्रियों को उनके पति के कमाए धन की उपयोग की अधिकारी मान उनके आर्थिक हितों का संरक्षण ही नहीं किया वरन् नि:संतान विधवाओं को बालक गोद लेने का अधिकार देकर जहां उनकी सूनी गोद भरने का आशीर्वाद दिया वहीं उन्हें मातृत्व सुख लेने की अधिकारिणी भी बना दिया।

अहिल्याबाई होलकर ने पति और पुत्र की मृत्यु पश्चात् शांति की तलाश में नर्मदा नदी के तट पर बसे मालवा के महेश्वर जिसका ऐतिहासिक और पौराणिक महत्व था को अपनी शासन-प्रशासन की कर्मभूमि बनाया। यहां उन्होंने अनेक प्राचीन मंदिरों, घाटों, सरायों, कुओं का निर्माण एवं जीर्णोद्धार करने के साथ नए मंदिरों, घाटों व मकानों का निर्माण कर प्रजा हितकारी कार्य किए। ''उन्होंने मकान विद्वानों, ब्राह्मणों व बुनकरों को भेंट किए।''[7] अहिल्याबाई होलकर की प्रेरणा ही कि महेश्वर राजनीतिक धार्मिक अनुष्ठानों की पुण्यभूमि बन गया।

अहिल्याबाई होलकर ने न केवल महेश्वर वरन् देशभर में मंदिरों का निर्माण और खंडित मंदिरों पुनर्निर्माण कराया। उन्होंने तत्कालीन भारत के खंडित मंदिरों का जीर्णोद्धार कर भारत के सुप्त आध्यात्मिक गौरव को पुनर्जाग्रत कर भारत को आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक रूप से संगठित किया। आज भी अहिल्याबाई होलकर द्वारा जीर्णोद्धार एवं पुनर्निर्माण कराए काशी का बाबा विश्वनाथ मंदिर हो या गुजरात का सोमनाथ मंदिर अहिल्याबाई होलकर की शिव भक्ति की अनुपम कथा का सुमिरन करते से लगते हैं।

अहिल्याबाई होलकर की राजकाज, धार्मिक कार्यों के साथ-साथ ललित कलाओं में भी रुचि थी जिसके परिणामस्वरूप देश भर के शिल्पी, कारीगर मूर्तिकार महेश्वर बस गये।[8] अहिल्याबाई होलकर ने महेश्वरी साड़ी वस्त्र उद्योग के पल्लवन में भी योगदान दिया। आज भी वर्तमान समय में भी महिलाओं में महेश्वरी साड़ी अत्यधिक लोकप्रिय है।

निष्कर्षत: अहिल्याबाई होलकर धर्म, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य, ललित कलाएं, दीन दुखियों के प्रति समर्पित रहने वाली समाज-सुधारक, समस्त भारतवर्ष को सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक रूप से एकसूत्र में बांधने वाली दूरदर्शी राष्ट्र निर्माता,अपनी प्रजा को अपनी संतानवत स्नेह करने वाली कर्मठ, न्यायशील प्रजापालक, दूरदर्शी प्रशासक, महिलाओं को स्वावलंबन एवं सशक्त करने वाली एक सच्चरित्र दृढ़ निश्चयी शिव उपासिका थीं जो प्रजा की खुशहाली को अपने जीवन की परम शांति और अपना कर्तव्य मानती थीं, जिनका संपूर्ण जीवन त्याग और कर्तव्यनिष्ठा की अनुपम मिसाल बन शिवमय हो गया था जहां मानव-मात्र का शाश्वत सुख एवं कल्याण ही जीवन का शाश्वत ध्येय बन 'सत्यम- शिवम और सुंदरम' की अधिष्ठाता करता था।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, दौलत राम महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. हीरालाल शर्मा ,नारी अग्रदूत अहिल्याबाई, पृ–15
2. वही, पृ–125
3. वही, पृ–127
4. वही, पृ–129
5. वही, पृ–19
6. डॉ.अनुराधा गुप्ता और डॉ सत्यम रवि द्विवेदी द्विवेदी, लोकमाता अहिल्याबाई होलकर एक गौरवशाली यात्रा, पृ–10
7. हीरालाल शर्मा, नारी अग्रदूत अहिल्याबाई, पृ–४३
8. वही, पृ–४३

शोध-पत्र

बौद्ध परंपरा में लैंगिकता

अरुणिमा

सारांश

बौद्ध परंपरा में महिलाओं की स्थिति धार्मिक आदर्शों और सामाजिक यथार्थों के जटिल अंतर्संबंध के कारण लंबे समय से विद्वानों की रुचि का विषय रही है। बौद्ध धर्म का उदय एक पितृसत्तात्मक समाज में हुआ था, जहाँ महिलाओं की भूमिकाएँ प्रायः सामाजिक एवं सांस्कृतिक मानदंडों द्वारा सीमित थीं। इसके बावजूद, बुद्ध की शिक्षाओं ने महिलाओं की आध्यात्मिक उन्नति के लिए नई संभावनाओं का उद्घाटन किया, क्योंकि उन्होंने उनके ज्ञानप्राप्ति की क्षमता को स्वीकार किया। भिक्षुणी संघ की स्थापना महिलाओं को धार्मिक जीवन तथा मठवासी शिक्षा तक पहुँच प्रदान करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

थेरीगाथा जैसे बौद्ध ग्रंथ प्रारम्भिक बौद्ध भिक्षुणियों की आवाजों को संरक्षित रखते हैं, जो उनके त्याग, आध्यात्मिक संघर्ष और मुक्ति के अनुभवों को अभिव्यक्त करते हैं। साथ ही, कुछ संस्थागत नियमों और सिद्धान्तगत व्याख्याओं ने विद्यमान लैंगिक पदानुक्रमों को भी प्रतिबिंबित किया, जिससे आध्यात्मिक समानता के आदर्शों और व्यावहारिक सीमाओं के बीच तनाव उत्पन्न हुआ। यह लेख प्रारम्भिक बौद्ध स्रोतों के ऐतिहासिक एवं पाठीय विश्लेषण के माध्यम से बौद्ध परंपरा में महिलाओं की भूमिका, स्थिति और सक्रियता (एजेंसी) का अध्ययन करता है। यह तर्क प्रस्तुत करता है कि बौद्ध धर्म ने महिलाओं को धार्मिक सहभागिता और आत्मबोध के महत्वपूर्ण अवसर प्रदान किए, जबकि वह व्यापक पितृसत्तात्मक संरचनाओं के भीतर भी कार्यरत रहा। इन गतिशीलताओं का विश्लेषण प्रारम्भिक बौद्ध समाज में लैंगिकता, धर्म और सामाजिक परिवर्तन की गहन समझ विकसित करने में सहायक है।

परिचय

यह अध्ययन बौद्ध परंपराओं के मानक ढाँचों के भीतर लैंगिकता के प्रश्न का विश्लेषण करता है तथा विशेष रूप से इस बात पर ध्यान केंद्रित करता है कि किस प्रकार लैंगिकता बौद्ध धर्म की धार्मिक एवं सामाजिक संरचना के साथ गहराई से अंतर्निहित है। बौद्ध धर्म और लैंगिकता के संबंधों पर विद्वत्तापूर्ण अध्ययन कई दशकों से विकसित होता रहा है, जिसकी प्रारम्भिक आधारशिला आई. बी. हॉर्नर के कार्यों में दिखाई देती है। वर्तमान अध्ययन विशेष रूप से उन समकालीन शोधों पर केंद्रित है जो बौद्ध धर्म और लैंगिकता के बीच के जटिल अंतर्संबंधों का विश्लेषण करते हैं।

इस क्षेत्र के महत्वपूर्ण अध्ययनों में उमा चक्रवर्ती की पुस्तक The Social Dimensions of Early Buddhism विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि यह कृति केवल महिलाओं पर केंद्रित नहीं है, फिर भी यह प्रारम्भिक बौद्ध समुदायों में लैंगिक भूमिकाओं को प्रभावित करने वाले जटिल सामाजिक आयामों का विश्लेषण करती है। इसी प्रकार, कुमकुम रॉय द्वारा अभिलेखों तथा बौद्ध धर्म में महिलाओं की स्थिति पर किया गया व्यापक शोध हमारी समझ को और समृद्ध बनाता है। उनकी कृतियाँ, विशेषकर The Power of Gender and the Gender of Power तथा Women in Early Indian Societies, उन ऐतिहासिक और पाठीय संदर्भों का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करती हैं जिन्होंने बौद्ध परंपरा में स्त्री पहचान के निर्माण को प्रभावित किया।

कैथरीन ब्लैकस्टोन की Women in the Footsteps of the Buddha तथा जोसे कैबेजोन की Buddhism, Sexuality, and Gender लैंगिकता के व्यापक आयामों, विशेष रूप से यौनिकता, पर महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। कैबेजोन का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें बौद्ध धर्म और समलैंगिकता के संबंध पर भी विचार किया गया है, जिसमें लियोनार्ड ज्विलिंग के योगदान महत्वपूर्ण हैं। दूसरी ओर, एलिस कोलेट प्रारम्भिक बौद्ध समाजों के अध्ययन में पितृसत्तात्मक एवं पुरुष-केंद्रित विश्लेषणात्मक प्रतिमानों को चुनौती देती हैं और हमारे व्याख्यात्मक ढाँचों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता पर बल देती हैं। डायना पॉल द्वारा बौद्ध धर्म में महिलाओं पर किए गए अध्ययन भी इस साहित्य को समृद्ध करते हैं तथा इस धार्मिक परंपरा में महिलाओं की भूमिका और उनके प्रतिनिधित्व को समझने का प्रयास करते हैं।

जब बौद्ध परंपरा में महिलाओं की स्थिति पर चर्चा की जाती है, तो एक महत्वपूर्ण प्रश्न महिलाओं के संघ में प्रवेश से संबंधित होता है। बौद्ध धर्म एक विचारधारा के रूप में सदैव महिलाओं के लिए खुला रहा, किन्तु महिलाओं के भिक्षुणी बनने और संघ में प्रवेश की प्रक्रिया संघर्षों तथा तनावों से परिपूर्ण रही। इस अध्ययन में हमारा ध्यान व्यापक रूप से ''महिलाएँ और बौद्ध धर्म'' विषय पर न होकर उन विशिष्ट बिंदुओं पर होगा जहाँ महिलाओं के संघ में प्रवेश के संदर्भ में संवाद, संघर्ष और अंतर्विरोध दिखाई देते हैं।

महाप्रजापती गौतमी, संघ में प्रवेश और स्त्रियों की एजेंसी

ऐतिहासिक स्रोतों तथा उपलब्ध संदर्भों से यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं को बौद्ध संघ में सम्मिलित किए जाने की प्रक्रिया संघर्ष और तनाव से रहित नहीं थी। चुल्लवग्ग में वर्णित कथा के अनुसार महाप्रजापती गौतमी ने महिलाओं को संघ में प्रवेश देने की अनुमति प्राप्त करने के लिए बुद्ध से निवेदन किया। उन्होंने तीन बार बुद्ध से अनुरोध किया, किन्तु प्रत्येक बार उन्हें अस्वीकृति का सामना करना पड़ा। इसके पश्चात् उन्होंने अपने दृढ़ संकल्प का परिचय देते हुए अपने केश त्याग दिए और बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद की सहायता प्राप्त की। आनंद ने महिलाओं की ओर से बुद्ध के समक्ष निवेदन प्रस्तुत किया और अंततः उनके हस्तक्षेप के माध्यम से महिलाओं को संघ में प्रवेश की अनुमति प्राप्त हुई।

नारीवादी दृष्टिकोण से यह प्रसंग अनेक महत्वपूर्ण पक्षों को उद्घाटित करता है। सबसे पहले, यह महिलाओं की सक्रियता (एजेंसी) को रेखांकित करता है। भिक्षुणी बनने का मार्ग सहज या बिना प्रयास के प्राप्त नहीं हुआ; इसके लिए महिलाओं को निरंतर संवाद, पुनः-पुनः निवेदन और अपने दृढ़ निश्चय का प्रदर्शन करना पड़ा। यह तथ्य दर्शाता है कि धार्मिक संस्थाओं में स्थान प्राप्त करने के लिए महिलाएँ स्वयं सक्रिय भूमिका निभाती थीं, भले ही वे संस्थाएँ कभी-कभी उनके प्रति अधीनस्थ दृष्टिकोण रखती रही हों। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भिक्षुणी के रूप में संघ में प्रवेश की इच्छा स्वयं महिलाओं से उत्पन्न हुई थी, न कि किसी बाहरी प्रेरणा से।

दूसरे, आनंद जैसे मध्यस्थ की आवश्यकता बुद्ध और महिलाओं के बीच एक प्रकार की दूरी को इंगित करती है। यह स्थिति महिलाओं और बुद्ध के बीच प्रत्यक्ष संवाद के प्रति एक प्रकार की अनिच्छा अथवा प्रतिरोध का संकेत देती है। कथा में बुद्ध महिलाओं के अनुरोध को सीधे स्वीकार करते हुए नहीं दिखाए गए हैं, बल्कि आनंद की मध्यस्थता के बाद सहमति प्रदान करते हैं। इस स्थिति की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। यद्यपि इसे प्रत्यक्ष रूप से स्त्री-विरोध (misogyny) नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह महिलाओं की मांगों के प्रति एक प्रकार की झिझक या प्रतिरोध को अवश्य दर्शाती है।

इस प्रसंग का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि महिलाओं के संघ में प्रवेश से बुद्ध की आध्यात्मिक सत्ता या प्रतिष्ठा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इससे यह संकेत मिलता है कि महिलाओं का समावेशन बुद्ध के अधिकार को चुनौती नहीं देता, बल्कि बौद्ध धार्मिक परंपरा के भीतर समावेशन और आध्यात्मिक अवसरों के विस्तार का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार, यह कथा धार्मिक परंपराओं में महिलाओं के समावेशन की जटिल प्रक्रियाओं और उनसे जुड़े सत्ता-संबंधों को समझने का महत्वपूर्ण माध्यम बन जाती है।

महाप्रजापती गौतमी की कथा केवल महिलाओं के संघ में प्रवेश का विवरण भर नहीं है, बल्कि यह इस बात का भी प्रमाण है कि महिलाएँ धार्मिक क्षेत्र में अपने अधिकारों और अवसरों के लिए सक्रिय रूप से संघर्षरत थीं। यह प्रसंग दर्शाता है कि प्रारम्भिक बौद्ध परंपरा में महिलाओं ने स्वयं अपनी धार्मिक पहचान और आध्यात्मिक स्थान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अतः इस कथा को केवल संघ की स्थापना के इतिहास के रूप में नहीं, बल्कि महिलाओं की

एजेंसी, प्रतिरोध और धार्मिक सहभागिता के एक महत्वपूर्ण उदाहरण के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

गरुधम्म, संघ की संरचना और लैंगिक पदानुक्रम

बौद्ध संघ में महिलाओं के प्रवेश के साथ एक महत्वपूर्ण तत्व जुड़ा हुआ है, जिसे गरुधम्म (आठ गुरु या भारी नियम) कहा जाता है। भिक्षुणियों को संघ में प्रवेश प्राप्त करने के लिए इन आठ नियमों का पालन करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। इन नियमों के साथ एक ऐसी धारणा भी जुड़ी हुई है जिसे बौद्ध परंपरा में बुद्ध से संबद्ध किया गया है। इसके अनुसार, महिलाओं के संघ में प्रवेश के कारण बौद्ध धर्म की आयु एक हजार वर्ष से घटकर पाँच सौ वर्ष रह जाएगी। यद्यपि इस कथन की ऐतिहासिक प्रामाणिकता विवादास्पद है, फिर भी इसका ग्रंथों में उपस्थित होना महिलाओं के समावेशन के प्रति एक प्रकार की दुविधा और आशंका को प्रकट करता है। यह संकेत मिलता है कि महिलाओं की उपस्थिति संघ की शुद्धता अथवा अनुशासन को प्रभावित कर सकती है।

गरुधम्म स्वयं मठवासी समुदाय के भीतर स्थापित लैंगिक पदानुक्रम का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम गरुधम्म के अनुसार एक भिक्षुणी, चाहे उसे दीक्षा प्राप्त किए हुए सौ वर्ष ही क्यों न हो गए हों, उसे उस भिक्षु का सम्मान करना होगा जिसे केवल एक दिन पूर्व दीक्षा मिली हो। यह नियम संघ के भीतर पुरुष और महिला साधकों के बीच स्पष्ट रूप से एक असमान संबंध स्थापित करता है। इससे न केवल संस्थागत लैंगिक असमानता उजागर होती है, बल्कि यह भी स्पष्ट होता है कि इन पदानुक्रमों को औपचारिक रूप से स्थापित और स्थायी बनाने का प्रयास किया गया था।

इन नियमों का संहिताकरण सत्ता और लैंगिकता के संबंधों पर महत्वपूर्ण प्रश्न उठाता है। इन नियमों को स्पष्ट रूप से निर्धारित करने का अर्थ यह प्रतीत होता है कि संघ के भीतर संभावित विवादों और पुरुष अधिकार को चुनौती देने वाली परिस्थितियों को पहले से ही नियंत्रित करने का प्रयास किया गया था। इस प्रकार, गरुधम्म केवल अनुशासनात्मक नियम नहीं हैं, बल्कि वे उस चिंता को भी प्रतिबिंबित करते हैं जो महिलाओं के संघ में प्रवेश और उसके संभावित प्रभावों को लेकर विद्यमान थी।

ग्रेगरी शोपेन जैसे विद्वानों के अध्ययन इस विषय को और अधिक जटिल बनाते हैं। शोपेन का तर्क है कि विनय ग्रंथों में उल्लिखित नियमों का वास्तविक जीवन में हमेशा अक्षरश: पालन नहीं किया जाता था। अभिलेखीय साक्ष्य यह दर्शाते हैं कि कई बार व्यवहारिक परिस्थितियाँ ग्रंथों में वर्णित आदर्श नियमों से भिन्न थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक ग्रंथों में निर्धारित नियम और सामाजिक व्यवहार के वास्तविक रूपों के बीच अंतर मौजूद था।

नारीवादी इतिहासकारों के लिए यह अंतर विशेष महत्व रखता है। ग्रंथों की पंक्तियों के बीच पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध परंपरा के भीतर लैंगिकता और अधिकार से संबंधित गहरे तनाव और चिंताएँ मौजूद थीं। महिलाओं के संघ में प्रवेश के परिणामों के संबंध में व्यक्त आशंकाएँ तथा लैंगिक भूमिकाओं का स्पष्ट संहिताकरण इस बात का प्रमाण हैं कि धार्मिक समानता की दिशा में महिलाओं के प्रयासों को अनेक प्रकार के प्रतिरोधों और चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

भिक्षुओं और भिक्षुणियों के बीच संबंधों को नियंत्रित करने वाले नियम भी इस लैंगिक पदानुक्रम को और स्पष्ट करते हैं। विशेष रूप से, भिक्षुणियों को भिक्षुओं के किसी भी वास्तविक अथवा कथित अनुचित आचरण के लिए उन्हें फटकारने या चेतावनी देने की अनुमति नहीं थी। दूसरी ओर, भिक्षुओं को भिक्षुणियों को उपदेश देने और उनके आचरण की समीक्षा करने का अधिकार प्राप्त था। यह व्यवस्था स्पष्ट रूप से अधिकार और नियंत्रण की सीमाओं को निर्धारित करती है, जिसमें भिक्षुणियों को अधीनस्थ स्थिति में रखा गया।

इसके अतिरिक्त, यह नियम कि भिक्षुणियाँ भिक्षुओं से पहले दान स्वीकार नहीं कर सकतीं, संघ के भीतर विद्यमान आर्थिक पदानुक्रम को भी दर्शाता है। इससे स्पष्ट होता है कि निर्णय लेने तथा संसाधनों तक पहुँच के मामलों में पुरुष मठवासियों को प्राथमिकता दी जाती थी। इस प्रकार, संघ की संरचना केवल धार्मिक अधिकार तक सीमित नहीं थी, बल्कि आर्थिक और संस्थागत स्तर पर भी लैंगिक असमानताओं को प्रतिबिंबित करती थी।

अत: गरुधम्म और उनसे संबंधित नियम प्रारम्भिक बौद्ध संघ के भीतर महिलाओं की स्थिति को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वे एक ओर महिलाओं के संघ में प्रवेश को स्वीकार करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी भूमिका और अधिकारों को सीमित करने वाले संस्थागत ढाँचों को भी स्थापित करते हैं। इस प्रकार, बौद्ध परंपरा में महिलाओं की स्थिति समानता और अधीनता, दोनों के जटिल अंतर्संबंधों से निर्मित होती दिखाई देती है।

महिलाओं की आध्यात्मिक क्षमता, लैंगिकता और बौद्ध दृष्टिकोण

इन प्रतिबंधों के बावजूद, बौद्ध धर्म महिलाओं की आध्यात्मिक क्षमताओं को स्वीकार करता है और यह मान्यता देता है कि वे निर्वाण तथा अर्हतत्त्व प्राप्त करने में सक्षम हैं। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण सुजाता की कथा में मिलता है। कहा जाता है कि अंजना वन में बुद्ध का उपदेश सुनने के पश्चात् सुजाता ने अर्हतत्त्व प्राप्त कर लिया। उनकी तत्काल ज्ञानप्राप्ति का कारण उनके 'सम्यक् चित्त' को माना गया। यह प्रसंग इस विश्वास को रेखांकित करता है कि आध्यात्मिक मुक्ति और ज्ञानप्राप्ति की क्षमता पुरुषों और महिलाओं दोनों में समान रूप से विद्यमान है।

यह दृष्टिकोण समकालीन सामाजिक धारणाओं से भिन्न था, जहाँ प्राय: महिलाओं की बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षमताओं को सीमित दृष्टि से देखा जाता था। बौद्ध परंपरा महिलाओं की आध्यात्मिक संभावनाओं को स्वीकार करते हुए अपेक्षाकृत अधिक समतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

इसके अतिरिक्त, बौद्ध ग्रंथ महिलाओं की भूमिका के संबंध में ब्राह्मणीय परंपरा से भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। जहाँ ब्राह्मणीय साहित्य में महिलाओं की भूमिका को मुख्यत: प्रजनन और गृहस्थ जीवन से जोड़ा गया, वहीं बौद्ध साहित्य घरेलू जीवन को महिलाओं के लिए संभावित दु:ख और बंधन का क्षेत्र भी मानता है। इस प्रकार, बौद्ध दृष्टिकोण महिलाओं की भूमिका को केवल मातृत्व और गृहस्थ धर्म तक सीमित नहीं करता।

मठवासी जीवन और ब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन देकर बौद्ध धर्म महिलाओं को घरेलू और प्रजनन संबंधी दायित्वों से परे जीवन चुनने का अवसर प्रदान करता है। यह परंपरागत लैंगिक भूमिकाओं से एक महत्वपूर्ण विचलन था और महिलाओं को वैकल्पिक जीवन-पथ अपनाने की स्वतंत्रता प्रदान करता था।

एलिस कोलेट गरुधम्मों की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। उनके अनुसार इन नियमों को केवल महिलाओं की अधीनता के प्रमाण के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि इन्हें महिलाओं की कथित असुरक्षा और उनकी सुरक्षा की आवश्यकता के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। हालाँकि यह व्याख्या स्वयं कई प्रश्न उत्पन्न करती है। यदि महिलाओं को संरक्षण की आवश्यकता थी, तो यह असुरक्षा कहाँ से उत्पन्न हुई? क्या यह स्वाभाविक थी या सामाजिक संरचनाओं और संघ की संस्थागत व्यवस्थाओं द्वारा निर्मित की गई थी?

बौद्ध ग्रंथों में महिलाओं का चित्रण अत्यंत जटिल है। यह केवल उनकी प्रजनन भूमिका तक सीमित नहीं है, बल्कि उनकी यौनिकता के नियंत्रण और उसके प्रति दृष्टिकोण को भी समाहित करता है। यद्यपि यौनिकता पर नियंत्रण का विचार केवल महिलाओं तक सीमित नहीं था और पुरुषों पर भी लागू होता था, फिर भी महिलाओं की यौनिकता के प्रति व्यक्त चिंता कहीं अधिक गहरी और व्यापक दिखाई देती है।

यही कारण है कि प्रजनन और यौनिकता के बीच अंतर करना आवश्यक हो जाता है। प्रारम्भिक ग्रंथों में महिलाओं की भूमिका को प्रजनन से जोड़ा गया था और इसे परिवार तथा समाज के लिए महत्वपूर्ण माना गया। किन्तु मनुस्मृति के काल तक पहुँचते-पहुँचते प्रजनन को लेकर व्यापक सामाजिक चिंताएँ उभरती हैं और महिलाओं की भूमिका को नए सिरे से परिभाषित किया जाता है। बौद्ध धर्म इस संदर्भ में एक भिन्न मार्ग अपनाता है। वह प्रजनन की अपेक्षा यौनिकता के नियंत्रण पर अधिक बल देता है और महिलाओं की भूमिका को केवल मातृत्व तक सीमित नहीं करता।

एलन स्पॉनबर्ग ने प्रारम्भिक बौद्ध परंपराओं में महिलाओं के प्रति दृष्टिकोणों का विश्लेषण करते हुए चार प्रमुख प्रवृत्तियों की पहचान की है। ये हैं मोक्ष-संबंधी समावेशिता (Soteriological Inclusiveness), संस्थागत पुरुष-केंद्रिकता (Institutional Androcentrism), तपस्वी स्त्री-विरोध (Ascetic Misogyny), तथा मोक्ष-संबंधी उभयलिंगी दृष्टिकोण (Soteriological Androgyny)।

मोक्ष-संबंधी समावेशिता यह स्वीकार करती है कि महिलाएँ भी पुरुषों की भाँति आध्यात्मिक मुक्ति और निर्वाण प्राप्त कर सकती हैं। यह दृष्टिकोण महिलाओं की आध्यात्मिक क्षमता को मान्यता प्रदान करता है।

इसके विपरीत, संस्थागत पुरुष-केंद्रिकता उस स्थिति को दर्शाती है जिसमें संगठनात्मक और धार्मिक संरचनाओं पर पुरुष दृष्टिकोण का प्रभुत्व बना रहता है। दूसरी ओर, तपस्वी स्त्री-विरोध महिलाओं को मुख्यत: यौन आकर्षण और तपस्वी जीवन के लिए संभावित बाधा के रूप में देखता है। यह दृष्टिकोण महिलाओं को आध्यात्मिक साधना में विचलन उत्पन्न करने वाले तत्व के रूप में प्रस्तुत करता है।

मोक्ष-संबंधी उभयलिंगी दृष्टिकोण इन सीमाओं से आगे बढ़कर यह स्वीकार करता है कि अंतिम आध्यात्मिक सत्य

और निर्वाण की अवस्था में लैंगिक भेद गौण हो जाते हैं। इस स्तर पर पुरुष और महिला दोनों समान रूप से मुक्ति प्राप्त करने में सक्षम हैं।

कैथरीन ब्लैकस्टोन ने अपनी पुस्तक Women in the Footsteps of the Buddha में थेरीगाथा का उपयोग करते हुए बौद्ध परंपरा में महिला तपस्विनियों और भिक्षुणियों की भूमिका का विश्लेषण किया है। ब्लैकस्टोन के अनुसार तपस्वी जीवन में एक महत्वपूर्ण विरोधाभास निहित है। एक ओर तपस्या और मठवासी जीवन का उद्देश्य शरीर की इच्छाओं और आवश्यकताओं से ऊपर उठना है, वहीं दूसरी ओर शरीर के प्रति अत्यधिक चिंता भी दिखाई देती है।

यह चिंता सभी शरीरों के प्रति समान नहीं है, बल्कि विशेष रूप से स्त्री शरीर के प्रति अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। स्त्री शरीर को अनेक बार ऐसी वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसे आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में नियंत्रित या अतिक्रमित किया जाना आवश्यक है।

यह धारणा इस विचार को बल देती है कि वास्तविक धार्मिकता शरीर की इच्छाओं और आवश्यकताओं के नियंत्रण में निहित है। यह विचार केवल बौद्ध धर्म तक सीमित नहीं है, बल्कि अनेक तपस्वी और आध्यात्मिक परंपराओं में भी दिखाई देता है। तपस्या को एक ऐसे साधन के रूप में देखा जाता है जो साधक को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करता है और उसे उसके अंतिम आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है।

किन्तु बौद्ध संदर्भ में विशेष बात यह है कि तपस्या को स्त्री शरीर से दूरी बनाने के विचार के साथ भी जोड़ा गया है। स्त्री शरीर यहाँ एक जटिल प्रतीक के रूप में उभरता है एक ओर वह आध्यात्मिक शुद्धता की प्राप्ति में चुनौती के रूप में देखा जाता है, वहीं दूसरी ओर वह धार्मिक अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण माध्यम भी बन जाता है।

महिला साधिकाओं अथवा भिक्षुणियों के लिए ब्रह्मचर्य और तपस्वी जीवन का चयन पारंपरिक लैंगिक भूमिकाओं से एक महत्वपूर्ण विचलन था। इस संदर्भ में ब्रह्मचर्य को स्त्री शरीर से जुड़े बंधनों और विचलनों से ऊपर उठने के साधन के रूप में महत्त्व दिया गया। फिर भी, स्त्री शरीर से दूरी बनाने पर दिया गया बल यह भी दर्शाता है कि बौद्ध तपस्वी परंपराओं के भीतर लैंगिकता का प्रश्न निरंतर विमर्श और पुनर्व्याख्या का विषय बना रहा। इस प्रकार, स्त्री शरीर केवल एक जैविक इकाई नहीं, बल्कि धार्मिक आदर्शों और लैंगिक मान्यताओं के बीच संघर्ष और संवाद का प्रतीकात्मक क्षेत्र भी बन जाता है।

निष्कर्ष

बौद्ध परंपरा में महिलाओं की स्थिति बहुआयामी और जटिल रही है। एक ओर बौद्ध धर्म ने महिलाओं की आध्यात्मिक क्षमता को स्वीकार करते हुए उन्हें निर्वाण और अर्हतत्त्व प्राप्त करने योग्य माना, वहीं दूसरी ओर संघ की संस्थागत संरचना में कई ऐसे नियम और व्यवस्थाएँ विकसित हुईं जिन्होंने लैंगिक पदानुक्रम को बनाए रखा। भिक्षुणी संघ की स्थापना महिलाओं के लिए धार्मिक जीवन और आध्यात्मिक उन्नति के नए अवसर लेकर आई, परंतु गरुधम्म जैसे नियम यह भी दर्शाते हैं कि महिलाओं की सहभागिता को नियंत्रित और विनियमित करने का प्रयास किया गया।

महाप्रजापती गौतमी की कथा, थेरीगाथा में संरक्षित भिक्षुणियों के अनुभव, तथा विभिन्न बौद्ध ग्रंथों में महिलाओं के चित्रण से यह स्पष्ट होता है कि महिलाएँ केवल निष्क्रिय अनुयायी नहीं थीं, बल्कि उन्होंने अपनी धार्मिक पहचान और आध्यात्मिक स्थान के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाई। प्रारम्भिक बौद्ध परंपरा में महिलाओं की एजेंसी, प्रतिरोध और आत्मनिर्णय की अनेक अभिव्यक्तियाँ दिखाई देती हैं।

आधुनिक विद्वानों जैसे उमा चक्रवर्ती, कुमकुम रॉय, एलिस कोलेट, एलन स्पॉनबर्ग और कैथरीन ब्लैकस्टोन के अध्ययन यह दर्शाते हैं कि बौद्ध धर्म में महिलाओं की स्थिति को केवल समानता अथवा असमानता के सरल द्वंद्व में नहीं समझा जा सकता। इसके बजाय, यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ आध्यात्मिक समावेशिता, संस्थागत पुरुष-केंद्रिकता, तपस्वी आदर्शों और सामाजिक यथार्थों के बीच निरंतर अंत:क्रिया दिखाई देती है।

अत: बौद्ध परंपरा में महिलाओं का अध्ययन केवल धार्मिक इतिहास को समझने का माध्यम नहीं है, बल्कि यह लैंगिकता, शक्ति, सामाजिक परिवर्तन और धार्मिक संस्थाओं के स्वरूप को समझने के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह अध्ययन हमें यह समझने में सहायता करता है कि किस प्रकार महिलाएँ धार्मिक परंपराओं के भीतर सीमाओं का सामना करते हुए भी अपने लिए नए अवसरों और पहचानों का निर्माण करती रही हैं।

पीएच.डी. शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- Chakravarti, Uma. *The Social Dimensions of Early Buddhism*. Delhi: Oxford University Press, 1987.
- Roy, Kumkum. *The Power of Gender and the Gender of Power: Explorations in Early Indian History*. New Delhi: Oxford University Press, 2010.
- Roy, Kumkum. *Women in Early Indian Societies*. New Delhi: Manohar Publishers, 1999.
- Blackstone, Kathryn R. *Women in the Footsteps of the Buddha: Struggle for Liberation in the Therigatha*. Richmond, Surrey: Curzon Press, 1998.
- Cabezón, José Ignacio, ed. *Buddhism, Sexuality, and Gender*. Albany: State University of New York Press, 1992.
- Collett, Alice. *Women in Early Indian Buddhism: Comparative Textual Studies*. New Delhi: Oxford University Press, 2014.
- Paul, Diana Y. *Women in Buddhism: Images of the Feminine in Mahyna Tradition*. Berkeley: University of California Press, 1985.

शोध-पत्र

हिंद महासागर क्षेत्र में द्वीपीय राष्ट्रों के संदर्भ में महाशक्ति प्रतिस्पर्धा : भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन

पूजा

सार

हिंद महासागर क्षेत्र समकालीन वैश्विक भू-राजनीति, समुद्री सुरक्षा और अंतरराष्ट्रीय व्यापार का एक प्रमुख केंद्र बनकर उभरा है। विश्व के महत्वपूर्ण समुद्री व्यापार मार्ग, ऊर्जा आपूर्ति श्रृंखलाएँ तथा सामरिक जलडमरूमध्य इसी क्षेत्र में स्थित हैं, जिसके कारण भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी महाशक्तियों के बीच रणनीतिक प्रतिस्पर्धा निरंतर तीव्र हो रही है। इस प्रतिस्पर्धा का सर्वाधिक प्रभाव मालदीव, श्रीलंका, मॉरीशस, सेशेल्स, मेडागास्कर और कोमोरोस जैसे द्वीपीय राष्ट्रों पर पड़ रहा है, जो अपनी भौगोलिक स्थिति और समुद्री संसाधनों के कारण वैश्विक रणनीतिक महत्त्व रखते हैं। यह शोधपत्र हिंद महासागर क्षेत्र में द्वीपीय राष्ट्रों के संदर्भ में भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन में गुणात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध पद्धति का उपयोग करते हुए यथार्थवाद, नवयथार्थवाद, समुद्री शक्ति सिद्धांत तथा भू-राजनीतिक दृष्टिकोण को सैद्धांतिक आधार बनाया गया है। अध्ययन में भारत की सागर नीति, नेबरहुड फर्स्ट एवं इंडो-पैसिफिक ओशन्स इनिशिएटिव, चीन की बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव, मैरीटाइम सिल्क रोड तथा स्ट्रिंग ऑफ पर्ल्स, और संयुक्त राज्य अमेरिका की फ्री एंड ओपन इंडो-पैसिफिक, चतुर्भुज सुरक्षा संवाद (QUAD) एवं AUKUS जैसी प्रमुख रणनीतियों का तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है। अध्ययन के निष्कर्षों से स्पष्ट होता है कि हिंद महासागर क्षेत्र के द्वीपीय राष्ट्र अब केवल महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के निष्क्रिय केंद्र नहीं हैं, बल्कि वे रणनीतिक स्वायत्तता, बहु-संरेखण तथा संतुलित कूटनीति के माध्यम से अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा कर रहे हैं। शोध यह भी इंगित करता है कि क्षेत्रीय स्थिरता, समुद्री सुरक्षा और सतत विकास सुनिश्चित करने के लिए प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ सहयोग, पारदर्शिता और नियम-आधारित समुद्री शासन को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। यह अध्ययन हिंद महासागर क्षेत्र में शक्ति-संतुलन, क्षेत्रीय सहयोग और द्वीपीय राष्ट्रों की बदलती भूमिका को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है।

कुंजी शब्द

हिंद महासागर क्षेत्र, द्वीपीय राष्ट्र, भारत, चीन, संयुक्त राज्य अमेरिका, महाशक्ति प्रतिस्पर्धा, हिंद-प्रशांत।

परिचय

हिंद महासागर क्षेत्र वर्तमान वैश्विक राजनीति, अर्थव्यवस्था और सामरिक सुरक्षा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण केंद्र बन चुका है। विश्व के तीन प्रमुख महाद्वीप- एशिया, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया को जोड़ने वाला यह महासागर न केवल अंतरराष्ट्रीय समुद्री व्यापार का प्रमुख मार्ग है, बल्कि वैश्विक ऊर्जा आपूर्ति, समुद्री संसाधनों और सामरिक प्रतिस्पर्धा का भी केंद्र है। विश्व के अधिकांश तेल एवं प्राकृतिक गैस का समुद्री परिवहन इसी क्षेत्र से होकर गुजरता है। मलक्का जलडमरूमध्य, होर्मुज जलडमरूमध्य तथा बाब-अल-मंदेब जैसे समुद्री मार्ग वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला के लिए जीवन रेखा माने जाते हैं। इन मार्गों की सुरक्षा वैश्विक आर्थिक स्थिरता और ऊर्जा सुरक्षा के लिए अनिवार्य है। यही कारण है कि हिंद महासागर क्षेत्र पर प्रभाव स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा पिछले दो दशकों में उल्लेखनीय रूप से बढ़ी है। हिंद महासागर क्षेत्र के अंतर्गत स्थित द्वीपीय

राष्ट्र, जैसे मालदीव, श्रीलंका, मॉरीशस, सेशेल्स, मेडागास्कर और कोमोरोस, भौगोलिक दृष्टि से छोटे होने के बावजूद अत्यधिक सामरिक महत्त्व रखते हैं। इन देशों की स्थिति प्रमुख समुद्री व्यापार मार्गों के निकट होने के कारण उन्हें अंतरराष्ट्रीय राजनीति में विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। इनके विशाल विशेष आर्थिक क्षेत्र, समुद्री जैव विविधता, मत्स्य संसाधन तथा ब्लू इकोनॉमी की संभावनाएँ इन्हें वैश्विक शक्तियों के लिए आकर्षण का केंद्र बनाती हैं। साथ ही, जलवायु परिवर्तन, समुद्र-स्तर में वृद्धि और सीमित प्राकृतिक संसाधनों जैसी चुनौतियाँ इन देशों की विकास नीतियों और विदेश नीति को भी प्रभावित करती हैं।[1]

इक्कीसवीं शताब्दी में भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच बढ़ती महाशक्ति प्रतिस्पर्धा ने हिंद महासागर क्षेत्र को वैश्विक भू-राजनीतिक विमर्श के केंद्र में ला खड़ा किया है। भारत अपनी 'सागर, 'नेबरहुड फर्स्ट' तथा इंडो-पैसिफिक ओशन्स इनिशिएटिव जैसी नीतियों के माध्यम से क्षेत्रीय सुरक्षा, समुद्री सहयोग और विकास साझेदारी को सुदृढ़ करने का प्रयास कर रहा है। दूसरी ओर, चीन बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव, मैरीटाइम सिल्क रोड तथा बंदरगाह अवसंरचना परियोजनाओं के माध्यम से इस क्षेत्र में अपने आर्थिक और सामरिक प्रभाव का विस्तार कर रहा है। वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका फ्री एंड ओपन इंडो-पैसिफिक रणनीति, क्वाड (QUAD) और अन्य सुरक्षा साझेदारियों के माध्यम से क्षेत्र में नियम-आधारित समुद्री व्यवस्था और शक्ति-संतुलन बनाए रखने का प्रयास करता है।[2] इन तीनों शक्तियों की प्रतिस्पर्धी नीतियाँ द्वीपीय राष्ट्रों के लिए अवसर और चुनौतियाँ दोनों उत्पन्न करती हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में यह अध्ययन यह समझने का प्रयास करता है कि हिंद महासागर क्षेत्र के द्वीपीय राष्ट्र महाशक्ति प्रतिस्पर्धा के संदर्भ में किस प्रकार अपनी सामरिक भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं तथा भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियाँ उनके राजनीतिक, आर्थिक और सुरक्षा हितों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य इन तीनों महाशक्तियों की रणनीतिक नीतियों का तुलनात्मक विश्लेषण करना तथा यह मूल्यांकन करना है कि द्वीपीय राष्ट्र केवल प्रतिस्पर्धा के निष्क्रिय क्षेत्र नहीं हैं, बल्कि वे रणनीतिक स्वायत्तता, बहु-संरेखण और संतुलित कूटनीति के माध्यम से अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा और क्षेत्रीय स्थिरता को भी सुदृढ़ कर रहे हैं। इस संदर्भ में शोध के प्रमुख प्रश्न हैं- हिंद महासागर क्षेत्र में द्वीपीय राष्ट्रों का सामरिक महत्त्व क्या है? भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियों में क्या समानताएँ और भिन्नताएँ हैं? तथा इन नीतियों का द्वीपीय राष्ट्रों की विदेश नीति, सुरक्षा और विकास पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? इन प्रश्नों के उत्तर हिंद महासागर क्षेत्र की समकालीन शक्ति-राजनीति को समझने के साथ-साथ भविष्य की क्षेत्रीय नीतियों के निर्माण में भी उपयोगी सिद्ध होंगे।

सैद्धांतिक एवं वैचारिक परिप्रेक्ष्य

हिंद महासागर क्षेत्र में भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य बढ़ती महाशक्ति प्रतिस्पर्धा को समझने के लिए अंतरराष्ट्रीय संबंधों के प्रमुख सिद्धांतों एवं अवधारणाओं का अध्ययन आवश्यक है। यह प्रतिस्पर्धा केवल आर्थिक या सैन्य हितों तक सीमित नहीं है, बल्कि शक्ति-संतुलन, समुद्री प्रभुत्व, भू-राजनीतिक प्रभाव तथा छोटे राज्यों की विदेश नीति जैसे अनेक आयामों से जुड़ी हुई है। इसलिए यथार्थवाद, नवयथार्थवाद, समुद्री शक्ति सिद्धांत, भू-राजनीति, रणनीतिक स्वायत्तता, हेजिंग तथा हिंद-प्रशांत की अवधारणा इस अध्ययन के प्रमुख सैद्धांतिक आधार हैं।

यथार्थवाद अंतरराष्ट्रीय संबंधों का एक प्रमुख सिद्धांत है, जिसके अनुसार अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था अराजक होती है और प्रत्येक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए शक्ति अर्जित करने का प्रयास करता है। हंस जे. मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार राष्ट्रीय हित और शक्ति ही राज्यों की विदेश नीति के मूल आधार हैं। इसी प्रकार नवयथार्थवाद, जिसे केनेथ वाल्ट्ज ने विकसित किया, यह प्रतिपादित करता है कि राज्यों का व्यवहार अंतरराष्ट्रीय शक्ति-संरचना से प्रभावित होता है। हिंद महासागर क्षेत्र में चीन के बढ़ते प्रभाव के कारण भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सुरक्षा सहयोग, नौसैनिक साझेदारी तथा क्वाड जैसे मंचों को सुदृढ़ करना नवयथार्थवादी दृष्टिकोण का उदाहरण है।[3] समुद्री शक्ति सिद्धांत, जिसे अल्फ्रेड थायर माहन ने प्रतिपादित किया, यह स्पष्ट करता है कि किसी राष्ट्र की वैश्विक शक्ति उसकी समुद्री क्षमता, नौसैनिक शक्ति और समुद्री व्यापार मार्गों पर नियंत्रण पर निर्भर करती है। हिंद महासागर विश्व के प्रमुख समुद्री संचार मार्गों का केंद्र है, जहाँ से वैश्विक ऊर्जा और व्यापार का बड़ा भाग गुजरता है। इसलिए भारत अपनी समुद्री सुरक्षा क्षमता का विस्तार कर रहा है, चीन

बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव तथा मैरीटाइम सिल्क रोड के माध्यम से बंदरगाहों और समुद्री अवसंरचना में निवेश कर रहा है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका हिंद-प्रशांत क्षेत्र में अपनी नौसैनिक उपस्थिति बनाए रखने पर बल देता है।[4]

भू-राजनीति यह बताती है कि किसी क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति उसकी विदेश नीति और सामरिक महत्त्व को कैसे प्रभावित करती है। हिंद महासागर की भौगोलिक स्थिति, मलक्का, होर्मुज तथा बाब-अल-मंदेब जैसे सामरिक जलडमरूमध्य और समुद्री संसाधनों की उपलब्धता इसे वैश्विक शक्ति-प्रतिस्पर्धा का केंद्र बनाती है। इसी कारण मालदीव, श्रीलंका, मॉरीशस और सेशेल्स जैसे द्वीपीय राष्ट्र महाशक्तियों की रणनीतिक प्राथमिकताओं में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। छोटे या द्वीपीय राज्यों की रणनीतिक स्वायत्तता इस अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। इसका आशय यह है कि छोटे राज्य बाहरी शक्तियों के प्रभाव के बावजूद अपनी स्वतंत्र विदेश नीति बनाए रखने का प्रयास करते हैं। इसके लिए वे हेजिंग और बहु-संरेखण जैसी रणनीतियाँ अपनाते हैं। हेजिंग के अंतर्गत कोई राज्य किसी एक महाशक्ति पर निर्भर होने के बजाय अनेक शक्तियों के साथ संतुलित संबंध स्थापित करता है, जबकि बहु-संरेखण के माध्यम से वह विभिन्न देशों के साथ अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार सहयोग विकसित करता है। उदाहरणस्वरूप, मालदीव, मॉरीशस और सेशेल्स भारत से सुरक्षा सहयोग, चीन से अवसंरचना निवेश तथा अमेरिका और अन्य देशों से तकनीकी एवं आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं।

हिंद-प्रशांत की अवधारणा इस अध्ययन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण वैचारिक आधार है। यह अवधारणा हिंद महासागर और प्रशांत महासागर को एकीकृत सामरिक क्षेत्र के रूप में देखती है तथा मुक्त, समावेशी और नियम-आधारित समुद्री व्यवस्था पर बल देती है। भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया इस अवधारणा का समर्थन करते हैं, जबकि चीन इसे अपने क्षेत्रीय प्रभाव को सीमित करने के प्रयास के रूप में देखता है। इस प्रकार हिंद-प्रशांत की अवधारणा समकालीन समुद्री राजनीति और शक्ति-संतुलन को समझने का एक प्रभावी ढाँचा प्रदान करती है।[5] अत: यथार्थवाद, नवयथार्थवाद, समुद्री शक्ति सिद्धांत, भू-राजनीति, रणनीतिक स्वायत्तता, हेजिंग, बहु-संरेखण तथा हिंद-प्रशांत की अवधारणा इस अध्ययन के लिए एक समग्र सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत करती हैं। ये अवधारणाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि हिंद महासागर क्षेत्र में भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतियाँ केवल प्रतिस्पर्धा तक सीमित नहीं हैं, बल्कि द्वीपीय राष्ट्रों की विदेश नीति, क्षेत्रीय सुरक्षा और वैश्विक शक्ति-संतुलन को भी गहराई से प्रभावित करती हैं।

हिंद महासागर क्षेत्र में भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियाँ

हिंद महासागर क्षेत्र इक्कीसवीं शताब्दी में वैश्विक भू-राजनीति और समुद्री सुरक्षा का प्रमुख केंद्र बन चुका है। विश्व व्यापार, ऊर्जा आपूर्ति और समुद्री संचार मार्गों की दृष्टि से इसकी बढ़ती महत्ता ने भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका को इस क्षेत्र में अपनी रणनीतिक उपस्थिति सुदृढ़ करने के लिए प्रेरित किया है। तीनों देशों की नीतियाँ भिन्न उद्देश्यों और साधनों पर आधारित हैं, किंतु उनका साझा लक्ष्य हिंद महासागर में अपने प्रभाव, सुरक्षा और आर्थिक हितों की रक्षा करना है। भारत की हिंद महासागर नीति का आधार सागर (SAGAR - Security and Growth for All in the Region) की अवधारणा है, जिसे वर्ष 2015 में प्रस्तुत किया गया। इस नीति का उद्देश्य क्षेत्रीय देशों के साथ सहयोग, समुद्री सुरक्षा, आपदा प्रबंधन, क्षमता निर्माण तथा सतत विकास को बढ़ावा देना है। इसके साथ ही नेबरहुड फर्स्ट के माध्यम से भारत अपने पड़ोसी देशों, विशेषकर मालदीव, श्रीलंका, मॉरीशस और सेशेल्स के साथ राजनीतिक, आर्थिक एवं रक्षा संबंधों को सुदृढ़ करने का प्रयास कर रहा है।[6] इसके अतिरिक्त इंडो-पैसिफिक ओशन्स इनिशिएटिव, समुद्री संसाधनों के सतत उपयोग, समुद्री संपर्क, व्यापार, आपदा प्रबंधन और समुद्री पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा देने पर केंद्रित है। भारत की रणनीति सहयोगात्मक नेतृत्व, क्षेत्रीय स्थिरता और नियम-आधारित समुद्री व्यवस्था पर आधारित है।

दूसरी ओर, चीन की रणनीति आर्थिक निवेश और अवसंरचना विकास के माध्यम से अपने सामरिक प्रभाव का विस्तार करना है। बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव (BRI) तथा मैरीटाइम सिल्क रोड चीन की प्रमुख पहलें हैं, जिनका उद्देश्य एशिया, अफ्रीका और यूरोप के बीच समुद्री संपर्क एवं व्यापारिक नेटवर्क को मजबूत करना है। इन पहलों के अंतर्गत चीन ने श्रीलंका के हंबनटोटा बंदरगाह, पाकिस्तान के ग्वादर, म्यांमार के क्याउकफ्यू तथा अफ्रीका के जिबूती जैसे रणनीतिक बंदरगाहों में निवेश किया है। 'स्ट्रिंग ऑफ पर्ल्स' की अवधारणा के माध्यम से चीन हिंद महासागर में बंदरगाहों और समुद्री

सुविधाओं का ऐसा नेटवर्क विकसित कर रहा है, जो उसके व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के साथ-साथ उसकी नौसैनिक उपस्थिति को भी सुदृढ़ करता है। यद्यपि चीन इन परियोजनाओं को आर्थिक सहयोग का माध्यम बताता है, किंतु कई विश्लेषक इन्हें उसके दीर्घकालिक सामरिक विस्तार की रणनीति के रूप में देखते हैं।[7]

संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीति स्वतंत्र और खुला इंडो-पैसिफिक (FOIP) की अवधारणा पर आधारित है, जिसका उद्देश्य मुक्त, समावेशी और नियम-आधारित समुद्री व्यवस्था को बनाए रखना है।[8] अमेरिका हिंद-प्रशांत क्षेत्र में नौवहन की स्वतंत्रता, समुद्री सुरक्षा और अंतरराष्ट्रीय कानूनों के पालन पर विशेष बल देता है। इसी उद्देश्य से उसने क्वाड (QUAD) के माध्यम से भारत, जापान और ऑस्ट्रेलिया के साथ रणनीतिक सहयोग को मजबूत किया है। इसके अतिरिक्त AUKUS सुरक्षा साझेदारी के माध्यम से अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और यूनाइटेड किंगडम के बीच उन्नत रक्षा तकनीक, परमाणु-संचालित पनडुब्बियों तथा समुद्री सुरक्षा सहयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है। इन पहलों का प्रमुख उद्देश्य क्षेत्र में शक्ति-संतुलन बनाए रखना और चीन के बढ़ते प्रभाव का संतुलित उत्तर प्रस्तुत करना है। इन तीनों महाशक्तियों की रणनीतियों में समुद्री सुरक्षा, आर्थिक सहयोग और रक्षा कूटनीति महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारत समुद्री क्षमता निर्माण, मानवीय सहायता एवं आपदा राहत तथा तटीय सुरक्षा सहयोग को प्राथमिकता देता है।[9] चीन अवसंरचना निवेश, व्यापारिक संपर्क और बंदरगाह विकास के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार करता है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका रक्षा साझेदारी, संयुक्त सैन्य अभ्यास और नौसैनिक उपस्थिति के माध्यम से क्षेत्रीय सुरक्षा संरचना को सुदृढ़ करने का प्रयास करता है। इस प्रकार हिंद महासागर क्षेत्र में भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियाँ प्रतिस्पर्धा और सहयोग- दोनों की विशेषताओं को प्रदर्शित करती हैं तथा द्वीपीय राष्ट्रों की विदेश नीति, क्षेत्रीय स्थिरता और शक्ति-संतुलन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।

द्वीपीय राष्ट्रों पर महाशक्ति प्रतिस्पर्धा का प्रभाव

हिंद महासागर क्षेत्र के द्वीपीय राष्ट्र- मालदीव, श्रीलंका, मॉरीशस, सेशेल्स, मेडागास्कर और कोमोरोस आकार एवं संसाधनों की दृष्टि से अपेक्षाकृत छोटे हैं, किंतु उनकी भौगोलिक स्थिति उन्हें वैश्विक रणनीतिक प्रतिस्पर्धा का महत्वपूर्ण केंद्र बनाती है। प्रमुख समुद्री व्यापार मार्गों के निकट स्थित होने के कारण ये राष्ट्र भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश एवं सुरक्षा नीतियों में विशेष स्थान रखते हैं। इन देशों की सामरिक उपयोगिता के कारण महाशक्तियाँ आर्थिक निवेश, अवसंरचना विकास, रक्षा सहयोग तथा कूटनीतिक साझेदारी के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार करने का प्रयास कर रही हैं। परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों के लिए विकास के नए अवसर उत्पन्न हुए हैं, वहीं अनेक राजनीतिक, आर्थिक और सुरक्षा संबंधी चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। आर्थिक निवेश और अवसंरचना विकास महाशक्ति प्रतिस्पर्धा का प्रमुख आयाम है। चीन ने बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव (BRI) के अंतर्गत श्रीलंका के हंबनटोटा बंदरगाह, मालदीव में आधारभूत संरचना परियोजनाओं तथा मेडागास्कर सहित कई देशों में निवेश कर अपनी आर्थिक उपस्थिति को मजबूत किया है। दूसरी ओर, भारत ने मॉरीशस, सेशेल्स और मालदीव में बंदरगाहों, तटीय निगरानी प्रणाली, स्वास्थ्य, शिक्षा और डिजिटल अवसंरचना जैसी विकासात्मक परियोजनाओं के माध्यम से सहयोग को बढ़ावा दिया है। संयुक्त राज्य अमेरिका भी विकास वित्त, तकनीकी सहयोग और समुद्री अवसंरचना के क्षेत्र में अपनी भागीदारी बढ़ा रहा है। इन निवेशों से आर्थिक विकास, रोजगार और संपर्क सुविधाओं में सुधार हुआ है, किंतु बाहरी वित्तीय निर्भरता भी बढ़ी है। सुरक्षा सहयोग और सैन्य उपस्थिति भी इस प्रतिस्पर्धा का महत्वपूर्ण पहलू है।[10] भारत हिंद महासागर के द्वीपीय देशों के साथ संयुक्त नौसैनिक अभ्यास, तटरक्षक प्रशिक्षण, समुद्री निगरानी और मानवीय सहायता एवं आपदा राहत अभियानों के माध्यम से सहयोग बढ़ा रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका क्षेत्रीय सुरक्षा, समुद्री कानून के पालन तथा नौवहन की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न साझेदारियों और संयुक्त अभ्यासों में सक्रिय है। दूसरी ओर, चीन ने बंदरगाह विकास, रक्षा सहयोग और नौसैनिक यात्राओं के माध्यम से अपनी समुद्री उपस्थिति का विस्तार किया है। इससे क्षेत्र में सुरक्षा सहयोग तो बढ़ा है, किंतु सैन्य प्रतिस्पर्धा और सामरिक अविश्वास भी गहरा हुआ है।

महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा का एक महत्वपूर्ण प्रभाव ऋण निर्भरता के रूप में भी देखा जाता है। बड़े पैमाने पर विदेशी ऋण से वित्तपोषित अवसंरचना परियोजनाएँ कई बार छोटे राज्यों के लिए आर्थिक दबाव उत्पन्न करती हैं। श्रीलंका का हंबनटोटा बंदरगाह इसका चर्चित उदाहरण है, जहाँ ऋण भुगतान

में कठिनाइयों के कारण बंदरगाह को दीर्घकालीन पट्टे पर देना पड़ा।[11] यद्यपि प्रत्येक परियोजना को ऋण-जाल की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, फिर भी ऋण प्रबंधन और वित्तीय स्थिरता इन राष्ट्रों के लिए महत्वपूर्ण नीति-चुनौती बन चुके हैं। इसके साथ ही ब्लू इकोनॉमी, मत्स्य संसाधनों का सतत उपयोग, समुद्री पर्यटन तथा समुद्री जैव विविधता का संरक्षण इन देशों के आर्थिक विकास के प्रमुख आधार हैं। वहीं जलवायु परिवर्तन, समुद्र-स्तर में वृद्धि और तटीय क्षरण जैसी समस्याएँ विशेष रूप से मालदीव, सेशेल्स और मॉरीशस जैसे निम्न-स्थलीय द्वीपीय राष्ट्रों के अस्तित्व के लिए गंभीर चुनौती प्रस्तुत करती हैं। इन परिस्थितियों में द्वीपीय राष्ट्र अपनी विदेश नीति में रणनीतिक स्वायत्तता बनाए रखने का प्रयास कर रहे हैं। अधिकांश देश किसी एक महाशक्ति पर पूर्ण निर्भरता के बजाय बहु-संरेखण और संतुलित कूटनीति की नीति अपनाते हैं। वे भारत के साथ सुरक्षा सहयोग, चीन के साथ आर्थिक निवेश और संयुक्त राज्य अमेरिका सहित अन्य साझेदारों के साथ तकनीकी एवं विकासात्मक सहयोग को समानांतर रूप से विकसित कर रहे हैं। इस प्रकार ये राष्ट्र महाशक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा के निष्क्रिय केंद्र न होकर अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप अवसरों का उपयोग करने वाले सक्रिय कूटनीतिक अभिनेता के रूप में उभर रहे हैं।[12] अत: हिंद महासागर क्षेत्र में महाशक्ति प्रतिस्पर्धा ने जहाँ द्वीपीय राष्ट्रों के विकास और वैश्विक महत्त्व को बढ़ाया है, वहीं उनके समक्ष आर्थिक संतुलन, सुरक्षा, पर्यावरणीय स्थिरता और रणनीतिक स्वतंत्रता बनाए रखने की नई चुनौतियाँ भी प्रस्तुत की हैं।

भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियों का तुलनात्मक विश्लेषण

हिंद महासागर क्षेत्र में भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतिक नीतियाँ उनके राष्ट्रीय हितों, वैश्विक दृष्टिकोण और क्षेत्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप विकसित हुई हैं। यद्यपि तीनों देशों का प्रमुख उद्देश्य इस क्षेत्र में अपने प्रभाव और हितों की सुरक्षा करना है, फिर भी उनकी रणनीतियों, कार्यप्रणालियों और कूटनीतिक दृष्टिकोण में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है।[13] यह तुलनात्मक विश्लेषण रणनीतिक उद्देश्य, आर्थिक सहयोग, समुद्री सुरक्षा, कूटनीतिक नीति, क्षेत्रीय संगठनों में भूमिका तथा द्वीपीय राष्ट्रों के साथ उनकी सहभागिता को समझने में सहायक है। रणनीतिक उद्देश्यों की दृष्टि से भारत हिंद महासागर को अपनी प्राकृतिक सामरिक परिधि मानते हुए क्षेत्रीय स्थिरता, समुद्री सुरक्षा और पड़ोसी देशों के साथ विश्वासपूर्ण सहयोग को प्राथमिकता देता है। उसकी सागर (क्षेत्र में सभी के लिये सुरक्षा और विकास) तथा नेबरहुड फर्स्ट पॉलिसी क्षेत्रीय विकास और साझा सुरक्षा पर आधारित है। इसके विपरीत, चीन का मुख्य उद्देश्य अपने समुद्री व्यापार मार्गों की सुरक्षा सुनिश्चित करना, ऊर्जा आपूर्ति को सुरक्षित रखना तथा हिंद महासागर में दीर्घकालिक आर्थिक और सामरिक उपस्थिति स्थापित करना है। वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रमुख उद्देश्य हिंद-प्रशांत क्षेत्र में शक्ति-संतुलन बनाए रखना, नौवहन की स्वतंत्रता सुनिश्चित करना तथा नियम-आधारित अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को सुदृढ़ करना है।

आर्थिक एवं विकासात्मक सहयोग के क्षेत्र में भी तीनों देशों की रणनीतियों में अंतर देखा जा सकता है। भारत क्षमता निर्माण, विकास साझेदारी, अनुदान सहायता, डिजिटल संपर्क, स्वास्थ्य और शिक्षा परियोजनाओं के माध्यम से सहयोग को बढ़ावा देता है। चीन बड़े पैमाने पर अवसंरचना विकास, बंदरगाह निर्माण और परिवहन परियोजनाओं में निवेश करता है, जिनका प्रमुख आधार बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव और मैरीटाइम सिल्क रोड है।[14] संयुक्त राज्य अमेरिका विकास वित्त, निजी निवेश, तकनीकी सहयोग और संस्थागत क्षमता निर्माण के माध्यम से क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार भारत साझेदारी आधारित विकास, चीन निवेश-आधारित संपर्क और अमेरिका संस्थागत एवं तकनीकी सहयोग को प्राथमिकता देता है। समुद्री सुरक्षा और नौसैनिक उपस्थिति के संदर्भ में भारत समुद्री निगरानी, संयुक्त नौसैनिक अभ्यास, तटरक्षक सहयोग तथा मानवीय सहायता एवं आपदा राहत अभियानों पर विशेष बल देता है।[15] चीन अपनी नौसैनिक क्षमता के विस्तार, बंदरगाह सुविधाओं के विकास तथा समुद्री संपर्क मार्गों की सुरक्षा के माध्यम से अपनी उपस्थिति बढ़ा रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका हिंद महासागर और व्यापक हिंद-प्रशांत क्षेत्र में अपनी उन्नत नौसैनिक शक्ति, सैन्य अड्डों और सहयोगी देशों के साथ रक्षा अभ्यासों के माध्यम से समुद्री सुरक्षा सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। इन तीनों दृष्टिकोणों का उद्देश्य समुद्री हितों की रक्षा करना है, किंतु उनके साधन और प्राथमिकताएँ भिन्न हैं।

कूटनीतिक दृष्टिकोण की दृष्टि से भारत समावेशी, सहयोगात्मक और बहुपक्षीय कूटनीति का समर्थन करता है

तथा क्षेत्रीय देशों के साथ ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संबंधों को सुदृढ़ करने का प्रयास करता है। चीन आर्थिक कूटनीति, निवेश और अवसंरचना सहयोग के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार करता है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका लोकतांत्रिक मूल्यों, नियम-आधारित व्यवस्था और सुरक्षा साझेदारियों पर आधारित कूटनीति अपनाता है। क्षेत्रीय संगठनों में भी तीनों देशों की सक्रिय भूमिका है। भारत इंडियन ओशन रिम एसोसिएशन, हिंद महासागर नौसेना संगोष्ठी (IONS) और बिम्सटेक जैसे मंचों में सक्रिय है। चीन बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव तथा अन्य बहुपक्षीय आर्थिक पहलों के माध्यम से अपनी उपस्थिति मजबूत करता है, जबकि अमेरिका क्वाड, AUKUS तथा अन्य सुरक्षा सहयोग व्यवस्थाओं के माध्यम से क्षेत्रीय रणनीतिक संतुलन को बनाए रखने का प्रयास करता है। द्वीपीय राष्ट्रों के साथ सहभागिता के तुलनात्मक मूल्यांकन से स्पष्ट होता है कि तीनों महाशक्तियाँ इन देशों को अपने-अपने दृष्टिकोण से महत्त्व देती हैं।[16] भारत विश्वास, ऐतिहासिक निकटता और क्षमता निर्माण पर आधारित संबंध विकसित करता है। चीन आर्थिक निवेश और अवसंरचना परियोजनाओं के माध्यम से दीर्घकालिक साझेदारी स्थापित करता है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका सुरक्षा सहयोग, समुद्री कानून, तकनीकी सहायता और लोकतांत्रिक संस्थाओं के सुदृढ़ीकरण पर बल देता है। परिणामस्वरूप द्वीपीय राष्ट्र इन तीनों शक्तियों के साथ संतुलित संबंध स्थापित करते हुए बहु-संरेखण की नीति अपनाते हैं, जिससे वे अपने विकास, सुरक्षा और रणनीतिक स्वायत्तता के बीच संतुलन बनाए रख सकें। अत: तुलनात्मक विश्लेषण यह दर्शाता है कि यद्यपि भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका की रणनीतियाँ अलग-अलग प्राथमिकताओं पर आधारित हैं, फिर भी हिंद महासागर क्षेत्र की स्थिरता, समुद्री सुरक्षा और भविष्य की क्षेत्रीय व्यवस्था पर इन तीनों की नीतियों का गहरा प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष

यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि हिंद महासागर क्षेत्र समकालीन वैश्विक शक्ति-राजनीति का एक प्रमुख केंद्र बन चुका है, जहाँ भारत, चीन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच बढ़ती रणनीतिक प्रतिस्पर्धा क्षेत्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास और भू-राजनीतिक संतुलन को प्रभावित कर रही है। तीनों महाशक्तियाँ अपने-अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए विभिन्न रणनीतियों का अनुसरण कर रही हैं। भारत क्षेत्रीय सहयोग, समुद्री सुरक्षा और विकास साझेदारी पर बल देता है, चीन अवसंरचना निवेश एवं समुद्री संपर्क के माध्यम से अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास करता है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका मुक्त एवं नियम-आधारित हिंद-प्रशांत व्यवस्था तथा समुद्री सुरक्षा को प्राथमिकता देता है। इस प्रतिस्पर्धा ने द्वीपीय राष्ट्रों के सामरिक महत्त्व को उल्लेखनीय रूप से बढ़ा दिया है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि मालदीव, श्रीलंका, मॉरीशस, सेशेल्स, मेडागास्कर और कोमोरोस जैसे द्वीपीय राष्ट्र अब केवल महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के निष्क्रिय क्षेत्र नहीं हैं, बल्कि वे बहु-संरेखण और रणनीतिक स्वायत्तता की नीति अपनाकर अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने का प्रयास कर रहे हैं। भविष्य में हिंद महासागर क्षेत्र में शक्ति-संतुलन बनाए रखने के लिए प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ सहयोग, पारदर्शिता और नियम-आधारित समुद्री शासन को प्रोत्साहित करना आवश्यक होगा।

नीतिगत दृष्टि से भारत को सागर नीति, नेबरहुड जैसी पहलों के माध्यम से विकास सहयोग, समुद्री क्षमता निर्माण और विश्वास-आधारित साझेदारी को और सुदृढ़ करना चाहिए। चीन को अपने निवेश कार्यक्रमों में अधिक पारदर्शिता, ऋण स्थिरता तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप विकास मॉडल अपनाने की आवश्यकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका को क्षेत्रीय देशों के साथ सुरक्षा सहयोग के साथ-साथ जलवायु परिवर्तन, समुद्री संसाधन प्रबंधन और तकनीकी सहयोग जैसे गैर-पारंपरिक सुरक्षा क्षेत्रों पर भी अधिक ध्यान देना चाहिए। अंतत:, हिंद महासागर क्षेत्र की दीर्घकालिक स्थिरता तभी सुनिश्चित की जा सकती है जब महाशक्तियाँ प्रतिस्पर्धा के बजाय सहयोगात्मक दृष्टिकोण अपनाएँ और द्वीपीय राष्ट्रों की संप्रभुता, रणनीतिक स्वायत्तता तथा विकासात्मक प्राथमिकताओं का सम्मान करें। क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका को सुदृढ़ करते हुए समुद्री सुरक्षा, ब्लू इकोनॉमी, जलवायु परिवर्तन से निपटने और सतत विकास के लिए बहुपक्षीय सहयोग को बढ़ावा देना समय की प्रमुख आवश्यकता है। इससे हिंद महासागर क्षेत्र को शांति, स्थिरता, समृद्धि और समावेशी विकास के एक सुदृढ़ मॉडल के रूप में विकसित किया जा सकेगा।

पीएच.डी शोधार्थी
राजनीति विज्ञान विभाग
माँ शाकुम्भरी विश्वविद्यालय, सहारनपुर
ईमेल : tanwar01jan@gmail.com

संदर्भ सूची

1. Chacko, P. (2014). The rise of the Indo-Pacific: Understanding ideational change and continuity in India's foreign policy. *Australian Journal of International Affairs, 68*(4), 433–452.
2. Pant, H. V., & Rej, A. (2018). Is India ready for the Indo-Pacific? *The Washington Quarterly, 41*(2), 47–61
3. Acharya, A. (2017). After liberal hegemony: The advent of a multiplex world order. *Ethics & International Affairs, 31*(3), 271–285.
4. Bateman, S. (2013). Solving the "wicked problems" of maritime security: Are regional forums up to the task? *Contemporary Southeast Asia, 35*(1), 1–28.
5. Brewster, D. (2014). Beyond the "String of Pearls": Is there really a Sino-Indian security dilemma in the Indian Ocean? *Journal of the Indian Ocean Region, 10*(2), 133–149.
6. Kaplan, R. D. (2010). Center stage for the twenty-first century: Power plays in the Indian Ocean. *Foreign Affairs, 89*(2), 16–32
7. Ghosh, P. K. (2017). Maritime security challenges in the Indian Ocean Region. *Maritime Affairs: Journal of the National Maritime Foundation of India, 13*(1), 1–16.
8. Clinton, H. R. (2011). America's Pacific century. *Foreign Policy, 189*, 56–63.
9. Mearsheimer, J. J. (2010). The gathering storm: China's challenge to U.S. power in Asia. *The Chinese Journal of International Politics, 3*(4), 381–396
10. Rehman, I. (2017). China's Indian Ocean strategy: Between maritime rivalry and regional security. *Naval War College Review, 70*(2), 43–67
11. Wuthnow, J. (2017). Chinese perspectives on the Belt and Road Initiative. *China Quarterly of International Strategic Studies, 3*(4), 523–540.
12. Scott, D. (2012). India and the Indian Ocean: Geopolitics, perceptions and strategy. *Journal of the Indian Ocean Region, 8*(2), 97–114.
13. Tellis, A. J. (2019). The return of U.S. strategic competition. *Survival, 61*(4), 7–32.
14. Yoshihara, T., & Holmes, J. R. (2011). Can China defend a "core interest" in the South China Sea? *The Washington Quarterly, 34*(2), 45–59.
15. Marsetio. (2017). Indonesian sea power and regional maritime security challenges. *Journal of Maritime Studies and National Integration, 1*(1), 34–46.
16. Cordner, L. (2010). Rethinking maritime security in the Indian Ocean Region. *Journal of the Indian Ocean Region, 6*(1), 67–85.

DELMUL/2016/69323

VAAKSUDHA PUBLICATION

We're Committed to the Publication of High-quality Books, original works and manuscripts in multilingual & multiple formats.

Vaaksudha Publication (वाक्सुधा प्रकाशन) is a National Publication group founded by Dr. Rupesh Kumar Chauhan and run by a well educated & qualified scholarly group, committed to the publication of high-quality books, original works and manuscripts in Hindi, English, Sanskrit & Modern Indian Languages in the print as well as in the electronic format. The main objective of Vaaksudha Publication is to increase the creativity & writing skills of teachers, writers and scholars and present solutions to the problems of students. We believe that knowledge is the light that leads a human to his real duty, that is why the "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः - There is no salvation without knowledge" this aupanishadik quote has been made a moto.

About Us

Arts & Commerce
Indology & Manuscripts
Law & Constitutions Medical
& Engineering Philosophy &
Spirituality Science & Social Sciences
Vaak SudhaIRJ Global Thought IRJ Yugantar
Today (Online) Yugantar Today (Print) Awards
Distribution Social Contribution
Typing Support Designing
Support Technical
Support Head
Office (Delhi)

युगान्तर टुडे
SINCE : 2014 एक नज़र, सब पर

Branches

We recently
started our publication
branches
in five major cities of different
states of India i.e. Nazafgarh (Delhi),
Hathras (UP), Sasaram (Bihar), Satna (MP) &
Udham Singh Nagar (Uttarakhand),
however, Head office
is situated
at Delhi.

Vaaksudha Publication

Head office : House No.-47, Block-A 3, Street No.-5, Near Sankat Mochan Mandir, Dharam Pura Extension, Nazafgarh, South West Delhi-110 043, Mobile No.: +91 9555222747, +91 9267944100,
Email : vaaksudhapublication@gmail.com, website : info@vaaksudhapublication.in